TEXT CROSS WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186373

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—390—29-4-72—10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 80·9 B 18P Accession No. PG H468

Author बाजपेयी, चन्द्रकान्त

Title पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इ

This book should be returned on or before the date last marked below

पंजाब-प्रान्तीय
हिन्दी-साहित्य का इतिहास

पंजाब-प्रान्तीय

हिन्दी-साहित्य का इतिहास

[प्रथम खण्ड]

प्रणेता

पण्डित चन्द्रकान्त बाली

प्राक्कथन-लेखक

श्रीयुत बहादुरचंद छाबड़ा

निर्देशक—पुरातत्त्व-विभाग, नई दिल्ली

प्रकाशक

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

जवाहरनगर, दिल्ली-६

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२६-ए, चन्द्रलोक, जवाहरनगर,
बिक्री केन्द्र : नई सड़क, दिल्ली

प्रथम संस्करण
अक्तूबर, १९६२

मूल्य
१५.०० रुपये

मुद्रक
सत्यपाल धवन
दी सैण्ट्रल इलैक्ट्रिक प्रेस
८०-डी, कमलानगर, दिल्ली-६

प्राक्कथन

(डॉ० बहादुरचंद छाबड़ा, शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल०)

हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है

उक्त कथन सत्य है भी और नहीं भी। कहने और करने में अन्तर है। हमने मान लिया है और निश्चय भी कर लिया है कि भारत के प्रत्येक प्रदेश में पृथक्-पृथक् अनेक भाषाओं और उपभाषाओं के होते हुए भी केवल हिन्दी ही सारे भारत की एक सामान्य भाषा होगी। इस प्रकार कहने को तो हमने हिन्दी को 'राष्ट्रभाषा' के उच्चासन पर आसीन कर दिया है। इतना ही नहीं, हमने अपने संविधान में लिख भी दिया है कि १९६५ से अंग्रेजी सर्वथा हटाई जाएगी और उसका स्थान हिन्दी को दिया जाएगा। परन्तु प्रयोग में ऐसा है क्या?

१९६५ दूर नहीं। अब तक हिन्दी में इतनी क्षमता आ जानी चाहिए थी जिससे कि वह अनायास ही अंग्रेजी को पदच्युत कर उसका आसन स्वतः आत्मसात् कर सके। क्या हम दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि वर्तमान परिस्थिति सचमुच तदनुकूल है! हमारे सरकारी कार्यालयों में क्या, न्यायालयों में क्या, तथा अन्यान्य कार्यक्षेत्रों में क्या, सर्वत्र अभी तक अंग्रेजी का ही बोलबाला है।

भारत के सामने दो बड़ी समस्याएँ थीं—स्वतन्त्रता और हिन्दी। दोनों ही परस्पर घनिष्ठतया संबंधित रही हैं। पहिली बहिरङ्ग थी तो दूसरी अन्तरङ्ग। १९४७ में स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ बहिरङ्ग समस्या तो हल हो गई। फलतः भारत एक सम्पूर्णप्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बन गया और सर्वतोमुखी उन्नति के शिखर की ओर अग्रसर हुआ। आज संसार के अन्यान्य स्वतन्त्र देशों में भारत की नाक ऊँची है और उन्हीं के समान शिक्षा, कृषि, उद्योग-व्यवसाय, विज्ञान, कला-कौशल आदि सभी क्षेत्रों में पर्याप्त प्रगति कर रहा है।

परन्तु अन्तरङ्ग समस्या का समाधान होना अभी बाकी है। और वह तभी होगा जब हिन्दी यथार्थ में—मनसा, वाचा, कर्मणा—समूचे भारत की

राष्ट्रभाषा बन जाएगी। यह बात नहीं कि हम इस ओर उदासीन है अथवा प्रयत्नशील नहीं। सच तो यह है कि भारतीय जनता में हिन्दी के लिए जितनी हलचल आज दिखाई देती है उतनी और किसी क्षेत्र में कम ही हुई होगी। और इस हलचल का समारम्भ लगभग उसी समय मे हुआ था जबकि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए जनता में जागर्ति आई थी।

हिन्दी को भारत भर की एक व्यापक भाषा बनाने का सत्सकल्प सर्व-प्रथम कदाचित् स्वामी दयानन्द सरस्वती के मानसपटल में प्रादुर्भूत हुआ था और उन्हीं के द्वारा इस ओर प्रथम प्रयास भी हुआ। तब से लेकर भारत के प्रायः प्रभी मुख्य नेता इस महायज्ञ में भाग लेते रहे हैं, इसमें बराबर सहयोग और प्रोत्साहन देते रहे हैं। महात्मा गांधी भी इस आन्दोलन के धुरंधर रहे हैं। वास्तव में हिन्दी की जितनी सेवा उन्होंने की है उतनी और कोई नहीं कर सकता। अपनी मातृभाषा गुजराती की अपेक्षा वह यथासंभव हिन्दी का ही उपयोग करते थे और लोगों मे उसी के प्रचार की भावनाएँ भरते थे।

यह सब प्रयास व्यर्थ जाएगा क्या ? कभी नहीं। प्रकरणान्तर में व्याहृत भगवान् बुद्ध की वह उक्ति हमको आश्वासन देती है कि

न प्रणश्यन्ति कर्माणि कल्पकोटिशतैरपि ।
सामग्रीं प्राप्य कालं च फलन्ति खलु देहिनाम् ।।

अर्थात् किया हुआ काम कभी विफल नहीं जाता, समय पाकर और परिस्थितियों की अनुकूलता पाकर करोड़ों वर्षों बाद भी वह अवश्य फल लाता है। कदाचित् हमारे महायज्ञ की सफलता का समय अभी दूर है। इसमें और आहुतियों की अभी अपेक्षा है। हमें अधीर और विह्वल नहीं होना चाहिए। जैसा काम वैसा दाम। उग्र परिश्रमसाध्य कार्य के लिए उग्र परिश्रम करना ही पड़ेगा। भगीरथ प्रयत्न बिना गङ्गावतरण संभव नहीं।

हिन्दी के पक्ष में जितनी सरगरमी से काम हो रहा है उतना ही उसका विरोध भी बढ़ रहा है। इसे सिद्धि का लक्षण ही समझना चाहिए। पाकिस्तान का ज्वलन्त निदर्शन हमारे सामने है। एक कोरी कल्पना थी। एक अंकुर था जो अवहेलना की शीतल वायु के थपेड़े से झुलस गया होता। परन्तु हुआ क्या ? विरोध और संघर्ष की उष्णता से वह फूट पड़ा और बद्धमूल हो गया। आज वह हमारे सामने एक विशाल वनस्पति के रूप में खड़ा है।

हिन्दी को सर्वप्रिय और सर्वव्यापी बनाने के लिए हमें सभी कुछ करना होगा। स्वतन्त्रता हमको दूसरों से लेनी थी। वह भी दुर्घट घाटी थी। उसके

लिए तदनुकूल बलिदानों की आवश्यकता थी। हिन्दी हमारी निजी समस्या है, हमारा घरेलू मामला है। इसके लिए एतदनुरूप बलिदान अपेक्षित है। सहिष्णुतापूर्वक विरोधों और प्रतिबन्धकों का निराकरण करते हुए क्रियात्मक काम भी करते रहना चाहिए। पारिभाषिक शब्दों की घटना के निमित्त केन्द्र तथा प्रदेशों में जो आयोजन चल रहे हैं, हिन्दी में अन्य भाषाओं के अनेक उपयोगी ग्रन्थों के जो अनुवाद हो रहे हैं, महत्त्वपूर्ण विषयों पर हिन्दी में जो गम्भीर रचनाएँ हो रही हैं, हिन्दी में जो नये-नये समाचार-पत्र एवं मासिक, त्रैमासिक आदि आए दिन निकल रहे है यह सब क्रियात्मक सामग्री है। हमें इसी को जुटाने में लगा रहना चाहिए। समय आएगा कि हिन्दी यथाभिलषित राष्ट्र-भाषा के पद पर विराजमान होगी।

श्री चन्द्रकान्त बाली का प्रस्तुत 'पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास' नामक गवेषणात्मक प्रबन्ध इसी सामग्री का एक छोटा-सा अंश है। इसके पढ़ने से कई भ्रान्त धारणाओं का मूलोच्छेद तो होगा ही, साथ ही ऐसे तथ्यों का बोध होगा जिनकी ओर पाठक का ध्यान पहिले कभी गया ही न होगा। और तो और स्वयं पंजाब निवासियों के लिए भी यह एक अपूर्व एवं लोचनोन्मीलक वस्तु सिद्ध होगी।

स्वतन्त्रताप्राप्ति से पूर्व पंजाब में हिन्दी की क्या स्थिति थी? 'हिन्दी' शब्द का व्यवहार तो कोई जानता ही नहीं था। लोग इसे 'शास्त्री' कहा करते थे। किञ्च, यह शास्त्री बहुतकर स्त्रियों का ही एकाधिकार माना जाता था। पुरुषों का पुरुषत्व इसी में था कि वे उर्दू दां अथवा फ़ारसीदां हों। बोलचाल में पजाबी का व्यवहार करते। जब कभी पत्र आदि लिखना होता था तो आप-से-आप उर्दू आ जाती थी और वह भी फ़ारसीमयी—बखुररदार, नूरचशम, राहतजान, लखतेजगर—और क्या-क्या नहीं। आज भी पिछली पीढ़ी के पंजाबी अधिकतर ऐसी उर्दू और हिन्दुस्तानी में अपना गौरव मानते हैं।

परन्तु तब और अब में कितना अन्तर आ गया है। नई पीढ़ी के पंजाबी नागरी लिपि में हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी तथा गुरुमुखी लिपि में पंजाबी को अच्छी तरह जानते हैं। हिन्दी केवल स्त्रियों तक सीमित नहीं। उर्दू को पढ़ने-पढ़ाने वाले कम दिखाई देते है चाहे हिन्दुस्तानी के नाते उसकी भी देश में आवश्यकता किसी तरह कम नहीं। हिन्दी की इस प्रगति को देखते हुए हम कह सकते हैं कि पंजाब में अल्पकाल में ही हिन्दी का पर्याप्त प्रचार हो गया है। दूसरे प्रान्तों में भी हिन्दी के लिए जो सतर्कतापूर्वक काम हो रहा है

उससे आशा होती है कि वह समय बहुत दूर नहीं जब हिन्दी भारत भर की सर्वप्रिय सर्वव्यापक राष्ट्रभाषा बन जाएगी।

नई दिल्ली,
१८-८-६२

जिन्हां दे

वड-वडेरयाँ ने

हिन्दी भाषा दी रक्षा लई

थैलियाँ दे मुंह खोल दित्ते

उन्हां

पटियालापति सर यादवेन्द्रसिंह महाराज

दे

कर कमलाँ विच

आदर अते श्रद्धा नाल

समर्पित

—चन्द्रकान्त बाली

अपना इतिहास

प्रस्तुत पुस्तक का मूल एक दिवास्वप्न में निहित है। सन् १९३७ की बात है। लेखक उन दिनों आयुर्वेदिक कालिज लाहौर में छात्र था। प्रादेशिक राजधानी होने से लाहौर का सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं साहित्यिक गतिविधियों का आकर्षण-बहुल केन्द्र होना अस्वाभाविक नहीं था। 'वाराणसी' भारत की सांस्कृतिक राजधानी होने पर भी राजनीति की शून्यता से अभीष्ट गौरव न पा सकी; दिल्ली भारत-भर की राजनीति-प्राय राजधानी होने पर भी सांस्कृतिक गतिविधियों से सूनी पड़ी थी। वाराणसी, प्रयाग और दिल्ली को एकांगी होने से लाहौर और कलकत्ता की उपमा में नहीं रखा जा सकता। अलबत्ता लाहौर जनसंख्या की दृष्टि से कलकत्ता और बम्बई के बाद तीसरे स्थान पर था, परन्तु उत्तरी भारत में लाहौर सभी दृष्टियों से अकेला था। ऐसे रंगीन लाहौर का जिसने एक बार भ्रमण-दर्शन कर लिया, मानो उसके लिए पंजाब में भ्रमणीय और दर्शनीय शेष न रहा।

उन दिनों पंजाब की साहित्यिक गतिविधि चरमोत्कर्ष पर थी; वहाँ हिन्दी-गोष्ठियाँ अधिक-से-अधिक एवं सफल होती थीं। उस समय पत्रकारिता में रणवीर बी० ए० तथा बी० पी० माधव का नाम खूब चमकता था; साहित्यकारों में चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, नलिन, रामकृष्ण भारती सब-के-सब लब्ध-प्रतिष्ठ आँके जाते थे; अज्ञेय और सुदर्शन पंजाब से बाहर रहकर साहित्य-सेवा कर रहे थे; हिन्दी के प्रकाशक भी उस समय जागरूक थे। सभी दृष्टियों से सांग और रंगीन लाहौर में पहुँचकर लेखक ने एक स्वप्न देखा—क्यों न पंजाब के हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखा जाय! इसे स्वप्न या दिवास्वप्न कहना इसलिए संगत है, कि इस पर असम्भावनाओं का अभेद्य आवेष्टन पड़ा हुआ था।

आखिर वह एक दिवास्वप्न था! निशास्वप्न का फलाफल बताने वालों

की कमी देश में नहीं है, पर दिवास्वप्न तो उपहास की बात है; लेखक ने जिससे भी यह दिवास्वप्न की बात कही, उसीने उसे 'शेखचिल्ली' कहा। किसी ने इसे अव्यावहारिक, असम्भव और अवांछनीय कहा, किसी ने कुछ कहा और किसी ने कुछ। इस निराशा-बहुल वातावरण में केवल एक व्यक्ति ऐसा मिला, जिसने न केवल लेखक की पीठ थप-थपाकर उसका साहस बढ़ाया, अपितु आवश्यकतानुसार यत्-किंचित् सहायता भी की। यह व्यक्ति था पंजाब का ख्यातनामा साहित्यकार श्री संतराम बी० ए०। इधर लेखक को पंजाब के अन्य लब्ध-प्रतिष्ठ हिन्दी-सेवी श्रीयुत पण्डित जगन्नाथ पुच्छरत का प्रेमाशीर्वाद मिल गया। बस, यह दिवास्वप्न एक संकल्प में परिवर्तित हो गया।

उन्हीं दिनों की बात है। नाभा के ख्यातनामा सरदार-बहादुर कान्हसिंह का निधन हो गया। भाई शमशेरसिंह 'अशोक' ने लाहौर के दैनिक 'हिन्दी मिलाप' में सरदारजी के जीवन पर एक सारगर्भित लेख प्रकाशित कराया। लेखक ने भी यह लेख पढ़ा और उसके फलस्वरूप भाई 'अशोक' से पत्र-सम्पर्क शुरू हुआ। कहने का तात्पर्य है कि संकल्प में परिवर्तित दिवास्वप्न को ठोस आधार मिल गया।

दिसम्बर १९३७ में, अमृतसर में पंजाब-प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का बारहवाँ अधिवेशन स्वामी केशवानन्द के सभापतित्व में हुआ। उसमें एक प्रस्ताव द्वारा पंजाब-प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखक को पाँच सौ रु० से पुरस्कृत करने की बात चलायी गई। इस प्रस्ताव ने जो उपयोगी कार्य किया, वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस प्रस्ताव ने पंजाब के साहित्यकारों के इतिहास की आवश्यकता महसूस करा दी, बस !

इधर गृहस्थ-जीवन की विवशता लेखक को लाहौर से वापस बुला रही थी। सच बात तो यह है कि लाहौर में बैठकर जिस ढग की और जिस प्रकार की सामग्री एकत्र की जा सकती थी, वे सब प्रक्रियाएँ और सुविधाएँ लाहौर से इधर किसी नगर में सम्भव नही थीं। परिणामतः मुलतान पहुँचकर इतिहास लिखने का काम ठप्प ही नहीं, बल्कि समाप्त हो गया।

पंजाब का हिन्दी-साहित्य प्रकाश में आना ही चाहिए—इसके लिए भाग्य स्वयं सचेष्ट था। उसी ने लेखक को जगाया और गहरी प्रमाद-निद्रा में सुला दिया, उसी ने एक अन्य स्वर्ण-अवसर पैदा किया; लेखक उसका भी लाभ उठाने मे विफल रहा। काशी की (और अब वाराणसी की) प्रसिद्ध संस्था 'नागरी-प्रचारिणी सभा' ने पंजाब की ओर ध्यान दिया। पं० लल्लीप्रसाद पाण्डेय ने

इस प्रसंग मे श्री सन्तराम बी० ए० को 'नागरी-प्रचारिणी' के आयोजन से अवगत कराया और श्री सतरामजी ने उन्हे मुलतान की ओर सकेत किया। लेखक इस दिशा में न केवल साहस खो चुका था, वरन् अनेक विवशताओ के कारण उसने अपने 'दिवा-स्वप्न' को अनिश्चित काल के लिए विस्मृति के गर्भ में डाल दिया था। फलतः 'नागरी-प्रचारिणी' श्री रघुनन्दन शास्त्री एम० ए०, एम० ओ० एल् की ओर आकृष्ट हुई। उन्हीं के सत्प्रयास से 'पंजाब मे हिन्दी की प्रगति' नामक पुस्तक प्रकाश मे आयी। यह बात वैक्रम संवत् २००० की है। लेखक को इस पुस्तक के प्रकाशन से हार्दिक प्रसन्नता हुई। इस प्रसन्नता के अनेक कारणों मे उल्लेखनीय कारण यह भी था कि प्रो० रघुनन्दन मेरे गुरुजी के छोटे भाई होने से मेरे लिए गुरुवत् ही थे। लेखक सर्वथा निश्चिन्त होकर अन्य कार्यो मे व्यस्त हो गया।

दैव-दुर्विपाक से भारत का विभाजन हो गया। लेखक मुलतान से उखड़ कर दिल्ली-निवासी बना। कई वर्ष तो अपने सिर से 'शरणार्थीपन' की टोपी उतारने में व्यतीत हो गए। गहरी नीद मे सोये हुए भाग्य ने पुनः अंगडाई ली। दिवास्वप्न नये सिरे से तिरमिराने लगा। पजाब के हिन्दी-साहित्य को क्रमबद्ध करने मे शान्त पड़ी वह जीर्ण जर्जर लालसा एकाएक जाग उठी। उक्त इतिहास के हेतु लेखक ने पजाब में आना-जाना आरम्भ कर दिया। सन् १९३७ में लेखक की 'इबादतगाह' केवल एक थी—भाई शमशेर-सिह 'अशोक' का घर; सन् १९५७ मे उसे कई नये शरण-स्थल मिल गए—प० ओम्प्रकाश आनन्द, भाई देवेन्द्रसिह विद्यार्थी तथा नामधारी सन्त इन्द्रसिह चक्रवर्ती। इन्ही के बलबूते पर लेखक के 'दिवास्वप्न' ने नयी करवट बदली। अब 'दिवास्वप्न' सकल्प मे और सकल्प फलागम में परिणत हुआ है। इतने पर भी लेखक भाई प्यारासिह 'पद्म' तथा प्रो० प्रीतमसिह के स्वर्ण-सहयोग से वंचित अपने प्रयत्न को अपूर्ण ही मानता है।

लेखक अपनी अक्षमताओं से अपरिचित नही है, उसकी कार्य-सीमाएँ सर्वदा उसके सामने रही है, फिर भी वह अपने उद्देश्य के प्रति निष्कपट है। यही कारण है कि भाग्य ने इस श्रम-साध्य काम के लिए मुझ-जैसे व्यक्ति को चुनकर (यद्यपि) भूल की है, पर मेरा निवेदन तो इतना ही है—

केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथानियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।

लेखक डॉ० बहादुरचन्द छाबड़ा के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता है, जिन्होने इस पुस्तिका के लिए प्राक्कथन लिखकर उसे अनुगृहीत किया है।

पं० मौलिचन्द्र शर्मा, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, डॉ० सत्यदेव चौधरी तथा डॉ० हरभजनसिंह के प्रति मैं अति विनम्र भाव से हार्दिक श्रद्धांजलि निवेदन करता हूँ कि उन्होंने मेरे मन्द पड़ रहे उत्साह को जागृत एवं कार्यरत रखा है। इन्हीं की प्रेरणा और आशीर्वाद से ये पंक्तियाँ छपने योग्य हो सकी हैं। इधर इसके प्रकाशन का पूरा-पूरा उत्तरदायित्व श्री बी० पी० 'माधव' जी पर रहा है। 'नेशनल पब्लिशिंग हाउस' के संचालक ने इस पुस्तक के मुद्रण का भार उठाकर न केवल लेखक को उपकृत किया है, अपितु पंजाब की सेवा भी कम नहीं की है। अतः वे सर्वथा आदरणीय एवं महनीय हैं।

लेखक और प्रेस में सम्भावित खींचतान के कारण पुस्तक में प्रूफ़-सम्बन्धी भूलों की कमी नहीं रहती। सो इस दुर्भाग्य का शिकार यह पुस्तक भी हुई होगी। इसके लिए लेखक कृपालु पाठकों से क्षमा चाहता है और पं० ओमप्रकाश शर्मा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है कि जिन्होंने इस विषम परिस्थिति में लेखक की सहायता की है। बस, एक बात और—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः।

आषाढस्य प्रथम दिवसे
युधिष्ठिर संवत् ५१०३,
गुप्त-संवत् १६५५,
शालिवाहन संवत् १९३०

विदुषामनुचरः—
चन्द्रकान्त बाली
१५ जून, १९६२

विषय-सूची

प्राक्कथन

विषय प्रवेश पृष्ठ १-४८

भारत और भारतीय—१, हिन्दूजाति का आदिदेश : पंजाब—३, पंजाब का ऐतिहासिक महत्त्व—६, पंजाब की भौगोलिक रेखाएँ—८, पंजाब की साहित्यिक परम्पराएँ—१७, हिन्दी की परिभाषा—१९, हिन्दी मुसलमानों की बोली—२२, हिन्दी : पंजाब की उपज—३०, हिन्दी-उर्दू विघटन—३२, हिन्दी-पंजाबी—३५, लिपि—३७, साहित्य—३९, इतिहास—४०, आधारभूत सामग्री—४१।

आदिकाल : पृष्ठभूमि पृष्ठ ४९-९७

ऐतिहासिक प्रगति—५१, (**अरब आक्रमण**—५३, **तुर्क आक्रमण**—५३, **मुग़ल आक्रमण**—५६, **गजनी दिल्ली संघर्ष** ५९), धार्मिक आन्दोलन—६२ (**भारतीय धर्म**—६२, **इस्लाम**—६९) सामाजिक अवस्था—७७, आर्थिक दशा—८०, साहित्यिक प्रभाव—८१ (**हिन्दी का पहला कवि**—८५, **आगन्तुक कवि**—८९, **मुस्लिम अत्याचारों पर मौन क्यों ?**—९१, **हिन्दी साहित्य का अभाव**—९३, **उपलब्ध हिन्दी साहित्य का वर्गीकरण**—९३, आदिकाल—९३, भाषाई चिन्तन—९४, व्याकरण—९६।

आदिकाल : कवि परिचय पृष्ठ ९८-१३९

अद्दहमाण—९८, चौरंगीनाथ—१०५, चंदबरदाई—१०८, फ़रीदु-द्-दीन शंकरगंज—१२७, चर्पटनाथ—१३६, जयदेव—१३७, बालानाथ—१३९, बू अलीशाह कलंदर—१३९।

मिश्रितकाल : पृष्ठभूमि पृष्ठ १४१-२१२

ऐतिहासिक प्रगति—१४३ (**मुग़ल शासन की नई नीति**—१४४, **पंजाब पर मुग़लशासन का लौहपाश**—१४७, **मुग़लों तथा सिख गुरुओं में खींचतान**—१४९, **सिख रियासतों का अभ्युदय**—१५१, **मुग़ल सत्ता का अन्त**—१५४,) धार्मिक आन्दोलन—१५५, (**नाथ सम्प्रदाय**—१५५, **भारतीय सनातन धर्म**—१५५, **सिख धर्म**—१५९, **इस्लाम**—१६८) सामाजिक अवस्था—१७२, आर्थिक दशा—१७३, साहित्यिक रूपरेखा—१७५, (**पार्श्ववर्ती साहित्य**—१७६, **आदिग्रन्थ**—१८५, **आगन्तुक कवि**—१९३, **वर्गीकरण**—१९६,) मिश्रितकाल २०९, भाषाई चिन्तन २११।

मिश्रितकाल : कवि परिचय पृष्ठ २१३-३९०

साईंदास—२१३, गुरु नानकदेव—२१६, गुरु अंगददेव—२२६, सलेमशाह

—२३०, गुरु अमरदास—२३०, भक्त सूरदास—२३३, स्वामी हरिदास—२४१, अकबर—२४४, गुरु रामदास—२४५, भाई गुरुदास—२४८, रहीम कवि—२५२, गुरु अर्जुनदेव—२५४, हृदयराम भल्ला—२५७, कृपाराम—२६५, गुरु तेगबहादुर—२६५, रामचन्द्र—२६८, गुरुगोविन्द सिंह—२६९, बाबालाल—२८१, राजाराम दुग्गल—२८४, गुरदास गुणी—२८६ सहजराम—२८९, सेनापति—२९०, टहकन—२९२, भाई मनीसिंह—२९३, अमृतराय—२९७, अणीराम—२९८, संतदास छिब्बर—३००, सन्तरेण—३०२, हरियाजी—३०३, सभाचन्द सोंधी—३०५, निश्चलदास—३०९, गरीबदास—३१०, गुलाबसिंह—३१२, हरिराम—३१४, गिरिधर कविराय—३१५, मूसा—३१७, सुखासिंह—३१८, सरूपचन्द भल्ला—३२०, दत्तकवि—३२२, अमीरदास—३२३, मुकुन्द कवि—३२६, गणेश कवि—३२७, सत ईश्वरदास—३३०, रसपुंज कवि—३३१, रत्नसिंह—३३२, संतोषसिंह—३३५, बुधसिंह—३३८, निहाल कवि—३३९, साहबसिंह 'मृगेन्द्र'—३४२, उमादास (भवानीदास)—३४४, तोषहरि—३४५, वसंतसिंह 'ऋतुराज'—३४६, कीरतसिंह—३४७, हरनाम—३४८, फतैसिंह या फतैराम—३४९, लालसिंह दास—३५० वंशी पंडित—३५१, मैनकवि—३५२, दलसिंह—३५३, दित्तेराय—३५४, गणेशसिंह वेदी—३५५, नारायण स्वामी—३५६।

कुछ अन्य कवि **पृष्ठ ३५८-३९०**

राय पुगर, राजा टोडरमल, चतुरदास, प्रहलाद कवि, कान्हाकवि, जयकृष्ण भोजगी, दयाल अनेमानंद सरस्वता, लछीराम. तनसुखराय, गिरधारी, धन्नासिंह, मंगलकवि, आलम, केसर सिंह छिब्बर, सुन्दर कवि, प्रहलादसिंह, केशोदास, ग्राहनदास, हरदयाल, हाशमशाह, किशोरीदास, शिवदयाल, जयसिंह, जमीयतराय, बुधसिंह, कृष्णलाल, पटियालापति नरेन्द्रसिंह, गंगाराम, रामदास, रूपचन्द, अद्वैतानंद 'ब्रह्म', जैसिंह सैनी, पंजाबी रामसिंह रँगीला, वीरसिंह पंजाबी, मूलसिंह, सेवासिंह जाट, मूलसिंह लहरी, भगवानसिंह बनूडी, विशन सिंह, खेमराज, आत्मसिंह, उत्तमसिंह, गुलाम कादर, ज्ञानाराम, महाराज निहालसिंह, टहलसिंह, वीरसिंह 'बल', वीरसिंह भाई, सोहन कवि, महाराजा राजेन्द्रसिंह, नारायणसिंह 'प्रेमनिधि', महाराजा फतैसिंह।

परिशिष्ट **३९१-४३२**

शेष कवि सूची, सत्तसिंधु से पंजाब तक (मानचित्र), मुगल आक्रमण, ठक्कर वंश, पंजाब के धार्मिक स्थान, (मानचित्र), खुसरो की जेलयात्रा, रासय का भूगोल (मानचित्र), विक्रमादित्य शालिवाहन, चन्दवंशावली, तिथिसारिणी, फरीदवंश, पंजाब के मुसलिम गवर्नर, भट्टी वंशावली, धार्मिक विकास, स्वर्णमन्दिर के प्रधान ग्रन्थी, पटियालवी भाषा, उदासियाँ (गुरु नानक देव की यात्राओं का मानचित्र) भल्ला वंश, मनीसिंह का पत्र, सोधक कमेटी की रिपोर्ट।

विषय-प्रवेश

आध्यात्मिक, ऐतिहासिक तथा साहित्यिक उपलब्धियों और तज्जनित मूल्यों के आधार पर भारतवर्ष विश्व का मुकुट-मणि मान लिया गया है। विविध विदेशों के प्रख्यात विद्वज्जनों ने एक-स्वर से एवं मुक्त-कण्ठ से भारतवर्ष के प्रशस्ति-गीत गाए हैं। भारत और भारतीय चिरकाल से विदेशी राजदूतों, यात्रियों, संतों, कवियों तथा वृत्तलेखकों को आकर्षित करते रहे हैं, उनके प्रीति-पात्र एवं प्रशस्ति-पात्र रहे हैं। श्री एम० लुई जेकोलियट ने भारतभूमि की वन्दना करते हुए कहा है : "**हे प्राचीन भारत भूमि ! हे मानव-जाति की पालन करने वाली ! हे पूजनीया, हे पोषणदात्रि ! तुझे नमस्कार है। शताब्दियों से चलने वाले पाशविक अत्याचार आज तक तुझे नष्ट नहीं कर सके। तेरा स्वागत है। हे श्रद्धा, प्रेम, कला और विज्ञान की जन्मदात्रि ! तुझे नमस्कार है !**" भारतीयों (हिन्दुओं) का चारित्रिक मूल्यांकन करते हुए श्री क्रिडिल ने कहा है : "**हिन्दुओं के चरित्र की निष्कपटता तथा ईमानदारी उनकी मुख्य पहिचान है, वे कभी अनीतियुक्त वचन नहीं बोलते।**" इस कथन का स्पष्टीकरण श्री सैमुएल जानसन के शब्दों में देखिए : "**हिन्दू लोग धार्मिक, प्रसन्न, न्याय-प्रिय, सत्यभक्त, कृतज्ञ और प्रभुभक्ति से युक्त होते हैं।**" पैरिस-विश्वविद्यालय के प्रख्यात प्रोफेसर श्री लुई रिनाऊ ने संसार में भारत को उच्च स्थान देते हुए लिखा है : "**संसार के लोगों में भारतवष के प्रति लोगों का प्रेम और आदर उसकी बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक सम्पत्ति के कारण है।**" भारतीय जन-जीवन का विश्लेषण करने वाली कुमारी दिनोवास्का (पोलैण्ड) का कथन है : "**भारतीय चरित्र की आन्तरिक दयालुता, उनके स्वभाव की सुन्दरता और सरलता ही उनको वास्तविक बन्धुत्व की भावना प्रदान करती है।**" यह भारत

भारत और भारतीय

के आध्यात्मिक पक्ष का एक चित्रण है, अथवा जन-जीवन का वह प्रतिबिम्ब है, जो विदेशियों के मानस-पटल पर अंकित हुआ है। भारत का इतिहास भी गौरवपूर्ण एवं विस्मयवर्धक रहा है। भारत-इतिहास में, विश्व में सबको पीछे छोड़ गया है। भारत की वृत्त-गाथा जितनी सनातन बताई जाती है, उतनी अथवा उसके लगभग की वृत्त-गाथा किस देश की है? भारतीय साहित्य को भी तदीय इतिहास के अनुरूप मान्यता मिलती रही है। आज से आठ शताब्दी पूर्व एक मुसलमान विद्वान ने कहा था : **"ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद एवं अन्य विद्याओं में हिन्दू लोग आगे बढ़े हुए है।.....उनके पास काव्य, दर्शन, साहित्य तथा नैतिक शास्त्रों का संग्रह है।"** आज से नव शताब्दी पूर्व श्री याकूबी भी कुछ ऐसी स्थापना कर गया था : **"बुद्धि और विचारशीलता में हिन्दू विश्व की सभी जातियों से ऊँचे है। गणित तथा फलित ज्योतिष में उनका ज्ञान किसी अन्य जाति से अधिक यथार्थ है। चिकित्सा-विषयक उनकी सम्मति प्रथम कोटि की होती है।"**[१] यह है वह संक्षिप्त-सा परिचय, जो भारत और भारतीयों की वास्तविकता को विश्व के समक्ष उपस्थित करता है। किसी देश-विदेश के विषय मे विदेशी लोग सुगमता से कुछ भी कह सकते है; परन्तु अपने विषय मे स्वयं कहना असंभव नही तो कठिन अवश्य है। देखते क्या है! भारतीयों ने स्वयं अपना परिचय विश्व के समक्ष इन शब्दों मे रखा है :

एतद्देश - प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

—मनु

उक्त चरित्र-शिक्षा मे स्पृहणीय आध्यात्मिकता, महान् चरित्र जो स्वयं एक सफल साहित्य है और अपने आप में महान् इतिहास है, निहित है। अतः भारतवर्ष की अपने विषय मे स्थापित मान्यता विदेशी विद्वज्जनों एवं राजनयज्ञों की स्वीकृति बन गई है।

जिस प्रकार यह यथार्थ है कि विश्व में भारत का स्थान प्रथम एवं उच्च माना जाता है, ठीक उसी प्रकार भारत के प्रादेशिक विभाजन में पंजाब का मूर्धन्य स्थान है। हिन्दू-जाति तथा हिन्दू-संस्कृति का 'आदिस्थान' असंदिग्ध शब्दों में पंजाब को माना जाता है।

इतिहासकारों ने यद्यपि इसके विपरीत पुष्कल और पुष्ट प्रमाण जुटाए हैं, पर उनमें 'सार' कितना है, इस पर विचार करने की काफी गुंजायश है। स्वामी

---

१. कल्याण : हिन्दू-संस्कृति अंक : जनवरी, १९५०।

हिन्दू जाति का आदि देश : पंजाब

दयानन्द ने सृष्टि का आरंभ तिब्बत से माना है। इसके समर्थन में आर्य विद्वानों ने दो-एक मंत्र भी उद्धृत किये है।[1] स्वामीजी का अभिमत अपने-आप मे कितना सशक्त है, इसका समाधान स्वामीजी की मान्यताओं में से ढूँढ़ा जा सकता है। क्या स्वामीजी वेद में इतिहास मानते है ? निश्चयपूर्वक इसका उत्तर 'हाँ' में नहीं दिया जा सकता। फिर तिब्बत से मानव-सृष्टि की चर्चा, जो स्वयं इतिहास का प्रमुख बिन्दु है, वेदों में से कैसे प्रकट हो गई ? चूंकि उनके मतानुसार वेद मे इतिहास नही है, अतः 'विष्टप' का अर्थ यौगिक पद्धति से किसी अन्य दिशा मे लगाना होगा। 'तिब्बत' जैसा रूढ़ एवं इतिहासपरक अर्थ लेना उन्ही के मतानुसार असंगत है। श्री बाल गगाधर तिलक भी अपने वैदिक अनुसन्धान के बल पर अपना इतर अभिमत व्यक्त करते हैं। उनके मतानुसार आर्यजन उत्तरी ध्रुव-प्रदेश के निकट रहते थे और वहाँ से चल कर भारत में आ बसे थे।[2] इस अभिमत में दो-चार आपत्तिजनक बातें जुड़ी हुई है। पहली बात, क्या आर्यजन आज भी उत्तरी ध्रुव के निकट बसते है ? अथवा क्या वहाँ आर्यजनों के अस्तित्व के अवशेष पाए जाते हैं ? दूसरी बात, क्या उत्तरी ध्रुवनिवासी तथा भारतवासी लोगों में रक्त-साम्य या संस्कृति-साम्य पाया जाता है ? इन प्रश्नों के संतोषजनक उत्तरों के अभाव में श्री तिलक का अभिमत मनीषी इतिहासकारों के लिए कैसे मान्य हो सकता है ! श्री अविनाशचन्द्र दास ने श्रीतिलक के वेदमूलक अभिमत का वैदिक मत्रों द्वारा खण्डन कर दिया है। प्रायः अन्य अनेक इतिहासकारो ने आर्यों का मध्य एशिया से भारत-आगमन स्वीकार किया है। इन इतिवृत्तलेखकों की स्थापनाएँ किसी पुष्ट प्रमाण तथा गहन अनुसन्धान पर आधृत हैं—यह कहना साहसमात्र होगा; बल्कि इन स्थापनाओं के पीछे कूटनीति तथा दुरभिसन्धि काम कर रही है—यह कहा जाय तो अधिक अर्थसंगत होगा। अतः अनुसन्धायकों के लिए ये प्रमाण या विचार कितना आकर्षण रखते है, इस पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

१. (क) साकं सजातैः पयसा सहैध्युदब्जैनां महते वीर्याय।
ऊर्ध्वो नाकस्याधि रोह **विष्टपं** स्वर्गो लोक इति यं वदन्ति। अथर्व ११।१।७;
(ख) इमानि त्रीणि **विष्टपा** तानीन्द्र विरोहय। ऋग् ८।९१।५

२. (क) दुनियाँ की कहानी : राधाकृष्ण शर्मा : पृष्ठ ९२।
(ख) पंजाब का इतिहास : धर्मवीर एम० ए० : पृष्ठ ३६।

हिन्दूजाति एवं हिन्दू-संस्कृति का जन्म पुण्य-भूमि पंजाब में हुआ है, और यहीं से चलकर शेष भारत में उसका विस्तार और प्रचार हुआ है। भू-खनन से जो नित्य नूतन उपलब्धियाँ हो रही है और नित्य नये तथ्यों का अन्वेषण हो रहा है, उन्हीं के बलपर इतिहासकार पंजाब को आर्यों का आदिदेश मानने में सहमत हो रहे हैं। श्री अविनाशचन्द्र दास ने अपने ग्रन्थ 'ऋग्वैदिक इण्डिया' में यह सिद्ध किया है कि पंजाब ही आर्यों का मूलदेश है।[1] इस मान्यता की पुष्टि श्री चिन्तामणि वैद्य की 'इपिक इण्डिया' नामक पुस्तक से भी हो जाती है।[2] श्री वैद्य का कहना है कि आर्य लोग पंजाब से चलकर रुहेलखण्ड, अवध और बिहार में आबाद हुए थे। इन सब विद्वानों का कथन पर्याप्त प्रमाणों से पुष्ट है। भारत और भारत से बाहर—सर्वत्र विद्वज्जनों ने एकस्वर से यह घोषित किया है कि 'ऋग्वेद' विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ है। ऋग्वेद का कहना है कि **"इन्द्र ने आर्यों के निवास के लिए 'सप्तसिन्धु' की भूमि प्रदान की।[3]"** 'सप्तसिन्धु' पंजाब की वेद-युगीन संज्ञा है। वेद में सप्त-सिन्धु, अर्थात् सात नदियों का वर्णन अनेक स्थलों पर आया है। अतः जब वैदिक प्रमाण, आदि-देश के रूप में, पंजाब की ओर निर्देश करते है, तब उसके विषय में अन्य तर्क तथा अवैदिक प्रमाण स्वतः निरस्त हो जाते है। शतपथ-ब्राह्मण मे सृष्टि-आरंभ की गाथा दी हुई है।[4] गाथा के अनुसार, देवों के अवशेष, मानवसृष्टि के आदि-पुरुष 'मनु' की नौका हिमालय के शिखर से आ लगी थी। श्रुति-परम्परा-सम्मत मनु का आदि-देश हिमालय मे ढूँढा जा सकता है; मनाली का मनु-मन्दिर तथाकथित श्रौत सत्य का ज्वलन्त उत्तर है। मनाली की घाटी पंजाब का पार्वत प्रदेश है और सिन्धु-तल से ६००० फुट की ऊँचाई पर है। मनु की पत्नी भी गान्धार देश की कन्या बताई जाती है। गान्धार देश सिन्धुतट के परवर्ती भू-भाग का नाम है।[5] यदि आज का 'कन्धार' गान्धार का अपभ्रंश

---

१. पंजाब का इतिहास : धर्मवीर एम० ए० : पृष्ठ ३६।

२. वही, पृष्ठ ४५।

३. अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टि दाशुषे मर्त्याय।

—ऋग्वेद ४।२६।२

४. अपीपरं वै त्वा वृत्रे नावं प्रतिबध्नीष्व तं तु त्वा मा गिरौ सन्तमुदकम् अन्तश्छैत्सीत् यावद् यावदुदकं समवायात्—तावत् तावदन्वसर्पसीति सह तावत् तावदेवान्ववसस्पर्ष तदप्येतदुत्तरस्य गिरेर्मनोरवसर्पणमिति। —श० ब्राह्मण, १ प्रपा ८।६।

५. त्वं सिन्धो: कुभया गोमती क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे। —ऋ० १०।७५।६

है तो इस आधुनिक भौगोलिक तथ्य से शतपथ ब्राह्मण के कथानक की तथा वैदिक भूगोल की पुष्टि हो जाती है। दूसरा, पंजाब के प्राचानतम नगरो का नामकरण भी सृष्टि की आद्य स्थिति का परिचय देता है। जैसे मुल्तान का नाम 'मूलस्थान' विख्यात है; मूलस्थान का अर्थ है—आदि देश। मुल्तान के उत्तर-दक्षिण पार्श्वों में स्थित 'हड़प्पा' और 'मोएनजोदड़ो' की खुदाई से यह सिद्ध और प्रसिद्ध हो चुका है कि ये प्रदेश विश्व की प्राचीनतम सभ्यता के अवशेष है। इसी प्रकार लाहौर का प्राचान नाम 'लब्धपुर' या 'लाभपुर' बताया जाता है, जिसका सांकेतिक अर्थ है—खोजा हुआ या पाया हुआ प्रदेश; अर्थात् मुल्तान से चलकर आर्यो ने पहले-पहल इस नगर को बसाया होगा। इतना ही नहीं, इस देश का तथा जाति का नामकरण भी पंजाब के कारण स्थिर हुआ प्रतीत होता है। प्राग्वैदिक काल के सप्त-सिन्धु के निम्न-लिखित तीन भाग बताए जाते है—

(क) सरस्वती के ऊपर का प्रदेश,

(ख) सरस्वती के नीचे का प्रदेश, और

(ग) काश्मीर (पार्वत प्रदेश)।

सात नदियों के मध्य में भारत, तृत्सु, अणु, द्रह्यु और यदु—ये पाँच जन रहते थे।[1] इनमे से 'भारत' नामक जन ने आगे बढ़कर रुहेलखण्ड, बिहार आदि प्रदेशों को बसाया था; और इसी कारण देश का नाम 'भारतवर्ष' प्रसिद्ध हुआ। इससे भिन्न मत रखने वालों का कुछ और ही कहना है। उनके मत मे 'हिन्दू' शब्द 'आर्य' अथवा 'भरत' शब्द से भी पुराना है। अपने अभिमत के समर्थन में वे निम्न तर्क उपस्थित करते है—

१. वैदिक साहित्य में जहाँ-जहाँ 'आर्य' शब्द आया है, उसका अर्थ जाति-परक नही है। बल्कि उसका ग्राह्य अर्थ है—श्रेष्ठ, कुलीन अथवा सभ्य।'

२. 'आर्य' दस्यु शब्द की अपेक्षा रखता है; अर्थात् जो दस्यु नहीं है, वह आर्य है। उनके विचार में 'आर्य' विशेषण तो हो सकता है, पर संज्ञा नहीं—ऐसा अभिमत रखने वाले एक वेदमन्त्र उपस्थित करते हैं और मन्त्र-पादों के आद्य वर्णों से 'हिन्दु' संज्ञा का संदोहन करते है और उसी मन्त्र में हिन्दू की परिभाषा भी देखते हैं।[3] यदि उनका कथन सत्य है और 'हिन्दू' नाम ही

---

१. पंजाब का इतिहास : धर्मवीर एम० ए० : पृष्ठ ६०।

२. महाकुल-कुलीनार्य्य-सभ्य-सज्जन-साधवः। —अमरकोश

३. हिङ् क्रण्वन्ती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात्।
दुहामश्विभ्यां पयोऽअघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय॥
—सनातनधर्मालोक; चतुर्थपुष्प : दीनानाथशास्त्री : पृष्ठ ६२

हमारा मौलिक नाम है तो कोई भी निष्पक्ष अध्येता यह निर्णय कर सकता है कि चूँकि वेदों का आद्य-दर्शन पंजाब के ऋषियों को हुआ था, अतः यह संज्ञा भी उन्हीं ऋषियों की गोत्र-परम्परा पर चरितार्थ होनी चाहिए, और यह हुआ भी; फलतः हिन्दू पजाब से चल कर जहाँ-जहाँ गये, उस-उस प्रदेश का नाम 'हिन्दुस्तान' प्रसिद्ध हुआ। उक्त अभिमत भी हमारे प्रतिपाद्य सिद्धान्त की ओर संकेत करता है कि 'हिन्दू जाति' और 'हिन्दू संस्कृति' का मूलस्थान पजाब है।

इसके अतिरिक्त एक अन्य जनश्रुति भी है कि हमारा 'हिन्दू' नाम पारसियों का दिया हुआ है। पारसियो के सह जसभाषण मे 'स' का उच्चारण 'ह' के रूप किया जाता है। अतः पारसी जन सप्तम को 'हफ्तम्' और सिन्धु को 'हिन्दु' स्वभावतः बोलते है। पारसियों के प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ 'जेंदअवेस्ता' में 'सप्त-सिन्धु' के स्थान पर 'हफ्त हिन्दू' का उल्लेख इस पक्ष में उद्धृत किया जाता है।[1] कोई सिन्धु से हिन्दु शब्द की व्युत्पत्ति का प्रसंग उठाकर 'स-ह' के वर्ण-विपर्यय का श्रेय पारसियों को देना चाहें तो भले ही दे, पर 'स-ह' का वर्ण-विपर्यय पंजाब के सहज संभाषण में भी पाया जाता है।[2] यदि स-ह का वर्ण-विपर्यय व्याकरण-सम्मत है, तो मानना होगा कि यह हिन्दु नाम पहले पंजाब पर लागू हुआ होगा, बाद में शेष भारत पर।

निष्कर्ष यह कि—

वैदिक प्रमाणों, ऐतिहासिक अन्वेषणों, धार्मिक अभिमतों तथा विभिन्न विचारों से यह सहज सिद्ध है कि सचमुच 'पंजाब' हिन्दू जाति एवं हिन्दू-संस्कृति का आदि-स्थान है।

पंजाब का ऐतिहासिक महत्त्व

पंजाब का इतिहास भी उसकी गौरव-वर्धिनी परम्पराओं के अनुरूप ही है। अगर किसी प्रदेश को समस्त भारतवर्ष का सजग प्रहरी कहा जा सकता है, तो वह पंजाब है। भारत पर जितनी आपत्तियाँ आईं, पंजाब ने आगे बढ़कर उन सबको सहर्ष अपने ऊपर सहन किया। कुछ इतिहासकारों ने पंजाब को भारत का 'सिंह-द्वार' माना है, जो असंदिग्ध सत्य है। सचाई यह है कि पंजाब का उत्थान सारे भारत का उत्थान और पंजाब का पतन सारे भारत का पतन सिद्ध हुआ है। यदि पंजाब के इतिहास को सारे भारत का इतिहास माना जाय तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी।

---

१. कल्याण : हिन्दूसंस्कृति अंक ; वर्ष १९५०।

२. सरस्वती-हरस्वती, अनुसार-अनुहार, सकृत-हिक, सर्वा-हब्बा, दस-दह आदि।

विगत पाँच हजार वर्षों मे पंजाब ने कई उत्थान-पतन, कई क्रान्तियाँ और कई समर देखे है। सबसे पहले पजाब मे महाभारत का महासमर हुआ। महाभारत मानों भारत के पतन का पुरश्चरण था। अठारह अक्षौहिणी सेना केवल अठारह दिनों मे धराशायिनी हो गई। महाभारत के बाद पंजाब ने जनमेजय का नाग-यज्ञ देखा ; जिसमें ब्राह्मणो (नाग जाति) तथा क्षत्रियो का नया वर्ग-सघर्ष हुआ। इस गण-संघर्ष ने भारत की स्वर्णिम वर्ण-व्यवस्था में एक दरार पैदा की, जिससे भारत मे आक्रमण करने वालो का मार्ग खुल गया। आक्रान्ताओं मे सिकन्दर का स्थान प्रथम रेखा पर आता है। पंजाब के शकों (क्षत्रियो) तथा नागों (ब्राह्मणो) के वैमनस्य से सिकन्दर को प्राथमिक परन्तु आंशिक एव दर्प-भंजिनी विजय मिली। झेलम के ब्राह्मण राजा पुरु ने जिस वीरता से उसका सामना किया—इसका रोचक विवरण इतिहास से पूछना चाहिए। सौवीर के गक्खरों ने सिकन्दर को खूब छकाया था; फलस्वरूप सिकन्दर को आगे बढ़ने का साहस ही नही हुआ। कुणाल ने इसी भूमि पर पहुँच कर अपनी विमाता की आज्ञा मानकर अपने को नेत्र-हीन कर लिया था। शकों और शालिवाहनों का चिर-संघर्ष अभी प्रकाश मे नही आया। पर विक्रमादित्य शालिवाहन ने पल्लवों को पीछे धकेल कर उज्जयनीपति विक्रमादित्य के सत्र को पूर्ण किया था—इतनी गाथा पजाब आज भी स्मरण करता है। इतिहास के एक प्रमुख पात्र राज्यवर्धन ने हूण-आक्रमणों का कितनी सफलता से सामना किया, भला यह घटना कभी भुलाई जा सकती है ! निरन्तर एक हजार वर्ष तक यूनानियों, शकों, हूणों, बैक्ट्रियनों और पार्थियनों के आक्रमण अपनी छाती पर सहन कर पजाब मुस्लिम-आक्रमणों का सामना करने के लिए पुनः सन्नद्ध हो गया। मुसलमानों के अमानुषिक आक्रमणों और आघातों को सहन करके भी पंजाब में साहसिक जीवन यथावत् बना रहा। दूसरे सहस्राब्द में अरबों, तुर्कों, अफ़गानों, पठानों और मुगलों के भयानक आक्रमण भी पंजाब को सहने पड़े। जहाँ तक इन आक्रमणों का सामना करने का प्रश्न है, वहाँ तक पंजाब ने अपने सहज साहस का परिचय दिया ; परन्तु भारत के अन्य प्रदेशों की उपेक्षा-वृत्ति के फलस्वरूप जहाँ वह दुर्बल पड़ गया, वहाँ दिल्ली का और दिल्ली के बाद भारत का पतन अवश्यंभावी हो गया। जब तक पंजाब में मुस्लिम शासक या मुस्लिम सत्ता रही, तब तक भारत ने सुख-श्वास नहीं लिया। महाभारत से लेकर ब्रिटिश काल तक पंजाब का गौरवपूर्ण एवं शाश्वत इतिहास भारतवर्ष के जीवन-मरण का ज्वलन्त प्रश्न बना रहा है। आज

स्वतन्त्रता के नवोदय काल (२००४ वि०) मे पजाव ने ही सबसे अधिक कष्ट सहन किये है। अमानवीय अत्याचारो की चर्चा न भी चलाई जाय, तो भी उसका एक महत्त्वपूर्ण भाग उससे कट कर पृथक् 'पाकिस्तान' बन कर खड़ा हो गया है।

इतिहास इस प्रकट सत्य का साक्षी है कि शत्रुओं के निरन्तर आक्रमणों ने पंजाब को झुकाया नहीं, बल्कि बनाया है। पंजाब का रंगीन, साहसिक, आह्लादपूर्ण जीवन इतिहास की एक मधुर देन है।

पजाब का अर्थ है—पाँच नदियों का देश। श्रुति-परम्परा यह सिद्ध करती है कि 'पंजाव' का यह नामकरण सम्राट् अकबर का दिया हुआ है। इससे पूर्व इसे 'पंचनद' कहा जाता था। 'पंचनद' संज्ञा का उल्लेख महाभारत मे पाया जाता है।[1] मुल्तान से ९० मील दूर 'उच्च' के स्थान पर पंजाव की पाँचों नदियाँ मिल जाती है। इस संगम को आज भी पंच-नद कहा जाता है। सम्भवत: पहले-पहल अमीर खुसरो ने पचनद का फारसी-अनुवाद किया था।[2] आगे चलकर यह नाम इतना लोकप्रिय हुआ कि सम्राट् अकबर को शासकीय स्वीकृति के साथ अपनाते ही बना। पर जब पंचनद के पूर्ववर्ती इतिहास पर दृष्टि डालते है तो वैदिक, पौराणिक, यूनानीकालिक पंजाव की भौगोलिक सीमाएँ परिवर्तित हुई ज्ञात होती है, और उनके कई नाम भी रखे गए प्रतीत होते है।

पंजाब की भौगोलिक रेखाएँ

ऋग्वेद का नदी-सूक्त पढकर यह सरलता से बताया जा सकता है कि प्राग्वैदिक युग में पजाब के दो भाग थे—

(क) सिन्धु नदी का पूर्ववर्ती प्रदेश, जिसमे सात नदियाँ बहती थी : गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्रि, परुष्णी असिक्नी और सुषोमा।[3] अन्तिम चार नदियों के आधुनिक नाम ये है—सतलुज, चिनाब, रावी और झेलम। न जाने, इसमें व्यास नदी का नाम क्यों रह गया है! स्यात् पहले इसे सरस्वती नाम प्राप्त हो।

(ख) सिन्धुनदी का परवर्ती प्रदेश, उसमे भी सात ही नदियाँ बहती

१. कर्ण-पर्व ३८।३०

२. पंज आबे दीगर अन्दर मोलतां (मुल्तान) आमद पदीद।

—अमीर खुसरो (१२८० ई०)

३. इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥ ऋग्वेद १०।७५।५

थी : तृष्टामा, सुसर्तु, रसा, श्वेती, कुभा और गोमती।[1] सातवी नदी का नाम (वर्गु) इसमे से छूट गया प्रतीत होता है, परन्तु बाद के साहित्य मे उसका उल्लेख मिलता है।[2]

ये दोनों प्रदेश मिलकर 'सप्तसिन्धु' कहलाते थे; सिन्धु नदी तथाकथित महा-सप्तसिन्धु प्रदेश को विभाजित करती थी। यह नदी आज भी अपने प्राक्तन स्वरूप को धारण किये हुए है। सप्तसिन्धु का यह विस्तृत भौगोलिक ऐक्य कब तक बना रहा, इसका उत्तर निर्भ्रान्त शब्दों मे दे सकना कठिन है। ऐसा लगता है, ऋग्वेदोत्तर-युग मे ही उक्त महाप्रदेश दो प्रदेशों में विभक्त हो चुका था और तब सिन्धु-परवर्ती प्रदेश को 'गान्धार' नाम से अभिहित भी किया जाने लगा था।[3] यह सज्ञा पुराण-युग तथा तदुत्तर-युग में निरन्तर चरितार्थ रही।[4] सिन्धु-पूर्ववर्ती प्रदेश उत्तरोत्तर युगो मे, नाना जनपदो मे विभाजित होता रहा। कभी ये विभाजक रेखाएँ मिट जाती और 'सारस्वत' प्रदेश एक बना रहता; और कभी ये रेखाएँ उभर आती एवं एक प्रदेश कई उपप्रदेशों में बँट जाता। भारतीय इतिहास को भारतीय दृष्टि से अवगाहन करने वालों में अग्रणी श्री भगवद्दत्त जी ने सिन्धु के पूर्वतटवर्ती जनपदों का रेखाकन किया है।[5] उनका आधार पुराण-ग्रन्थ तथा अलबेरूनी का यात्रा-वृत्तान्त है। पर,

---

१. तृष्टामया प्रथम यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेतया त्या।
त्वं सिन्धो कुभया गोमती क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे॥ ऋग्वेद १०।७५।६

२. वर्गुर्नाम नदः तत्समीपो देशः वर्गुः। काशिका-वृत्ति ४।२।१०३।
(भारतवर्ष का बृहत् इतिहासः भगवद्दत्त)

३. गन्धाराणामिवाविका।—ऋग्वेद १।१२६।७

४. (क) नग्नजिते गान्धाराय।—ऐ० ब्राह्मण
(ख) अथ ह स्माह स्वर्जिन्नाग्नजितः। नग्नजिद्वा गान्धारः।—शतपथ ब्राह्मण ८।१।४।१०।

५. मत्स्यपुराण	वायुपुराण	ब्रह्मण्डपुराण
(१२।१८।४८-४६)	(४७।४५-४६)	(२।१८।४८-४)
दरद	दरद	दरद
ऊर्जगुड	काश्मीर	काश्मीर
गान्धार	गान्धार	गान्धार
औरस	वरय	रौरस
कुहू	ह्रद	कुह
शिवपौर	शिवपौर	शिवशैल
इन्द्रमरु	इन्द्रहास	इन्द्रपद

जब आर्यजन सप्तसिन्धु से आगे बढ़ते हुए[1] विन्ध्यपर्वत तक जा पहुँचे तो उन्होने उस प्रदेश को आवास्य बनाया और उसका नाम 'आर्यावर्त' प्रसिद्ध हुआ। मनु महाराज ने भी आर्यावर्त की सीमा दो समुद्रों तथा दो पर्वतों के मध्य मानी है[2]। इसका यह अर्थ कदापि न समझ लिया जाय कि आर्यजन सप्तसिन्धु भूमि को छोड़कर सर्वथा प्रवासी बन गए थे; नही, बल्कि जो पीछे रह गए, उनका नाम 'वाह्लीक' प्रसिद्ध हुआ।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि यह नाम अपभ्रष्ट होकर वाहीक बन गया और महाभारत-काल तक यह नाम चरितार्थ रहा।[4] इस प्रसग में एक बात किसी भी आलोचक का ध्यान अपनी ओर हठात् आकर्षित करती है कि सिन्धुनदी के पूर्वतटवर्ती भूभाग तथा परतट-वर्ती भूभाग वस्तुतः एक देश थे और अनौपचारिक स्तर पर दो प्रदेश समझे जाते थे। पर आगे चलकर यह भेद-भाव स्थायी होगया और अन्ततोगत्वा सांस्कृतिक तथा राजनीतिक दृष्टि से हानिकारक सिद्ध हुआ। यथा—

(क) सिन्धुतट के परवर्ती प्रदेश का नाम 'गान्धार' वैदिक साहित्य एवं

वसार्ती	वसाती	वसाती
समतेजस	विसर्जय	विसर्जय
सैन्धव	सैन्धव	सैन्धव
उर्वसपर्वे	रन्ध्रकरक	रन्ध्रकरक
कुपथ	—	—
भीम	भ्रमर	शमठ
—	आभीर	आभीर
रोमक	रोहक	रोहक
शुनामुख	शुनामुख	शुनामुख
ऊर्दमरु	ऊर्ध्वमनु	ऊर्ध्वमरू

—भारतवर्ष का बृहद् इतिहास : भगवददत्त : पृष्ठ १५७

१. उत्तीर्य च महाभागां विपाशां पापनाशिनीम् दृष्टवान् सकलं देशं सदा शस्यः स कश्यपः।
—भारतवर्ष का बृहद् इतिहास : भगवद्दत्त : पृष्ठ १६८।

२. आसमुद्रात् तु वै पूर्वात् आसमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योः आर्यावर्तं विदुः बुधाः।।
—मनुस्मृति

३. वाह्लीका प्रातिपीया सुश्राव। —शतपथ ब्राह्मण

४. पंचानां सिन्धुषष्ठानां नदीनां येऽन्तराश्रिताः। वाहीका नाम ते देशाः·····।
कर्ण-पर्व ४४।७

वैदिक-परवर्ती साहित्य में रूढ़ हो गया प्रतीत होता है, जिसकी चर्चा पहले कर आए है। ज्यूं ही उक्त प्रदेश स्वतंत्र अस्तित्व मे आया, त्यूं ही आर्यावर्त एवं सिन्धु के पूर्ववर्ती तट-प्रदेश से सर्वथा पृथक् होगया। कारण, महाभारत तथा महाभारतोत्तर-साहित्य में इसे म्लेच्छ-देश कहा गया है।[1] इधर जब बौद्ध धर्म का उदय हुआ, तब सभी आर्यभ्रष्ट जातियों ने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया। इस्लाम के आगमन पर इन नवीन बौद्धों ने कलमा पढ़ लिया। इस प्रसंग में शक जाति को उदाहरण के रूप मे उपस्थित किया जा सकता है। शक सूर्य्यवशी क्षत्रिय थे।[2] संस्कार-धर्म के परित्याग से ये 'म्लेच्छ' प्रसिद्ध हुए। इस्लाम को स्वीकार करने वालों में शको का नाम प्रथम पक्ति पर आता है। गान्धार देश मे रहने वाले आर्यजन वहाँ से प्रवास कर आए थे। कुछ इतिहासकारों ने वहाँ से आने वाले राजाओं मे राजा 'गज' का नाम भी लिया है। जाने कब, सिन्धु-परवर्ती प्रदेश भी दो भागो मे बँट गया—शक और यवनराज्य। पर संस्कृत के अर्वाचीन ग्रन्थों में दोनों देशों को 'म्लेच्छ देश' ही कहा गया है। इसका संकेत 'संदेश-रासक' मे भी मिल जाता है।[3] इतना सब कहने का प्रयोजन यह है कि 'सप्त सिन्धु' का विभाजन भारतवर्ष के हित में अच्छा नही रहा। भारत से कटा हुआ यह प्रदेश स्वय समस्या बनकर खडा होगया और बाद में भारत पर होने वाले अनेक विध आक्रमणों का प्रमुख केन्द्र बन गया।

(ख) सिन्धुतट के पूर्ववर्ती प्रदेश का नाम बाह्लीक प्रसिद्ध हुआ। महाभारत के अनुसार चिनाब, झेलम, रावी, सतलुज और व्यास के मध्यवर्ती प्रदेश का नाम यही था। कुछ इतिहासकारों ने इसे 'ब्रह्मावर्त' नाम दिया है।[4] आगे चलकर इसके भी तीन भाग हुए। यह विभाजन नदियों को लक्ष्य में रखकर किया गया हो—ऐसा नही लगता। राज्य की सुविधा के लिए अथवा गणतंत्र, अपनी राय में जातितंत्र, के सीमांकन के लिए पूर्ववर्ती प्रदेश का विभाजन हुआ होगा—ऐसा अनुमानत: प्रतीत होता है। ये तीन भाग—सिन्धु,

---

१. चातुर्वर्ण्यव्यवस्थानं यस्मिन् देशे न विद्यते।
म्लेच्छ देशः स विज्ञेयः आर्यावर्तः ततः परम्।

२. हिन्दी-शब्दसागर : रामचन्द्र वर्मा : पृष्ठ १०९८ (सं० संस्करण)

३. संदेशरासक : अद्दहमाण : पद्य ३।

४. पंजाब का इतिहास : कृपालसिंह नारंग : पृष्ठ १।

सौवीर और मद्र—इन नामों से विख्यात हुए।[१] महाभारत के अनुसार वर्तमान 'सिन्ध' को 'सिन्धु' ही कहा जाता था। जयद्रथ इस प्रदेश का राजा था और उसने कौरवो के पक्ष मे युद्ध मे भाग लिया था। वर्तमान बहावलपुर, मुल्तान (कमिश्नरी) और रावलपिण्डी के कुछ क्षेत्र को उस समय भी सौवीर कहा जाता था। लाहौर और अमृतसर के प्रदेश को 'मद्र' कहते थे। आज 'मद्र' का अपभ्रंश 'माझा' बताया जाता है। ये तीन स्वायत्त राज्य थे। कोई इन्हें भले ही जनपद समझ ले, परन्तु जनपद की परिभाषा इन पर लागू नही होती।

जिस प्रकार सिन्धु-तट के परवर्ती प्रदेश का पृथक्करण तथा विघटन (गान्धार और यवनराज्य के रूप मे) उसके पतन का कारण सिद्ध हुआ; ठीक उसी प्रकार सिन्धुतट के पूर्ववर्ती (ब्रह्मावर्त) प्रदेश का विघटन (सिन्धु-सौवीर-मद्र) भी राष्ट्र के पतन का कारण सिद्ध हुआ। मुस्लिम आक्रान्ताओं ने पहले सिन्धु-प्रदेश को प्रकपित (७१२ ई०) किया,[२] बाद में सौवीर (७१२ ई०) को चकनाचूर किया[३] और अन्त मे मद्र राज्य (सूबा-ए-लाहौर) का (१००८ ई०) मर्दन कर सबको ग्रस लिया।[४] पहले यवन-गान्धार देश गये, हमने उसे 'म्लेच्छ देश' कहकर उससे सदा के लिए आँखे मूँद ली; बाद मे सिन्धु-सौवीर-मद्र राज्यों का पतन हुआ जो भारत के पतन का निदान बन गया। यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि पश्चिमी पाकिस्तान की स्थापना भी सिन्धु-सौवीर-मद्र राज्यों के खँडहरो पर हुई है। अस्तु।

महाभारत के उपरान्त इन प्रदेशों का जनपदों के रूप मे विभाजन हुआ। महामति पाणिनि ने भी अपने समय के कतिपय जनपदों का अथवा राज्यों का उल्लेख किया है। महाभारत और अष्टाध्यायी के साक्ष्यों से सप्तसिन्धु प्रदेश का भौगोलिक स्वरूप अधिक स्पष्ट हो जाता है। इनके अनुसार सिन्धु, सौवीर, केकय, मद्र, उशीनर, त्रिगर्त, उदुम्बर आदि प्रसिद्ध जनपदों का परिचय इस प्रकार है—

सिन्धु—अनुमानतः प्राग्वैदिक काल में यह प्रदेश 'सप्तसिन्धु' का एक प्रमुख भाग रहा होगा। कारण, वेद तथा वेदोत्तर-साहित्य में, जहाँ 'सिन्धु' का उल्लेख है, वहाँ नदी-अर्थ की संगति ठीक प्रतीत होती है। उससे

---

१. गान्धाराः यवनाश्चैव, सिन्धुसौवीरमद्रकाः। —महाभारत

२. भारत का इतिहास : डॉ० ईश्वरीप्रसाद : पृष्ठ २४०।

३. वही, पृष्ठ २४२।

४. वही, पृष्ठ २५०।

सिन्धुराज्य का अर्थ-संदोहन करने पर कुछ कठिनाई पैदा होजाती है। परन्तु महाभारत से पूर्व सिन्धु-राज्य का स्वतंत्र राज्य के रूप में विकसित होना प्रमाणित हो चुका है। पाणिनि-काल में भी यह राज्य अपने स्वरूप में अपरिवर्तित रहा होगा। कारण, पाणिनि ने जिस ब्राह्मणक[1] का उल्लेख किया है, बाद में वह दाहर-काल तक ब्राह्मण राज्य की राजधानी रहा है। संभव है, पाणिनि से पूर्व 'ब्राह्मणाबाद' एक नगर के रूप में विकसित रहा हो, पर पाणिनि[2] ने इसे जनपद के रूप में स्मरण किया है। महाभाष्य[3] तथा काशिका-वृत्ति[4] ने पाणिनि का समर्थन किया है। सिकन्दर के समय में भी इसका अस्तित्व पाया जाता है। श्री भगवद्दत्त जी का कथन है कि उपाध्यायेतर-वृत्ति करने वाले को 'ब्राह्मणक' कहा जाता था।[5] राजशेखर ने इसे 'ब्राह्मणवह' नामसे स्मरण किया है।[6] जिसका समर्थन प्रसिद्ध अरबी विद्वान् अबूरिहाँ के 'बमनहवा' नाम से होजाता है।[7] प्रसिद्ध इतिहास-लेखक ईश्वरीप्रसाद ने ब्राह्मणाबाद के पतन का उल्लेख स्वतंत्र रूप में किया है।[8] प्राचीन सिन्ध प्रदेश के अन्तर्गत सिन्धु, ब्राह्मणाबाद तथा सौवीर के (उच्च और मुल्तान) कतिपय जिले सम्मिलित थे। महाभारत के अक्षौहिणी-सेनापति योद्धा जयद्रथ को सिन्धु-सौवीर का स्वामी बताया गया है[9] और कही सौवीर को स्वतंत्र राजा के आधीनस्थ राज्य बताया गया है।[10] राज्यों और राज्यपतियो के कारण भूगोल में अन्तर पड सकता है, परन्तु सिन्धु और सौवीर को पृथक् राज्य या प्रदेश नही बताया जा सकता। कारण, प्रसिद्ध वैश्यवर्ग (उरूज-उरूट-अरोट—अरोडा) अपनी जातीय, सांस्कृतिक और रूढ़ परम्पराओं के बल पर सिन्धु और सौवीर को एक राज्य के रूप मे सम्बद्ध किये हुए थे। श्री भगवद्दत्त

---

१. ब्राह्मणकोष्णिके संज्ञायाम्। —अष्टाध्यायी ५।२।७१
२. ब्राह्मणको नाम जनपदः। —अष्टाध्यायी ४।२।१०४
३. भारतवर्ष का बृहत् इतिहास : भगवद्दत्त : पृष्ठ १६७।
४. वही।
५. यत्रायुधजीविनो ब्राह्मणाः सन्ति, तत्र ब्राह्मणकः। वही पृष्ठ १६७।
६. पाणिनिकालीन भारत : वासुदेवशरण अग्रवाल : पृष्ठ ६५।
७. क्या 'ब्राह्मणवास' से 'ब्राह्मणवाह' बना है? —लेखक
८. भारत का इतिहास : पृ० २४१
९. पंतः सौवीरसिन्धूनां दुष्टभावो जयद्रथः। वनपर्व २६८।८
१०. राजा शत्रुंतपो नाम सौवीरेषु महारथः॥ —शान्तिपर्व १४०।४

ने जिन 'आरट्टों' का उल्लेख किया है, वे सब अरोड़वंशीय वैश्य ही हैं।[१] अरब-आक्रमण के बाद सौवीर 'सूबाए-मुल्तान' के रूप में स्वतंत्र होगया। मुस्लिम शासन में सिन्ध और मुल्तान की यह स्थिति यथावत् बनी रही। ब्रिटिश राज्य में सिन्ध 'बाम्बे प्रेजीडैन्सी' का भाग बन गया और मुल्तान पंजाब में अन्तर्भुक्त होगया। आज पाकिस्तान बन जाने पर सिन्ध-सौवीर की रेखाएँ मिट गई हैं।

सौवीर—इस प्रदेश की राजधानी 'रोहरी' थी, जिसे अपभ्रंश भाषा में कभी रोरुक कहा जाता था।[२] इस राज्य की सीमा झंग, लैया, भक्खर, मिण्ट-गोमरी तथा कमालिया(वर्तमान संज्ञाएँ)तक थी। सौवीर के जिले अनेक बार सिन्धु प्रदेश मे मिले और उससे पृथक् हुए। अरब-आक्रमण के बाद सौवीर (सूबा-ए-मुल्तान) गज़नी राज्य के अन्तर्गत रहा। अरब, तुर्क, पठान, मुग़ल—इनके बड़े प्रसिद्ध आक्रमण सौवीर ने देखे है।

केकय—वर्तमान झेलम, शाहपुर, गुजरात, रावलपिण्डी का प्राचीन नाम केकय है। रामायण-काल से लेकर महाभारत-काल तक इसके अस्तित्व का पता चलता है।[३]

मद्र—इस नाम का जनपद प्राचीन वाह्लीक प्रदेश का उत्तरी भाग था। स्यालकोट इसकी राजधानी बताई जाती है। पाणिनि-काल में इसके 'मद्र' जनपद के दो भाग प्रसिद्ध हो चुके थे—पूर्वी मद्र और पश्चिमी मद्र।[४] लाहौर और अमृतसर इसके अन्तर्गत है। स्यालकोट का प्राचीन नाम 'शाकल' है।[५] श्री भगवद्दत्त ने मद्र देश की नदी का विशेषरूप से उल्लेख किया है।[६]

उशीनर—पंचजन के प्रसिद्ध अणु के वंशधर उशीनर के पुत्र शिवि को 'औशीनर' नाम से स्मरण किया जाता है।[७] अनुमानतः महाभारत-काल के बहुत पहले उशीनर प्रदेश अस्तित्व मे आ चुका था। पाणिनि-काल में तो इस

---

१. भारतवर्ष का बृहत् इतिहास : भगवद्दत्त : पृष्ठ १५८
२. दन्तपुरकलिंगानां अश्मकानां च पोतनम्।
माहिस्सती अवन्तीनां सौवीराणा च रोरुकम्॥
३. (क) केकयाः सर्वशश्चापि निहताः सव्यसाचिनः। —कर्ण-पर्व ४६।२
(ख) विन्दानुविन्दौ कैकेयौ सात्यकिः समवारयत्। —कर्ण-पर्व १०।६
४. ऐतरेय ब्राह्मण ३८।१४
५. (क) मद्रेषु शाकलो राजा बभूवाश्वपतिः पुरा। —मत्स्य २०८।५
(ख) शाकलं नाम मद्रेषु बभूव नगरं पुरा। —कथासरित्सागर ८।१।१०
६. भारतवर्ष का बृहत् इतिहास—भगवद्दत्त : पृष्ठ १६८
७. राजानमौशीनरं शिविम्। —वनपर्व १९४।२

जनपद की समृद्धि के प्रमाण मिल जाते हैं। जनश्रुति तथा कतिपय ग्रन्थ-साक्ष्यों के अनुसार झंग, शोरकोट और कमालिया[1] के मध्यवर्ती प्रदेश को इस नाम से स्मरण किया जाता है। शोरकोट का प्राचीन नाम शिविकोट है। यहाँ सम्पन्न हुए देवासुर-संग्राम का उल्लेख बोधायन श्रौतसूत्र में पाया जाता है।[2]

उदुम्बर—वर्तमान गुरुदासपुर में कभी उदुम्बरों का राज्य था। पतञ्जलि-मुनि ने उदुम्बर नदी का उल्लेख किया है। सम्भवतः इस जनपद का नामकरण जातीयता के आधार पर हुआ है।

त्रिगर्त—रावी, व्यास और सतलुज के उभय पार्श्ववर्ती मध्यप्रदेश और पार्वत प्रदेश उक्त नाम से प्रसिद्ध थे। इस प्रदेश का अतिप्राचीन नाम 'जालन्धरायण' है।[3] पौराणिक गाथा-सम्मत जनश्रुति के अनुसार जब जालन्धर की मृत्यु हुई, उसका एक शरीरावयव पहाडी इलाके मे गिरा, जो त्रिगर्त[4] कहलाया; दूसरा शरीरावयव मैदानी इलाके में आकर गिरा, जो जालन्धर नाम से विख्यात हुआ। मैदानी इलाके को संस्कृत में 'प्रस्थल' कहते है। प्रस्थल से (कपूर-) थल प्रसिद्ध हुआ है। त्रिगर्त की रहने वाली जातियाँ 'त्रिगर्त' अथवा त्रैगर्त ही कहलाती थी। वर्तमान कांगड़ा जिला एवं शिवालिक की कुछ घाटियों को आज भी त्रिगर्त नाम दिया जाता है। पाणिनि ने त्रिगर्तराजा भर्ग अथवा भार्गायण का उल्लेख किया है।[5]

महाभारत-काल से लेकर पाणिन-काल तक—इस मध्यवर्ती समय में तक्षको ने उभरकर पेशावर तथा रावलपिण्डी के प्रदेश में अपना राज्य स्थापित किया था, और राजधानी के लिए 'तक्षशिला' को बसाया था। तक्षशिला का विश्व-विद्यालय विश्व-भर में प्रसिद्ध था। ऐसा ज्ञात होता है कि पाणिनि के उपरान्त भी तक्षशिला का गौरव अक्षुण्ण रहा होगा। परन्तु 'तक्षक' जनपद की स्थिति भी यथावत् रही होगी—यह प्रमाणों के अभाव में कैसे कहा जा सकता है! कुछ इतिहासकारों ने इसे 'टक्क' देश भी लिखा है।[6]

---

१. कुमालकास्तु सौवीराः। —वैजयन्तीकोश

२. देवासुरा ह यत्र महासंग्रमं संयेतिरे तद्धि शिविरौशीनरो देवानां वर्गात् असुरान् जिगाय। तस्य हेन्द्रो जित्वरं ददौ।

३. जालन्धराः त्रिगर्ताः स्युः। —अभिधानचिन्तामणि २।२४

४. त्रिगर्ता गालवाश्चैव किरातास्तामसैः सह। —मार्कण्डेय पुराण ५७।५७

५. भर्गात् त्रैगर्ते ४।२।१११

६. भारतवर्ष का बृहत् इतिहास : भगवद्दत्तः पृष्ठ १५७

सिन्धु नदी के पूर्ववर्ती प्रदेश का अनेक खण्डों में अनेक बार विभाजन हुआ और पुनः उसका समाहार भी हुआ। इतिहास जिन जनपदों, राज्यों, प्रदेशों, अथवा प्राकृतिक भूखण्डों का स्मरण कराता है, वे इस प्रकार से हैं—सारस्वत (कुरुक्षेत्र), यौधेय (जंजीबार—बहावलपुर), जांगलप्रदेश, कौरव, मालव (भठिण्डा), भाटी शिवालक, पैशाच, म्लेच्छदेश, तपनतीर्थ (मुल्तान), काश्मीर, जम्मू, शिवालिक और अम्बष्ठ। कभी सरस्वती नदी से लेकर चन्द्रभागा नदी तक का क्षेत्र **सारस्वत** नाम से विख्यात रहा होगा। इस प्रदेश के निवासी ब्राह्मण आज भी अपने आपको 'सारस्वत' बताते हैं। वर्तमान फिरोजपुर तथा भठिण्डा का क्षेत्र कभी **मालवा** नाम से विख्यात था; राजनीतिक स्तर पर न सही, जनश्रुति में इसको आज भी इसी नाम से स्मरण किया जाता है। बताया जाता है, उज्जयनीपति विक्रमादित्य का मालवगण कभी इस भूप्रदेश पर निवास करता था। शूद्रक-पूर्व शको के आक्रमण से उद्विग्न मालवों ने मध्यप्रदेश मे निवास किया था। यौधेयो का राज्य पचनद के ऊपर-ऊपर था। जिमका जडीबार अथवा जञ्जीबार नाम आज भी प्रसिद्ध है। वर्तमान बहावलपुर रियासत इसी क्षेत्र मे आती है। **म्लेच्छदेश** बड़ा विवादास्पद क्षेत्र है। दरद तथा कम्बोजो के साथ बर्बरों को भी म्लेच्छ जातियो में गिना जाने लगा है।[1] दरद और बर्बर साथ-साथ रहते थे। जब सिन्धुतटवासी दरद जाति का नामोल्लेख[2] वाहीकों का साथ किया जाता है तो बर्बर जाति भी सिन्धुतट के परवर्ती प्रदेश मे रहने वाली अनुमेय हो सकती है। क्या बर्बरों को 'बलोच' कह सकते है? अगर यह ठीक है तो सखी-सरवर तथा डेरागाजीखाँ भी बर्बर राज्य के अन्तर्गत माने जा सकते है। **तपनतीर्थ**: सूर्यकुण्ड की प्रसिद्धि से मुल्तान को तपनतीर्थ कहते थे। मुस्लिम आक्रमणकाल मे इसमे काफी अदला-बदली हुई। पठानों के शासनकाल मे मुल्तान को छोड़कर सारा पंजाब सूबा-ए-लाहौर के नाम से विख्यात हुआ और पहली बार लाहौर पंजाब की राजधानी बना। मुगलशासन तक पंजाब की यह रूप रेखा अपरिवर्तित रही। पजाब-केसरी रणजीतसिंह के समय पंजाब के तीन भाग थे :—

(१) रणजीतसिंह राज्य : जिसके पाँच प्रान्त थे—मुल्तान, लाहौर, पेशावर, काश्मीर और रावलपिण्डी।

(२) मैदानी क्षेत्र : जिस पर सिख रियासतें अधिकार किये हुए थीं और

---

१. बर्बराः म्लेच्छजातिः। सरस्वतीकण्ठाभरण २।३।३५

२. वाह्लीका दरदाश्चैव प्रतीच्योदीच्यमालवाः। —भीष्मपर्व ११७

कुछ भाग हरियाणा नाम से अभिहित होता था।

(३) **पहाड़ी क्षेत्र** जिसमें छोटे-बडे अनेक हिन्दू राजा राज्य करते थे।

अग्रेजी राज्य मे सिन्धुप्रदेश को छोडकर शेष समस्त सप्तसिन्धु प्रदेश पुनः पूर्ववत् संघटित होगया था; रियासती विभाग भी पंजाब-गवर्नर के अधीन था; पर यह स्थिति चिरकाल तक स्थिर नही रह सकी। संवत् १९६१ में सीमा-प्रान्त (सिन्धु-परवर्ती प्रदेश) पजाब से अलग होगया। वि० सवत् २००४ मे पंजाब-विभाजन के साथ ही भारत-विभाजन होगया। भारतीय पंजाब मे केवल तेरह ज़िले रह गए—गुरदासपुर, अमृतसर, फिरोजपुर, जालन्धर, लुधियाना, अम्बाला, करनाल, गुड़गॉव, हिसार, रोहतक, काँगडा, होशियारपुर और शिमला। इनके अतिरिक्त सोलह ज़िले --स्यालकोट, लाहौर, गुजराँवाला, शेखूपुरा, झेलम, गुजरात, अटक, रावलपिण्डी, सरगोधा, मियाँवाली, मिण्टगोमरी, लायलपुर, झंग, डेरागाजीखाँ, मुजफ्फरगढ और मुल्तान—मिलकर पाकिस्तान की इकाई में सघटित होगए। इधर, सवत् २००५ में सिख-रियासतों को मिलाकर 'पैप्सु' प्रदेश तथा पहाड़ी रियासतों को मिलाकर 'हिमाचल प्रदेश' बनाये गए। अन्ततोगत्वा वि० संवत् २०१३ मे पैप्सु प्रदेश भी पजाब में विलीन होगया।

कहना न होगा, प्रतिपाद्य ग्रन्थ में पंजाब का वह 'मानचित्र' समक्ष रखा गया है, जिसमें पौराणिक, मध्यकालिक एवं विभाजन से पूर्व तथा पश्चात् के पंजाब का समाहार होता है।[1] अर्थात् सीमा-प्रदेश, काश्मीर, जम्मू, हिमाचल, पैप्सु, बहावलपुर, सिन्ध, पूर्वी पंजाब (भारत) और पश्चिमी पंजाब (पाकिस्तान) का पृथक् नामोल्लेख न करके, केवल एक ही नाम का प्रयोग किया गया है—'पंजाब'।

'पंजाब' अपनी सांस्कृतिक परम्पराओ के अनुरूप साहित्य की अनेकविध इष्ट परम्पराओ मे भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वेदो का सर्वप्रथम दर्शन कहाँ हुआ? स्वाहा-स्वाहा के घन उद्घोष के साथ यज्ञ-संस्कृति का आविष्कार कहाँ हुआ? धर्म के तीन स्कन्धो का प्राकट्य कहाँ हुआ? इन सब प्रश्नों का एकमेव उत्तर है—पजाब। चन्द्रभागा और शतद्रु नदियों के तट पर सर्व-प्रथम वेदों का सस्वर पाठ आरम्भ हुआ। प्रसिद्ध मंत्र-द्रष्टा राजर्षि विश्वामित्र तथा ब्रह्मर्षि वशिष्ठ क्रमशः पंजाब तथा काश्मीर के रहने वाले थे। वेदों के बाद स्मृति-युग की आदि-रचना और धर्मग्रन्थ 'मनुस्मृति'

पंजाब की साहित्यिक परम्पराएँ

१. देखिये मानचित्र : परिशिष्ट १।

पंजाब की एक स्मरणीय देन है। पर्याप्त समय बीत जाने पर, महाभारत के प्रसिद्ध समर मे भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से प्रकाशित श्री गीता के श्रवण का सौभाग्य पंजाब के भाग्य में लिखा था। व्यास ने पंजाब के सीमान्त पर बैठकर अठारह पुराणों का निर्माण किया। व्याकरण के प्रसिद्ध निर्माता पाणिनि मुनि ने अपनी अमर रचना 'अष्टाध्यायी' से पंजाब को गौरवान्वित किया है। पाणिनि ने एक सूत्र में 'शलातुर' का उल्लेख किया है।[1] भामह ने भी पाणिनि को 'शालातुरीय' लिखा है। इसकी पुष्टि प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूआन-चू-आङ् की भारत-यात्रा के वृत्तान्त से भी हो जाती है।[2] उसने लिखा है कि सोलोतुलो मे पाणिनि की प्रतिमा विद्यमान थी। शालातुर सप्तसिन्धु के सिन्धुतट के परवर्ती प्रदेश में आता है।[3] अष्टाध्यायी के प्रसिद्ध आलोचक एवं महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि भी पंजाब के निवासी बताए जाते हैं। कोई आश्चर्य न होगा, यदि किसी अनुसंधाता ने महामुनि पतञ्जलि को नागवंशी सिद्ध कर दिया। अर्थशास्त्र के निर्माता आचार्य चाणक्य ने तक्षशिला का शिष्यत्व और आचार्यत्व ग्रहण किया था—यह विषय विवाद से ऊपर उठ चुका है। अलंकारशास्त्र के प्रसिद्ध निर्माता भामह, उद्भट, महिम भट्ट, क्षेमेन्द्र, मम्मट, रुय्यक, मंखक काश्मीरी ब्राह्मण बताए जाते हैं।[4] इतिहास तथा काव्य—दोनों का युगपत् निर्वाह करने वाले 'राजतरंगिणी' के प्रणेता कल्हण कश्मीर-निवासी प्रसिद्ध है ही। सारांश यह कि सरस्वती का—जिसे समस्त विद्याओं की अधिष्ठात्री देवी माना जाता है—प्रथम अवतरण पंजाब में हुआ और बाद में समय-समय पर उसका चमत्कार भी अनुभव किया।

अपनी ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा सांस्कृतिक महती परम्पराओं में गौरवपूर्ण स्थान बनाने वाले पजाब ने 'हिन्दी-साहित्य' के विकास में भी स्वर्ण-सहयोग दिया है। हिन्दी उसके लिए नई भाषा नहीं है; हिन्दी-साहित्य उसके लिए नई वस्तु नहीं है। पंजाब के उपलब्ध हिन्दी-साहित्य के पीछे पंजाब की इष्ट एवं मिष्ट परम्पराओं का बल निहित है। सौभाग्य से, विशाल हिन्दी-साहित्य के अनेक काव्य-रूपों का श्रीगणेश पंजाब से होता है। वेद-वेदांग का सर्वप्रथम दर्शन करने वाला पंजाब यदि हिन्दी-साहित्य के विकास में सहभागी

१. तूदीशलातुरवर्मतीकूचवाराड् ढक् छण्ढव्यकः —अष्टाध्यायी ४ : ३ : ९४
२. पंजाब का इतिहास : धर्मवीर एम० ए० : पृष्ठ ८६
३. पाणिनिकालीन भारतवर्ष : टिप्पणी : वासुदेवशरण अग्रवाल : पृष्ठ १४-१५
४. संस्कृत-साहित्य का इतिहास : पोददार : पृष्ठ १०७, १४५, २०८, २१८, २३६, २५०

न होता, तो सचमुच यह खेदजनक प्रसंग होता। यह सन्तोष का विषय है कि पजाब ने इस दिशा में अपना कर्तव्य बड़ी निष्ठा और तत्परता से निभाया है।

हिन्दी

हिन्दी की परिभाषा

'हिन्दी' शब्द की निरुक्ति क्या है? यह संज्ञा भारत की किन-किन बोलियों पर चरितार्थ होती है? ऐतिहासिक, भौगोलिक, वैज्ञानिक, सांप्रदायिक-पद्धति से उसके अर्थ एवं प्रयोग में क्या-क्या अन्तर रहा है? उक्त अभिधान के अन्य पर्याय क्या हैं? राजनीतिक एवं साहित्यिक दृष्टि से इस संज्ञा के लिए क्या, क्यों और कब संघर्ष रहा है? इतिहास के विद्यार्थी के लिए इन सब प्रश्नों का समाधान समुचित रीति से उपलब्ध कराना लाभदायक सिद्ध हो सकता है; यदि ऐसा न किया गया तो भविष्य में कई भ्रांतियाँ उत्पन्न हो सकती है। अतः हिन्दी-साहित्य की गहराइयों में उतरने से पूर्व, पंजाब की परम्परागत विशिष्टताओ को समक्ष रखकर, भाषा की पारिभाषिक गुत्थियाँ सुलझाना अनेक उपलब्धियों का निदान करना सिद्ध होगा।

'हिन्दी' इस शब्द का प्रयोग प्रायः दो अर्थों में देखा जाता है—

१. हिन्दी—हिन्द देश का निवासी; अर्थात् हिन्द देश का राष्ट्रीय नागरिक। भारत-भू पर एहले-पहल आने वाले मुसलमानों का इस (सप्त=) सिन्धु-प्रदेश के 'हिन्द' नाम से परिचय हुआ। आगे चलकर यह संज्ञा सारे भारत पर चरितार्थ हो गई। यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि पूर्व-मुस्लिम-काल में भारत का नाम 'हिन्द' प्रसिद्ध हो चुका था; पर उक्त संज्ञा को विशेषण बनाकर नागरिक के साथ जोडने की परम्परा का सूत्रपात नहीं हुआ था। यह कार्य मुस्लिम जनता ने किया। 'हिन्दी' की व्युत्पत्ति, हिन्द+ई= हिन्दी, अर्थात् मूल शब्द से निस्बत का प्रत्यय (ई) जोड़कर सिद्ध हुई है। व्याकरण के अनुसार यह 'योगरूढ़' शब्द है। शब्द (हिन्दी) का संघटन यौगिक पद्धति से हुआ है और इसका अर्थ रूढ है। ऐसा प्रचलन अन्य देशवासियों के लिए भी देखा जा सकता है—चीनी, जापानी, बर्मी, पाकिस्तानी, नेपाली, तुर्की, आदि-आदि। प्रदेशवासियों के लिए भी स्थानवाचक संज्ञा के साथ 'ई' प्रत्यय जोड़कर तत्स्थानीय व्यक्ति अथवा नागरिक के लिए योगरूढ़ संज्ञा का व्यवहार देखा जाता है। यथा—काश्मीरी, राजस्थानी, पंजाबी, बिहारी, छत्तीसगढ़ी आदि। अनुमानतः यह अभिधान पहले-पहल सिन्धुतटवासी नागरिकों

के लिए प्रयुक्त हुआ होगा, और यही बाद में समस्त भारतीयों के लिए प्रचलित हो गया। उपस्थित प्रमाणों के बल पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि तेरहवी शती से लेकर बीसवी शती तक 'हिन्द' शब्द भारत का पर्याय-वाचक रहा है और 'हिन्दी' शब्द भारतीय नागरिक का। जहाँ तक 'हिन्दी' शब्द के राष्ट्रीय नागरिक के अर्थ में प्रयोग की बात है, निस्सन्देह यह प्रयोग सार्वदेशिक एवं सर्वसम्मत है; अभी तक इसपर किसी प्रकार का मतभेद देखने में नही आया। परन्तु यह शब्द (हिन्दी) और यह अर्थ (भारतीय नागरिक) प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय नही है।[1]

२. (क) हिन्दी—हिन्द देश की भाषा ; उक्त सज्ञा का यह दूसरा अर्थ है। जहाँ तक व्याकरण की पकड है, वही तक यह निर्विवाद एवं सुनिश्चित है कि प्रकृति-प्रत्ययसिद्ध 'हिन्दी' शब्द रूढ़ि के तौर पर भाषा के लिए भी प्रयुक्त होता है और इसके लिए अन्य भाषाओं की सज्ञाएँ समर्थन के हेतु उद्धृत की जा सकती है ; यथा—अरब की भाषा अरबी, जापान की भाषा जापानी, तुर्क की भाषा तुर्की आदि। भाषासूचक ई-प्रत्यान्त शब्दो का प्रयोग अपनी प्रादेशिक भाषाओ के लिए भी चलता है। यथा गुजराती, मराठी, काश्मीरी, पंजाबी, बिहारी, सिन्धी और मुलतानी। परन्तु ई-प्रत्यय से घटित 'हिन्दी' शब्द के रूढ, यौगिक और योगरूढ—किसी भी प्रयोग के लिए गम्भीर मतभेद पाये जाते है। कारण, समूचे हिन्द (पाकिस्तान-सहित) देश की कोई एक भाषा नही है, जिसे हिन्दी नाम दिया जाय; अथवा भारत के किसी एक प्रदेश को 'हिन्द' नाम नही दिया गया, जिसकी भाषा को 'हिन्दी' कहा जाय; अर्थात् दूसरे शब्दो मे 'हिन्दी' का प्रयोग न तो देश की सभी प्रादेशिक भाषाओं के लिए होता है और न ही यह सारे देश की एकमात्र भाषा है। असमिया, बँगला, उड़िया, तैलगु, तामिल, मलयालम, कन्नड़, मराठी, गुजराती और काश्मीरी—इन भाषाओं के लिए जातिवाचक अथवा व्यक्तिवाचक—किसी भी स्तर पर 'हिन्दी' का व्यवहार नही होता; और न ही इन भाषाओं के बोलने

---

१. (क) सौजनो रिश्ता व हिन्दी सूई तागे। —अमीर खुसरो (१३ वीं शती)
(ख) हिन्दी हैं, हम वतन हैं, हिन्दोस्ता हमारा। —डा० इकबाल (२० वी शती)
(ग) दर आशिकी चूँ जने हिन्दा कसे मर्दाना नीस्त।
सोख्तन बर शमये मुर्दन कारे हर पर्वाना नीस्त। —अज्ञात
(घ) नै कय जा ज़ने हिन्दी दरी कूए।
कै खुदरा जिदा सोज़द अज़ पए शूए। —मसनवी खुसरवी शीरी।

वाले हिन्दी बोल सकते है। अतः प्रकृति-प्रत्यय-सम्मत 'हिन्दी' का वह अर्थ भी इस ग्रन्थ के लिए ग्राह्य नहीं हो सकता। 'हिन्दी' अभिधान भाषा के हेतु स्वीकार्य तो हो सकता है; पर उसका सघटन व्याकरण-निर्दिष्ट भी होगा, यह स्वीकार करना विज्ञान को चुनौती देने के समान होगा।

(ख) इसके समानान्तर दूसरा पक्ष भी है। उसके निष्कर्षानुसार मूल शब्द 'हैदवी' है, उससे विकसित अथवा अपभ्रष्ट होकर 'हिदी' संज्ञा अस्तित्व मे आई है। तदनुसार हैन्दवी>हिदई>हिंदी शब्द आविर्भूत हुआ है। यह मत भी पूर्ववत् 'हिंदी' और 'हिन्दू' को आधार मानकर चलता है। इस पक्ष के विपरीत बहुत-कुछ सामग्री उपस्थित की जा सकती है।

(१) यदि भाषा का नामकरण जातिपरक ठहराया जाता है, तो वह जाति के एक अश पर चरितार्थ न होकर, समस्त जाति पर चरितार्थ होना चाहिए; पर वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। बंगवासी हिन्दू हिन्दी नही बोलता, न ही वह अपनी कथ्य के लिए हिदी संज्ञा को स्वीकार करता है। केवल दिल्ली-मेरठ के पार्श्ववर्ती 'भू-भाग' की भाषा हिन्दू-मात्र की कथ्य कैसे हो सकती है!

(२) १२वी शती से लेकर २०वी शती तक की जिस बोली के लिए 'हिदी' का प्रयोग देखने मे आता है, हिन्दुओ ने उसे सदा से 'म्लेच्छ भाषा' कहा है। श्री गुलेरीजी ने इस परम्परा को प्रमाणित करने के लिए कतिपय तथ्य सचित किये है। उनका लिखना है—सवत् १६०२ मे श्री भट्टनारायण ने 'वृत्तरत्नाकर' की टीका करते हुए सस्कृत-म्लेच्छ भाषा के सम्पृक्त श्लोक से मालिनी छन्द को उदाहृत किया है। यथा—

'हरनयन समुत्थ ज्वाल-**वह्नि जलाया**,
रतिनयन जलौघैः **खाक बाक़ी बहाया**।
तदपि दहति चेतो मामक **क्या करोगी**,
मदन शिरसि भूय. **क्या बला आगि लागी**।'[1]

भट्टनारायण से पूर्व गुरु नानकदेव जी ने तथा बाद मे गुरु गोविदसिहजी ने इस कथ्य की म्लेच्छ-भाषा कहकर भर्त्सना की है। यह तो किसी प्रचार के लोभी एवं कूटनीतिज्ञ ने बरबस हिंदी का संबंध हिन्दू और हिन्दुस्तान से सम्बद्ध कर

१. पुरानी हिंदी : पं० चन्द्रधर गुलेरी · पृष्ठ १०७

२. खत्रियां त धरम छोड़िया म्लेच्छभाषा गही।
—ग्रंथसाहिब (देवनागरी संस्करण) पृष्ठ ६६२-६३

३. म्लेच्छभाख जब सब पढ़ि गए। समारग छोड़ कुमारग पए।

दिया है।[1] अतः हिन्दी हिंदवी का विकसित अथवा परिमार्जित रूप तो मान्य हो सकती है, पर हिन्दू जाति से सबद्ध नही। ऊपर कथित दोनों अभिमतों को हृदयंगम करके यह निर्णय दिया जा सकता है कि हिंदी को व्युत्पत्ति-मूलक मानने के लिए कोई दृढ़तम आधार समक्ष नही है। अतः हिंदी अथवा हिंदवी—ये नाम केवल रूढ़ नज़र आते हैं, प्रकृति-प्रत्यय-सिद्ध नहीं; यही पक्की बात है।

आक्रमणकारी मुसलमान शनैः-शनैः पंजाब में और बाद में भारत में बसने लगे। वे अपने साथ जो अनेक भाषाएँ लाए थे, 'पारसी' उनमें से मुख्य स्थान पर आती है। मुसलमान शासकों ने सर्वप्रथम संस्कृत को राजभाषा का परम्परागत पद दिया; बाद में उसका स्थान पारसी को दिया गया। पारसी भारत की भाषा न थी, अतः उसके विकास के साधन इस देश की धरती पर उपलब्ध न थे। पारसी राज-भाषा तो बन गई, पर भारत की जन-भाषा बन सकना उसके भाग्य में न था। इधर पारसी के सम्पर्क से जो नई जनभाषा संभूत हुई, उसका नामकरण पारसी के वजन पर रखा गया—हिंदी अथवा हिंदवी। जिस भाषा ने अपना परिनिष्ठित रूप (पारसीपन) स्थिर रक्खा, वह राजभाषा बनी रही; पर, पारसी ने अपने आसन से उतरकर जब भारतीय रंग-रूप ले लिया, तब वह हिंदी कहलाई। निश्चय-पूर्वक यह मुस्लिम समाज की भाषा थी, चाहे उसका चलन लश्कर में रहा हो, गली-बाजारों में रहा हो अथवा मुस्लिम-परिवारों में। अपनी इस धारणा के समर्थन में हम दो प्रमाण उपस्थित करते है; १ हिन्दी की उत्पत्ति, २ (क) मुसलमानों का अपनी भाषा के लिए हिंदी का प्रयोग, (ख) हिन्दुओं में अपनी कथ्य के लिए 'भाषा' का चलन।

हिन्दी : मुसलमानों की बोली

१. हिन्दी की उत्पत्ति का प्रश्न मतभेद की जटिलताओं से शून्य नही है। माना, कतिपय विचारों में तीव्रतर वैपरीत्य पाया जाता है; पर, निष्कर्ष-स्तर तक पहुँच कर परिणाम एक ही निकलता है। हिंदी मुस्लिम-परिवारों की भाषा है—इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है: **"जैसे-जैसे वे यहाँ बसने लगे एवं एक पीढ़ी के पश्चात् भारतीय स्त्रियों से विवाह-संबंध आदि करने लगे, वैसे ही उनका भारतीयकरण आरंभ हो गया। एक ही पीढ़ी में उनके अधिकांश बच्चे अर्द्धभारतीय हो गए; अंत**

१. सब मिल बोलो एक जूबान। हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान।

—प्रतापनारायण मिश्र

में उनका विदेशी रक्त नाम मात्र को ही रह गया। उनकी भाषा का भारतीय-करण दूसरी पीढ़ी से ही शुरू हो गया। तुर्की पिता तथा भारतीय माता के बच्च की मातृभाषाएँ अनिवार्य रूप से भारतीय होनी अवश्यंभावी थीं।" चाटुर्ज्याजी के कथन का सार-सन्दोहन यह है कि मुस्लिम आगन्तुकों की भाषा पारसी और अरबी थी, उनकी अपहृत पत्नियों की भाषा प्राकृताभास अथवा अपभ्रंश थी ; दोनों के मेल-जोल से नव्य कथ्य का अस्तित्व सामने आया, जिसका नाम हिन्दी अथवा हिन्दवी प्रचारित किया गया। डा० उदयनारायण तिवारी ने चाटुर्ज्याजी के कथन का समर्थन निम्न पक्तियों में किया है : **"यह कथ्य (बोलचाल) शौरसेनी अपभ्रंश ही कलान्तर में हिन्दी के रूप में परिणत हुआ। इस पर पंजाबी का भी पर्याप्त प्रभाव है। हिन्दू और मुसलमानों का यह समान रूप से रिक्थ है।"** इस कथन का 'समान रिक्थ' वाला अंतिम भाग हमारी धारणा का अकाट्य एवं पुष्टि कारक तर्क है। इस नाते से शेख-उल् इस्लाम दीवान मौलाना बाबा फरीद-उद्-दीन शकरगंज अजोधनी को हिन्दी का पहला कवि स्थापित करना ऐतिहासिक दृष्टि से निरापद सिद्ध हो सकता है। शकरगंज की परम्परा में अमीर खुसरो को भी लिया जा सकता है ; उसका पिता एक पठान और माता जिला एटा की एक अपहृता ब्राह्मणी थी। कुछ आचार्यों ने इस तथ्य से मिलते-जुलते विचार 'उर्दू' के प्रसंग में भी प्रकट किये हैं। श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय ने उर्दू की उत्पत्ति की चर्चा करते हुए लिखा है : **"प्रारंभ में मुग़ल और तुर्क बादशाह छावनी में रहा करते थे। उनके दरबार और रनवास सब लश्कर में ही होते थे। इस विशेषता के कारण वहाँ की मिली-जुली भाषा—लश्करी या उर्दू ज़ुबान भी कहलाने लगी। फौज में हर प्रान्त, हर मज़हब और हर जाति के लोग रहते थे, इसलिए उनकी उस मिली-जुली खिचड़ी-भाषा को लोग लश्करी या उर्दू-ज़ुबान कहने लगे।"** इन पंक्तियों में चाटुर्ज्याजी के कथन की प्रतिध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है; यदि इस में अन्तर है तो केवल इतना कि चाटुर्ज्या और तिवारी ने ऊर्ध्ववर्ती शती (१२वी शताब्दी विक्रमी) मे पहुँचकर विचार किया है और गोयलीय ने निम्नवर्ती शती (१३-१४ शताब्दी विक्रमी) में उतरकर भाषायी अनुसंधान किया है। श्री गोयलीयजी के कथन में दो बातें उल्लेख-

१. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी : डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या : पृष्ठ १८०.
२. हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास : डा० उदयनारायण तिवारी : पृष्ठ १८४.
३. शेर-ओ शायरी : अयोध्याप्रसाद गोयलीय : पृष्ठ ५५.

नीय है—(१) दरबार और (२) रनिवास। दरबार की बात स्पष्ट हो गई है ; उसमें हर प्रान्त, हर मजहब, और हर जाति की चर्चा तो है, पर रनवास की बात छोड़ दी गई है। उर्दू जुबान का जन्म दरबार की अपेक्षा रनवास मे अधिक संभव है। श्री गोयलीय ने, न जाने क्यों, रनवास को परदे में ही रहने दिया है। डाक्टर ऐजाज हुसैन ने इस बात को घुमा-फिरा कर बडे अच्छे ढंग से लिखा है : **"राजपूतों की राजनीतिक ताकत बढ़ने पर इसने भी इतनी तरक्की की कि सन् ८०० से लेकर सन् १००० ई० तक दो-आबे की शौरसेनी अपभ्रंश सारे उत्तरी हिन्दुस्तान के साहित्य की जुबान बन गई। मौजूदा उर्दू या खड़ी बोली इसी अपभ्रंश से निकली। इसके पीछे उस अपभ्रंश का रूप था जो दिल्ली, मेरठ और उसके आस-पास के हिस्सों में बोली जाती थी। इसी जुबान की जन्म दी हुई पश्चिमी हिन्दी भी थी जो मुसलमानों के आने से पहले पंजाब में बोली जा रही थी। × × × यह मानना पड़ता है कि इसी देहलवी जुबान पर उर्दू की बुनियाद पड़ी, जो ज्यादातर अपभ्रंश का असर लिये हुए थी। पंजाब के मुसलमान फारसी मिली हुई पजाबी बोलते हुए दिल्ली आये।"**[1] डा० ऐज़ाज़ हुसैन के कथन मे दिल्ली, मेरठ और उसके आसपास के हिस्से को अनावश्यक महत्त्व मिल गया है। अथवा जो बात डाक्टर साहब के मन मे है, वह उनके मन में ही रह गई ; किसी अज्ञात अभिसन्धि ने उनकी लौह-लेखनी को इधर-से-उधर कर दिया है। अन्यथा दिल्ली की चर्चा करने की आवश्यकता ही क्या थी ! फिर भी अपनी स्थापना के समर्थन के लिए डाक्टर ऐज़ाज़ हुसैन के कथन मे से दो शक्तिशाली वाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं—

(१) पश्चिमी हिन्दी पंजाब में बोली जा रही थी।

(२) पंजाब के मुसलमान पारसी मिली हुई पंजाबी बोलते हुए दिल्ली आये। अर्थात्, अपभ्रंश और पारसी मिश्रित (पजाबी) भारतीय भाषा, हिंदी की बात डाक्टर साहब ने बड़ी बेतकल्लुफी से लिख दी है। मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ाद ने अपभ्रंश तथा पारसी के मिश्रण की बात न उठाकर ब्रजभाषा से उसका सम्बन्ध स्थापित करते हुए लिखा है : **"हमारी जुबान ब्रज-भाषा से निकली है।"**[2] बाबू बालमुकुन्द गुप्त भी इसी बात का समर्थन करते है : **"वर्तमान हिन्दी भाषा की जन्मभूमि दिल्ली है। वहीं पर ब्रजभाषा से वह उत्पन्न**

---

१. उर्दू-साहित्य का इतिहास : देवनागरी-संस्करण : डा० ऐज़ाज़ हुसैन : पृष्ठ ३-४

२. आब-ए-हयात : मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ाद : पृष्ठ ६

हुई। वहीं उसका नाम हिन्दी रक्खा गया। आरम्भ में उसका नाम रेख्ता पड़ा था।"[1] श्री गुप्त पारसी के मिश्रण की बात क्यो कर भूल गए? पंजाब का नाम न लेकर उन्होंने दिल्ली का उल्लेख क्यो किया है? इसका उत्तर संभवतः श्री गुप्त के पास भी नहीं है। वर्तमान हिन्दी भाषा को कब रेख्ता कहा गया है, और कब उसे हिन्दी नाम दिया गया—यह बात भी अभी स्पष्ट नही हुई। रामबाबू सक्सेना भी दिल्ली को तो महत्त्व देते हैं, पर प्राकृत (अथवा अपभ्रंश) के साथ पारसी के मिश्रण की बात उन्होने क्यो नहीं लिखी—इसका उत्तर नही देते। उन्होने लिखा है: **"उर्दू भाषा उस हिन्दी या भाषा की एक शाखा है जो सदियों तक दिल्ली और मेरठ के आसपास बोली जाती थी, और उसका सीधा सम्बन्ध शूरसेनी प्राकृत से था। वह भाषा जिसे पश्चिमी हिन्दी कहना उचित होगा, उर्दू भाषा की जननी समझी जा सकती है।"**[2] मौलाना मुहम्मद हुसैन, बाबू बालमुकुन्द गुप्त तथा रामबाबू सक्सेना की एकमूलीय धारणाओं का समाधान ग्राहम बेली के शब्दो मे देखिये. **"उर्दू की उत्पत्ति के सम्बन्ध में खड़ी बोली का नाम नहीं जोड़ा जा सकता। क्योंकि दिल्ली आने से १०० वर्ष पूर्व मुसलमान पंजाब में बस चुके थे और उर्दू की नींव पंजाबी भाषा पर पड़ी है।"** इन सब अभिमन्तव्यो के मन्थन से हम निम्न निष्कर्षो पर पहुँचते है—

(१) हिन्दी और उर्दू एक भाषा के दो नाम है। आजकल इसे खड़ी बोली कहने का चलन लोकप्रिय हो रहा है। ग्राहमबेली ने उर्दू और खड़ी बोली की भिन्नता का ज़ोरदार खण्डन किया है।

(२) हिन्दी के विकास मे पारसी और अपभ्रंश का मिश्रण निश्चित है। ऐसा मिश्रण मुस्लिम-परिवारो मे ही सम्भव हो सकता है। कारण वर्ण-व्यवस्था की मर्यादाओ ने मुस्लिम स्त्रियो को हिन्दू गृहस्थो मे नही आने दिया। श्री चाटुर्ज्या और श्री तिवारी ने इसे स्वीकार किया है।

(३) हिन्दी का विकास पंजाब मे हुआ। मुसलमान पहले-पहल पजाब में आकर आबाद हुए थे। इस दृष्टि से ग्राहम बेली का कथन अधिक तथ्यपूर्ण है। डाक्टर ऐज़ाज़ हुसैन ने इस तथ्य को दबे स्वर से मान लिया है। दिल्ली और उसके आसपास की भाषा को हिन्दी की जननी बताना, अथवा ब्रजभाषा को उसकी जननी ठहराना कहाँ तक उचित है? यह एकपक्षीय निर्णय वैज्ञानिक तथ्य

१. खड़ी बोली-आन्दोलन : शितिकण्ठ मिश्र : पृष्ठ २१
२. उर्दू-साहित्य का इतिहास : रामबाबू सक्सेना : पृष्ठ १

के विपरीत पड़ता है; अर्थात् जिस समय को हिन्दी का जन्मकाल माना जा रहा है, तब पंजाबी, ब्रजभाषा तथा अवधी प्राकृताभास अवस्था में से निकल रही थीं; मुसलमानों का ब्रज-पूर्ववर्ती अपभ्रंश अथवा अवधी-पूर्ववर्ती अपभ्रंश से साक्षात्कार होना ऐतिहासिक घटनाओं के विपरीत पड़ता है। प्रथम आक्रमण के बाद मुसलमानों का प्रथम आवास पंजाब में ही सम्भव हो सकता है, अतः हिन्दी का जन्म पारसी और पंजाबी-पूर्ववर्ती के अपभ्रंश के सहयोग से ही सम्भव हो सकता है। इन सब तथ्यों से यह प्रमाणित करने में कुछ भी कठिनाई न होगी कि हिन्दी का (दूसरे शब्दों में उर्दू अथवा खड़ीबोली का) जन्म मुस्लिम-परिवारों मे हुआ तथा इसका पालन-पोषण मुस्लिम जनता द्वारा लश्करों तथा बाजारों में हुआ। श्री नानकदेव, भट्टनारायण तथा गुरु गोविन्दसिंह का हिन्दी (खडी बोली) को म्लेच्छ-भाषा कहना सर्वथा संगत प्रतीत होता है। निश्चयपूर्वक हिन्दी हिन्दुओ की नही, बल्कि मुसलमानो की भाषा है।

२. (क) दूसरा, मुसलमानों ने सदा से अपनी कथ्य को हिन्दी या हिन्दवी कहा है। यदि हिन्दी सचमुच हिन्दुओं की भाषा होती, तो वे इसे कम-से-कम हिन्दी न कहते। इसकी पुष्टि के लिए पं० पद्मसिंह शर्मा का तथ्यपूर्ण कथन यहाँ उपस्थित किया जा सकता है, : **"हिंदी नाम की सृष्टि हिन्दुओं ने नहीं की और न उन्होंने इसका प्रचार ही किया है। हिन्दू-लेखकों ने इसके लिए प्रायः सर्वत्र भाषा का प्रयोग किया है। भाषा के लिए हिन्दी शब्द के सर्व प्रथम नामकरण का सारा श्रेय मुसलमान लेखकों और कवियों को ही दिया जा सकता है।"**[1] पण्डितवर पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'हिन्दी' और 'भाषा' को एकरूप मानने का जो भ्रान्तिपूर्ण पग उठाया है, उसका समाधान पण्डितजी से लगभग सौ वर्ष पूर्व होने वाले इशाअल्लाखां के शब्दों मे देखिये : **"और कहने लगे यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिन्दवीपन भी न निकले और भाषापन भी न हो।"**[2] स्पष्ट है कि भाषा से तात्पर्य खड़ी बोली से भिन्न (ब्रज, अवधी और डिंगल) कथ्यों के लिए ठहराना उचित होगा। इंशा की हिन्दवीपन और भाखापन की बात अब रहस्यमय नही रही। ऐसा लगता है कि इतिहास ने भाषापन और हिंदवीपन को इतना निकट ला दिया है कि ज़रा-सी असावधानी से इधर-से-उधर और उधर-से-इधर भटक जाने का प्रमाद हो सकता है। नवाब सरदार जंग मौलाना हबीबुर्रहमान शेरवानी ने अपने एक भाषण में कहा था : **"इसकी कोई**

१. हिंन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी : पं० पदमसिंह शर्मा : पृ० १८
२. हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्र शुक्ल : पृ० ३६३

सनद नहीं कि अहदे-मज़कूर में इस ज़बां का नाम उर्दू था ; इन्तहा यह कि दिल्ली के उर्दू-बाजार का नाम भी इस अहद में यह नहीं था। हमने ऊपर कहा है कि इब्तिदा से आखीर तक हमारी जुबान का नाम हिंदी था।" इस कथन से कुछ भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है तो यही कि पारसी के भारतीयकरण हो जाने पर उसे 'हिंदी' कहा गया अथवा भारतीय भाषा के पारसीकरण हो जाने पर उसे **हिंदी** कहा गया। इसके समर्थन में श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय का वह कथन अधिक रोचक रहेगा, जो उन्होंने मौलाना मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद' के कथन : **"खुसरों ने फारसी का नमक मिलाकर हिंदी के ज़ायके में अजीब लुत्फ़ पैदा कर दिया"**[1] पर टिप्पणी करते हुए लिखा है : **परन्तु खेद है कि बाद के शायरो ने आटे में नमक न मिलाकर नमक में आटा मिला-मिलाकर सब स्वाद किरकिरा कर दिया।**[2] अमीर खुसरो से लेकर प्रायः सभी मुसलमानों ने अपनी जुबान के लिए हिंदी का चुनाव किया है; यथा—

(१) फारफी बोल आइना, तुर्की ढूँढ़ी पाइना।
हिंदी बोली आरसी आए खुसरो कहे कोई न बताए ॥[3]

—अमीर खुसरो : १३८४ वि० संवत

(२) बाजाँ कला हिंदवी में। किस्सए मक़तल शाह हुसैन।
नज्म लिखी सब मौजूँ आन। यों मैं हिन्दवी कर आसान।
यक यक बोल य मौजूँ आन। तकरीर सब हिन्दवी बखान।[4]

—शेख अशरफ : १५६० वि० संवत्

(३) यह सब बोलूँ हिंदी बोल। पुन तू एन्हों सेती घोल।
ऐब न राखें हिंदी बोल। मानी तो चख दीखे खोल।
हिंदी बोली किया बखान।·· ····· ··· ·· ।[5]

—शाह बुरहानुद्दीन :१६३६ वि० संवत्

(४) हिन्दोस्तान में हिंदी जबान सों इस लताफ़त इन छन्दाँ सों नज्म और नस्र मिलाकर गुलाकर यों मैं बोल्या।[6]

—मुल्ला वजही : १६९२ संवत्

१. आब-ए-हयात : मुहम्मद हुसैन आज़ाद : पृ० ७१
२. शेर-ओ-सख़ुन : अयोध्याप्रसाद गोयलीय : पृ० २७;
३. वही, पृ० २७
४. खड़ी बोली-आन्दोलन : शितिकंठ मिश्र : पृष्ठ ३४
५. दखनी हिंदी : रामबाबू सक्सेना : पृ० १४
६. वही, पृ० १४

(५) **मैं इसको दर हिंदी ज़बाँ इस वास्ते कहने लगा।**
जो फ़ारसी समझे नहीं समझे इसे खुशदिल होकर।[1],
—(मोज़जह का अनुवाद), १७४७ वि० संवत्

(६) **हुआ बुलबुल उपर इस ते ज़रूरत।**
दिखाना फर्स में हिंदी की सूरत।[2]
—चन्दर बदन

(७) **हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो।**[3]
—इंशा अल्लाखाँ : १८६० वि० संवत्

उपरि-लिखित पुष्ट प्रमाणों का आधार लेकर यह निर्बाध निर्णय दिया जा सकता है कि १३८४ विक्रमी संवत् से लेकर १८६० विक्रमी सवत् तक मुसलमानों ने अपने कथ्य को केवल हिन्दी कहा है। यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि यह अन्तराल काल मुस्लिम-संस्कृति का उत्कर्ष-युग कहलाता है। प्रायः सभी इतिहास-लेखकों तथा आलोचकों ने पुष्ट प्रमाण एवं तर्क-निबद्ध उक्तियों देकर हमारे प्रतिपाद्य शीर्षक का सबल समर्थन किया है। 'उर्दू-ए-कदीम', 'तारीखे नस्र-ए-उर्दू' तथा 'पजाब मे उर्दू' इत्यादि ग्रन्थों के विद्वान् लेखकों ने बड़ी खोज के बाद यह प्रमाणित कर दिया है कि आरम्भ से लेकर अन्त तक उर्दू का एकमेव 'हिन्दी' नाम ही प्रचलित था।[4] पण्डितवर पद्मसिंह शर्मा ने लिखा है : **"अमीर खुसरो की 'खालिकबारी' में सब जगह हिन्दी या हिन्दवी आया है। उसमें उर्दू रेख्ता या और किसी नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं है। खालिक बारी में १२ बार हिन्दी और ५५ बार हिंदवी शब्द का प्रयोग हुआ है।"**[4] अतः आरंभ से लेकर आज से सौ वर्ष पूर्व तक मुसलमान हिन्दी को अपनी ही बोली बताते रहे और हिन्दू भी उसे म्लेच्छ-भाषा ही मानते रहे—यह स्वयंसिद्ध और प्रसिद्ध तथ्य किसी अन्य प्रमाण अथवा तर्क की अपेक्षा नहीं रखता।

(ख) इसके विपक्ष मे हिन्दुओं ने अपनी बोली या कथ्य को सदा से 'भाषा' ही कहा है। वास्तव में जबान का अनुवाद है—'भाषा'। ब्रजभाषा, अवधीभाषा तथा पंजाबी भाषा के लिए व्यक्तिवाचक संज्ञाओं की (ब्रज, अवधी तथा पंजाबी)

---

१. दखनी हिंदी : रामबाबू सक्सेना : पृ० १४
२. वही, पृ० १४
३. हिंदी-साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्र शुक्ल : पृ० ३६३
४. शेर-ओ-शायरी : अयोध्याप्रसाद गोयलीय : पृ० ५२

सुविधा लब्ध होने पर भी उनके लिए जातिवाचक संज्ञा (भाषा) का चुनाव हिन्दुओं में व्याप्त उक्त गंभीर भावना का परिचायक है, जो उन्हें मुसलमानों से सदा से पृथक् रखती आई है। अलबत्ता पंजाब के मुसलमानों ने 'पंजाबी' के लिए हिन्दी संज्ञा का व्यवहार किया है। १५ वीं शती से लेकर १९ वीं शती के मध्यकाल तक हिन्दुओं ने अपनी कथ्य को 'भाषा' ही घोषित किया है; यथा—

(१) **सो देखिकै बनमाली शिष्टार्थ भाषा टीका कीन्ह।**[1]

—भास्वती : १४८५ वि० संवत्

(२) **भाषा भनित मोरि मति मोरी।**
(भाषानिबद्धमतिमंजुलमातनोति)
भाखा जिन्ह हरि चरित बखाने।
(भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्।[2]

—तुलसीदास : १६८० वि० संवत्

(३) **भाषा बोलि न जानहिं, जिनके कुल के दास।**
भाषा कवि भो मंदमति, तहि कुल केशोदास॥[3]

—केशोदास : १६१८-१६८० वि० संवत्

(४) **भारत मे भाषा के लेखक दो है, एक काशी मे दूसरा पजाब में।**
परन्तु आज एक रह जायगा।

—श्रद्धाराम फिल्लौरी : १९३४ संवत्

इनके अतिरिक्त जीद का दरबारी कवि साहबसिंह मृगेन्द्र खड़ी बोली मे 'बारहमासा' नामक ग्रन्थ उपस्थित करता है, परन्तु अपनी रचना के लिए 'भाखा' शब्द का व्यवहार करता है। अर्थात् पाँच सौ वर्ष तक हिन्दुओं ने निरन्तर अपनी रचनाओं मे उसे 'भाषा' ही कहा है, हिंदी नहीं।

अतः ऐतिहासिक परम्परा को देखकर अब यह निर्णय कठिन करना नही रहा कि 'हिन्दी' संज्ञा प्रकृति-प्रत्यय-सिद्ध अर्थात् व्युत्पत्तिमूलक नही है; इसका प्रयोग रूढ़ नज़र आता है और इसकी कल्पना पारसी के वज़न पर की गई है। **जिस प्रकार पास-पड़ौस में बस रही जातियाँ परस्पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान करती**

---

१. कविता-कौमुदी : प्रथम भाग : रामनरेश त्रिपाठी : पृ० २४

२. रामचरितमानस : गीताप्रेस : मैंफ्ला साईज : नवम संस्करण : पृ० ३०, ४० १००२

३. आचार्य केशोदास : डा० हीरालाल दीक्षित : पृ० ३१

हैं, उसी नाते से 'हिन्दी' मुसलमानों की भारत को एक सांस्कृतिक देन हैं।

हिन्दी का जन्म-स्थान किस प्रदेश को माना जाय, इस पर बड़ा गम्भीर मतभेद पाया जाता है। अधिकतर इतिहासकार हिन्दी को दिल्ली, मेरठ, सहारनपुर, रामपुर तथा अम्बाला के मध्यवर्ती भूभाग की उपज मानते है। इस प्रसंग में पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने बड़ा रोचक तर्क उपस्थित किया है। लिखा है :

हिन्दी पंजाब की उपज

"विदेशी मुसलमानों ने आगरा, दिल्ली, सहारनपुर की पड़ी बोली को 'खड़ी' बनाकर लश्कर और समाज के लिए उपयोगी बनाया।" पं० गुलेरी की बात अपने-आप में कितनी कच्ची पड़ती है, इस पर विचार करने की आवश्यकता है। कोई समाज विशेष लक्ष्य रखकर किसी भाषा को बनाया नही करता ; वरन् वह बलवती नदी की तरह बल खाती हुई समाज को चीर कर उसमें अपना स्थान स्वयं बनाती है। दूसरे, क्या आगरा, सहारनपुर, मेरठ की ग्रामीण (मुस्लिम) जनता पड़ी बोली (ब्रज) का सर्वथा परित्याग कर खड़ी बोली को अपनाये हुए है ? और नगर-पंक्ति मे दिल्ली की बात तो बड़ी वेतुकी लगती है। डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा भी इसी पक्ष को पुष्ट करते हुए लिखते है : **"खड़ी बोली निम्नलिखित स्थानों में गाँवों में बोली जाती है—रामपुर रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून के मैदानी भाग, अम्बाला तथा कलसिया और पटियाला रियासत के पूर्वी भाग।"** उत्तरप्रदेश को छोड़ भी दिया जाय ; जब अम्बाला, कलसिया, पटियाला की बोली खड़ी बोली है तो 'हरियानवी' बोली किस क्षेत्र की भाषा है ?—इसका उत्तर डाक्टर वर्मा को सोचना होगा। जब खड़ी बोली के मूल रूप और मूल स्थान का ही पता नहीं तो हरियानवी, पटियालवी, ब्रज भाषा को अन्तर्हित कर उस क्षेत्र की बोली को खड़ी बोली या खड़ी बोली को उस क्षेत्र की उपज सिद्ध करना केवल साहस-मात्र है। इस प्रसंग में महात्मा भगवान-दीन का कथन भ्रांतिनिवारक सिद्ध हो सकता है : **"खड़ी बोली किसी बोली का नाम नहीं है। वह सिर्फ हिन्दी की तारीफ है। फारसी आयाई बोली है।"**[1] खड़ी बोली तो हिन्दी और उर्दू की अभिन्नता-मूलक संज्ञा है। यह सज्ञा प्राचीन नहीं है, प्रत्युत अर्वाचीन है। इससे भी प्राचीन संज्ञा है—हिन्दुस्तानी।[2] अतः इससे हमारे अभिमत की पुष्टि तो हो जाती है कि हिन्दी नाम पारसी के

१. खड़ी-बोली आन्दोलन : शितिकण्ठ मिश्र : पृष्ठ २२

२. विशाल भारत : भाग २५, अंक ४, अप्रैल १९४० : पृष्ठ ३७०

वज़न पर रक्खा गया है, पर इससे हिन्दी का जन्म-स्थान निर्धारित नहीं होता। आर्य भाषा (अपभ्रंश) का पारसी से मेल-मिलाप दिल्ली में अधिक सम्भव है या पंजाब में ? इसका उत्तर खोजना अत्यन्त आवश्यक है। इतिहास का साक्ष्य यह सूचित करता है कि मुसलमानों के आरम्भिक आक्रमण (१०५० वि० संवत् से लेकर १३०० वि० संवत् तक) पंजाब तक सीमित रहे और वे वहीं पर आबाद हुए। सुबुक्तगीन के समय से भी पूर्व मुल्तान का पतन हो चुका था और वह अरब राज्य का अग भी बन चुका था। अतः सिन्धु-सौवीर-मद्र प्रदेश मे उभय भाषाओं के मेलमिलाप को अधिक युक्तिसंगत, इतिहास-सम्मत एवं भूगोल-सम्बद्ध प्रमाणित किया जा सकता है। मुसलमान यहाँ से इस मिली-जुली भाषा को लेकर देश-भर में फैल गए। डॉ० चाटुर्ज्या, डॉ० तिवारी तथा डॉ० ऐज़ाज़ हुसैन के कथन इसके समर्थन में पर्याप्त शक्ति रखते है।[1] तदनुसार: **"खड़ी बोली विशेष कर के मुसलमान व रमताराम जोगी और साधुसंगत राजपूताना में लाये हैं। जो प्रायः सब ही जगह समझी जा सकती है। यही हिन्दी है और बहुत वर्षों पहले यहाँ आई है।"**[2] मुसलमान व रमताराम योगी कहाँ से खड़ी बोली को लाये है ? इस जिज्ञासा की पूर्ति सम्भवतः तेरहवी शताब्दी के पंजाब के प्रसिद्ध नाथ चर्पटनाथ एवं चौरंगीनाथ की रचनाओं से हो सकती है। यथा—

(१) किसका बेटा किसकी बहू। आप सवारथ मिलता सहू।
जेता फूल तेता आल। चरपट कहे सब आल जंजाल॥

—चरपटनाथ की सबदी

(२) टूका षाया मगर मचाया। जैसा सहर का कूता।
जोग जुगति की खबर न जाणी। कान फड़ाइ बिगूता॥[3]

—चौरंगीनाथ की सबदी

अमीर खुसरो का मुल्तान आना उसकी अपनी रचना से प्रमाणित किया जा चुका है। कहते है कि अमीर खुसरो अपने अनन्य सखा बलबन-पुत्र महमूद के

---

१. (क) उनकी भाषा का भारतीयकरण दूसरी पीढ़ी से शुरू हो गया।
(ख) हिन्दू और मुसलमानों की वह समान रूप से रिक्थ है।
(ग) पंजाब के मुसलमान फारसी मिली हुई पंजाबी बोलते हुए दिल्ली आये।

२. खड़ी बोली-आन्दोलन : शितिकण्ठ मिश्र पृष्ठ ३१

३. वही; पृष्ठ ३२

पास इसलिए गए थे कि वे मुल्तान के प्रसिद्ध संत बाबा फरीद के दर्शन कर सकें। यह एक इतिहास-प्रसिद्ध बात है बाबा फरीद शकरगंज दिल्ली के सुल्तान बलबन के दामाद थे। पर सन्-संवतों के आँकड़े यह बताते हैं कि शकरगंज खुसरो के मुल्तान पहुँचने से पूर्व भू-शायी हो चुके थे। यह सब लिखने की आवश्यकता इसलिए हुई कि खड़ी बोली के इतिहास में अमीर खुसरो का नाम प्रथम रेखा पर आता है, पर उससे पूर्व शकरगंज (११७३-१२६५ ई०) खड़ी बोली में रचना कर चुके थे। कहते हैं, शकरगंज की रचनाओं से अभिभूत होकर खुसरो खड़ी बोली की ओर झुके थे। यह जनश्रुति कहाँ तक ठीक है, यह अभी अनुसन्धानाधीन है ; पर पंजाब का साहित्यक वातावरण तथा ऐतिहासिक परम्पराएँ उक्त जन-प्रवाद का समर्थन करती दीख पड़ती है। इसी पृष्ठभूमि में ग्राहम बेली का कथन—**"दिल्ली आने से १०० वर्ष पूर्व मुसलमान पंजाब में बस चुके थे और उर्दू की नींव पंजाबी भाषा पर पड़ी है।"** अधिकाधिक संगत प्रतीत होता है। हिन्दी-पक्ष से चाटुर्ज्या-तिवारी का मत तथा उर्दू-पक्ष से गोयलीय ग्राहम बेली का मत एक दूसरे से गुम्फित हो गए है और एक स्वर से खड़ी बोली (हिन्दी अथवा उर्दू को) पंजाब की उपज सिद्ध करते है। प० चन्द्रधर गुलेरी, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा तथा अन्य विद्वज्जनों के हिन्दी-उर्दू को दिल्ली के आसपास की बोली प्रमाणित करनेवाले तर्क कहाँ तक इतिहास के अनुकूल पड़ते हैं और कहाँ तक भाषा-विज्ञान का आधार रखते है—अनुसन्धायकों को मनन करके इसका निर्णय करना चाहिए।

निष्कर्ष यह कि—

(क) मुसलमानों का पंजाब मे सर्वप्रथम आना और बसना ;

(ख) पंजाब मे ही पंजाबी-पूर्ववर्ती अपभ्रंश से पारसी का मेल होना;

(ग) हिन्दी का पजाब से चलकर मुसलमानो के माध्यम से अन्यत्र फैलना;

(घ) हिन्दी की प्राचीनतम रचना का पंजाब में उपलब्ध होना प्रमाणित करता है कि 'हिन्दी' पजाब की अमर देन है।

हिन्दी और उर्दू वास्तव मे एक भाषा के दो नाम है—यह पिछले पृष्ठों में सिद्ध किया जा चुका है। इनमें से 'हिन्दी' नाम प्राचीन है और 'उर्दू' नाम अर्वाचीन। इन धरातल (मूल रूप) को समझने के लिए तथा अन्य हिन्दी पदवाच्य कथ्यों से विलग रखने के लिए 'खड़ीबोली' नाम की कल्पना की गई है।

हिन्दी-उर्दू विघटन

है। खड़ी बोली का व्याख्या करना तथा उसका इतिहास बताना ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय नहीं है ; बल्कि खड़ी बोली की पृष्ठभूमि में हिन्दी और उर्दू को समझना तथा उसका विशदीकरण ही इसका एकमात्र-उद्देश्य है। बहुत से विद्वान 'हिन्दी' तथा 'उर्दू' की वास्तविकता समझ ही नहीं सके ; फलस्वरूप, उनकी एक-दूसरे से विपरीत पड़ने वाली अनेक वाणियाँ सुनकर समझदार विद्यार्थी भी भ्रम में पड़ सकता है। बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के २० वे अधिवेशन के सभापति-पद से भाषण करते हुए कहा था : **"खड़ी बोली की उत्पत्ति ब्रजभाषा तथा पंजाबी के मेल से हुई है।"**[1] पं० शिवरत्न शुक्ल सिरस ने कहा है : **"खड़ी बोली उर्दू और ब्रजभाषा के मिश्रण से बनी है।"**[2] जब खड़ी बोली के सम्बन्ध में **इतनी** भ्रान्त धारणाएँ **विद्यमान** हों, **तब** हिन्दी-उर्दू का वारा-न्यारा कौन कर सकता है ! **यदि** सिरसजी का कथन स्वीकार्य हो सकता है तो 'उर्दू' को अनायास महत्त्व मिल जाता है। उर्दू **तथा** ब्रजभाषा के संयोग से खड़ी बोली का अस्तित्व में **आना**, यह सिद्ध करता है कि **खड़ी** बोली **और** उर्दू में जन्य-जनक जैसा सम्बन्ध है। इधर **मौलाना** मुहम्मद हुसैन ब्रजभाषा से उर्दू का जन्म बताते है। इस परिस्थिति में ब्रजभाषा के मिश्रण से पहले के उर्दू का रूप और साहित्य का परिचय दिये बिना काम न चलेगा। एफ० ई० के० साहब ने जब यह मान लिया कि, **"वर्तमान उच्च हिन्दी का विकास उर्दू से फ़ारसी और अरबी शब्दों को छाँटकर उनके स्थान पर संस्कृत और** हिन्दी (?) **के शब्दों की भरती के बाद हुआ है,"**[3] तब **इस** पर अधिक टिप्पणी करने की आवश्यकता क्या है ! मानो उर्दू एक प्राचीन भाषा है और हिन्दी उसका साम्प्रदायिक प्रयोग-मात्र है। स्यात् के० साहब के पीछे गार्सा दतासी की विचारधारा काम कर रही हो। श्री शितिकण्ठ मिश्र ने नाना मतों का मंथन करके जो **परिणाम** निकाला है, वह इस प्रकार है—**"उर्दू स्वयं खड़ी बोली के आधार पर विकसित हुई। उसी में से हिन्दी-संस्कृत के शब्दों को हटाकर अरबी-फारसी प्रयोग भरने पर आज की उर्दू बनी है।"**[4] ये सब विचार एक-दूसरे को खण्डित करते हुए से प्रतीत होते हैं। कोई हिन्दी से उर्दू का जन्म मानता है, दूसरा उर्दू से हिन्दी का जन्म। इसमें सत्य क्या है और

१. ब्रज भाषा बनाम खड़ी बोली : कपतदेव सिंह : पृष्ठ ४५
२. वही, पृष्ठ ४५
३. खड़ी बोली आन्दोलन : मिश्र : पृष्ठ १७
४. वही, पृष्ठ २०

कहाँ है, इस पर थोड़ा स्थिर-चित होकर विचार करने की आवश्यकता है। मुस्लिम-आक्रमण से लेकर श्रीमती कंपनी सरकार की एक घोषणा तक—इस दीर्घ समयवर्ती अन्तराल में अपभ्रंश और पारसी के मिश्रण से जिस भाषा का प्राकट्य हुआ, उसे हिन्दी या हिंदवी नाम से पुकारा गया और समझा गया। जब तक ऐसा रहा, तब तक सब ठीक रहा। जाने कब, बाद में इस मिश्रण को अभिव्यक्त करने वाला नाम 'रेख्ता' या 'रेख्ती' रख लिया गया। जब तक हिन्दू इस रेख्ता को म्लेच्छ-भाषा मानते रहे, तब तक मुसलमान भी रेख्ता के रेख्तापन के प्रति निष्ठावान रहे; रेख्ता की रूप-रेखा को अक्षुण्ण रखने में कृत-संकल्प रहे। परन्तु श्रीमती कम्पनी सरकार की एक विस्फोटक घोषणा ने रेख्ता को तार-तार कर दिया, अपभ्रंश-(भारतीय)-पन और पारसीपन को अलग-थलग करके एक-दूसरे के आमने-सामने पटक दिया—**"हरी एक जिले के कलक्टर साहब को लाजीम है कि इस आईन के पावने पर एक-एक केता इसतहारनामा निचेके सरह से फारसी व नागरी भाखा वो अच्छर में लिखवाय के × × × कचाहरी में लटकावही**[1] (सन् १८०३)।" पारसी भाखा वो अच्छर, नागरी भाखा वो अच्छर—इन शब्दों ने जादू का काम किया। नागरी भाषा और अच्छर (संस्कृत अपभ्रंश-शब्दावली) को हिन्दुओं-ने अपना लिया और इसकी आठ सौ वर्षीय सनातनी संज्ञा को यथावत् रहने दिया, मुसलमानों ने पारसी अच्छर वो भाखा (पारसी शब्दावली) को अपना लिया और उसे अपना सांस्कृतिक प्रतीक मानकर रेख्ता का पर्याय 'उर्दू' गढ़ लिया। हिन्दुओं ने 'हिन्दी' अपनाकर इतिहास को न केवल जीवित रखा; बल्कि उस इतिहास से बल पाकर वे स्वयं प्राणवन्त हो गए। मुसलमानों ने उसे (खड़ी बोली को) पारसीपन का अधिक गहरा रंग दिया; इसी पारसी के गहरे रंग का श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय ने अच्छा-खासा मज़ाक उड़ाया है, साथ ही 'तारीखे अदबे उर्दू' के लेखक ने भी उस पर करारी चोट करते हुए लिखा है: **"इन्हीं वजूहात से यह होनहार बच्चा अपने हकीकी वाल्दैन से जुदा होकर अपने मसनुई (बनावटी) वाल्दैन की आगोशो मुहब्बत व तरबियत पाता रहा। अस्ल ज़बां की खूबियाँ जिनमें उर्दू की इब्तिदा हुई थी, बहुत-कुछ फ़ना हो गईं।**[2] अस्तु, रेख्ता और भाषा के विभाजन ने वाद-विवाद को जन्म दिया और अन्ततोगत्वा इस विवाद ने भारत-विभाजन की नींव डाली। इतना वितंडावाद हो जाने

---

१. हिंदी-साहित्य का इतिहास : आचार्य शुक्ल : पृष्ठ ३७३.

२. शेर-ओ-सख़ुन : अयोध्याप्रसाद गोयलीय, पृष्ठ ३३.

पर भी हिन्दी-उर्दू के धरातल (खड़ी बोली) को कोई आँच नहीं आई। वह आज भी पहले-जैसी दृढ नजर आती है। लिपियाँ अलग जा पड़ीं, शब्दावलियों में आकाश-पाताल जैसा अन्तर आ गया, पर दोनों ने अपना धरातल नहीं छोड़ा। क्या यह कम आश्चर्य की बात नहीं है ! यहाँ प्रश्न उठता है कि 'उर्दू' नाम को मान्यता कब मिली और किसने दी ? यद्यपि इसका उत्तर कुछ भरोसे के साथ दे सकना कठिन है; पर बताया जाता है कि मीर मुहम्मद अताहुसैन खाँ तहसीन, वह पहला व्यक्ति है, जिसने खुसरो के 'चहार दरवेश' का अनुवाद किया, जिसका नाम रक्खा "नौ तर्जए मुरस्सअ" (ई० सन् १७९७); और इसमें सबसे पूर्व 'उर्दू' का नाम प्रयुक्त किया। जब तक इस धारणा का खण्डन करने वाला कोई अन्य पुष्ट तर्क एवं ज्वलन्त प्रमाण सामने नही आता, तब तक इस तथ्य को मानने के लिए हम विवश हैं। शेरवानी साहब का वह पूर्व-उद्धृत कथन इसके अनुकूल जान पड़ता है—"इब्तिदा से आखीर तक हमारी जुबान का नाम हिन्दी था।" फोर्ट विलियम कलिज के बनने और बिगड़ने के बाद प्रायः सभी विदेशी विद्वानों ने हिन्दी-उर्दू विवाद को खूब उछाला ; मानो वे सब-के-सब एक निश्चित नीति पर अथवा पूर्व-निर्धारित योजना पर चल रहे हों। नवीन युग मे उक्त रूढ़ 'हिन्दी' शब्द का अधिक विस्तार हो गया है। आचार्य शुक्ल ने अपनी प्रसिद्ध रचना में 'हिन्दी' के अन्तर्गत प्राकृताभास, अपभ्रंश, अवधी और ब्रजभाषा—सबको सगृहीत कर लिया है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने इस पर अपनी मुहर लगा दी है : **"इस भूमि-भाग मे हिन्दुओं के आधुनिक साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं, शिष्ट बोलचाल तथा स्कूली शिक्षा की भाषा एक-मात्र साहित्यिक खड़ी बोली ही है। साधारणतया हिन्दी शब्द का प्रयोग जनता में इसी भाषा के अर्थ में किया जाता है, किन्तु साथ ही ग्रामीण बोलियों—जैसे मारवाड़ी, ब्रज, छत्तीसगढ़ी, मैथिली आदि को तथा डिंगल, हिन्दवी, ब्रज, अवधी तथा मैथिली आदि साहित्यिक भाषाओं को भी हिन्दी भाषा के ही अन्तर्गत माना जाता है।"**[1]

'हिन्दी' इस रूढ़ संज्ञा के अनुसार जिस भाषा का ग्रहण किया जाता है, वह मुस्लिम परिवारों में जन्मी है, पली है; मुस्लिम सैनिकों द्वारा फैलाई गई है; उसकी मूल भूमि है पजाब—ऐसा अब तक के उद्धृत वचनों से प्रतिपादित किया जा चुका है; पर, इस कटु सत्य को मान लेना एकदम आपत्ति-रहित

हिन्दी-पंजाबी

१. हिन्दी भाषा का इतिहास : धीरेन्द्र वर्मा : पृष्ठ ५९

नही है। जिन कारणो से 'हिन्दी' की भाषायी परिभाषा उलझ सकती है, वे इस प्रकार से है—(क)पजाबी को हिन्दी की उपभाषा (या बोली) मानना, (ख) पजाब मे पंजाबी को भी हिन्दी कहना, और (ग) पंजाब में हिन्दी के लिए 'शास्त्री' शब्द का प्रयोग। इन सब पर विचार करना असामयिक न होगा।

(क) जिस प्रकार पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने प्राकृताभास को, पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा डा० धीरेन्द्र वर्मा ने ब्रज तथा अवधी को हिन्दी में परिगणित करने का आग्रह किया है, ठीक इसी प्रकार विचार रखने वाले कतिपय पण्डित पजाब में विद्यमान है, जो पजाबी भाषा को हिन्दी का कथ्य-मात्र मानते है, उसका स्वतंत्र अस्तित्व मानने के लिए वे उद्यत नही हैं। यदि उनका आग्रह स्वीकार्य हो जाय तो हिन्दी के अन्तर्गत ब्रजभाषा की तरह पजाबी भाषा और साहित्य का भी परिगणन करना होगा। पर वास्तविकता इससे भिन्न है। पजाबी-पूर्ववर्ती अपभ्रंश की नीव पर खड़ी बोली का प्रासाद-निर्माण हुआ है। पर, इसका अर्थ यह नही कि पंजाबी-पूर्ववर्ती अपभ्रंश का अपना कोई अस्तित्व ही नही रहा। गंगा हिमालय-जन्मा होने पर भी हिमालय नही है; हिन्दी पंजाबी-अपभ्रंश-जन्मा होने पर भी पंजाबी नही है। पजाबी उस भाषा का रूप और नाम है, जिसने पारसी के संसर्ग से बचकर अपना प्रकृत रूप बनाये रखा है। अतः जब-जब पंजाब के हिन्दी-साहित्य की चर्चा होगी, वहाँ पंजाबी-इतर भाषा का ही ग्रहण होगा।

(ख) पंजाबी को हिन्दी के अन्तर्गत मानने का विवाद उस समय और अधिक विकट रूप ले लेता है, जब पजाबी-साहित्यकार पंजाबी को 'पंजाबी' न कहकर 'हिन्दी' कहते है। यथा:

(१) **फर्ज़ मसाइल फिका दे हिन्दी कर तालीम।**
कारन मरदाँ ओ मियाँ! जोड़े अब्दुल करीम॥

—अब्दुल करीम

(२) **इस अरबी ओं हिन्दी की जं। सभा खलक सुखल्ला लीजं।**
खान अब्दुल्ला ने फरमाया। कसीदा शरह अमाली है।

—हाफिज़ मुअज़्दीन;

(३) **इकदिन दिलविच गुजरिया, मेरे एह खियाल।**
हिन्दी विच पैगम्बरां दा कुछ आखाँ हाल॥

—मुहम्मद मुसलम

(४) **मुअजिज़ा पाक रसूल दा हिन्दी आख सुणाइया॥**

—इमामदीन।

---

१. पंजाबी हीरे : गुरुमुखी : मौलाबख्श कुश्ता : पृष्ठ १

जो मुसलमान राज-सहायता से भारत के कोने-कोने में फैल गए, वे हिन्दी को अपने साथ लेते गए। जो मुसलमान पीछे रह गए, उन्होंने पजाबी को अपने धार्मिक विचारों का माध्यम मान लिया और उसका नाम भी 'हिन्दी' रख लिया। यदि हम इस तथ्य को, हिन्दी की रूढ़ सज्ञा प्रमाणित करने के लिए कुछ तर्क उपस्थित करते है, तो उसमे कुछ यथार्थ दीख पड़ेगा। पारसी के वज़न पर स्थानीय भाषा को हिन्दी कहा जाता था; पर क्या पंजाबी का नाम 'हिन्दी' पड़ जाने से उसे हिन्दी की एक शाखा मान लें अथवा हिन्दी को पंजाबी की एक शाखा मान लें? जहाँ तक पारिभाषिक स्तर पर विचार करने की बात है—हिन्दी और पजाबी दो स्वतन्त्र भाषाएँ हैं—वहाँ ऐसा कुछ सिद्धान्त मानकर चलने में कल्याण दीख पड़ता है।

(ग) पंजाबी एक सर्वतन्त्र स्व-तंत्र भाषा है। पंजाब में कहीं भी चले जाइये, आपको हिन्दी की एक दूसरी रूढ़ संज्ञा सुनाई पडेगी। पंजाब मे सर्वत्र हिन्दी को 'शास्त्री' कहते हैं। हिन्दी का प्रचार बाबू नवीनचन्द्र राय के पंजाब-आगमन के साथ सम्बद्ध है—यह इतिहास के विद्यार्थी को सदा स्मरण रखना चाहिए।

चूँकि पारसी-सम्पर्क के कारण 'हिन्दी' पजाबी से स्वतंत्र है, मुसलमानों का पंजाबी को हिन्दी कहना केवल अभ्यासवश है और पंजाबी-जन हिन्दी को हिन्दी न कहकर 'शास्त्री' कहते है—अतः 'पंजाब-प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य का इतिहास' इस नाम को देखकर पूर्वाग्रह-वश लोगों को इसमे पंजाबी-साहित्य का इतिहास का व्यापक भ्रम हो सकता है, पर उसे अवैज्ञानिक मानकर हिन्दी से पृथक् ही रखना समीचीन है।

लिपि

पंजाब मे हिन्दी-साहित्य की लिपि का प्रश्न बड़ा विचित्र-सा हो गया है। सामान्य जनता मे यह विश्वास-सा पाया जाता है कि देवनागरी-निबद्ध भाषा हिन्दी है। यह विश्वास निराधार नहीं है। इस विश्वास के पीछे दो महत्त्वपूर्ण कारण विद्यमान हैं: यथा—(क) समस्त हिन्दू जनता संस्कृत के प्रति अगाध निष्ठा रखती है, चूँकि वह उसकी समस्त धार्मिक स्वीकृतियों का केन्द्र है। जब से ब्राह्मी लिपि तथा शारदा लिपि पुरातत्त्व के गहन गह्वर में जा-कर विलीन हो चुकी है, तब से अब तक देवनागरी लिपि संस्कृत भाषा का वाहन रही है। संस्कृत के बाद प्राकृत, प्राकृत के बाद अपभ्रंश भाषा के लिए देवनागरी लिपि का चुनाव किया गया है। परम्परा से प्राप्त रिक्थ के प्रति ममता का होना स्वाभाविक है। मात्र इसी हेतु से देवनागरी लिपि में लिखी हुई भाषा

अपनी विभूति समझ ली गई है। भारत की समस्त भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि अपनाने का आग्रह भी तथाकथित ममता की प्रेरणा का फल है। (ख) दूसरा, जब से हिन्दी-उर्दू का विघटन आरम्भ हुआ है, तब से देवनागरी लिपि पर अत्यधिक बल दिया जा रहा है। उत्तर-प्रदेश मे देवनागरी-निबद्ध साहित्य के लिए अमर साधना हुई है। उर्दू की प्रतिद्वन्द्विता के लिए देवनागरी लिपि का उत्थान उत्तर-प्रदेश का सुन्दर लक्ष्य रहा है। इसके ज्वलन्त प्रमाण के लिए काशी नागरी-प्रचारिणी सभा का उल्लेख किया जा सकता है। अतः नागरी लिपि में उपस्थित भाषा को ही 'हिन्दी' समझना स्वाभाविक है। परन्तु मध्यप्रदेश (राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा बिहार) के विपरीत पजाब मे हिन्दी (ब्रज-भाषा सहित) की दशा कुछ और ही है। पंजाब में देवनागरी-निबद्ध भाषा को 'शास्त्री' या 'शास्त्रीक' कहने का चलन है। यह स्वीकृति कब से चली आ रही है, इसका ठोस साक्ष्य अथवा उल्लेख नही मिलता। अलबत्ता, आज भी ग्रामीण जनता 'शास्त्री' नाम से हिन्दी को बूझ सकती है, अन्यथा नही। यह धारणा सार्व-जनपदीय है। मुल्तान से लेकर काश्मीर तक, पेशावर से लेकर पलवल तक गाँवो में उक्त मान्यता व्याप्त है। मध्यदेश में जिसे 'भाषा' कहकर सम्बोधित किया गया है, वह पजाब में गुरुमुखी लिपि का बाना पहने हुए है।[1] पंजाब की विस्तृत सीमा में जिस साहित्य ने जन्म लिया,

१. कतिपय प्रसिद्ध रचनाओं की सूची इस प्रकार से है :—

सं०	रचना	लेखक	लिपिकाल	उपलब्धि-स्थान
१	रामचरितमानस	गोस्वामी तुलसी दास		पुरातत्त्व-विभाग, पटियाला
२	सुजानचरित	सूदन कवि		,,
३	विहारी सतसई	बिहारी लाल		,,
४	रसिकप्रिया, कवि-प्रिया	केशव दास		,,
५	हमीहठ	चन्द्रशेखर वाज-पेयी		,,
६	रस-प्रबोध	गुलामनबी		,,
७	रस-पीयूष	सोमनाथ		,,

उसकी गुरुमुखी लिपि होना स्वाभाविक है। गुरुमुखी लिपि के आविष्कर्ता गुरु अंगददेव जी हैं। गुरु-परम्परा में गुरु नानक के प्रथम उत्तराधिकारी के नाते श्री अंगददेवं का असाधारण सम्मान स्वाभाविक है। पंजाब के अतिरिक्त प्रदेशों के 'भाषा-साहित्य' को भी गुरुमुखी लिपि में सुरक्षित रक्खा गया है। जिनमें से मतिराम, भूषण, चिन्तामणि, बलभद्र मिश्र, शम्भुनाथ मिश्र, तोष-निधि, देव, पद्माकर, ग्वाल प्रभृति अनेकों कवियों के नाम गिनाये जा सकते हैं। कतिपय लेखकों की मूल रचनाएँ, और कई रचनाओं की अनेक टीकाएँ यत्र-तत्र विद्यमान है। अकेले 'बिहारी सतसई' ग्रन्थ पर ४ या ५ टीकाएँ प्राप्त है। रामचरितमानस की टीकाओं मे सन्त आत्मसिंह की टीका बड़ी प्रसिद्ध है। यह सब साहित्य देवनागरी लिपि मे नही है। अतः १५६० वैक्रम सम्वत् से १९६० वैक्रम सम्वत् तक का प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य एवं मध्य-देशीय हिन्दी-साहित्य गुरुमुखी लिपि मे सुरक्षित है। १९४० वैक्रम सम्वत् से शनैः-शनैः आर्यसमाज के प्रचार के साथ-साथ देवनागरी लिपि लोकप्रिय हो चली है। देवनागरी लिपि के अभिनव प्रचार ने जहाँ लाभ पहुँचाया है, वहाँ हानि भी कम नही पहुँचाई है। देवनागरी के प्रचार से पूर्व भाषा (हिन्दी) गुरुमुखी लिपि में लिखी जाती थी और उसे दो-दो लिपियों को अपनाने का गौरव प्राप्त था। देवनागरी लिपि के दवाब के कारण गुरुमुखी भाषा (हिन्दी) से हट कर पंजाबी-साहित्य की गोदी में जा पड़ी है। **गुरुमुखी का पंजाबी से सम्बद्ध होना अपने आप में इतना अरुचिकर नहीं है, जितना भाषा (हिन्दी) साहित्य से उसका सम्बन्ध-विच्छेद खेदजनक है।** इस लिपि-विच्छेद से न केवल हिन्दी का क्षेत्र सीमित हो गया है, बल्कि दो-दो लिपियों का गौरव भी मिट गया है। यह लिपि-विघटन पंजाब के लिए हितकर सिद्ध नहीं हुआ।

साहित्य

साहित्य की नपी-तुली निश्चित परिभाषा बाँधने के सभी यत्न विफल रहे है। साहित्य की सीमाएँ इतनी मृदु है कि हृदय को आशु वशंवद बनाने वाली एक पंक्ति, नही-नही आधी पंक्ति भी, उसमें प्रवेश पाकर स्थान बना सकती है; उस पर किसी-न-किसी काव्यरूप की परिभाषा फलितार्थ हो सकती है; परन्तु साहित्य की वही मृदु सीमाएँ इतनी कठोर सिद्ध होती है कि जिस में कानून, गणित, विज्ञान, अर्थशास्त्र, चिकित्सा आदि के भारी-भरकम पोथे प्रवेश नहीं पा सकते। साहित्य का सम्बन्ध हृदय से है। हृदय को रस-प्लावित करने वाली प्रत्येक रचना साहित्य है। केवल इसी नाते से कविता, नाटक

गेय नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना, निबन्ध—सबको साहित्य मान लिया गया है। इसी लक्ष्य को समक्ष रख कर पण्डितराज जगन्नाथ ने साहित्य का यह लक्षण दिया है—**रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द 'काव्य' है।** कहना न होगा कि 'काव्य' अथवा 'साहित्य' पद से अलंकृत रमणीय रचनाओं का क्रमबद्ध विवरण उपस्थित करना वर्ण्य ग्रन्थ का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है।

इतिहास

पंजाब के हिन्दी-साहित्य की कहानी लगभग एक हजार वर्ष की पुरानी है। पंजाब में विक्रम की ११वी शती से ही साहित्य-रचना आरम्भ हो गई थी। प्रारम्भ में सिद्धों, नाथों तथा अन्य सन्तों की वाणी को हिन्दी-पंजाबी-पूर्ववर्ती अपभ्रंश मान सकते है। इसे 'पुरानी हिन्दी' नाम से भी बूझा जा सकता है। जिस प्रकार मुज की रचना में आधुनिक खड़ी बोली के बीज विद्यमान हैं, उसी प्रकार अद्दहमाण की रचना में वर्तमान पंजाबी का वह रूप विद्यमान है, जिस की क़लम से वर्तमान हिन्दी (खड़ी बोली) का विकास हुआ है। उस पर पुरानी हिन्दी की परिभाषा तो चरितार्थ हो सकती है; परन्तु पंजाबी को भी उस परिभाषा से बाहर नहीं रखा जा सकता। जिस प्रकार प्राकृत से जन्म पाकर 'अपभ्रंश' एक परिनिष्ठित रूप लेकर उससे पृथक् एवं स्वयं-स्फूर्त बन गई है, उसी प्रकार (पंजाबी-पूर्ववर्ती) अपभ्रंश से जन्म पाकर, कालक्रम के अनुसार घिस-घिसाकर, पारसी-सम्पर्क से निखर कर भाषा जिस नव्य रूप में अभिव्यक्त हुई है—उसे 'हिन्दी' कहते हैं। विक्रम की आठवीं शताब्दी तथा बारहवीं शताब्दी के अन्तराल मे अपभ्रंश-साहित्य का निर्माण हुआ है। अन्तिम दो शताब्दियों के अपभ्रंश-साहित्य को पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने 'पुरानी हिन्दी' का साहित्य माना है। हम 'पुरानी हिन्दी' का अर्थ उस भाषा से जोड़ते हैं, जिस भाषा ने आधुनिक परिनिष्ठित रूप (खड़ी बोली) ग्रहण नहीं किया, अपना 'प्राकृताभास' भी नहीं छोड़ा और उसमें पारसी की तुक भी नहीं मिली। पारसा के मेल-मिलाप से अपना पुरानापन छोड़, प्रादेशिक भाषा से सर्वथा पृथक् हो भाषा ने जो नया रूप लिया, उसे 'नई हिन्दी' अथवा 'परिनिष्ठित हिन्दी' अथवा 'उच्च हिन्दी' अथवा 'हाई हिन्दी' नाम से समझा जा सकता है। जो भाषाएँ पारसीपन की तुक से बचकर स्व-स्व-पूर्ववर्ती अपभ्रंश की कड़ी-से-कड़ी मिलाती हुई विकसित हुई है, वे अपने नाम व क्षेत्र के कारण प्रसिद्ध हैं; यथा—पंजाबी, ब्रज तथा अवधी। पंजाबी को छोड़कर, ब्रज और अवधी को पुरानी हिन्दी का सीमित प्रादेशिक रूप मान लिया गया है। इस प्रकार पुराना हिन्दी

(अपभ्रंश से लेकर ब्रज-अवधी तक) तथा नई हिन्दी (खड़ा बोली)—दोनों को मिलाकर एक हजार वर्ष की बात बन जाती है।

जैसी गंगा गंगोत्री पर्वत से निकलकर ऊबड़-खाबड़ घाटियों से टकराती बल खाती, अपना रास्ता स्वयं बनाती पर्वतीय समतल मैदान मे उतरती है; वह वहीं न रुककर कुल्याओं एवं आपगाओं में बँटकर, उर्वर भूमि को आप्लावित कर, उत्तरोत्तर आगे बढ़कर सागर में सादर उतरती है; वैसे ही 'पंजाब का हिन्दी साहित्य' अपभ्रंश-साहित्य के अन्तिमतम चरण से प्रकट होकर नाथों, सिद्धों, सूफियों तथा राजकवियो की विविध घाटियों को पारकर मध्यकाल के मैदान में उतरता है और पुनः साधकों तथा भक्तों की पर्णशाला में विश्राम पाकर, कही नायक-नायिकाओं की मनोरंजन-पूर्ण मृदुल क्रीड़ाओं में भाग लेकर, कहीं रण-बाँकुरे वीरों का यशोगान कर धीरे-धीरे आगे बढ़कर आधुनिक गद्य-पद्य-सागर में विलीन हो गया है। यह उस एक सहस्रवर्षीय विस्तृत हिन्दी-साहित्य की संक्षिप्त एवं अमर कहानी का चित्र है। **कहना न होगा, प्रस्तुत ग्रन्थ में हिन्दी-काव्यरूपों की चर्चा करते समय 'पुरानी' और 'नई' कही जाने वाली हिन्दी के नाते अपभ्रंश भाषा और साहित्य का ग्रहण होगा और उन्हीं में से काव्य-रूपों के प्रथम छोर ढूँढ़ने का यत्न होगा।**

आधारभूत सामग्री

पंजाब का 'हिन्दी-साहित्य' हिन्दी-जगत् के लिए एक रहस्यमयी पुस्तक के समान है। यद्यपि इसका रहस्योद्घाटन शनैः-शनैः एवं यत्-किंचित् होता रहा है, पर उसका विस्तृत और विधिवत् प्रकाशन नहीं हुआ। इसका कारण चाहे कुछ भी रहा हो, पर हमारे विचार में इसके मुख्य कारण दो हो सकते है—

(क) पंजाब के हिंदी-सेवियों में अपने प्रति व्याप्त हीन भावना; और

(ख) हिंदी-भाषी प्रदेशों की पंजाब के प्रति उपेक्षा-वृत्ति।

अपने प्रति व्याप्त हीन भावना ने हमें बहुत-कुछ क्षति पहुँचाई है। पंजाब ने जिस साहित्य का सर्जन किया, दुर्भाग्यवश उसकी रक्षा अथवा देख-भाल नहीं की जा सकी। दूसरे, जो कुछ साहित्य बन सका है, उसके प्रति विश्वास की भावना नहीं रही।

हिंदी-भाषी प्रदेशों ने पंजाब के हिन्दी-साहित्य की पूरी उपेक्षा की है। उत्तर-प्रदेश ने डिंगल-साहित्य के प्रति रुचि दिखाई है, बिहारी भाषा को हिन्दी के अन्तर्गत मान लिया है, पर पंजाब के प्रति वैसी उदारता नही दिखाई। इसका कारण केवल गुरुमुखी लिपि को बाधक बताकर कोई संतोष भले ही कर ले,

पर इतिहास के पृष्ठों मे कबीर पर जितना लिखा गया है, क्या उतना गुरु नानक देवजी पर लिखा गया है ? अगर ऐसी उपेक्षावृत्ति हिन्दी-जगत् में न होती तो संभवतः पंजाब का चित्र ही आज दूसरा होता।

इस प्रकार की विषम परिस्थिति में पजाब प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य की गति-विधि का मूल्यांकन करने के लिए—उसका विधिपूर्वक इतिहास लिखने के लिए—आधारभूत सामग्री किन-किन कठिनाइयों से जुटाई जा सकी है, यह इतिहास के प्रति अभिरुचि रखने वाला कोई भी विद्यार्थी आसानी से समझ सकता है। **सचाई यह है कि भारत के किसी भी हिन्दी-भाषी प्रदेश की अपेक्षा 'पंजाब' अपने धार्मिक, ऐतिहासिक एवं सामाजिक तत्त्वों पर बने हिन्दी-साहित्य की दृष्टि से किसी भी अवस्था में निर्धन नहीं है।**

किसी भी भाषा-साहित्य का इतिहास लिखने के लिए प्रायः दो प्रकार की सामग्री काम मे लाई जाती है; यथा—

(१) अन्तःसाक्ष्य, और (२) बहिःसाक्ष्य।

(१) **अन्तःसाक्ष्य**—इस आधार पर कवि का परिचय, काल-निर्णय, घटनाएँ, तदीय वृत्तियाँ और मनोवृत्तियाँ—सबका सूक्ष्म निरीक्षण तथा परीक्षण करना होता है। कतिपय अन्त.साक्ष्यों का उपयोग यथा-स्थान किया जा रहा है। पर कुछ-एक अन्तःसाक्ष्य बाह्य घटनाओं के साथ अथवा जनश्रुति के साथ मेल नहीं रखते। जैसे कि बताया जाता है, टहकन कवि गुरु गोविन्दसिंह जी के हजूरी कवियों मे से एक थे ; इसका समर्थन सरदार काहनसिंह, ठाकुर देसराज तथा अन्य लोगों ने भी किया है। परन्तु टहकन की रचनाओं के आधार पर इसे प्रमाणित नही किया जा सकता। इसी प्रकार गुरदास गुणी ने लिखा है मैंने यह कथा (हीर राँझा) दामोदर दास के मुख से सुनकर लिखी[1] है; परन्तु बाह्य साक्ष्य से इसका खण्डन हो जाता है ; क्यों कि दामोदर गुलाटी अकबर का समकालिक है[2] और गुरदास औरंगजेब का समकालिक-इस दूरवर्ती काल में इन कवियों का मेल-मिलाप कैसे संभव हो सकता है! कविचूड़ामणि सन्तोषसिंह ने एक स्थान पर लिखा है : **"नभत्थल को छोड़िकर कपित्थल में जाय कौन"**—इसका समर्थन इतिहास करता है। भाई संतोषसिंह महाराजा कैथल से उदास होकर नाभा आकर बसे थे। इन विपरीत अन्तःसाक्ष्यों में कौन साक्ष्य कितने और कहाँ तक विश्वास-योग्य हैं ?—इस प्रकार की जटिलताओं में न उतरकर इन अर्धविश्वसनीय अन्तःसाक्ष्यो का यथा-स्थान उपयोग किया जा रहा है।

१. करी कथा जो पाछे सुनी। ज्यों बरनी दामोदर गुनी।

२. पंजाबी साहित्य का इतिहास : सुरेन्द्रसिंह नरूला : पृष्ठ १११

(२) **क. पंजाबेतर बहि:साक्ष्य**—अर्थात् पंजाब से बाहर कितने-एक ग्रंथ लिखे गए हैं, जिनमें पंजाब के हिन्दी-साहित्यकारों पर कुछ-न-कुछ लिखा गया है। ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने सिक्ख-गुरुओं के अतिरिक्त टहकन, बुधसिंह, पटियालापति नरेन्द्रसिंह, राजा टोडरमल टण्डन का कवितोद्धरण-पूर्वक परिचय दिया है। उसका अनुकरण करते हुए गार्सा-द-तासी[1], तथा अब्राहीम ग्रियर्सन[2] ने सिख-गुरुओं का कविरूप में परिचय दिया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नई 'भक्त माल' में रत्नहरि, अमीरदास, माधवदास, निहालचन्द, रूपचन्द, नन्दाखत्री, दयाल, मायाराम तथा रामानुज—इन नौ भक्तों का परिचय दिया है, जिनमें से रत्नहरि तथा अमीरदास की रचनाएँ लब्ध हैं, शेष का 'नाम' ही मात्र रह गया है। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट मे पंजाब के गिने-चुने कवियों के नाम आये हैं। 'मिश्रबन्धु-विनोद' से भी कतिपय नवीन-प्राचीन साहित्यसेवियों का परिचय मिल जाता है। इन सामान्य अभिसूचनाओं के बाद इतिहास-ग्रन्थों का क्रम आरम्भ होता है। पण्डितवर्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने वैज्ञानिक ढंग से सर्वांग-सम्पन्न इतिहास लिखा है। उसमें हृदयराम, नानक, कृपाराम, टोडरमल, श्रद्धाराम तथा रामप्रसाद निरंजनी का सामान्य परिचय-मात्र दिया गया है। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने अपने साहित्य के इतिहास मे गुरु-परिवार पर विशेष रुचि से लिखा है। डा० रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी-साहित्य के आलोचना मक इतिहास' में केवल रत्नहरि का उल्लेख-मात्र किया है। इनके अतिरिक्त 'हिन्दी-कोविद रत्नमाला', 'कविता कौमुदी', 'ब्रजमाधुरी-सार', 'संत-साहित्य', 'उत्तरी भारत की संत-परम्परा', 'संतकाव्य-संग्रह' प्रभृति ग्रन्थों में पंजाब के कवियों, सन्तों, लेखकों तथा हिन्दी-सेवियों पर लिखा न्यूनाधिक परिचय प्राप्त है।

खेद है कि पजाब के विस्तृत गुरुमुखी-देवनागरी लिखित हिन्दी साहित्य पर संतोषजनक ढंग से इतिहास नही लिखा गया और न ही इतिहास लिखने वालों ने पंजाब के प्रति पूरा न्याय ही किया है। पंजाब के विद्वान् पंजाबेतर इतिहास-साहित्य पर सन्तुष्ट नही हैं। यह उपेक्षासूचक परिस्थिति पंजाब तथा पंजाब-प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य के इतिहास के लिए हानिकर सिद्ध हुई है।

ख. प्रादेशिक बहि:साक्ष्य—पंजाब में सोलहवीं शताब्दी से कहीं विरल

१. हिंदुई साहित्य का इतिहास : हिंदी : लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : पृष्ठ १, ४, ६, ५४, ६४, ६८, १०५, ११८, २१८

२. हिंदी-साहित्य का प्रथम इतिहास, हिंदी : किशोरीलाल गुप्त : पृष्ठ ६२, ७५, ७७, ९१, १६७ आदि

और कहीं निरन्तर ; कहीं अनायास और कहीं सप्रयास ; कहीं पूर्ण और कहीं अपूर्ण विधि से हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि और संरक्षण का प्रयास होता रहा है। इस तथाकथित आधारभूत सामग्री की विवरण-सारणी निम्न लिखित प्रणाली से देखी जा सकती है। यथा—

संख्या	ग्रन्थ	लेखक	विवरण
१	आदिग्रन्थ	गुरु अर्जुन देव जी	गुरु नानक देव, गुरु अंगद देव, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुन देव, कबीर, त्रिलोचन, बेणी, रविदास, धन्ना, रामदेव, फरीद, जैदेव, भीखन, साईं, पीपा, रामानन्द, परमानन्द, सधना, सूरदास, मीराबाई तथा भाट
२	विद्याधर	५२ कवि	इस ग्रन्थ का सम्पादन गुरु गोविन्द सिंह जी के दरबारी कवियों ने किया था। दुर्भाग्यवश आनन्दपुर छोड़ते समय उक्त ग्रन्थ शत्रुओं के हाथ पड गया था, शत्रुओं ने उसे यमुना-प्रवाह दे दिया था। जो पृष्ठ बच गए हैं, उनका उल्लेख गुरु-प्रताप-सूर्य में विद्यमान है।
३	भारत-भारती	दलसिंह	यह काव्य-संग्रह पटियालापति महाराज नरेन्द्र सिंह की आज्ञा से सगृहीत हुआ था। इसके चार भाग है। पहले भाग मे कविताएँ कविनामानुक्रमणिका के अनुसार हैं, दूसरे-तीसरे भाग में विषयानुसार तथा चौथे भाग में वृत्तानुसार। इसमें श्रीकण्ठ, शितिकण्ठ, पुंडरीकपत्र (स्वयं सम्पादक) मैन कवि, उमादास (भवानी दास) तथा साहबसिंह की रचनाओं के अतिरिक्त कतिपय उत्तर-प्रदेशीय कवियों की रचनाएँ भी विद्यमान हैं।

संख्या	ग्रन्थ	लेखक	विवरण
४	गुरुमतप्रभाकर	काहन सिंह	हजूरी कवियो के अतिरिक्त गुरु-वाणी संगृहीत है ।
५	गुरु शब्दरत्नाकर महान कोष	काहन सिंह	इस कोश-रूप ग्रन्थ मे भी प्रसंगा-नुसार तोषहरि, जयसिंह, शिवदयाल, मुशासिंह, नरोत्तम पण्डित आदि अज्ञात एवं अप्राप्य कवियों की रचनाएँ नमूना-मात्र प्राप्य हैं । कुछ एक कवियो का परिचय भी दिया गया है ।
६	प्राचान जंगनामे	शमशेर सिंह	इसमे पंजाबी और हिन्दी के जंगनामे संगृहीत हैं ।
७	पंजाबी पत्रकला	भाषा-विभाग, पटियाला	इसमें उन समाचार-पत्रों का विवरण दिया गया है, जिनकी भाषा तो हिन्दी है, पर लिपि गुरुमुखी ।
८	पजाब मे हिन्दी-प्रगति	रघुनन्दन शास्त्री	सूचक ग्रन्थ
९	हस्त लिखत्तां दी सूची	भाषा-विभाग, पटियाला	सूचक मात्र
१०	पंजाबी प्रकाश नां दी सूची	—	इसमें कतिपय ऐसे ग्रन्थों की सूचना विद्यमान है जिनकी भाषा हिन्दी और लिपि गुरुमुखी है ।

संख्या	ग्रन्थ	लेखक	विवरण
११	हिन्दी-सन्देश	भीमसेन विद्यालंकार	'स्मृति-ग्रन्थ' तथा 'रजत जयन्ती-अंक' नामक दो विशेषांकों में पंजाब के हिन्दी-साहित्य की गतिविधि पर पूरा प्रकाश डाला गया है।
१२	गुरुमुखी लिपि मे उपलब्ध हिन्दी काव्य का आ० अ०	हरिभजन सिंह	गुरुमुखी लिपि में प्राप्त हिन्दी-साहित्य की आलोचना।

इनके अतिरिक्त अनेक वैयक्तिक संग्रहालयो में विद्यमान पाण्डुलिपियों की बीसियो प्रतियाँ (कही सुरक्षित एवं कही जीर्ण-शीर्ण अवस्था में) उपलब्ध है, जिनकी तालिका इस प्रकार है—

१. पुरातत्त्व विभाग, किला मुबारिक, पटियाला।
२. महाराज यादवेन्द्र सिंह जी, मोती-बाग, पटियाला।
३. भाषा-विभाग, किला मुबारिक, पटियाला।
४. सिख-रिफ्रैंस पुस्तकालय, अमृतसर।
५. खालसा कालिज, अमृतसर।
६. स० देवेन्द्रसिंह विद्यार्थी, गली हकीम वाली, नाभा।
७. स० भगवन्त सिंह 'श्री हरि:, ब्रजेश-भवन, नाभा।
८. भाई अर्जुनसिंह, बागड़ियाँ (नाभा)।
९. स० इन्द्रसिंह चक्रवर्ती, पटियाला।
१०. पुरुषोत्तमदास कपूर, अटारी बाजार, जालन्धर आदि।

काल-विभाजन

काल-विभाजन साहित्यिक सूक्ष्म विधाओं को समझने के लिए न केवल आवश्यक साधन बन गया है, बल्कि वह स्वयं किसी सीमा तक साहित्य का प्रमुख अंग भी बन गया है। समाज ने कब-कब नया मोड़ लेकर साहित्य को प्रभावित किया? राजनीति ने कब उसे गतिशीलता प्रदान की? अथवा साहित्य ने

समाज को कब सँवारा या स्वर दिया, और इतिहास को नया मोड़ दिया ? इस प्रकार समाज व राजनीति का साहित्य के साथ सामंजस्य स्थापित करना 'काल-विभाजन' का मुख्य प्रयोजन रह गया है। दूसरी बात, एक समय मे पैदा होने वाले अनेक कवियों में एक-जैसी प्रवृत्ति का दावा कहाँ तक यथार्थ है ? अथवा उनमें एक-सी प्रवृत्ति का उनकी मौलिकता का मूल्यांकन कहाँ तक ठीक है ? अथवा विभिन्न प्रवृत्तियों और शैलियों की छाया में उन पर युग-प्रभाव की बात कहाँ तक मान्य है ? समकालिक कवियों मे भाषायी अन्तर क्यों है ? इन सब प्रश्नों का समाधान भी तो काल-विभाजन का प्रतिपाद्य विषय बन गया है। अपनी नई पीढी का साहित्यकार 'कालविभाजन' की वैज्ञानिकता से इनकार करता है और उसे विश्वास ही नही है कि साहित्य और समाज परस्पर-सापेक्ष हैं तथा वे एक ही धुरी पर घूम रहे है। यही कारण है कि आदिकाल एव मिश्रित काल के कवियों मे यत्-किंचित् समरसता पाई जाती है। इसके विपरीत नवीन काल का प्रत्येक साहित्यकार अपने-आप में पूर्ण एवं पर-निरपेक्ष है। आज के समकालिक अनेक कवियों मे 'अनेकरसता' तो है, समरसता नही। **परन्तु कालविभाजन-वादियों का दावा है कि नवीन काल की तथा-कथित 'विशृंखलता' भी तो एक प्रकार की समरसता है।**

दुर्भाग्य-वश, पंजाब-प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य के आदिकाल तथा मिश्रित काल के अन्तराल में और मिश्रित काल तथा नवीन काल के अन्तराल मे कहीं अधिक, कही न्यून मात्रा में 'अन्धकार-युग' आता है। परिणामस्वरूप इस घटित काल-विभाजन को क्रमबद्ध बताना साहस-मात्र है।

अधोलिखित काल-विभाजन सारणी केवल पंजाब-प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य पर फलित समझनी चाहिए तथा इसका अर्थ सीमित एवं उद्देश्य निश्चित मानना चाहिए। प्रत्येक युग के दो-दो खण्ड किये गए हैं। पहले खण्ड में पृष्ठभूमि के अन्तर्गत उपर्युक्त सभी विषयो का विवेचन किया गया है, जो युग-विशेष को प्रभावित करती हैं। दूसरे खण्ड में पृष्ठभूमि का अवलम्बन लेकर कवि-परिचय देने का यत्न किया गया है। गद्य की सभी विधाएँ पृथक्-पृथक् दिखाने का यत्न किया गया है। केवल पजाब मे उपलब्ध हिन्दी-साहित्य (देवनागरी, गुरुमुखी तथा पारसी लिपि मे प्राप्त) को निम्न कालों में विभक्त[1] किया गया है। यथा—

१. माधुरी : वर्ष २० : संख्या ५ : दिसम्बर १९४१ : पृष्ठ ७१४
(परिवर्तन के साथ)

संख्या	१	२	३	विवरण
नाम	आदिकाल	मिश्रितकाल	नवीन काल	—
समय	१००० से १५००	१५०१ से १९००	१९०१ से २०२०	आगामी वर्ष भी इसमें संयुक्त हैं।
इतिहास	तुर्क-मुगल आक्रमण	मुगल-राज्य सिखराज्य	ब्रिटिश राज्य	—
भाषा	अपभ्रंश और हिंदवी	ब्रजभाषा	खड़ी बोली	—
शैली	पद्य	पद्य	गद्य-पद्य	—
दशा	आरम्भ	विस्तार	परिवर्तन	—
छन्द	गीति	गीति कवित्त सवैये	प्रगीति	—
संस्कृति	हिन्दु+मुस्लिम	हिन्दू+सिख	आर्य+सनातन	—
उपविभाग	विविध	विविध	श्रद्धाराम युग सत्यदेव युग	—

प्रथम खण्ड : आदि-काल

(वैक्रम संवत् १०००—१५००)

पृष्ठ-भूमि

पंजाब-प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य की परम्परा इतिहास की दुःखद घटनाओं की छाया में पली है, पनपी है और समृद्ध हुई है। यह प्रसंग एक तरह से आनन्ददायक भी है, और कष्टदायक भी; आनन्ददायक इसलिए कि

ऐतिहासिक प्रगति

पंजाब ने अपने विगत गौरवपूर्ण इतिवृत्त के अनुरूप कष्टों के स्वागत के साथ नव्य साहित्य-निर्माण का यज्ञ आरम्भकिया था; कष्टदायक इसलिए कि पंजाब से जिस मात्रा में श्रेष्ठ साहित्य की अपेक्षा की जाती थी, साहित्य उस मात्रा में नहीं बन सका। कल्पना के बल पर कहा जा सकता है कि यदि पंजाब में मुस्लिम-आक्रमणों का यह ताँता न रहा होता, तो यहाँ हिन्दी-साहित्य की इतनी दरिद्र दशा देखने को न मिलती। अस्तु।

इस्लाम और भारत के दुर्भाग्य का उदय साथ-साथ हुआ समझना चाहिए। इस्लाम-उदय से पूर्व वर्तमान अफ़ग़ानिस्तान भारत का एक अंग था। भौगोलिक दृष्टि से यह सिंधुतट-परवर्ती प्रदेश था। सांस्कृतिक दृष्टि से वहाँ शेषनाग-पुत्र विक्रमादित्यशालिवाहन का राज्यथा। जातीय दृष्टि से वह सूर्यवंशी राजा नरिष्यन्त की संतान शक जाति का देश था। धार्मिक दृष्टि से बौद्ध, भागवत तथा सूर्यपूजक धर्म का वहाँ प्राधान्य रहा था। इस्लाम-प्रवेश के समय वहाँ महाराज गज का राज्य था। राजा गज की विहार-भूमि—जिसका नाम गजवनी प्रसिद्ध था[1]—बाद में 'ग़ज़नी' नगर में परिणत हो गई। राजा गज के शासन-काल में ही शैव, शाक्त, बौद्ध और नाथ मतों का प्राचुर्य था। ज्यों ही इस्लाम ने गजवनी में प्रवेश किया तो नाथों तथा अन्य मता-वलम्बियों ने इस्लाम के आगे सिर झुका दिया; यह 'तथ्य' कुछ अनुमान-सिद्ध तथा कुछ इतिहास-सिद्ध प्रतीत होता है। इस्लाम के अत्यधिक प्रचार के कारण राजा

---

१. नाथ-सम्प्रदाय : हजारीप्रसाद द्विवेदी : पृष्ठ १४९

गज वहाँ से पलायन कर आए और उन्होंने स्यालकोट को राजधानी बना कर यही से पंजाब तथा सिन्धु-परवर्ती प्रदेश पर शासन किया। बताया जाता है कि चौरंगीनाथ इन्ही के वशधर थे। ग़ज़नी के सुल्तान तथा राजा गज के मध्य युद्ध होने की बात प्रसिद्ध इतिहास-लेखक कर्नल टॉड ने भी लिखी है।[१] यह भी बताया जाता है कि स्यालकोट आने से पूर्व गज ने रावलपिण्डी को, जिसका दूसरा नाम गजपुरी भी है अपनी राजधानी बनाया था।[२] अनुमान इसका समर्थन करता है। शत्रु-देश के निकट राजधानी स्थापित करना अपने-आप में निरापद नहीं था। वहाँ से स्यालकोट के लिए पीछे हटना कूटनीतिपूर्ण हो सकता है। स्यालकोट के राजवंश का अन्त किस प्रकार हुआ, इसका उत्तर इतिहास के पृष्ठों में देखा जा सकता है। अलबत्ता उल्लेखनीय बात यह है कि इस्लाम महाराजा गज के समय से भारत का द्वार खटखटा रहा था।

इधर सिन्ध की दशा अत्यधिक दयनीय स्तर तक जा पहुँची। पड़ौसी प्रदेश का प्रभाव पंजाब पर न पड़े, यह कैसे सम्भव हो सकता है ! यद्यपि पहले-पहल इस्लाम ने व्यापार के माध्यम से भारत में (वर्तमान केरल प्रदेश के द्वार से) प्रवेश करना चाहा; तथापि युद्ध का अर्थ के साथ अनिवार्य सम्बन्ध होने से शीघ्र ही उसने भारत-प्रवेश का दूसरा माध्यम अपना लिया। उमैय्या-वश की खिलाफत मे अरबी व्यापारी जहाजो का आना-जाना आरम्भ हो गया था। इस समय एक अप्रिय घटना घटी कि मेकरान के डाकुओ ने एक अरबी जहाज़ को लूट लिया और लुटकर देबल (वर्तमान कराची) मे शरण ली। ईराक के शासक हज्जाज ने सिन्धुपति दाहर सैन से इसका प्रतिकार करने को कहा, परन्तु उसने इनकार कर दिया। हज्जाज का भतीजा मुहम्मद इब्न कासिम छह हजार योद्धा लेकर (७६८ वैक्रम संवत्) सिन्ध पर चढ आया। परिणाम मे सिन्धुपति की पराजय हुई। कासिम ने ब्राह्मणाबाद तथा मुल्तान को भी जीत लिया। परन्तु कासिम के लौट जाने के कुछ समय पश्चात् सिन्ध से मुस्लिम शासन उठ गया। अलबत्ता ब्राह्मणधर्म से इनकार करने वाली अनेक जातियो ने इस्लाम मे दीक्षा ले ली। इनमे बौद्ध धर्मावलम्बी सबसे अधिक थे।

इतना लिखने का तात्पर्य यह है कि पजाब पर मुस्लिम विपदा आने से पूर्व उसके पश्चिम मे एक मुस्लिम लौह-आवरण पड़ चुका था। पश्चिम में हिन्दू नाम-मात्र को रह गए थे। अतः पंजाब पर मुस्लिम आक्रमणों की

१. नाथ-सम्पदाय : हजारीप्रसाद द्विवेदी : पृष्ठ १६२
२. वही, पृष्ठ १६२

कहानी पश्चिम से अधिक जुडी हुई है। सिन्धुपति दाहरसैन के पतन के पौने तीन सौ वर्ष पश्चात् पंजाब नये सिरे से मुस्लिम विपदा में घिर गया। इस तथाकथित विपदा को दो भागों मे विभक्त कर सकते है। यथा—

१. मुसलमानो के अनवरत आक्रमण ;

२ पजाब के लिए गज़नी और दिल्ली में खीचतान।

मुसलमानों के अनवरत आक्रमणो को भी तीन खण्डो मे विभाजित किया जाता है ; यथा—(क) अरब-आक्रमण, (ख) तुर्क-आक्रमण, और (ग) मुगल-आक्रमण।

१. (क) **अरब-आक्रमण**—पंजाब पर अरबों का आक्रमण केवल एक बार हुआ है। ईराक के हज्जाज ने अपने भतीजे मुहम्मद इब्न कासिम को आक्रमण के लिए नियुक्त किया था। उसने देवल जीतकर ब्राह्मणाबाद की ओर प्रस्थान किया, उसे भी जीतकर वह मुलतान की ओर बढा—यह पहले ही लिख चुके है। मुल्तान (वर्तमान बहावलपुर सहित) का पतन वास्तव में पंजाब के एक भाग पर मुस्लिम शासन का श्रीगणेश था। यही से पंचनद प्रदेश का बँटवारा हुआ और उसका एक भाग 'सूबा-ए-मुल्तान' नाम से पृथक् अस्तित्व में आया। मुल्तान का यह प्रदेशीकरण निरन्तर एक हजार वर्ष पर्यन्त बना रहा। सूबा-ए-मुल्तान का अरब साम्राज्य का उपनिवेश बन जाना भौगोलिक, राजनीतिक एव सास्कृतिक दृष्टि से एक बहुत बडी घटना थी। भौगोलिक घटना इसलिए कि पहली बार भारत का एक भाग स्थायी रूप से विदेशी उपनिवेश बन गया ; राजनीतिक इसलिए कि मुल्तान को केन्द्र मानकर इस्लाम ने भारत पर शनि-दृष्टि गडाए रखी और इतिहास को निरन्तर प्रभावित किया ; सांस्कृतिक घटना इसलिए कि इस काल मे भारत और अरब के मध्य व्यापार का आदान-प्रदान हो चला था तथा अरबों ने भारत से गणित, चिकित्सा एवं सस्कृत भाषा को सीखा। बताया जाता है कि मुल्तान के सूर्य-मदिर के लिए सुगन्धित पदार्थ अरब व्यापारी ही लाया करते थे। पंजाब पर अरब-आक्रमणों का अध्ययन करने वाले यह कहने की स्थिति में हो सकते है कि अरबों के आक्रमण इतने क्रूर एवं नृशंस नही थे, जितने कि आने वाले तुर्क-आक्रमण क्रूर बताए जाते है। अरबों ने भारतीय संस्कृति के प्रति जितनी गहन अभिरुचि दिखाई, उतनी अभिरुचि न तुर्कों में थी और न ही बाबर-पूर्ववर्ती मुगल आक्रान्ताओं में।

(ख) **तुर्क-आक्रमण**—तुर्क-आक्रमणों की गाथा बड़ी दर्द-भरी है। मुहम्मद इब्न कासिम के (७६८ वैक्रम संवत्) पौने तीन सौ वर्ष पश्चात्

(१०७३ वैक्रम संवत्) गज़नी के तुर्क शासक सुबुक्तगीन ने मुल्तान पर आक्रमण किया। उस समय सूबा-ए-मुल्तान इतना शक्तिशाली प्रदेश नहीं रहा होगा, अतः उसका पतन बहुत जल्दी हो गया। अरब केवल मुल्तान तक ही पहुँच सके थे। तुर्कों ने मुल्तान मे जम कर सूबा-ए-लाहौर को अपना लक्ष्य बनाया' जिसकी राजधानी भठिण्डा थी और शासक था महाराज जयपाल। यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि जिस प्रकार शालिवाहन गाज-पुत्र सीस्तान का भगोडा महाराज स्यालकोट आ बसा था, उसी प्रकार यह (ब्राह्मण) साहानुसाही वंश काबुल से भागकर भठिण्डा आ जमा था। जिस प्रकार इस्लाम मे अभिनव दीक्षित शकों का वैर गज तथा शालिवाहन गजपुत्र से था, उसी प्रकार इस्लाम मे नये-नये दीक्षित तुर्कों का वैर ब्राह्मण साहानुसाही वंश से था। सुबुक्तगीन अपने पुश्तैनी वैर की भावना से प्रेरित होकर जयपाल पर चढ दौड़ा था। जयपाल की पराजय के दो अप्रिय परिणाम निकले। पहला यह कि मुल्तान सदा के लिए मुस्लिम केन्द्र बन गया, वहाँ हमीद सफरी को पहली बार मुस्लिम राज्यपाल बनाया गया; दूसरा यह कि जयपाल ने तुर्कों की राजनीतिक अधीनता स्वीकार कर ली। अर्थात् सूबा-ए-लाहौर भी भारत से कटकर अरब साम्राज्य मे जा मिला और ब्राह्मण शासक, जो कल तक स्वयं महाराजा था, उसकी ओर से राज्यपाल नियुक्त हुआ। इतिहास मे तुर्क-आक्रमणों का अध्ययन करने वाला विद्यार्थी तीन निष्कर्षभूत बातें बता सकता है। यथा—

(१) इन मध्यवर्ती २६६ वर्षों मे भारत की ओर से सीमान्तवर्ती प्रदेशों की रक्षा-व्यवस्था नहीं की गई। मानो वे आने वाले संकट से अनभिज्ञ थे।

(२) दूसरा, इस्लामी संकट मुल्तान से बढकर लाहौर तक पहुँच गया था।

(३) मुल्तान में मुस्लिम राज्यपाल हमीद सफरी की नियुक्ति और जयपाल की दुर्बल राजनीति ने महमूद गज़नवी को आक्रमण के लिए उत्तेजित किया। अस्तु।

सुबुक्तगीन के बाद महमूद गज़नवी के आक्रमणों का ताँता बँध गया। उसने कुछ आक्रमण सीधे पंजाब को लक्ष्य कर किये और कुछ आक्रमण पंजाब से आगे बढकर भी किये; इन आक्रमणों का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव पंजाब के लिए महँगा सिद्ध हुआ। मुस्लिम आक्रांता गज़नवी ने कुल सत्ताईस वर्षों में, वैक्रम संवत् १०५७ से १०८४ तक, सत्रह आक्रमण किये; जिनमे से ग्यारह आक्रमण सीधे पंजाब पर ही हुए। वैक्रम संवत् १०५७ मे सीमान्त पर, अगले वर्ष भठिण्डा पर, १०६१ संवत् मे भेरा तथा अन्य नगरों पर, १०६२

में अपने तुर्क-राज्यपाल हमीदसफरी (मुल्तान) पर तथा अगले वर्ष पेशावर पर, १०६५ संवत् में आनन्दपाल (कुछ इतिहासकारों के मत मे अनंगपाल) पर, इससे अगले वर्ष काँगड़ा के नगरकोट पर, १०६७ सवत् मे स्व-नियुक्त मुल्तान के राज्यपाल सुल्तान दाऊद पर, १०७० संवत् मे जयपाल द्वितीय का पीछा करते हुए काश्मीर पर, १०७१ सवत् मे थानेश्वर पर, १०८४ सवत् में हरियाना पर आक्रमण करके ग़ज़नवी ने पंजाब की चप्पा-चप्पा भूमि को रौंद डाला। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन आक्रमणों से पजाब का कौन-सा प्रदेश बच रहा ? मुल्तान से कश्मीर तक और पेशावर से हरियाणा तक—सारा पंजाब इन आक्रमणो से प्रकंपित हो उठा। इस अन्तराल मे गज़नवी आगे भी बढा; गुजरात, चन्देल, कन्नौज, ग्वालियर, कालिञ्जर, सोमनाथ के मन्दिर पर उसने आक्रमण किये। उसने जाते समय पजाब को लूटा और लौटते हुए भी पंजाब को लूटा। अर्थात् २७ वर्षो मे पजाब प्रत्यक्ष और परोक्ष युद्ध अथवा लूट-मार का शिकार बना रहा। गजनवी की मृत्यु (१०८७ वि० सवत्) से आक्रमणों का ताँता कुछ शिथिल पड गया, पर समाप्त नही हुआ। वैक्रमी संवत् १२३७ मे तुर्क-आक्रमणो ने फिर से भयानक मोड लिया। अब की बार मुहम्मद गौरी ने महमूद गजनवी का स्थान लिया। यद्यपि विगत डेढ सौ वर्षों के मध्यवर्ती समय मे ग़जनी की ओर से छुट-पुट आक्रमण हुए, पर अपने ही साम्राज्य के उत्थान-पतन के कारण उनमे वह कटुता न थी, जो गौरी के आक्रमण-काल मे पाई गई। वैक्रम सवत् १२३७ मे उसने पेशावर, मुल्तान, सिन्ध को जीतकर लाहौर को आ घेरा। मुल्तान के पतन की कहानी अत्यन्त मार्मिक है। डा० लतीफ के अनुसार, उच्च की महारानी के धोखे से वहाँ के हिन्दू राजा को अपना राज्य खोना पडा। गौरी ने पहली बार पहाडों की तराई पर आक्रमण किया, तब चौहान से शिकस्त पाई। अगले वर्ष उसने उस प्रदेश पर पुनः आक्रमण किया। यह वह इतिहास-प्रसिद्ध (१२६० संवत्) लडाई है, जिसने भारत का भाग्य पलट दिया। पृथ्वीराज के पतन के साथ इस्लाम ने लाहौर से आगे बढकर दिल्ली मे स्थायी प्रवेश किया।

तुर्कों के ये आक्रमण अरब-आक्रमणों की अपेक्षा अधिक क्रूर, व्यापक, राजनीति-शून्य एवं परिणाम की दृष्टि से बडे दूरगामी सिद्ध हुए। उस समय देश की बुरी दशा हो गई। बर्नी के अनुसार—"शासक का भय, जो अच्छी शासन-व्यवस्था की जड है एवं राज्य के ऐश्वर्य तथा वैभव का मूल है, वह लोगों के हृदय से निकल चुका था।"

(ग) **मुगल-आक्रमण**—मुगल-आक्रमणों की वार्ता तुर्क-आक्रमणों की कहानी से बढकर भयानक और लोकहर्षक है। चंगेजखाँ से लेकर बाबर तक, सभी आक्रमण एक-से-एक बढकर क्रूर सिद्ध हुए। वास्तव में मंगोल आरम्भ से ही भयानक एवं खूँखार जाति के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे।

मुगल जाति का आदिम नेता चंगेजखाँ अपने एक विपक्षी का पीछा करता हुआ पंजाब के निकट आ पहुँचा। इससे पूर्व वह समरकन्द, हिरात, गजनी को लूट चुका था। परन्तु जलवायु की प्रतिकूलता के कारण मुगल सैनिक मुल्तान से आगे बढने का साहस न कर सके। फलतः चगेजखाँ को मुल्तान को नमस्कार करके लौटना पडा। यद्यपि इल्तुतमिश की आज्ञा से नासिरुद्दीन कुवाचा युद्ध के लिए तैयार था, पर वैक्रम संवत् १२७८ में चंगेज़ की वापसी से पजाब ने चैन की साँस ली। दिल्ली-सुल्तान मुइज्जुद्दीन बहराम शाह के प्रान्तपति कारगौम के युग में, बहादुर ताइर के नेतृत्व मे मुगलों ने लाहौर पर अधिकार कर लिया और उसे खूब लूटा। वैक्रम संवत् १२९८ में पंजाब ने पहली बार मुगल-शासन देखा। संवत् १३०४ मे मुगलों ने पंजाब पर तीसरी बार आक्रमण किया। अबकी बार नासिरुद्दीन महमूद के प्रान्तपति अरसल्ला खाँ तथा सलीबहादुर मुगल के मध्य युद्ध हुआ। वैक्रम सवत् १३३६-१३३७ में मुगल सेनापति तैमूरखाँ (इतमिर खाँ) ने बीस हजार सैनिक लेकर पंजाब पर धावा बोल दिया; तो अबकी बार बलबन-पुत्र मुहम्मद सामने आया। पहली बार बलबन-पुत्र मुहम्मद ने मुल्तान मे तैमूरखाँ को खदेड भगाया था; पर दूसरे धावे में लाहौर मे उसी तैमूरखाँ ने बलबन-पुत्र मुहम्मद को मार गिराया। कहते है, पुत्र-मृत्यु के आघात से बलबन शीघ्र ही चल बसा। खुसरो के बन्दी होने की बात इसी तैमूरखाँ के साथ जुडी हुई है। जलालुद्दीन खिजली के युग मे वैक्रम संवत् १३४८ मे हलाकू का पोता अब्दुल्ला इधर चढ आया; पर चतुर खिलजी ने चंगेज के पोते ओगलूखाँ को अपनी पोती दे दी, ताकि मुगलो से सम्बन्ध स्थापित करके आक्रमणों को रोका जा सके। यद्यपि इस सम्बन्ध से मंगोल बुद्धधर्म से पतित होकर मुसलमान तो बन गए थे, पर इससे आक्रमणों की परम्परा समाप्त नहीं हुई। अन्ततोगत्वा यही मुगल तुर्कों को दिल्ली से अपदस्थ करने में सफल हो गए। ओगलूखाँ ने अरकलीखाँ को पंजाब का प्रान्तपति बनाया और स्वयं गजनी लौट गया। इसके पाँच वर्ष बाद, १३५३ वैक्रम संवत् में मुगलों ने अमीर दाऊद के नेतृत्व मे पजाब पर सातवाँ आक्रमण किया।

१. भारत का इतिहास : ईश्वरीप्रसाद : पृष्ठ २८३

अबकी बार मुगल सेना एक लाख वीरो से अलकृत थी। अल्लाउद्दीन के भाई अलिफखाँ ने अमीर दाऊद को परास्त किया। दो वर्ष बाद दो लाख सैनिकों के साथ मौल्दीखाँ जालन्धर से आगे बढ आया, जिसे जफरखाँ ने यमुना-तट पर पराजय दी। तुगलख्वाजा के नेतृत्व मे मुगलो ने मुल्तान पर धावा बोल दिया, ज़फ़रखाँ ने यहाँ भी मुगलों को परास्त किया। मुग़ल सेनापति तुर्गी ने १३६० वैक्रम संवत् मे दिल्ली पर, ख्वाजा तास ने १३६१ मे लाहौर पर तथा अलीबेग ने १३६२ संवत् मे मुल्तान पर आक्रमण किया। इनका सामना क्रमशः अल्लाउद्दीन खिलजी, तुगलखाँ तथा गाजीबेग तुगलक ने किया तथा मुगलों को परास्त किया। इतिहासकारों का कहना है कि सवत् १३६२ मे मुल्तान की लूट मुगलों के क्रूर कारनामों की अवर्णनीय कहानी है। मुगलों के बारहवें आक्रमण से सूझ पाकर गाजीबेग तुगलक ने अपनी सेनाएँ काबुल भेज दी, जिससे कि वे अपना घर सँभालें और आक्रमणो से रुक जांय। मुगलों ने तेरहवी बार (सं० १३८४ मे) लमगान और मुल्तान को घेरा। मुल्तान पर मुगलों का यह पाँचवाँ आक्रमण था। यद्यपि गाज़ीबेग तुगलक मुल्तान के मोर्चे पर डटा हुआ था, पर मुहम्मद तुगलक ने तरिमाशरीन को धन देकर सम्मान-पूर्वक लौटाया। इतिहासकारो ने इसे राजनीतिक भूल कहकर स्मरण किया है। मुगल सेनापति इकबालमन्दा दिल्ली पर आ पहुंचा, जिसे बहाउद्दीन ने पीछे धकेल दिया। वैक्रम सवत् १४५२ में इतमिर खाँ के पोते पीर मुहम्मद ने उच्च और सिन्ध को लूटा, पर सिन्ध के प्रान्तपति सारगखाँ ने उसे परास्त किया। मुगलों का सोलहवाँ आक्रमण सबसे भयानक रहा। इस बार (वैक्रम संवत १४५५) तैमूरलंग स्वयं आया। पहले तो लाहौर के प्रान्तपति मुबारकखाँ ने उसका सामना किया; परन्तु उसकी असभावित पराजय ने तैमूरलंग का मार्ग प्रशस्त कर दिया। पहले तो उसने भाटनेर मे ईंट-से-ईंट बजा दी, फिर आगे बढकर सरस्वती, राजपुर, अहोरी, रोहाल आदि नगरो को लूटा; मुग़ल सेना की एक टुकडी इधर मुल्तान और लाहौर को रौंद रही थी, सेना की दूसरी टुकडी लेकर तैमूरलंग ने उधर दिल्ली-सुल्तान महमूद को हराकर दिल्ली मे प्रवेश किया। दिल्ली मे उसने एक लाख हिन्दू बंदियों का वध करा दिया। उसने दिल्ली की हिन्दू-मुस्लिम जनता को एक-सा लूटा। अट्ठारह दिन के लिए दिल्ली की श-हं-शाहियत देखकर वह जम्मू को रौदता हुआ लौट गया; सेना की दूसरी टुकड़ी मुल्तान को लूटकर उससे जा मिली। संवत् १४८६ में शेरअलीखाँ मुगल सेना लेकर मुल्तान की ओर भागा। ३१ वर्षों के उपरान्त मुगल नये

साहस के साथ आये थे, पर दिल्ली की शाही सेना ने उन्हे परास्त किया। अगले वर्ष उसने पुनः लाहौर पर आक्रमण किया; उसे वहाँ भी हारना पडा। मुगलों के उन्नीसवें आक्रमण को, जोकि अल्लाउद्दीन के नेतृत्व में वैक्रम संवत् १५६५ में लाहौर पर हुआ था, इब्राहीम लोदी ने विफल बना दिया। मुगलों के अन्तिम पाँच आक्रमण बाबर के नेतृत्व मे हुए। इस बार उल्लेखनीय बात यह है कि बाबर ने पंजाब को शनैः-शनैः हस्तगत किया। वैक्रम संवत् १५७६ मे भेरा, इससे अगले वर्ष किला बरहाला, तीसरे आक्रमण मे स्यालकोट, चौथे आक्रमण मे लाहौर और दिपालपुर (मुल्तान सहित) बाबर की अधीनता में चले गए। बाबर का पाँचवाँ (परन्तु बडे पैमाने पर मुगलों का अन्तिम) आक्रमण दिल्ली-तख्त की प्राप्ति के हेतु माना जाता है।[1] जिस प्रकार नराईन के समर ने दिल्ली-तख्त को गौरी के हवाले कर दिया था, ठीक उसी प्रकार पानीपत (विक्रमी सवत् १५८३) की प्रसिद्ध लडाई ने दिल्ली-तख्त तुर्क-पठानो से छीनकर मुगलो के भाग्य मे लिख दिया[2]। बाबर ने तैमूरलग से कम अत्याचार नही किये। बाबर की क्रूरता से ऊबकर विश्व-विरक्त गुरु नानक देव जी को भी कहना पडा—"जबरदस्ती कन्या के साथ विवाह करने के लिए, पाप की बरात लेकर बाबर काबुल से चला। लज्जा और धर्म ससार से उठ गए है, झूठ सेना के अगले भाग मे आगे बढ रहा है। लोग कत्ल के गीत गाते है और अपने अंगो पर खूनी केसर का लेप करते है।"

इस पूरे चित्र को देखकर निम्न-लिखित निष्कर्ष निकलता है—

(१) कालावधि की दृष्टि से अरबों से बढकर तुर्कों के, तुर्कों से बढकर मुगलों के आक्रमण हुए। परिमाणतः तुर्कों ने २१२ वर्ष पजाब पर निरन्तर आक्रमण किये, और मुगलो ने लगातार ३०५ वर्ष तक पजाब को झझकोरा।

(२) अत्याचारो की दृष्टि से तुर्कों की अपेक्षा मुगल अधिक क्रूर थे।

१. संदर्भ-ग्रन्थ
   (क) मध्य एशिया का इतिहास : राहुल : (४८३)
   (ख) दिल्ली-सल्तनत : आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव . (३४४, ९४, १०५, १०९, २४५, २४६)
   (ग) पंजाब का इतिहास : धर्मवीर एम० ए० : (२३७, २३९)
   (घ) भारत का इतिहास : ईश्वरीप्रसाद।
   (ङ) तुर्क-अफगानकालीन भारत : रतिभानुसिंह

२. इसके लिए देखिये, परिशिष्ट २

एक लाख बंदियों को मरवाना, नगरों को लूटना, गाँव-के-गाँव समाप्त कर देना मुगलों के साधारण कारनामे थे। चंगेज, हलाकू और तैमूर की कहानियाँ उत्तरोत्तर अत्याधिक लोमहर्षक सिद्ध हुई हैं।

(३) अरबों का उद्देश्य राजस्थान और इस्लाम का प्रचार था; तुर्कों का उद्देश्य इनके अतिरिक्त लूटना भी था; मुगलो का उद्देश्य राज्यस्थापन, लूटना और मानवजाति को समाप्त करना भी था। लाखों लाशों पर खड़े होकर अट्टहास करना मुगलों को ही शोभा देता है।

(४) मुगल-तुर्कों के सघर्ष में हिन्दुओं के तटस्थ रहने पर भी सबसे अधिक हानि उन्ही की हुई।

२. **गज़नी-दिल्ली-संघर्ष**—पंजाब पर मुस्लिम-आक्रमणों की कहानी चित्र के एक भाग को बताती है; परन्तु चित्र के दूसरे पार्श्व को समझने के लिए 'दिल्ली और गजनी' की खीचतान को देखना चाहिये। 'पंजाब' दिल्ली और गजनी का अन्तराल राज्य है। यदि वह गजनी के आधीन रहता है तो उसके लिए आर्थिक लाभ के अतिरिक्त भारत मे घुसने का सिहद्वार खुला रहता है; यदि वह दिल्ली के आधीन रहता है तो (आर्थिक लाभ की बात तो है ही) आक्रमणों का मुख्य द्वार बन्द हो जाता है। इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण राज्य पजाब का मूल्य आँकना राजनीतिक सूझ-बूझ का द्योतक है। परन्तु अन्तराल राज्य के होने से उसका कितना कचूमर निकला है, यह भी इतिहास के पृष्ठो पर अंकित है।

दिल्ली-तख्त पर बैठने से पूर्व गजनी के सुल्तान पजाब के विभिन्न भागो मे अपना प्रान्तपति नियुक्त करते रहे। ये प्रान्तपति अवसर पाकर स्वतत्र होने का प्रयास भी करते रहे। इस प्रकार पहले गज़नी और पजाब के मध्य शासन-उपलब्धि की खीचतान रही; बाद मे दिल्ली-तख्त छिन जाने पर गजनी और दिल्ली के मध्य सीधा संघर्ष छिड़ गया और यह अन्तराल राज्य कभी गजनी के पास और कभी दिल्ली के पास शासन करने को जाता रहा। जिसका क्रमबद्ध विवरण इस प्रकार है। यथा—

गज़नी-पंजाब : (१) सुबुक्तगीन ने हमीद सफ़री को अपनी ओर से सूबाए-मुल्तान का प्रान्तपति बनाया; अवसर पाकर वह जयपाल से मिल गया और उसने स्वयं स्वतत्र सुल्तान बनने का प्रयास किया। इस प्रकार उसके उत्तराधिकारी दाऊद ने भी प्रयत्न करके देखा, अत में पंजाब पर गज़नी शासन यथावत् बना रहा। (२) महमूद गज़नवी ने मलिक एयाज़

को लाहौर का प्रान्तपति बनाया। इसे मुल्तान के बाद पंजाब के प्रमुख भाग का पतन बताया जाता है। (३) महमूद के उत्तराधिकारियों में से मसऊद ने अपने पुत्र मौदूद को लाहौर का प्रान्तपति बनाया। इस बार उसके अधिकार मे हाँसी, सोनीपत, दिपालपुर भी दे दिये गए। परन्तु गजनी के उत्तराधिकार की उथल-पुथल मे विजयी मौदूद ने लाहौर में बैठकर गज़नी पर शासन किया। **गज़नी का पंजाब के आधीन होना इतिहास की असाधारण घटना बताई जा सकती है।** (४) वैक्रम सवत् ११५५ में मसऊद (तृतीय) ने तगशगीन को लाहौर का प्रान्तपति बनाया; बाद मे मसऊद-पुत्र माईलिम लाहौर का प्रान्तपति बना, जिसने मसऊद-पुत्र बहराम (अपने भाई) की आधीनता स्वीकार नही की। फलत: बहराम ११७५ वैक्रम संवत् मे युद्ध करके उसे परास्त किया। (५) बहराम ने सालार हसन को माईलिम के स्थान पर प्रान्तपति नियुक्त किया। बाद मे उसका पोता खुसराब मलिक स्वयं लाहौर का सुल्तान बन बैठा। गज़नी से अपना शासन-सूत्र विच्छिन्न कर दिया। खुसराब मलिक एक-आध बार अँगडाई लेकर पुनः गज़नी की ओर से नियुक्त प्रान्तपति ही रहा। मुहम्मद गौरी के उपरान्त कुतुबुद्दीन ऐबक पंजाब का प्रान्तपति और तदनन्तर दिल्ली का प्रान्तपति बना और उसके स्थान पर लाहौर का गौरी का भतीजा—महमूद—प्रान्तपति नियुक्त हुआ। गौरी के अनन्तर ये दोनों प्रान्तपति सर्व-तत्र-स्वतत्र सुल्तान बन गए।

अबतक गजनी और पजाब मे एक-दूसरे को आधीन रखने की चेष्टा बनी रही, पर कुतुबुद्दीन ऐबक के बाद यह सघर्ष दिल्ली-गज़नी के मध्य छिड गया। यथा—

दिल्ली-गजनी : (१) शमसुद्दीन-इल्तुतमिश का पुत्र रुकनुद्दीन कुबाचा लाहौर का प्रातपति बना; पिता के बाद लाहौर मे अलाउद्दीन को, भटिंडा मे अल्तूनियाँ को तथा मुल्तान मे कबीरखाँ को प्रान्तपति नियुक्त कर रुकनुद्दीन स्वयं दिल्ली-सुल्तान बन गया। यद्यपि ये तीनों प्रान्तपति दिल्ली के प्रति निष्ठावान् रहे, तथापि इन्होंने स्वतत्र होने मे कोई कसर नही छोड़ी। (२) बहराम दिल्ली से नियुक्त लाहौर का प्रान्तपति था। चंगेजखाँ की सेना लाहौर को गज़नी के अधीन करने मे सफल होगई। पहली बार **लाहौर का मुग़ल साम्राज्य के अन्तर्गत गज़नी की आधीनता में जाना इतिहास की विशेष घटना है।** पर गयासुद्दीन बलबन का भतीजा शेरखाँ लाहौर के लिए तथा सैफुद्दीन बलबन मुल्तान के लिए प्रान्तपति नियुक्त हुए। इन्होंने मिलकर पंजाब को न केवल

मुग़ल राजधानी ग़जनी के पंजे से छुड़ा लिया, **बल्कि ग़ज़नी को दिल्ली-शासन का एक प्रान्त बना दिया।** (३) चंगेज़खाँ का पड़पोता अरकली खाँ लाहौर का प्रान्तपति बना, जो ग़ज़नी के प्रति निष्ठावान् रहा, जो कि दिल्ली-शासन से विच्छिन्न होकर पुनः मुग़लों के अधिकार मे चला गया था। (४) कई वर्षो तक गाज़ीबेग तुग़लक तथा नासरखाँ पंजाब के प्रान्तपति एवं दिल्ली के प्रति निष्ठावान् रहे, परन्तु आगे चलकर दिपालपुर के सारगखाँ तथा मुल्तान के फ़कीरखाँ मे ठन गई। सारंगखाँ ने दिल्ली-तख्त भी लेना चाहा, पर पानीपत के प्रान्तपति तातारखाँ ने उसे परास्त किया। अर्थात् **दिल्ली-शासन से स्वतंत्र होकर पंजाब ने एक बार फिर अँगड़ाई ली, जिसका परिणाम कुछ भी नहीं निकला।** (५) दिल्ली से नियुक्त मुल्तान का प्रान्तपति सैयद खिज़रखाँ तैमूर लंग से हार गया। वह उसी का (ग़ज़नी-शासन का) वफ़ादार बन गया, साथ ही लाहौर का प्रान्तपति भी बन गया। (६) महमूद हसन के प्रान्तपतित्व मे पुनः पजाब दिल्ली के आधीन होगया। (७) ग़जनी और दिल्ली की खीचतान मे सबसे अधिक भाग लेना दौलतखाँ के भाग्य मे लिखा था। दौलत खाँ यद्यपि इब्राहीम लोधी (दिल्ली-तख्त) के प्रति वफादार था, फिर भी उसने इब्राहीम लोधी से सघर्ष मोल ले लिया। दौलतखाँ ने अपने पुत्र दिलावर खाँ को काबुल भेजकर बाबर को भारत पर आक्रमण के लिए उत्तेजित किया। पंजाब को जीतकर बाबर ने यथास्थान अपने प्रान्तपति नियुक्त कर दिये। यथा—जालन्धर सुल्तानपुर में दौलतखाँ लोधी, दिपालपुर और मुल्तान मे आलमखाँ, लाहौर मे अब्दुल अज़ीज मुगल, स्यालकोट मे खुसराव गौकलताश आदि। दौलतखाँ के विद्रोही हो जाने पर उसके पुत्र दिलावरखाँ ने पिता का स्थान ले लिया। इस प्रकार अपने मुहरों के बल पर बाबर ने पानीपत की ऐतिहासिक लडाई (वैक्रम सवत् १५८३) मे अकल्पित विजय प्राप्त की।

इतना पढने तथा चिंतन करने के बाद सुगमता से ये निष्कर्ष निकाले जा सकते है—

(१) नित्य नये परिवर्तित प्रान्तपतियों का प्रजा के साथ कैसा और कितना निकट सबंध रहा होगा!

(२) नित्य-नूतन कर-व्यवस्था से प्रजा का कितना शोषण हुआ होगा!

(३) परिवर्तन-शील शासन-व्यवस्था से प्रजा मे कितना आत्मविश्वास रह गया होगा!

अर्थात्, इन प्रश्नों का समाधान इतिहास के उस तत्त्व पर प्रकाश डालता

है जिसकी छाया में पंजाब के हिंदी-साहित्य का आदि-काल पनपा है। **कहना न होगा कि इस आदिकाल की दरिद्र साहित्यिक गतिविधि का पूरा उत्तरदायित्व मुसलमानों के अनवरत आक्रमणों तथा ग़ज़नी-दिल्ली की खींचतान पर पड़ता है।** यह कोरी राजनीतिक उथल-पुथल न थी, बल्कि राष्ट्रीय चेतना एवं समाज के धरातल को एक भयानक चुनौती थी, जो हिन्दुओं ने स्वीकार कर ली। पर इस असमंजस-गर्भित वातावरण में साहित्य नहीं पनप सका, यह निश्चय ही एक खेदजनक प्रसंग है।

भाषा और साहित्य के विकास मे जितना इतिहास का सहयोग रहता है, उससे कही अधिक धार्मिक आन्दोलनों का सहयोग उपलब्ध रहता है। कारण,

धार्मिक आन्दोलन

इतिहास केवल बाहर-बाहर से समाज और उसकी वृत्तियों को सँवार सकता है; **और धर्म अंतःनिगूढ़ भावनाओं को जन्म देता है, उन्हें जागृत रखता है और शाश्वत रखता है।** अतः धर्म-चिन्तन भाषा और साहित्य की प्रमुख पृष्ठभूमि है। विक्रम की ग्यारहवी शती से सोलहवी शती तक ६०० सौ वर्ष के धार्मिक आन्दोलन को दो भागों मे विभक्त किया जाता है। यथा—

१. भारतीय धर्म (हिन्दू धर्म अथवा सनातन धर्म), और
२. इस्लाम (सूफ़ी मत)।

१. **भारतीय धर्म**—भारतीय धर्म-चिंतन के अन्तर्गत कर्मकाण्ड, भक्ति, आध्यात्मिक चिंतन, जीवन-दर्शन तथा संस्कृति की गणना की जाती है। इस व्यापक जटिलता के कारण किसी ने ठीक कहा है—"धर्म का तत्त्व तो किसी गुफा मे छिपा पड़ा है।"[1] इस सर्वाङ्ग एवं चतुर्मुख धर्म को हिन्दू-धर्म अथवा सनातन धर्म कहते हैं। सनातन धर्म की व्युत्पत्ति है, पुराना धर्म[2] अथवा सनातन का धर्म—सनातन धर्म, यह अर्थ भी लिया जा सकता है। वेद तथा वेदेतर साहित्य मे आए सनातन का अर्थ है—ईश्वर,[3] अथवा आत्मा।[4] जो धर्म ईश्वर से सम्बन्ध रखता है, अथवा ईश्वर के विषय में युक्तियुक्त धारणा देता है,

---

१. धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्।
२. सना भवः—सनातनो धर्मः।
३. सनातनमेतनमाहुः उताद्य स्यात् पुनर्णवः —अथर्ववेद ६१०।८।२२७
   (क) यो देवमुतरावन्तंमुपासते सनातनम्। —अथर्ववेद १०।८।२३
   (ख) त्वममव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वंपुरुषो मतो मे। —गीता ११-१८
४. नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः। —गीता २-२४

वह धर्म ईश्वर-धर्म है। अथवा जो धर्म आत्मा से सबध रखता है अथवा आत्मा के विषय मे युक्ति-युक्त विचार देता है, वह आत्मा का धर्म है। दूसरे धर्मों पर आक्षेप किये बिना सनातन धर्म के विषय मे यह कथन निर्विवाद है कि संसार के धर्मों से कई हज़ार वर्ष पहले इसने ईश्वर तथा आत्मा के प्रसंग में जो अभिमत व्यक्त किया था, वह आज भी अकाट्य तथ्य के रूप में जीवित है। यही उसका सनातनत्व है। भारतीय हिंदू-धर्म में कर्मकाण्ड का मुख्य स्थान है। कर्मकाण्ड को सामन्तों तथा महन्तों की विलास-लीला समझने और कहने वाले प्रत्यक्ष देख रहे है कि कर्मकाण्ड को चुनौती देने वाले बौद्ध, सिद्ध, नाथ तथा सिक्ख-मतावलम्बी आज 'हिंदू' नही रहे। कर्मकाण्ड के प्रति अदम्य आस्था रखने वाली हिन्दू-प्रजा मुसलमानो के आक्रमणों को सहन करती रही और जीवित रही। कर्मवाद हिन्दू-धर्म का मूल है और हिन्दू-जाति का दृढ़ आधार है। जब तक मूल है, तब तक उसके नष्ट होने की कोई आशंका नही। मुसलमानों की तलवार ने भारतीयों को सास्कृतिक स्तर पर मिटाने का यत्न किया; पर विश्व जानता है कि भारतीयों को मिटाने वाली तलवार पीछे हट गई और भारतीय आज भी हैं। जीवन्त जाति के सस्कार ही साहित्य में पनपते हैं। आदिकाल के लब्ध हिन्दी-साहित्य मे उक्त संस्कारो की छाप, प्रत्यक्ष तथा परोक्ष, दोनों रूपों में देखी जा सकती है।

सनातनधर्म का दूसरा आधार है—भक्ति। वेद मे प्रार्थना की गई है कि हम भक्तिवान् बने रहें। भक्ति का आधार है देवतावाद। देवतावाद की दृष्टि से पंजाब मे तीन मत प्रचलित रहे है—देव-पूजन, शैवमत और शाक्त मत। यद्यपि शिवपूजन और शक्तिपूजन को देवतावाद के अन्तर्गत मान सकते है तथापि इनके साम्प्रदायिक रूप ग्रहण कर लेने से इनमे 'देवतावाद' का वह विशुद्ध रूप नही रह गया था, जो रूप हिन्दू-जाति को इष्ट है। यहाँ देवतावाद से वैदिक देवतावाद लेना होगा। वेद में सूर्य, अग्नि तथा वरुण को देवताओं में मुख्य स्थान दिया गया है, देवतावाद के अनुरूप पंजाब का भौगोलिक विभाजन इस प्रकार होगा; यथा—

१. (क) देव-(सूर्य) पूजन का क्षेत्र है सिन्धु-परवर्ती प्रदेश, मुल्तान तथा सिन्ध।

(ख) देव-(अग्नि-)-पूजन का क्षेत्र है—ईरान।

(ग) देव-(वरुण)-पूजन का क्षेत्र है—सिन्ध और मुल्तान।

२. शिव-पूजन का क्षेत्र रावलपिण्डी और कश्मीर है।

३. शक्ति-पूजन का क्षेत्र जम्मू (वैष्णव देवी), लाहौर-अमृतसर (शीतला देवी) तथा काँगड़ा, जालन्धर तथा अन्य पहाड़ी प्रदेश (ज्वालामुखी) हैं।

१. (क) सूर्य-पूजन--मुल्तान तथा सिन्धु-परवर्ती प्रदेश में सूर्य-पूजन कब से चला आ रहा है, इस प्रश्न का इतिहाससम्मत उत्तर देना तो कठिन है; पर पुराणों मे सूर्य-पूजन की चर्चा अवश्य मिलती है। जनश्रुति के अनुसार चन्द्रवंशी कृष्ण महाराज के पुत्र शाम्ब[1] को किसी ने सूर्य-उपासना की दीक्षा दी थी। कृष्ण का विवाह गान्धार देश के राजा नग्नजित् की कन्या से हुआ, यह पुराणों में वर्णित है।[2] नग्नजित् का दौहित्र होने के नाते शाम्ब के बसाये हुए शाम्बपुर (समरकंद ?) का सिन्ध-परवर्ती प्रदेश में होना अधिक सम्भव है। मुल्तान में चिरकाल से सूर्य-मन्दिर की चर्चा चली आ रही है। कहते है, अरबो ने अनेक बार सूर्य-प्रतिमा को तोडने का प्रयास किया, पर भक्तों ने उसे फिर से प्रतिष्ठित कर दिया।[3] इसके अतिरिक्त वहाँ कई अन्य वैष्णव मन्दिरों का भी अस्तित्व था। एक अरब यात्री अलमसूदी (वैक्रम सम्वत् १०१०) ने भी मुल्तान के सूर्य-मन्दिर की चर्चा की है। जब मुसलमानों ने नगर-स्थित सूर्यमन्दिर को जुम्मा मस्जिद (वर्तमान चौक बाजार) मे बदल डाला, तो नगर से छ मील की दूरी पर दक्षिण दिशा में 'सूर्य कुण्ड' की पुनः स्थापना की गई। पाकिस्तान बनने तक मुल्तान मे सूर्य-कुण्ड नामक एक तपन-तीर्थ विद्यमान था और अनेक श्रद्धालु सिन्धी मुल्तान-तीर्थ यात्रा के प्रसग में आते थे।

(ख) अग्नि-पूजा का क्षेत्र ईरान बताया जाता है। वहाँ के मूल निवासी अद्यतन समय मे भी अग्नि-पूजन करते है।

(ग) वरुण-पूजन—सूर्य तथा अग्नि के बाद वरुण-पूजन का स्थान है। यद्यपि अग्नि-पूजन और सूर्य-पूजन का महत्त्व अपने-अपने स्थान पर मान्य है : पर वरुण को सब देवताओं का आवास माना जाता है। अत: उसका

१. हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास : खण्ड ५ : अध्याय ३ : पृष्ठ ७११
२. वही
३. हिन्दू-भारत का उत्कर्ष : चिन्तामणि विनायक वैद्य : पृष्ठ २७७
४. वही, पृष्ठ २७७
५. (क) वही, पृष्ठ २६१। (ख) हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास : ५-३ : पृष्ठ ४१४
६. स्थण्डिले ज्वलदग्नौच तोये सूर्यमरीचिषु।
७. (क) अप्सु देवाः मनुष्याणां दिवि देवाः मनीषिणाम्।
(ख) आपो देवगणाः सर्वे आपः पितृगणः स्मृतः।
—वीर मित्रोदय, अह्निन, प्रकाश :, ३३८-३८२

गौरवपूर्ण स्थान होना स्वाभाविक है। ऋग्वेद के वरुण-सूक्त से उसकी महिमा समझी जा सकती है। इतिहासकार की दृष्टि से वरुण-पूजन का महत्त्व कुछ और ही है। 'वरुण' ईश्वर की मूर्त-अमूर्त प्रतिमा है। 'मूर्त' इसलिए कि वेद तथा लोक-साहित्य में जल को ईश्वर का तनु बताया गया है।[1] अमूर्त इसलिए कि इसे तोड़ा नही जा सकता। सम्भवतः, मुसलमानों की मूर्ति-भञ्जन प्रवृत्ति को देख कर हिन्दुओं में पुनः वरुण-पूजा-प्रचार जोरो से हुआ होगा। चन्द्रमा एक जलीय देवता है, अतः मुल्तान में चन्द्रोदय के दिन हिन्दू लोग नदी, वापी, कूप तथा अन्य जल-स्थानो पर इकट्ठे होते थे और वरुण-पूजन करते थे। वरुण-पूजा के लोक-गीत मुल्तानियों मे आज भी सुने जाते हैं। सिध तथा मुल्तान में वरुण-पूजन को पुनः प्रचारित करने का श्रेय अरोड़-वंशीय गोस्वामी अमरलालजी को है, जिन के वंशधर ठक्कर आज भी अपनी परम्परा जीवित रखे हुए हैं।[2] यहाँ तक कि आज 'अमरलाल' वरुण देवता का पर्यायवाची ही बन गया है।

२. **शिव-पूजन**—काश्मीर में शैव मत का प्राधान्य है। सम्भवतः नेपाल के पाशुपत मत की निकटता के कारण यहाँ शिव-पूजन का प्रचलन हुआ हो। यहाँ अमरनाथ के स्वयंभूत 'हिमलिग' का चमत्कार भी काश्मीरियो मे शैव मत के प्रचलन का कारण हो सकता है। यह भी जनश्रुति पाई जाती है कि श्रीनगर से सटी हुई पहाडी पर आद्य शंकराचार्य ने शिवलिंग की स्थापना की थी। पहाड़ी के निम्नभाग मे किसी जगद्गुरु शकराचार्य का स्थापित मठ आज भी विद्यमान है।

३. **शक्ति-पूजन**—जम्मू से काँगड़ा तक, काँगडा से जालन्धर तक, अर्थात् पंजाब के तीसरे भाग पर कई शक्ति-पीठ हैं। जिनमें से तारा देवी, ज्वाला-मुखी, वैष्णवी देवी, त्रिपुरा आदि शक्तियो के मन्दिर पर्याप्त प्रसिद्ध है। कहते है, सती का मृत शरीर लेकर ताण्डव करते हुए शिव के हाथ से छूट कर शव के अनेक खण्ड अनेक स्थानों पर गिरे; यथा—वाम स्तन भाग जालन्धर आकर गिरा, शेष भाग त्रिगर्त में तीन स्थानों पर गिरे। जनश्रुति यह भी बताती है कि जालन्धर-वध से उत्पन्न पाप को दूर करने के हेतु शिवजी ने तारा देवी की उपासना की थी। काँगड़ा में वृजेश्वरी जी का मन्दिर है, जिसे महमद गज़नवी ने वैक्रम सम्वत् १०९९ में लूटा था, फ़िरोज़ तुगलक ने वैक्रम सम्वत् १४१७ में इसे ध्वस्त किया था।

---

१. (क) या सृष्टिः स्रष्टुराद्या (कालिदास); (ख) अप एव ससर्ज आदौ (उपनिषद्)

२. देखिये परिशिष्ट ३

सनातन हिन्दू-धर्म का तीसरा आधार है—अध्यात्म-चिन्तन। आत्म-चिन्तन के लिए महर्षियों ने तीर्थ-स्थानों की स्थापना की थी। पंजाब का प्रमुख तीर्थ है—कुरुक्षेत्र। पौराणिक वार्ता के अनुसार सूर्य-ग्रहण के किसी पर्व पर भगवान् श्री-कृष्ण स्वयं यहाँ पधारे थे। कुरुक्षेत्र के साथ-साथ लगने वाले तीर्थ ये हैं—सरोवर (ब्रह्मसरोवर, ज्योति-सरोवर, थानेश्वर, कालेश्वर), कूप (चन्द्रकूप, विष्णु-कूप, रुद्रकूप, देवीकूप), काम्यवन, अदितिवन, व्यासवन, फलकीवन, सूर्यवन, मधुवन, सीलवन, वाण-गंगा, कर्णतीर्थ यक्षतीर्थ, कुबेर-तीर्थ, मार्कण्डेय तीर्थ, दधीचि तीर्थ, सूर्य-कुण्ड, सोम-कुण्ड और वामन कुण्ड।[1] साराश यह कि तुर्क-आक्रमणो से पूर्व तक पंजाब की चप्पा-चप्पा भूमि तीर्थमयी थी और यहाँ के निवासी अपने श्रौत-स्मार्त धर्म में पूर्ण निष्ठा रखते थे।

सनातन हिन्दू-धर्म का जीवन-दर्शन एवं संस्कृति साहित्य से सम्बन्ध रखती है, अतः इनका पर्यालोचन उसी प्रसंग मे किया जायेगा।

यह मानने मे तनिक भी संकोच नही करना चाहिए कि वैक्रम सम्वत् १००० से १५०० तक के हिन्दी साहित्य मे सूर्य-पूजन तथा वरुण-पूजन की भावना परिलक्षित नही होती। अलबत्ता अद्दहमाण ने 'तपन-तीर्थ' के वैभव का वर्णन अवश्य किया है। शैव मत और शाक्त मत आगे चल कर नाथ मत मे अन्तर्भुक्त हो गए, जिसका प्रभाव हिन्दी-साहित्य मे से ढूँढा जा सकता है। पृथ्वीराज रासो मे जालन्धरी देवी की उपासना का श्रद्धापूर्वक निरूपण पाया जाता है।[2]

भारतीय धर्म की चर्चा मे 'ब्राह्मणवाद' के प्रखर विरोधी नाथ-सम्प्रदाय की बात कहे बिना धार्मिक आन्दोलन एकागी रह जायेगा। अतः नाथ-सम्प्रदाय का—

(क) नाथ मत का स्वरूप और विकास;

(ख) नाथ मत का ब्राह्मण-विरोधी स्वर;

(ग) पंजाब मे नाथमत का स्थान, तथा

(घ) हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव।

ये कतिपय बाते जान लेना असामयिक न होगा।

(क) नाथ-विचार-धारा के जन्म से पूर्व पजाब मे बौद्ध मत, शैव मत, शाक्त मत, वाममार्ग प्रभृति छोटे-मोटे धर्म विद्यमान थे। वे समय-कुसमय ब्राह्मण-वाद को चुनौती भी दिया करते थे। नाथ मत ने इन विविध मतो का एकीकरण

१. कल्याण : तीर्थांक : पृष्ठ सं० ७८-८२।

२. पृथ्वीराज रासो : छन्द ७१२। (नन्द ग्रन्थावली : विपिनविहारी त्रिवेदी, पृष्ठ ६६)

किया और इन्ही की नीव पर स्वयं नया रूप लिया। जालन्धर पीठ पहले बौद्ध मत की वज्रयानी शाखा का बहुत बड़ा प्रचार-केन्द्र था।[1] बौद्ध मत (विशेषतया महायान-शाखा) की अनेक तांत्रिक विशेषताओं को आत्मसात् करके सिद्ध मत भी प्रकट हो चुका था।[2] यह कहना बड़ा कठिन है कि सिद्ध मत तथा नाथ मत में मौलिक अन्तर क्या है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि पुरानी पोथियों में नाथ-सम्प्रदाय को सिद्ध मत कहा जाता था[3] और कई नाथों को सिद्धों की पंक्ति में गिन लिया गया है।[4] स्पष्ट हो, नाथ मत में बौद्ध मत की प्रत्यक्ष अन्तर्लीनता बता सकना कठिन है; परन्तु बुद्ध मत से विकसित सिद्ध मत (अवधू मत या अवधूत मत) से नाथ मत का सम्बन्ध जोडने के लिए अनेक दन्तकथाएँ तथा अनेक पौस्तक प्रमाण जुटाये जा सकते है।[5] जहाँ तक नाथ-सम्प्रदाय मे अनेक मतो के समन्वय की बात है, वहाँ शैव मत की गणना प्रथम रेखा पर आती है।[6] कई स्थानों पर शिव को 'आदिनाथ' बताया गया है।[7] कतिपय दन्त-कथाओं तथा कुछ-एक अन्तःसाक्ष्यों में मत्स्येन्द्रनाथ को शिव का अवतार बताया गया है। जो हो, समूचे शैव मत को आत्मसात् कर नाथ मत धर्म-क्षेत्र मे उतरा है। कुछ विद्वानों का कहना है कि 'शिव मत' नाथ-सम्प्रदाय की रीढ है। इस कथन मे कुछ वज़न मालूम पडता है। इसे सिद्ध करने के लिए निम्न बाते लक्ष्य करने योग्य है :

१. नाथ-सम्प्रदाय ने शैव मत का बाह्य रूप ले लिया। यथा—कंथा, रुद्राक्षमाला, कान फुडवा कर मुद्रा धारण करना, गेरुवे रंग के वस्त्र, सिंगी आदि।

२. शैव मत का अन्त.रूप भी ले लिया। यथा—योग-(हठयोग)-मार्ग।

३. शिव की उपासना; आज भी शिव-मन्दिर के लिए नाथ-पुरोहित मिल जाय तो उत्तम समझा जाता है।

४. वैदिक सभ्याचार का विरोध।

---

१. नाथ-सम्प्रदाय : हजारीप्रसाद द्विवेदी : पृष्ठ ७९
२. सिद्ध-साहित्य : धर्मवीर भारती : पृष्ठ १९
३. नाथसम्प्रदाय : पृष्ठ १
४. ,, ,, पृष्ठ २७ से ३२
५. भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां बिना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥
६. नत्वा नाथ-परम्परां शिवमुखाम्...। नाथ-सम्प्रदाय, पृष्ठ ५ (टिप्पणी)
७ देदीप्यमानतत्त्वस्य कर्त्ता साक्षात् स्वयं शिव'। नाथ-सम्प्रदाय : पृष्ठ ३ (टिप्पणी)

इस प्रसंग में काश्मीर के पाशुपत धर्म से (जिसे नेपाल के पाशुपत धर्म की शाखा मानना उचित होगा) नाथ-सम्प्रदाय की अन्विति कुछ अर्थ रखती है। शैव मत, योगी-सम्प्रदाय, नाथ-सम्प्रदाय—इस प्रकार उसके विकास की कड़ी बताई जाती है। नाथ मत में तीसरे शाक्त मत का समन्वय है। वैदिक धर्म से निकट सम्बन्ध न जुड़ सकने के कारण शाक्त मत ने भी नाथ मत की शरण ली। बंगाल के नाथ तथा पंजाब के नाथ शाक्त मत मे भी पूरी निष्ठा रखते है। निष्कर्ष यह कि बौद्ध मत से विकसित सिद्ध मत ने नाथ-सम्प्रदाय को जन्म दिया। शैव मत ने उसे प्राण दिये, रूप दिया। शाक्त मत तथा अन्य मत-मतान्तरों ने उसे समृद्ध किया। यह है नाथसम्प्रदाय के विकास की छोटी सी कहानी।[1]

(ख) नाथ-सम्प्रदाय ने सदा ब्राह्मणवाद का विरोध किया। महाभारत से लेकर विक्रम की १०वी शती तक पंजाब मे ब्राह्मणराज्य तथा ब्राह्मणी-विचारधारा का प्रभुत्व रहा। नाथ मत को ब्राह्मण-विरोधी स्वर बौद्ध मत की परम्परा से विरासत में मिला। पजाब के नाथ-सम्प्रदाय की प्रमुख शाखा का नाम रावल-सम्प्रदाय है। इसी सम्प्रदाय के कारण 'गजपुरी' का नाम 'रावल-पिण्डी' पडा। रावल नाम आमतौर पर क्षत्रियो के लिए प्रसिद्ध है। बप्पा रावल की प्रसिद्धि से हमारी धारणा की पुष्टि होती है। 'रावल' को राजकुल का अपभ्रंश बताया जा रहा है। अनुमान यह बताता है कि जब नाथ मत ने पंजाब में प्रवेश किया तो रावलो (क्षत्रियो) ने उसे सबल दिया और इससे ब्राह्मण-विरोधी स्वर को प्रखरता मिली। जो हो, पंजाब के नाथ-सम्प्रदाय का प्रचार तत्कालीन धार्मिक द्वन्द्व का अच्छा-खासा चित्र उपस्थित करता है।

(ग) नाथ मत के बारह पन्थों मे से लक्ष्मणनाथ द्वारा प्रवर्तित नाटेश्वरी तथा दरिया पन्थ का सम्बध झेलम के गोरख-टीले से बताया जाता है। इस प्रकार, पागलपंथ अबोहर मे तथा गंगानाथ-पन्थ गुरदासपुर मे विख्यात है। संक्षेपत: बारह में से तीन पन्थ पजाब से सम्बन्धित है।[2] जालन्धरनाथ की चर्चा भी पंजाब से सम्बन्धित है। कुछ विद्वानों ने जालन्धरनाथ का जन्म पंजाब मे बताया है। अन्य पण्डितों ने कहा है—जालन्धरनाथ को पंजाब मे ही इष्ट-सिद्धि मिली थी। पजाब के नाथ-सम्प्रदाय में जालन्धरनाथ का स्थान महत्त्वपूर्ण बताया जा सकता है। पंजाब के प्रसिद्ध नाथों मे जालन्धरनाथ, चौरंगीनाथ, चर्पटनाथ, बालानाथ के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

---

१ नाथ-सम्प्रदाय : हजारीप्रसाद द्विवेदी; हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।

२. नाथ-सम्प्रदाय : हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृष्ठ ११.

(घ) पजाब में नाथ-सम्प्रदाय के विशेष महत्त्व का एक कारण और भी है। अनुमानत: विक्रम की १०वी, ११वी, तथा १२वी शती मे उसने ब्राह्मण-धर्म की सम्रक्षता प्राप्त कर ली थी। पहला, बौद्ध मत उसके अन्तर्लीन हो गया; दूसरे, शैव मत-शाक्त मत भी उससे चिरकाल तक पृथक् न रह सके; तीसरे, आक्रान्ता मुसलमानों ने भी इस धर्म को अगीकार कर लिया। इस्लाम अभारतीय धर्म होने पर भी नाथ मत को उसे अपनाते हो बना। तुर्क आक्रमण-काल में भारत मे दो ही समकक्ष धर्म विद्यमान थे—१ ब्राह्मण धर्म, २ नाथ मत। इस परिस्थिति मे पंजाब मे उसका क्या स्थान हो सकता है, इस पर अधिक बताने की आवश्यकता नही रह गई है।

(ङ) सचमुच पहली पाँच शताब्दियो मे ब्राह्मण-धर्म का स्वर हिन्दी साहित्य मे सुनाई नही पडता। सभवत: उसने अबतक संस्कृत, अपभ्रंश, प्राकृत तथा लोक गीतो का अवलम्बन नही छोडा था। नाथ मत ने पजाब के हिन्दी-साहित्य को स्वर दिया है, यहाँ तक कि वह परवर्ती युग के साहित्य में भी सुनाई पड़ता है।

२. **इस्लाम**—पजाब में सनातन हिन्दू-धर्म के अतिरिक्त एक विदेशी धर्म भी हमारे धार्मिक आन्दोलन की सीमा मे आता है, जिसने हिन्दू-साहित्य को प्रभावित किया है। इस्लाम भारत मे तीन मार्गों से प्रविष्ट हुआ। पहले तो वह व्यापार के माध्यम से दक्षिण भारत (वर्तमान केरल) मे पहुँचा; दूसरा, हाथ में तलवार लेकर सिन्धु घाटी मे उतरा; तीसरा, हाथ मे कुरान लेकर उसने सीमाप्रान्त पार किया। इस्लाम की तलवार के जौहर को पिछले शीर्षक के आधीन देख आए है; अर्थ की चर्चा आगामी शीर्षक में होगी। सच बात तो

क्र०	नाम	मूल प्रवर्तक	स्थान	प्रदेश	विशेष
१	नाटेश्वरी	लक्ष्मण	गोरखटीला (झेलम)	प० पंजाब	इसकी दो शाखाएँ है—(१) नाटेश्वरी, और (२) दरियापंथी
२	पागल पंथ	चौरंगीनाथ	अबोहर	पूर्वी पंजाब	... ...
३	गंगानाथी	भीपम	गुरुदासपुर	पूर्वी पंजाब	... ...

१. नाथ-सम्प्रदाय : हजारीप्रसाद द्विवेदी पृष्ठ १०।

यह है कि इस्लाम की जडे इस तीसरे मार्ग द्वारा ही दृढ़तर हुई है। धार्मिक आन्दोलन के प्रमुख सतो ने भारत को इस्लामिक दर्शन दिया, सामाजिक प्रवृत्तियाँ दी, कतिपय चमत्कार दिखाये ; अपनी त्याग-तपस्या का स्वरूप भी प्रजा के सामने रखा। इन इस्लाम-प्रचारक संतों को सूफ़ी कहते है और इनकी विचारधारा को सूफ़ी मत।

सूफ़ी शब्द की व्युत्पत्ति क्या है—इस नाम का सर्व प्रथम प्रयोग कहाँ देखा गया है—इन प्रश्नों का समाधान प्रयास करते-करते मनोरंजक स्थिति में पहुँच गया है। अब तक इसकी व्युत्पत्ति के लिए 'सूफ़', 'सफ़ा', 'सुफ्फाह', 'सुफ़्फ़', 'सोफ़िस्ता' आदि शब्दों को चुना गया है। इनमें इस शब्द की सिद्धि किससे हुई है—इसका निर्णय करने के लिए दो आधार चुने गए है—(१) व्याकरण और (२) लोक-व्यवहार।

(१) व्याकरण ने 'सूफ़' शब्द से 'सूफ़ी' शब्द को प्रस्तुत कर दिया है। इस निर्णय को जिन अधिकांश भाषा-शास्त्रियों ने स्वीकार कर लिया है, उनमे श्री नोएल्दके, मीर वल्लीउद्दीन तथा श्री निकल्सन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। सफ़ा से सूफ़ी कुछ अटपटा लगता है। व्याकरणानुसार सफ़ा से 'सफ़वी' शब्द बनता है, सूफ़ी नही। इस प्रकार सुफ्फह से सुफ्फी, सफ़ से सफ़ी तो व्याकरण-समर्थित हो सकते है, पर सूफ़ी नही। सोफ़िस्ता से सूफ़ी शब्द बनाने के लिए बड़ी खीचतान करनी पडेगी। अत: भाषाशास्त्र ने तो सूफ ∠ ई ∠ सूफ़ी शब्द की सिद्धि पर अपनी छाप लगा दी है, जिसे विद्वज्जनों की बहुसंख्या ने स्वीकार किया है।

(२) लोक-व्यवहार की दृष्टि से भी इस पर विचार कर लिया जाय। सूफ़ का अर्थ है—ऊन। इस्लाम धर्म के प्रादुर्भाव से पूर्व ईसाई सन्त तथा यहूदी सन्त ऊनी वस्त्र का प्रयोग करते थे। यह परम्परा वहाँ से चलकर इस्लाम मे आयी। पहले तो इसका विरोध हुआ; पर उत्तरोत्तर उसके अधिकाधिक प्रयोग से उसे अपनाते ही बना। उस बात की खोज का श्रेय अबू-नसर-अल्-सर्राज को दिया जा रहा है। पर्शिया के सन्तों के लिए 'पश्मीनपूश' शब्द को देखकर ब्राउन भी इसी मत का पोषण करता नजर आता है। मासूदी, लूई, अबू-बक्र-अल्-कलाबाधी तथा इब्न खादून ने भी इसी मत के पक्ष मे अपना निर्णय दिया है। हुजबीरी ने सफा शब्द से इसका सम्बन्ध जोड़ते हुए सफ़ा का अर्थ दिया है—पवित्रता। उसके मतानुसार पवित्र जीवन को व्यतीत करने वाले सन्तों को सूफ़ी कहा जाता था। जिन लोगों ने सुफ़्फ़ाह से सूफ़ी माना है, वे व्याकरण की

दृष्टि से सही-सही न हों, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसे अव्यावहारिक कहना कठिन है। 'अह्ल-अल्-सुफ़्फ़ाह' का अर्थ है मस्जिदों मे बैठकर धर्मोपदेश सुनना और उस पर आचरण करना। 'सफ़्फे अव्वल' का अर्थ है पवित्र जीवन बिताने वालों में प्रथम पंक्ति के सन्त। इस व्यवहार मे कुछ असंगति नज़र नही आती।

'सूफ़ी' शब्द के व्याकरण-पक्ष तथा लोक-व्यवहार-पक्ष का अध्ययन कर जब निर्णायक स्तर पर पहुँचते है तो ऐसा लगता है—व्याकरण ने जिसे ठीक समझा, लोक-व्यवहार को वह मान्य नही हुआ; लोक-व्यवहार ने जिसे ठीक माना, व्याकरण ने उसे रद्द कर दिया। क्या कोई केवल ऊनी वस्त्र धारण करने से सन्त बन सकता है? या फकीरी के लिए ऊनी वस्त्रों की पोशाक अनिवार्य है? हमारी समझ में नही। **न लिंगं धर्मकारणम्**। अतः पोशाक को रहस्यवादी साधना का प्रतीक मानना कहाँ तक ठीक है? इस प्रश्न पर अधिक लिखने की आवश्यकता नही रह गई। 'सफ़ा' सुफ़्फ़ाह, सफ शब्दों के आध्यात्मिक अर्थ केवल हँसकर न उड़ाये जा सकेंगे। वास्तविकता में उतर कर व्याकरण और लोकमत के समन्वय को ही मान्य करना होगा। प्रसिद्ध सूफ़ी संत फरीद ने भी यही माना है—**'सूफ गलि'**।

सूफ़ियों के मत का परीक्षण कर लेना असंगत न होगा। वैसे तो सभी सूफी मुसलमान है, इस्लामिक विचार-धारा से उसका उदय हुआ है। तथापि सूफ़ी मत एक सम्प्रदाय में परिवर्तित हो गया है, तथा उनके सैद्धान्तिक पक्ष ने इस्लाम में कुछ पृथक्-सा रूप ले लिया है। यथा—

(क) ईश्वर के विषय मे मुसलमानों मे जो विश्वास पाया जाता है, सूफ़ियों के ईश्वर मे उससे कुछ भिन्नता आ गई है। कुरानपथी इस्लाम के अनुसार परमात्मा एक है, वह अद्वितीय है वह अपरिमेय है, स्वयं पूर्ण है और निरपेक्ष है; परन्तु सूफ़ियों ने यह सब कुछ अस्वीकार न करते हुए उसे दृश्य जगत् मे व्यापक माना है। जामी के कथनानुसार "वह अद्वितीय पदार्थ, जो निरपेक्ष है, अगोचर है, अपरिमित है, नानात्व से परे है, वही अल्हक़ है। दूसरी तरफ अपने नानात्व और अनेकत्व में जब वह सभी गोचर वस्तुओं में अपने आपको प्रकट करता है, तब सपूर्ण रची हुई सृष्टि वही है।"[1] इस कथन

---

१. सूफ़ी मत—साधना और साहित्य : रामपूजन तिवारी : पृष्ठ २५६

से स्पष्ट है कि सूफियो का 'ईश्वर' कुरान की परिभाषा से ऊपर है।

(ख) अद्वैतवाद सूफियो का मुख्य अभिमत माना जाता है। जीव (रूह) के विषय में कुरान का कथन कुछ और है, सूफ़ियों की धारणा कुछ और है। इसके समर्थन में एक रोचक कथा बतायी जाती है—"प्रियतमा के दरवाज़े को किसी ने खटखटाया; भीतर से आवाज़ आयी—कौन है ? उसने उत्तर दिया—मै हूँ। भीतर से पुन. आवाज आयी—'इस घर मे तेरे और मेरे दोनों के लिए स्थान नही है।' प्रेमी चला गया। उसने एकान्त सेवन किया, प्रार्थना मे निरत रहा, उपवास किया। एक वर्ष के बाद फिर वह लौटा। उसने पुनः वही दरवाजा खटखटाया, भीतर से आवाज़ आयी—कौन है ? प्रेमी ने उत्तर दिया—तू है। बस, दरवाजा खुल गया। प्रेमी ने प्रियतमा के घर में स्थान पाया। सूफ़ियो ने आस्था के विषय मे जो खोज (स्वाध्याय) की है, वह जितनी भारतीय दर्शन के निकट है, उतनी ही खलीफ़ाओ के मत से दूर दूर हैं।

(ग) ज़िक्र और फ़िक्र सूफ़ी उपासना का मुख्य मार्ग है। इसे हम नवधा भक्ति के 'गुणचिन्तन' और 'गुणकीर्त्तन' के अन्तर्गत मान सकते है।

इस प्रकार सूफ़ियो की मुख्य विचारधारा को नाना व्याख्यानो द्वारा व्यक्त कर सकते है। शेष बातो मे सूफी मत को इस्लामी विचाधारा का प्रतिनिधि मानने मे कोई अडचन नही। पजाब मे सूफी मत का आगमन कब हुआ ? पजाब मे सूफी मत के केन्द्र कहाँ-कहाँ है ? इन प्रश्नो का खोजना भी असगत न होगा। जहाँ तक पंजाब का प्रश्न है, सूफ़ी मत को यहाँ लाने का श्रेय मुइनुद्दीन चिश्ती को देना चाहिए। अन्य विद्वानो ने 'अल् हुजवीरी दातागंज बख्श' को उक्त श्रेय देने का प्रस्ताव किया है। इनमे से सूफी मत का आद्य प्रचारक किसे माना जाय ? इसके उत्तर मे इतिहासकारों का निर्णय कुछ और है और सूफ़ियों का निर्णय कुछ और। कहते है, महमूद गज़नवी के आक्रमण-काल मे लाहौर का प्रान्तपति अयाज़ हुसैन दातागज बख्श को लाहौर लाया था। उसकी मृत्यु वैक्रम सवत् ११२७ मे वही हुई और समाधि भाटी दरवाजा में अद्यावधि विद्यमान है। मुईइनुद्दीन चिश्ती १३वी शताब्दी में पंजाब आये और दिल्ली-यात्रा करते हुए अजमेर मे आ बसे ; वहीं उनकी मृत्यु १२९३ वैक्रम संवत् में हुई। सूफ़ी मत के विशेषज्ञों की राय है कि दातागंजबख्श क़ैदी बनाकर लाया गया, बाद मे उसने मुस्लिम संत जैसा जीवन व्यतीत किया। उसने सूफ़ी मत का अध्यन अवश्य किया था। अनेक सूफ़ियों से

उसकी जान-पहचान भी थी। उसने किसी पीर का मुर्शिद बनना स्वीकार न किया था और उसे अद्वैतवाद के स्थान पर सनातन-पंथी इस्लामिक सिद्धान्तों पर अधिक विश्वास था। अतः इतिहासकार 'दातागंज बख्श' के पक्ष मे खड़े है और सूफी संत 'चिश्ती' के पक्ष में।

छोटे-मोटे सम्प्रदायों को छोडकर सूफ़ियों के चार बड़े सम्प्रदाय हैं :

१. **चिश्ती-सम्प्रदाय**—इस सम्प्रदाय के आदि साधक इशहाक़ शामी चिश्ती बताये जाते है। इनका संबंध ऊर्ध-से-ऊर्ध कड़ियाँ मिलाकर मुहम्मद साहब से जोड़ा जाता है। बहुत से लोग ख्वाजा अबू-अब्दाल को इसके आदि साधक के रूप स्मरण करते हैं। जो हो, परन्तु भारत मे चिश्ती-सम्प्रदाय को लाने का श्रेय असंदिग्ध शब्दों मे ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती को प्राप्त है। ये सबसे पहले पंजाब मे ठहरे। इनका जन्म संजर (सीस्तान) में वैक्रम संवत् ११९९ मे हुआ था। ये ख्वाजा उस्मान चिश्ती हरवानी के शिष्य थे। शिहाबुद्दीन गौरी की आक्रामक फौज के साथ भारत मे आये थे। इनकी मृत्यु अजमेर में हुई। पंजाब में चिश्ती-सम्प्रदाय के मुख्य केन्द्र ये है :

संत	स्थान	संवत्
बाबा फरीद	पाकपलन	
शेख़ शम्सुद्दीन तुर्क	पानीपत	...
विलायतशाह जलालुद्दीन	पानीपत	..
बू अलीशाह कलंदर	करनाल	१३८० मे मृत्यु
शाह लखी	अम्बाला	...
मीरानजी	थानेसर	...
मुहम्मद आरिफ		...
मीरान सैयदशाह भीक	धूरी पटियाला	

२. **सुहरावर्दी-सम्प्रदाय**—सुहरावर्दी-सम्प्रदाय के आदि आचार्य के लिए तीन नाम बताये जाते है। (१) शेख ज़ियाउद्दीन, (२) अब्दुल नज़ीब और (३) शिहाबुद्दीन। जनश्रुति एवं सूफ़ी विचारकों के अनुसार शिहाबुद्दीन सुहरावर्दी इसके आदि आचार्य बताए जाते हैं। इस सम्प्रदाय को भारत मे लाने का श्रेय किसको है—इस पर अभी तक मतैक्य स्थापित नही होसका। कुछ लोग शिहाबुद्दीन को भारत में आया मानते है और उसकी समाधि मुल्तान क़िले मे बताते हैं। पर दूसरे विद्वानों का कथन इससे भिन्न है। उनके मतानुसार बहाऊद्दीन मुल्तानी बगदाद गये थे और वहाँ से साधक बनकर मुल्तान लौटे थे।

किंवदन्ती के अनुसार हक़ बहाउद्दीन सिद्धि-लाभ कर मुल्तान लौटे तो चनाब नदी मे चादर बिछाकर, नाव की तरह उस पर बैठकर पार पहुँचे। इनके मुल्तान लौटने के समय नासरुद्दीन कुबाचा सूबा-ए-मुल्तान के प्रान्त-पति थे। सिद्ध केशोदास भी—जिनकी समाधि शमशान के पास थी—उस समय जीवित थे। दिल्ली तख़्त पर इल्तुतमिश का शासन था। मुल्तान से ही सुहरावर्दी-सम्प्रदाय का विकास हुआ और निम्न स्थानों पर सूफ़ी मठ स्थापित हुए:

संत	स्थान	वै० संवत (मृत्यु)
शेख बहाउद्दीन जकरिया	मुल्तान	१३२२ विक्रम संवत्
शेख़ सदरुद्दीन	मुल्तान	१३४०
शेख़ अहमद माशूक	मुल्तान	१३७७
शेख़ रुकनुद्दीन	मुल्तान	१३९२
मख़दूए जहानियाँ	बहावलपुर	१४४०
शेख़ मूसा	लाहौर	१५७९
बाबा दाऊद खाकी	कश्मीर	१६४२
सैयद भूलनशाह	लाहौर	१६५१
मीरान मुहम्मदशाह	लाहौर	१६६१
शाह जमाल	लाहौर	१६९६
शाह दौला दरियाई	गुजरात	१७२१
शेख जान मुहम्मद	लाहौर	१७२८
शेख मुहम्मद इस्माईल	लाहौर	१७३१
शेख हसन लालू	काश्मीर	१७४९

स्पष्ट हो कि (१) सुहरावर्दी-सम्प्रदाय का कार्यक्षेत्र विशाल पजाब ही रहा है; (२) मखदूमे जहानियाँ तक के सूफ़ी 'आदिकाल' से सम्बन्ध रखते है, शेष 'मितिकाल' से सबधित है। यहाँ यह भी लक्ष्य करने योग्य है कि सुहरावर्दी सम्प्रदाय की देन हिंदी-साहित्य के लिए 'न' के बराबर है, अलबत्ता इसकी देन पंजाबी-साहित्य के लिए उल्लेखनीय है।

३. **क़ादरिया सम्प्रदाय**—इस सम्प्रदायिक मत के आदि आचार्य अब्दुल क़ादिर जीलानी (११८६-१२७० वैक्रम) बताये जाते हैं। भारत में जीलानी साहब का आगमन हुआ है या नही—इस पर अभी तक अनुमान भिड़ाये जा रहे हैं। परन्तु इनके तीन सौ वर्ष पश्चात् सैयद मुहम्मद गौस (मृत्यु १५७४) इस सम्प्रदाय को प्रचारने के हेतु भा त आये थे। गौस ने उच्च शरीफ़ का स्थान

चुना और यहीं से पंजाब में अपने मत का प्रचार किया। कहते हैं, सिकन्दर लोधी ने अपनी पुत्री का विवाह गौस महाशय से किया था। पंजाब में इनके शिष्यों तथा खानकाहों का विवरण इस प्रकार है :

संत	स्थान	वैक्रम संवत्
सैयद मुहम्मद गौस	उच्चशरीफ़	१५७४
अब्दुलक़ादिर	लुधियाना	—
शाह बिलावल	लाहौर	—
शाह लतीफ़	रावलपिण्डी	—
बहलोलशाह	लाहौर	....
हाज़ी मुहम्मद	नौशहरा	—
कैसर शाह	वज़ीराबाद	—
माधोलाल हुसैनशाह	लाहौर	१६५६
मियाँ मीर	लाहौरछावनी	१६६२
नत्थाशाह	लाहौर	—

स्पष्ट हो कि इस सम्प्रदाय के अनेक सूफ़ी सन्तों ने जितना पंजाबी-साहित्य की समृद्धि के लिए सहयोग दिया है, उतना हिंदी-साहित्य के लिए नहीं।

४. नक्शबंदी सम्प्रदाय—बहाउद्दीन नक्शबंद इस सम्प्रदाय के आदि साधक बताये जाते हैं। प्रसिद्ध है कि उक्त सम्प्रदाय के संत सामान्य जनता में आत्मिक विद्या-प्रचार के हेतु चित्र बना बनाकर भाषण किया करते थे, अतः ये नक्शबंदी कहलाये। इस सम्प्रदाय के प्रचार-क्षेत्र भारत (मुख्यतया पंजाब), ईरान, तुर्किस्तान तथा अफ़ग़ानिस्तान रहे हैं। यह भी प्रसिद्ध है कि इनका सामाजिक सुधारवादी स्वर अन्य साधकों की तुलना में अधिक प्रखर था। किंवदन्ती से यह भी पता चलता है कि नक्शबंदी सनातनपंथी इस्लाम के अधिक समर्थक थे। इस सम्प्रदाय के कर्मठ प्रचारकों में इमाम रब्बानी, मुजद्दीद अलफिसानी शेख अहमद फारूखी का नाम बड़े आदर से स्मरण किया जाता है। नक्शबंदी सूफ़ियों तथा खानकाहों का विवरण इस प्रकार है :

संत	स्थान	वैक्रम संवत्
साईं तवक्कल शाह	अम्बाला	—
कुत्ब साहिब	थानेसर	—
शेख़ अहमद फ़ारूखी	सरहिंद	१६७२
शेख़ ताहिर	लाहौर	१६७८

मुल्ला हुसैन	काश्मीर	१७६७
शेख़ अहमद सईद	सर्राहद	१७१४
शेख़ मुहम्मद मासूम	सर्राहद	१७२५
शेख़ सैफुद्दीन	सर्राहद	१७४३
ख्वाजा खावन्द महमूद	लाहौर	—
शेख़ सादी	लाहौर	१७५३
हा० अब्दुल गफ़ूर	काश्मीर	१७५८
अब्दुल अहद	सर्राहद	१७८४
अबू सईद	टोंक	१८६१
इमामअली शाह	गुरदासपुर	१११७
मुहम्मद उस्मान[1]	कुलाची	—

स्पष्ट हो कि आदिकाल के समाप्त होने के सौ वर्ष पश्चात् नक्शबन्दी सम्प्रदाय भारत मे प्रविष्ट होता है, अत: इस युग के साहित्य पर इसका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव नही है।

धार्मिक आन्दोलन पर विहंगम दृष्टि डालते हुए कोई भी आलोचक इस निर्णय पर स्वत: पहुँच जाता :

१. बौद्धों तथा नाथो के प्रखर विरोधी स्वर के कारण ब्राह्मण-धर्म का स्वर मन्द पड़ गया; अत: आदि-काल के साहित्य मे उसकी प्रतिध्वनि सुनायी नही पडती।

२. यह सनातन हिन्दू धर्म की विशेषता है कि वह ब्राह्मण-धर्म तथा उसके विरोधी नाथ-सम्प्रदाय को आत्मसात् किये हुए है। अत: नाथवादी स्वर को भी सनातनपंथी स्वर कहने में कोई आपत्ति नज़र नही आती।

३. नाथ-सम्प्रदाय आरम्भ में छोटे-मोटे सम्प्रदायों को आत्मसात् करके आगे बढा था; पर सूफी सम्प्रदाय के समक्ष उसका स्वर मन्द क्यों पड गया— इसका समाधान खोजने पर भी नहीं मिल रहा।

४. आदि-काल के हिन्दी-साहित्य मे सबसे ऊँचा स्वर चिश्ती-सम्प्रदाय का है। इधर हिन्दी में चिश्ती-सम्प्रदाय के विचार है, तो उधर पंजाबी-साहित्य में शेष तीनों सूफी-सम्प्रदायों के सुर सुनायी पडते है। कारण स्पष्ट है; मुसलमानों के आगे बढ़ जाने से हिन्दी भाषा ने भी उन्ही के द्वारा दिल्ली के आसपास के क्षेत्र को घेर लिया। पंजाब मे केवल पंजाबी रह गई, जो बाद में आनेवाले सूफियों

१. देखो परिशिष्ट ४

के विचारों की वाहन बनी।

५. अन्तिम उल्लेखनीय बात यह है कि इस्लाम ने भारत को तलवार से झुकाना चाहा, पर वह न झुका; इस्लाम ने अपनी अनेकों मार्मिक अंगुलियाँ फैलाकर पंजाब को पकड़ना चाहा, पजाब ने आत्मसमर्पण कर दिया। अतः पंजाब में इस्लाम की जडे पाताल को छू गईं।

आदि-काल के हिन्दी-साहित्य में पहला स्थान नाथ-सम्प्रदाय का, दूसरा स्थान सूफी मत का तथा तीसरा स्थान ब्राह्मण-धर्म का है। कहना न होगा कि पंजाब के हिन्दी-साहित्य में भारतीय धर्म के मन्द स्वर से विद्वज्जन खेद अनुभव करते है।

सामाजिक अवस्था

धर्म के उपरान्त साहित्य का दूसरा मूल आधार है—समाज। धर्म के आधार पर हम समाज को तीन वर्गों मे विभक्त देखते है—१. वर्ण-व्यवस्थित समाज, २. वर्ण-विरोधी भारतीय समाज, तथा ३. इस्लामिक समाज। (इस्लाम को भी वर्ण-विरोधी पक्ष में खड़ा किया जा सकता है, पर भारतीय वर्ण-विरोध एवं इस्लाम मे अन्तर है)। शास्त्र-प्रतिपादित वर्ण-धर्म का विरोध बुद्ध-मत से आरम्भ होता है। नाथ-सम्प्रदाय ने वर्ण-विरोधी पाठ बुद्धशाला में बैठकर पढ़ा है। अगर इस्लाम वर्ण-धर्म को भंग करता है तो यह कोई ऐसी जटिल समस्या नही जो समझ में न आये। एक तो वह भारतीय समाज-(वर्ण)-व्यवस्था को भंग कर उसपर अपना भवन खड़ा करना चाहता था; दूसरे, उसके पास अपनी एक सुगठित समाज-व्यवस्था थी। बौद्ध मत या नाथ मत का वर्ण-विरोधी स्वर समझ से परे की बात है। क्या भारतीयता के नाते उनका वर्ण-विरोध धार्मिक दरार का परिचायक नही है? नाथ मत और सिद्ध मत का अपना कोई व्यवस्थित समाज न था, न उसकी कोई वैधानिक रूपरेखा थी, उसके शास्त्र-प्रतिपादित नियम (रूढ़ियाँ) भी न थे। वे समाज-व्यवस्था को तोड़ने का यत्न तो कर रहे थे, पर उसके स्थान पर नयी व्यवस्था नही दे रहे थे। लिखा है, जो कल्याणकारी मार्ग को छोड़कर अकल्याणकारी मार्ग अपना लेता है, उसका कल्याण-मार्ग तो नष्ट हो ही जाता है, अकल्याण-मार्ग से उसके लिए क्या शुभाशा की जा सकती है?[१] इस तथ्य के समर्थन मे 'शकों' को तथा मुगलो को स्मरण किया जा सकता है। आदि-काल

१. यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव तत्॥

की समाज-व्यवस्था का विश्लेषण करते हुए जब राहुल सांकृत्यायन—जैसे महा-पण्डित भी बौद्धिक संतुलन खोकर लिखते है[1] तो दूसरों को क्या कहा जाये ? उनके मतानुसार उस समय सामन्तों और पुरोहितो की समस्या ही समाज-व्यवस्था के लिए कलंक थी। यदि सचमुच, उस समय हिन्दू-समाज इस्लाम स्वीकार कर आत्महत्या कर लेता, तो क्या सामन्तवाद समाप्त हो जाता ? या पुरोहितवाद नष्ट हो जाता ? इतिहास मे लिखा है, इस्लाम-उदय से पूर्व शक तथा मंगोल बौद्ध धर्म को मानते थे। बौद्ध धर्म मे सामन्तवाद के स्थान पर भिक्षुवाद तथा पुरोहितवाद के स्थान पर प्रचारकवाद का बोलबाला था। शक-वीर लाखो की संख्या में थे तथा सगठित थे; उन्होंने इस्लाम स्वीकार कर क्या हासिल कर लिया ? शक से शेख बनकर वे अपना समाज व धर्म शाश्वत रख सके ? क्रूर, साहसी तथा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखने वाले बुद्धमतानुयायी मंगोल, क्या इस्लाम अगीकार कर अपना इतिहास यथावत् रख सके ? आज हूण कहाँ है ? इस्लाम मे पुरोहितवाद के नग्न चित्र क्या इतिहास में अंकित नही है ?[2] क्या मुहम्मद साहब के उपरान्त 'खिलाफत' के लिए संघर्ष[3] नही हुआ ? उम्मैयावश, अब्बासिया वंश तथा ताहिरवंश—ये सब क्या है ? क्या इन्हें जातीयता-जन्य सामन्तवाद कहना उचित न होगा ? इस्लाम के घृणित पुरोहित-वाद को महापण्डित राहुल जैसा व्यक्ति कैसे भूल सकता है ! जिस धर्म या सम्प्रदाय का अपना वैधानिक समाज नही होता, वह अपना इतिहास सुरक्षित नही रख सकता। जातियो के उत्थान-पतन का नाम ही इतिहास

१. इस धर्मलीला ने कुछ फायदे का भी काम किया और पुरोहितों-महन्तो के प्रभाव को कुछ हल्का किया ; यद्यपि उतना नही कर सकी जितना कि ईरान और अफगानिस्तान में। यदि सारा हिन्दुस्तान इस्लाम के अन्दर चला गया होता, तो शायद, यहां की सैकड़ों समस्याएँ खतम हो गई होती।

—हिन्दी-काव्यधारा : राहुल : अवतारणा : पृष्ठ ३२

२. 'तारीख अलाई' का लेखक लिखता है कि एक दिन अल्लाउद्दीन ने क़ाज़ी से पूछा कि काफिर हिन्दुओं के वास्ते शरह में किस सज़ा का बयान है। क़ाज़ी ने कहा—हिन्दू तो मुसलमान के वास्ते खेती है। जिससे चाँदी मांगने पर सोना मिलना चाहिए। गन्ने को जितना भी अच्छी प्रकार से पेरा जायेगा, उतना ही ज्यादा वह रस देगा। हिन्दू भी इसी प्रकृति के है। अगर मुसलमान थूके तो हिन्दू को तो खुशी के साथ अपना मुँह खोल देना चाहिए।"

—(सिख-इतिहास : देसराज ठाकुर : पृष्ठ १५)

३. (क) भारत का इतिहास : ईश्वरीप्रसाद : पृष्ठ २३०—२३४
(ख) पजाब का इतिहास : धर्मवीर : २२१-२२३.

है। कोई राजा आता है, कोई जाता है; कोई हारता है, जीतता है—ये इतिहास के मील के पत्थर है, इतिहास नही। इतिहास-सम्मत अनुश्रुति बताती है कि अफ़गानिस्तान से वर्ण-समाजी निकल आये; और वर्ण-विरोधी (नाथ और बौद्ध) शीघ्र ही इस्लाम मे अन्तर्लीन हुए। उनके सामने महन्तों या सामन्तों की कोई समस्या न थी, फिर उनके इस्लाम स्वीकार करने मे क्या तुक रही ? इस चर्चा पर सम्भव है श्री राहुल चुप हो जाँय। जो हो, श्री धर्मवीर भारती ने श्री राहुल के राष्ट्र-विरोधी विचारों का उत्तर दे दिया है।[1] अस्तु।

आदिकाल का वर्णसमाजी सम्प्रदाय अत्याचारों से पीडित रह कर भी जीवित रहा, जब कि भारत का वर्ण-विरोधी समाज दूसरे वर्ग-विरोधी समाज में लीन हो गया।[2] सामन्तों, सेठों, पुरोहितो और महन्तो के हाथ में बिका हुआ समाज, राहुलजी की मान्यतानुसार दूषित ही सही, अपने स्वरूप मे जीवित था और उसका अस्तित्व साहित्य मे झलकता है।

जिन संतों अथवा योगियों ने वर्ण-विरोधी स्वर में अपना स्वर मिलाया था, उनके बारे मे अधिक-से-अधिक यह कहा जा सकता है कि क्या वे कही हिन्दू-धर्म के प्रच्छन्न विरोधी तो नही थे ? जब हम यह कहते है तो उसका प्रमाण भी दे सकते है। समाजशास्त्रियों का कहना है कि किसी भी समाज का मापदण्ड नारी ही होती है।समाज मे नारी का जैसा स्थान व उसकी मान्यता होगी, उसी स्तर पर समाज का मूल्याकन हो सकेगा। कबीर ने लिखा है :

नारी तो हमने करी, कीना नहीं विचार।
जब जानी तब परिहरी, नारी बड़ा विकार॥

क्या गृहस्थाश्रम के प्रति आस्था रखने वाला सनातन (हिन्दू) भारतीय कबीर के विचारों से सहमत हो सकता है ? हमारा विश्वास तो ऐसा है कि बडे-से-बड़ा धर्मनिष्ठ तथा अद्यतन प्रगतिवादी भी 'नारी' को विकार नही मान

---

१. सिद्ध-साहित्य : धर्मवीर भारती : पृष्ठ ८—८१

२. **(क)** कुछ सम्प्रदाय मुसलमान भी हो गए।
(ख) वे धीरे-धीरे मुसलमान होते रहे।
—नाथ-सम्प्रदाय : हजारीप्रसाद द्विवेदी : पृष्ठ १४६-१४७
(ग) आज भी उन्ही सम्प्रदायो में मुसलमान योगी अधिक है।
(घ) इन लोगों में जातिपाति का बन्धन पहले भी नही था। इसलिए ये लोग क्रमशः मुसलमान होते गए।
—नाथ-सम्प्रदाय : ह० प्र० द्विवेदी : पृष्ठ १५९

सकता। इस प्रकार हल्की विचारधारा रखने वाले कबीर स्वयं किस व्यवस्थित समाज का पक्ष लेते हैं ? स्पष्ट है, कबीर जैसे अवधूत विचार रखने वाले सन्तों के विचार केवल पुस्तको तक ही सीमित रहते है, उनका व्यावहारिक पक्ष बड़ा शिथिल होता है।

समस्त सामाजिक सर्वेक्षण करने के बाद इतना कहा जा सकता है कि आदिकाल का साहित्य वर्ण-विरोधी स्वर को संजोकर समृद्ध नज़र आता है; उसे वर्ण-समाजी सनातन हिन्दू की समाज-भावना का वाहक बताना कठिन है। साहित्य को जिस सामाजिक पृष्ठभूमि की अपेक्षा रहती है, उसे वह उपलब्ध नही है; आदिकाल के इस ध्वान्त पक्ष को किसी भी प्रकार के शब्दजाल में छिपाया नही जा सकेगा।

साहित्य की समृद्धि चिन्तामुक्त भावुक समाज पर निर्भर करती है। समाज की समृद्धि अर्थ-सापेक्ष है। जो समाज आर्थिक चिन्ता से जितना मुक्त होगा, उसका साहित्य उतना ही ऊँचा होगा। विख्यात

आर्थिक दशा

सस्कृत-साहित्य के प्रणेता ब्राह्मण एकदम चिन्तामुक्त समाज के प्रतीक माने जाते है। अतः संस्कृत की उत्तमता सर्वविदित है। आर्थिक चिन्ता-ग्रस्त समाज सत्-साहित्य नही बना सकता। हिन्दी-साहित्य की दरिद्र दशा का सारा दायित्व पंजाब की आर्थिक दुरवस्था पर डाला जा सकता है।

किसी प्रदेश या राष्ट्र की अर्थव्यवस्था समझने के लिए वहाँ के व्यापार, वस्तु-निर्यात, कृषि तथा उद्योग पर विश्लेषणात्मक विचार करने की आवश्यकता होती है। कहने को तो कश्मीर की पश्म, पंजाब का कृषि-उत्पादन, अन्न-निर्यात आदि सब था; पर उसमे स्थिरता नही थी; जिस प्रदेश पर पाँच सौ वर्ष निरन्तर मुसलमानों के सौ से अधिक आक्रमण हुए हों, वहाँ व्यापारिक स्थिरता की बात सोचना ही व्यर्थ है। यदि किसी-न-किसी प्रकार हिन्दुओ के पास धन बच भी रहता तो उसका अधिकांश लूट मे चला जाता और शेषांश कर मे पूरा हो जाता। मुस्लिम शासकों की विलासिता हिन्दुओं के आर्थिक शोषण पर टिकी हुई थी। उस समय लूट-मार में सनातन हिन्दुओं की देवसम्पदा कितनी नष्ट हुई, इसका एक प्रमाण लीजिये : केवल नगरकोट (काँगड़ा) के मन्दिर की लूट मे ७४० मन सोना, २००० मन चाँदी, ७०० मन चाँदी के बरतन, २० मन हीरे-जवाहारात चले गए। काँगड़ा के वृजेश्वरी मन्दिर को दो बार लूटा गया। यह तो एक मन्दिर की बात रही। आइने-तवारीख नुमाँ के

लेखक ने लिखा है कि महमूद गजनवी ने दस हजार मन्दिर बरबाद किये थे। इनमें से पंजाब के मन्दिर कितने रहे होंगे—यहाँ पहुँचकर कल्पना भी कुण्ठित हो जाती है। फरिश्ता के कथनानुसार महमूद थानेश्वर से इतने आदमी गुलाम बनाकर ले गया कि जिनसे गज़नी पट गया। इस प्रकार लूट, शोषक कर-व्यवस्था, उद्योग-धन्धों की अस्थिरता—सब मिलकर पजाब की आर्थिक दशा का भयकर चित्र उपस्थित करते हैं। अतः पंजाब के हिन्दी-साहित्य के विकास में आर्थिक समृद्धि की बात सोचना दूर की कौडी लाने के बराबर हो जायेगी। राजा-महाराजाओं की शरण चाहने वाले कवि भी नही थे, और शरण देने वाले उदारमना राजा भी नही थे; चारो ओर आर्थिक हाहा-कार, चीत्कार और लूट-मार का राज था। ऐसी अवस्थाओं में हिन्दी-भाषा ने जन्म लिया है और आदि-काल का हिन्दी-साहित्य बना है।

साहित्यिक प्रभाव

एक भाषा के साहित्य पर सहवर्ती अन्य भाषाओं के साहित्य का प्रभाव भी पड़ता है। जीवित साहित्य के स्वाभाविक गुणों में यह मूर्धन्य गुण माना जाता है कि वह अपने समानान्तर राष्ट्रीय अथवा राष्ट्रान्तरीय साहित्य के सद्‌गुणों को ग्रहण करे। इस कसौटी पर सद्योजात हिन्दी-साहित्य खरा उतरा है। हिन्दी साहित्य से पहले पंजाब में संस्कृत-साहित्य, प्राकृत या प्राकृताभास-साहित्य तथा पारसी-साहित्य अपना-अपना स्थान बना चुके थे। पहली बात तो यह हिन्दी-भाषा ने पारसी के उत्संग मे से जन्म लिया और तदीय साहित्य के गुणों को आत्मसात् किया। संस्कृत का प्रभाव भी उस पर है। इस सांस्कृतिक आदान-प्रदान को प्रत्यक्ष रूप मे बताना जटिल हो सकता है, अतः उसे उपशीर्षको मे विभक्त कर परोक्ष रूप में देखने-भालने मे सुगमता हो सकती है। दूसरे, हिन्दी की कतिपय अपनी समस्याएँ भी है; जिन पर इसी स्तम्भ में विचार करना अनुकूल पड़ता है।

१. साहित्यिक प्रभाव :

(क) संस्कृत-साहित्य का प्रभाव, (ख) पारसी-साहित्य का प्रभाव (ग) अपभ्रंश सिद्ध-साहित्य का प्रभाव।

२. हिन्दी-समस्याएँ :

(क) हिन्दी का पहला कवि, (ख) आगन्तुक कवि, (ग) मुस्लिम अत्याचारों पर मौन क्यो ? (घ) साहित्य का अभाव क्यो ? (ङ) उपलब्ध हिन्दी-साहित्य का वर्गीकरण।

१. (क) **संस्कृत-साहित्य का प्रभाव**—वैक्रम संवत् की बारहवी शती का स्मरण करते ही महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र, मम्मट, रुय्यक, मखक, जयदेव महाप्रभु आदि के नाम लेखनी पर उतर आते है। इन प्रसंगों में, कल्पना यह निर्णय करने के लिए विवश करती है कि वैक्रम संवत् की ७वी शती से १७वी शती तक सिन्ध, पंजाब तथा काश्मीर मे सस्कृत का प्राचुर्य रहा होगा ; पर कथित मन्तव्य को प्रमाणित करने के लिए आधार बहुत कम रह गया है। ब्राह्मण-धर्मा सनातनी हिन्दू संस्कृत के प्रति बद्धानुराग रहे होंगे, परन्तु मुस्लिम आक्रमणों से वे अपनी रचनाओं को कैसे बचा सके होगे—यह सोचने की बात है । काश्मीर पर मुस्लिम आक्रमणो का ताँता पंजाब के उपरान्त आरम्भ होता है, अतः वहाँ सूचना-मात्र के लिए कुछ साहित्य बच रहा है। महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र, मम्मट, रुय्यक तथा मंखक आचार्य-कोटि में आते है। महिमभट्ट 'राजानक' जातीय होने से काश्मीरी ब्राह्मण विख्यात है। इनके पिता का नाम 'धैर्य' और गुरु का नाम 'श्यामल' था। ध्वनि-सम्प्रदाय के खण्डन करने वालों मे महिमभट्ट शीर्षस्थ माने जाते है। इनकी रचना का नाम 'व्यक्तिविवेक' तथा रचना-काल वैक्रम संवत् की ग्यारहवी शती का अन्तिम चरण है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' तथा 'औचित्य-विचार-चर्चा' के कारण आचार्य क्षेमेन्द्र, साहित्य के एक नये सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप मे विख्यात है। इनका रचना-काल १२०७ वैक्रम संवत् कूता गया है। 'राजानक' उपाधि नही, बल्कि जाति है जो काश्मीरी ब्राह्मणो मे 'राजदान' नाम से विख्यात है। इसी वंश मे जन्म लेने के कारण मम्मट भी काश्मीरी माने जाते है, जिनका 'काव्य-प्रकाश' संस्कृत-साहित्य मे आदर से स्मरण किया जाता है। इनका रचना-काल आचार्य हेमचन्द्र सूरी के समकालिक ठहराया जाता है। इसी प्रकार रुय्यक व मंखक भी काश्मीरी ब्राह्मण बताये जाते है। 'विक्रमाकदेवचरित' के उल्लेख से रुय्यक का समय वैक्रम सवत् ११४२ के बाद ठहराया जाता है। विश्वावर्त्त का पुत्र, मन्मथ का पौत्र एव रुय्यक का शिष्य मंखक काश्मीरी राजा 'जयसिंह' का मंत्री था । जयसिंह का राज्य-काल ११८५-१२०६ वैक्रम संवत् सिद्ध हो चुका है। कश्मीर के संस्कृत-साहित्य का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव आदिकाल के हिन्दी-साहित्य पर बिल्कुल नही है—यह कह सकना कठिन है ; अलबत्ता इसका विशिष्ट प्रभाव ढूँढा जा सकता है तो मिश्रित काल के साहित्य मे, जिसकी चर्चा यथाप्रसंग की जायेगी।

पजाब के हिन्दी-साहित्य को ही नही, समस्त हिन्दी-जगत् को प्रभावित करने का श्रेय पंजाब के प्रसिद्ध गीतिकार पीयूषवर्षी जयदेव महाप्रभु को है।

महाप्रभु की प्रसिद्ध रचना 'गीत-गोविन्द' की छाया में समस्त भक्तिकाल अन्त-र्भुक्त हो गया है। जयदेव महाप्रभु चंद बरदायी के समकालीन थे, और चंद ने उन्हें अपने काव्य में स्मरण किया है :

"जयदेव अहूं कव्वि कव्विरायं। जिनै केल कित्तों गोविन्दगायं॥"

महाप्रभु के परिचय में इतना बताया जाता है कि क्षत्रियों के पुरोहित पं० गिरधारीलालजी रावी के तट पर एक मन्दिर में सेवा-कार्य किया करते थे। क्षत्रियों के पुरोहित होने के नाते उनका सारस्वत होना असंदिग्ध है।[1] श्रीमद् भागवत् के अष्टोत्तरशत पारायण से इनके घर हरदेवजी का जन्म हुआ। हरदेवजी का विवाह मुल्तान के त्रिखा-ज्ञातीय पं० वशीलाल की कन्या 'सुन्दरी' से सम्पन्न हुआ था। हरदेव-सुन्दरी दम्पती के घर में पं० भोजदेव हुए। श्री भोजदेव का विवाह उच्च शरीफ के पं० गोपीलाल की पुत्री श्री राधाजी से हुआ। इन्हीं भोजदेव-राधा के घर महाप्रभु ने[2] जन्म लिया। भोजदम्पती मुल्तान से चलकर पुरी की यात्रा करते हुए बंगाल पहुँचे। पुरी में ही श्री जगन्नाथ महाप्रभु के दर्शन से श्री भोजराज को विश्वास हो चला था, घर मे श्रीभगवद्-विग्रह का अवतार होने वाला है। फलतः वीरभूमि-नरेश के अतिथि भोजदम्पती ने वैक्रम संवत् ११६५ माघ-शुक्ल वसन्त-पंचमी के मध्याह्न मे जयदेव महाप्रभु को जन्म दिया[4]। श्रीमहाप्रभु का विवाह लाहौर-निवासी पं० पूर्णचन्द्र की कन्या रोहिणी से हुआ। महाप्रभु-दम्पती के घर श्री कृष्णदेवजी का जन्म हुआ। यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि जब मुहम्मद गौरी ने वैक्रम संवत् १२३१ में मुल्तान, १२३५ में पेशावर, १२३८ में सिन्ध को पद-दलित कर वैक्रम संवत् १२४२ मे लाहौर पर आक्रमण किया, महमूद ग़ज़नवी के वशधर खुसराव मलिक को परास्त किया तथा लाहौर को लूटा, तब श्री महाप्रभु के आत्मज श्रीकृष्णदेव वहाँ विराजमान थे[5]। महाप्रभु का सम्बन्ध बंगाल के लक्ष्मणसेन तथा कन्नौज के जयसिह से भी बताया जाता है। लक्ष्मणसेन सवत् १२३६-१२६२ मे विद्यमान

---

१. सारस्वतास्तु ये विप्राः क्षत्रियाणां पुरोहिताः।

२. श्री-भोजदेवप्रभवस्य राधादेवीसुतश्रीजयदेवकस्य।
पाराशरादिप्रियवर्गकण्ठे श्रीगीतगोविन्दकवित्वमस्तु॥

३. कल्याण : वर्ष ३३, अंक १०। पृष्ठ १२७४।

४. वही, वर्ष ३३, अंक १२। पृष्ठ १३९२।

५. वही, वर्ष ३३ अंक १०। १२७०।

थे। लक्ष्मणसेन के राजकवियों ने जयदेव को स्मरण किया है[1] और जयदेव ने लक्ष्मणसेन के महाकवियों[2] को। महाप्रभु बाद में वृन्दावन आकर रहे और वही उन्होंने गोलोकवास किया। उनके वंशधर आज भी वहाँ विद्यमान हैं।

अद्दहमाण कवि जयदेव-पूर्ववर्ती है। उसे छोडकर शेष सभी कवियों पर जयदेव के गीत-गोविन्द की स्पष्ट छाप है। फरीदुद्दीन वह पहला मुस्लिम कवि है, जिसने राग-रागिनियों मे कुछ रचनाएँ की है। सिक्ख गुरुओं ने राग-रागिनियो के अतिरिक्त बहुत थोडा लिखा है। जयदेवजी से लेकर बीसवीं शती के मध्य तक (भक्त कवि रुलियाराम तथा पं० अमीचन्द बाली) पजाब के अधिकांश कवियों ने राग-रागनियों मे कुछ-न-कुछ अवश्य लिखा है। पंजाब के हिन्दी-साहित्य पर सस्कृत-साहित्य का यह प्रभाव ज्वलन्त एवं प्रत्यक्ष है। हिन्दी ने सस्कृत-साहित्य से क्या-क्या लिया है, यह यथा-स्थान लिखा जायगा।

(ख) **पारसी-साहित्य का प्रभाव**—हिन्दी भाषा के विकास में पारसी-भाषा के सहयोग की चर्चा कर लेने बाद उसको दुहराने की आवश्यकता नही। पारसी-साहित्य के सम्पर्क से हिन्दी-साहित्य में सूफ़ी मत तथा सूफ़ी-साहित्य का अवतरण हुआ। सूफ़ी-साहित्य मे जिस प्रेमवाद का स्वस्थ रूप मिलता है, बाबा फ़रीद की रचना में उसी प्रेमवाद के सर्वप्रथम दर्शन होते है। इसी प्रेमवाद पर निर्गुण-उपासना एवं गुरुवाद का भवन बन कर खडा हो गया है। यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि सूफ़ी साहित्य ने पंजाबी-साहित्य को अधिक-से-अधिक एव हिन्दी-साहित्य को कम-से-कम सस्पर्श दिया है। इसका जितना प्रभाव अनुमित किया जाता है, वह सब मिश्रित काल में मिलेगा; आदि-काल में तो उसके दर्शन-मात्र ही हुए हैं।

(ग) **अपभ्रंश सिद्ध-साहित्य का प्रभाव**—आदिकाल मे इसी साहित्य का व्यापक प्रभाव दीख पड़ता है। चर्पटनाथ, चौरंगीनाथ, संत जयदेव की वाणी

१. श्रीजयदेव-सहचरेण लक्ष्मणसेन-मन्त्रिवरेणोमापतिधरेण.....
—उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा : परशुराम : पृष्ठ ६४

२. वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः संदर्भशुद्धि गिरां।
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरुहद्रुत।
शृंगारोत्तर सत्प्रमेयरचनैराचार्य गोवर्धनः;
स्पर्द्धी कोऽपि न विश्रुत श्रुतिधरः धोयीकविः क्ष्मापतिः।
—वही, पृष्ठ ६४

में निर्गुण उपासना, सुधारवाद, शून्यवाद तथा अन्य सिद्ध मत की विचारधारा का प्रत्यक्ष-परोक्ष—दोनों प्रभाव है। उसका प्रत्यक्ष प्रभाव नाथ-साहित्य पर और परोक्ष प्रभाव सिख साहित्य मे मिलता है।

२. (क) **हिन्दी का पहला कवि**—सौभाग्य से हिन्दी भाषा और हिन्दी-साहित्य का आरम्भ पंजाब से सम्बद्ध है। वैक्रम सम्वत् नवी शती से लेकर बारहवी शताब्दी तक भाषा का संक्रान्ति-काल माना जाता है। इन चार सौ वर्षों में भाषा के तीन रूप देखने को मिलते है; यथा—

(१) परिनिष्ठित अपभ्रंश भाषा-काल : सम्वत् ९०० से सम्वत् ११०० तक;

(२) अपभ्रंश-हिन्दी मिश्रित भाषा-काल : वैक्रम सम्वत् ११०० से सम्वत् १२०० तक;

(३) विशुद्ध हिन्दी-भाषा-काल : वैक्रम सम्वत् १२०० से आरम्भ.

हिन्दी का प्रथम कवि किसे माना जाय? इस प्रश्न के समाधान के लिए उक्त भाषा-संक्रमण को ध्यान में रखना होगा। इस प्रश्न पर अनेक विद्वानों ने विचार किया है; जिन मे से प्रसिद्ध ये हैं—शिवसिंह सेंगर, राहुल साकृत्यायन काशीप्रसाद जायसवाल, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० चन्द्रधर गुलेरी, डाक्टर सत्यदेव चौधरी आदि।

शिवसिंह सेंगर ने पुष्य अथवा पुष्प नामक किसी कवि को हिन्दी का प्रथम कवि माना है। परन्तु उसकी रचना उपलब्ध न होने से उसे प्रथम कवि ठहराने में अनेक कठिनाइयाँ है। जैसा कि पुष्य को राजा भोज के पूर्वज, मान राजा का, सभा-कवि बताया जाता है। राजा मान का समय ७७० सम्वत् कूता गया है। यदि इस तथ्य को प्रमाणित मान लेते है तो प्रश्न उठता है कि क्या उस समय भाषा या सज्ञा-स्तर पर 'हिन्दी' का अस्तित्व था? हिन्दी तो हिन्दू-मुसलमानों की 'समान रिक्थ' है; और उस समय मुसलमान[1] कहाँ थे? इस प्रसंग में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन यथार्थ प्रतीत होता है कि 'पुष्प' पुष्पदन्त नामक अपभ्रंश-कवि से अभिन्न है[2]। इस तरह से वह परिनिष्ठित अपभ्रंश भाषा का कवि सिद्ध हो सकता है, हिन्दी का नही।

राहुल सांकृत्यायन ने 'स्वयंभू' को हिंदी का प्रथम कवि माना है। और उसकी रचना (पउम-चरिउ=पद्मचरित्र) को हिन्दी का प्रथम ग्रन्थ। अपने मत के समर्थन में श्री राहुल ने यह तर्क अपनाया है—"अपभ्रंश उद्धरणों में थोडे से

१. वैक्रम सम्वत् ६७९ में मुहम्मद के पलायन के बाद इस्लाम धर्म अस्तित्व में आया था।

२. हिन्दी-साहित्य : हजारीप्रसाद द्विवेदी : पृष्ठ २०

पुराने शब्दो को हटाकर उसके स्थान पर तत्सम शब्दों के समावेश से अपभ्रंश और हिन्दी का अन्तर बहुत कुछ मिट जाता है।"[1] राहुलजी की युक्ति भाषा-विज्ञान के विपरीत पडती है। थोडे से पुराने शब्दों को हटाना, उसके स्थान पर तत्सम शब्दों को समाविष्ट करना—किसी मनुष्य के हाथ में नही होता। जो मनुष्य इस प्रकार की हेराफेरी कर सकता है, वह भाषा उसी की समझी जायेगी, मूल लेखक की नही। भाषा-परिवर्तन का काम 'समय' का है, मनुष्य का नही। जैसे— गृह>घलम्>घर>घर ; 'गृह' को अपदस्थ कर उसके स्थान पर 'घर' को प्रतिष्ठित करने में मनुष्य का नही, समय का हाथ है।[2] जबकि "पउम-चरिउ" नाम ही परिनिष्ठित अपभ्रंश भाषा की सूचना दे रहा है, तब केवल कल्पना के बल पर उसे हिन्दी का प्रथम कवि मानना अनेक ऐतिहासिक उलझनो में फंस जाने को निमंत्रण देना है।

डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने भी अपभ्रंश भाषा के प्रसिद्ध कवि 'सरहपा' को प्रथम हिन्दी-कवि स्वीकार किया है।[3] श्री राहुलजी के विचार से मिलता-जुलता इनका मन्तव्य भी केवल वैक्रम संवत् के आधार पर भिन्न हो जाता है। श्री राहुल ने वैक्रम संवत् ७०० के पश्चात् हिन्दी-कवि की स्थापना की है, और श्री जायसवाल ने वैक्रम संवत् ८१७ के कवि को प्रथम हिन्दी-कवि की मान्यता दी है।[4] श्री जायसवाल के अभिमत पर भी वही आपत्ति उठाई जा सकती है, जो श्री राहुल की स्वीकृति पर प्रकट की जा चुकी है।

पं० चन्द्रधर गुलेरी तथा पं रामचन्द्र शुक्ल ने निम्नवर्ती अपभ्रंश को हिन्दी माना है। गुलेरीजी ने धमकी दी है कि यदि (निम्नवर्ती) अपभ्रंश को हिन्दी नही माना जाता तो ब्रजभाषा, डिंगल, अवधी भी हिन्दी नही हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी-साहित्य के इतिहास' के प्रथम सस्करण में निम्नवर्ती अपभ्रंश-कवियों को हिन्दी-कवियों में गिन लिया था, पर अंतिम संस्करण (सभवतः छठे संस्करण) में इन कवियों को अलग श्रेणी दी है। पर

१. अपभ्रंश-साहित्य : हरिवंश कोछड : पृ० ५५।

२. जैसे—

वामदो तश्श घलम्।	—मृच्छकटिकम् अंक १, शकार।
चंदण-लदा-घरअम्।	—नागानन्द, अंक २, द्वितीया चेटी।
धम्मभादु अस्स घरं होदि।	—मुद्राराक्षस : अंक १, यमपट सहित : चर

३. हिन्दी-वाङ्मय का विकास : सत्यदेव चौधरी : पृ० ६

४. वही, पृ० ६

गुलेरीजी ने कोई ऐसी विभाजक रेखा नहीं दी है जिससे अपभ्रंश-कवियों तथा हिन्दी-कवियों को न्यारा-न्यारा किया जा सके। जिस प्रकार आचार्य शुक्ल ने अपने विचारों में स्वयं संशोधन कर लिया था; संभवतः, यदि आज स्व० गुलेरी होते तो अपने हठ को किसी दूसरे निश्चय में परिणत कर लेते। इस स्थिति में इनकी प्रथम कवि की स्वीकृति स्वयं अपने-आप मे कच्ची पड गई है।

डॉ० सत्यदेव चौधरी ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी-वाङ्मय का विकास' मे बहुत धूमधाम से इस प्रश्न को उठाया है, परन्तु वे किसी निर्णय पर नही पहुँच सके। डॉ० चौधरी ने नरपति नाल्ह को प्रथम हिन्दी-कवि और उनकी रचना 'बीसल-देव रासो' को प्रथम हिन्दी-काव्य[1] माना है एवं बीकानेर के गजराज ओझा बी० ए० का उद्धरण देकर उसका समय १०७३ विक्रमी माना है। यह समय हिन्दी का नहीं, बल्कि परिनिष्ठित अपभ्रंश भाषा का है। वैक्रम संवत् १०६७ में अद्दहमाण अपभ्रंश में रचना कर चुका था। कवि नरपति नाल्ह तक अपभ्रंश की शृंखला टूटने नहीं पाई थी। डॉ० चौधरी ने आगे चलकर फिर लिखा है, "संवत् १२१२ के अनुसार भी जोकि अन्य ग्रन्थों के रचना-काल की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय है, इसे आदि-ग्रन्थ स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति नहीं[2] होनी चाहिए।" पहले डा० चौधरी संवत् १०७३ तथा १२१२ विक्रमी में से एक को चुन लें और उसके बाद अपना निर्णय दें। यदि संवत् १२१२ तक बात सीमित रख ली जाय तो इस काल की अन्य रचनाओं का प्रश्न भी विचाराधीन होना चाहिए। अनुमानतः बारहवी शताब्दी अर्ध-अपभ्रंश भाषा का काल है। पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा डा० रामकुमार वर्मा ने इस मिश्रित भाषा के विषय में अपना जो निर्णय दिया है, उसका प्रतिवाद आज तक किसी ने नहीं किया।[3] बीसलदेव रासो इस भाषा-सन्धि युग की रचना है, जिसे डॉ० चौधरी ने स्वयं मान लिया है।[4] इस विसंगत परिस्थिति में उसके रचयिता को विशुद्ध हिन्दी का प्रथम कवि मानना आपत्तिरहित नही है।

हमारे विचार में हिन्दी का प्रथम कवि जैसा सम्मानित पद बाबा फरीद्-उद्दीन शकरगंज अजोधनी को मिलना चाहिए। हिन्दी का सबसे पहले प्रचलन

---

१. हिन्दी वाङ्मय का विकास : सत्यदेव चौधरी : पृष्ठ ५-१३

२. वही,

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल : छठा सस्करण : पृष्ठ ३१
(ख) हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : रामकुमार वर्मा : पृष्ठ १४६

४. हिन्दी-वाङ्मय का विकास : सत्यदेव चौधरी : पृ० ५६

विदेशियों के घरों में था; ऐसा पहले प्रतिपादित किया जा चुका है। डॉ० अब्दुलहक ने भी लिखा है: **इन बुज़र्गों के घरों में भी हिन्दी बोलचाल का रिवाज़ था। और चूंकि यह उनके मुफ़ीदे मतलब था, इसलिए वे अपनी तालीम व तक़लीन में भी इसी से काम लेते थे।**[1] हिन्दी की उत्पत्ति और व्युत्पत्ति पर पहले पर्याप्त लिखा जा चुका है, उसी के बल पर असंदिग्ध शब्दों मे यह सम्मान शकरगंज के पक्ष में जाता है। रचना का नमूना देखिये.

जली याद की करना हर घड़ी, यक तिल हुज़ूर सों टलना नहीं।
उठ बैठ में दिल सों शाद करना गवाहदार को छोड़ के चलना नईं

—शेख फरीदुद्दीन शकरगंज : १२३०-१३२२ विक्रमी।

इसकी तुलना मे शिवसिंह सेंगर के पुष्प कवि को, राहुल के स्वयंभू कवि का, जायसवाल के सरहपा को आदि हिंदी-कवि न मानकर परिनिष्ठित अपभ्रंश का कवि मानना तर्कसंगत है। चंद बरदायी ग्रथवा डा० चौधरी द्वारा प्रस्तावित नरपति नाल्ह को भी हिंदी का आदिकवि ठहराना कठिन है। इनकी भाषा निम्नवर्ती अपभ्रंश है, जिसपर पं० शुक्ल तथा डॉ० वर्मा ने उभयवर्ती भाषा की मुहर लगा दी है। अतः आधुनिक भारतीय भाषाओं में हिन्दी-कवियों की गणना मे शकरगज को पहल स्थान मिलना चाहिए। डा० रामबाबू सक्सेना के इस कथन से: **"सचाई यह है कि हिंदी खड़ीबोली के जो प्राचीन ग्रन्थ इस समय मिलते हैं, वे विदेशियों की कृतियां हैं, इस बात को स्वीकार करने में कोई लज्जा की बात नहीं हमारी भारतीय बोली 'हिंदी' को नये आये हुए विदेशियों ने साहित्य का माध्यम बनाया"**[2] —हमारे कथन की शत-प्रतिशत पुष्टि हो जाती है। निष्कर्ष यह है कि :

१. अपभ्रंश भाषा स्वतंत्र अस्तित्व रखती है और उसकी अपनी दीर्घ साहित्य-शृखला है; अतः पुष्प, स्वयंभू, सरहपा, अपभ्रंश के सर्वश्रेष्ठ कवि तो है, पर हिंदी के आदि-कवि नही।

२. नरपति नाल्ह भाषायी सन्धि काल का कवि है, उसे अपभ्रंश का अंतिम अथवा हिंदी का आदिकवि बताना भाषायी इतिहास तथा विज्ञान के विपरीत पड़ता है।

३. हिंदी मुसलमानों की भाषा है, और वह पंजाब की उपज है; अतः पंजाब के प्रथम मुस्लिम कवि को हिंदी-जगत् का आदिकवि मानना तर्क तथा काल-

१. दक्खनी हिंदी : रामबाबू सक्सेना पृ० २६ :
२. वही, रामबाबू सक्सेना : पृष्ठ ३२

गणना के अनुसार मानना अधिक-से-अधिक यथार्थ है।

(ख) आगन्तुक कवि—यह एक विचित्र-सी बात है कि पंजाब-प्रदेश के साहित्यिक वातावरण बनाने मे आगन्तुक हिंदी-कवियों का सहयोग भा कम नहीं रहा है। यह शृंखला संवत् १३२३ वि० से आरम्भ होती है और पजाब-विभाजन तक विद्यमान रही है। पंजाब में हिंदी-साहित्य के आदिकाल में दो महाकवियों ने पंजाब को कृतार्थ किया था : एक है अमीर खुसरो, दूसरे है संत कबीर।

१. अमीर खुसरो—इनका जन्म पटियाली, जिला एटा (उ० प्र०) में हुआ था।[1] इनकी जन्मतिथि हिजरी सन् ६५१ (तदनुसार १३१० विक्रमी) बतायी जाती है। नासिरुद्दीन के मरने पर जब बलबन दिल्ली-तख्त पर बैठा तो बलबन-पुत्र मुहम्मद पजाब का प्रान्तपति बना। विक्रम संवत् १३३६-१३३७ में इलमिरखाँ के नेतृत्व मे मुगलों ने पंजाब पर दो बार आक्रमण किया था। पहला आक्रमण मुल्तान पर और दूसरा आक्रमण लाहौर पर हुआ। दोनों आक्रमणों मे खुसरो मुहम्मद के साथ था। वह पहले ही उसका दरबारी शायर बन चुका था। लाहौर पर आक्रमण में बलबन-पुत्र मुहम्मद मारा गया[3] और अमीर खुसरो पकड लिया गया। अमीर खुसरो ने अपने बन्दी जीवन को बडे ही मार्मिक शब्दों मे व्यक्त किया है।[4] बन्दी जीवन से मुक्ति पाकर जब वह लाहौर पहुँचा तो उसने अपने मित्र (बलवन-पुत्र मुहम्मद) के वियोग में ये शब्द कहे :

"गोरी सोभे सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस॥"

कुछ इतिहासकारों ने इस पद्य को शेख-उल्-औलिया हज़रत निजामुद्दीन की मृत्यु पर कहा हुआ बताया है[5] जो कि हमारी सम्मति में चिन्त्य है। गोरी का अर्थ प्रिया है और मित्र भी ; अपने घर से तात्पर्य यहाँ दिल्ली से है, रैन का अर्थ मुगल-आक्रमण है। विक्रम संवत् १३४० में खुसरो दिल्ली पहुँच

१. (क) भारत का इतिहास : ईश्वरीप्रसाद : पृष्ठ २८५
(ख) शेर-ओ-शायरी : अ० प्र० गोयलीय : पृष्ठ १
२. लाहौर के पक्ष में : पंजाब का इतिहास : धर्मवीर एम० ए० : पृष्ठ २३६
मुल्तान के पक्ष में : भारत का इतिहास : ईश्वरीप्रसाद : पृष्ठ २८५
३. पंजाब का इतिहास : धर्मवीर एम० ए० : पृष्ठ २३६
४. देखिये, परिशिष्ट ५
५. हिन्दी-वाङ्मय का इतिहास : सत्यदेव चौधरी : पृष्ठ ७४

गया था और उसकी मृत्यु सवत् १३८१ विक्रमी में हुई।

खुसरो अरबी, पारसी, तुर्की, खडी बोली, तथा ब्रज भाषा का पूरा पण्डित था। इसकी पारसी-हिन्दी में सब मिलाकर ६६ पुस्तकें बतायी जाती हैं, परन्तु अब केवल २२-२३ ही उपलब्ध है। 'क़िस्सा चहार दरवेश', 'खालिक बारी' उसकी अतिप्रसिद्ध रचनाएँ है। यह बात संगीत-जगत् मे प्रसिद्ध है कि कव्वाली का आविष्कर्ता अमीर खुसरो ही था। सितार का आविष्कारक भी अमीर खुसरो को ही बताया जाता है। इनकी ब्रज-पारसी मिश्रित कविता का नमूना देखिये :

" चूंशमां सोजा चूं जर्रा हैराँ हमेशा गिरिया न इश्के आहम
न नींद नैना न अग चैना न आप आवै न भेजे पतियाँ।
बहक्क रोजे विसाले दिलवर कि दाद मारा फरेब खुसरो —
सपीत मन मे दुराय राखूँ जो जान पाऊँ पिया की बतियाँ।"

२. **कबीर**—कबीर को काशी-निवासी बताया जाता है, काशी-जन्मा नहीं। उसकी अपनी रचना मे भी यही झलकता है—

"सकल जन्म सिवपुरी गँवाया"

अतः इनके जन्म-स्थान के बारे मे दृढ़ता पूर्वक कहना खटाई मे पड गया है। इनका सर्व-सम्मत जन्म-सवत् १५५५ विक्रमी बनाया जाता है। कबीर की रचनाएँ तो ६१ के लगभग प्रसिद्ध है, पर अब 'बीजक' नाम से एक ही रचना मिलती है। उसके तीन खण्ड है - सबद, रमैनी, साखी। इनका विषय रहा है—वेदान्त, विश्व की अनित्यता, हृदय की शुद्धि, प्रेम-साधना, माया, सम्प्रदायवाद का विरोध, हिन्दू-मुस्लिम बाह्याचारों का खण्डन। अनुमानतः रामानन्द का शिष्यत्व ग्रहण करने के बाद कबीर ने घुमन्तू धर्माचार्यों का सा रंग-ढंग अपना लिया होगा। इससे पूर्व नाथ, सिद्ध तथा अन्य साधक भी ऐसा ही करते चले आ रहे थे। इन्होंने घूम-फिरकर धर्मोपदेश दिया हो, इसमें भी कोई आश्चर्य नही। कबीर घूमते-घामते मुल्तान भी आये थे, यह निम्न कविता से पुष्ट हो जाता है :

"जब प्यावे था, तब पिया नहीं, तें जोगी अभिमान किया।
जिस पानी का फिरे पिआसा, वह पानी मुल्तान गया॥"

कहते हैं—कबीर-कन्या कमाली का विवाह मुल्तान में हुआ था। मुल्तानी बोली में कमाली-रचित काफियाँ बहुत संख्या में मिलती हैं। वे सही हैं या बाद की बनायी हुई हैं—इसका दायित्व उठाना कठिन है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि

कबीर की रचना में जो पंजाबी शब्द बताये जाते है, वे सब-के-सब मुल्तानी भाषा के हैं। इस आधार पर कबीर का बुमन्तू स्वभाव सिद्ध होता है और प्रसंग-वश पंजाब की यात्रा करना संभव हो सकता है। एक बात और; नानक-आगमन (१५२६ वै० संवत्) से पूर्व कबीर का पंजाब संभ्रमण इस बात से भी समर्थित हो जाता है कि उस समय पंजाब में संत विचार धारा (सिद्ध, बौद्ध, नाथ विचारों का समन्वय) का प्राधान्य था। कबीर कुछ सीखने के लिए और कुछ सिखाने के लिए पंजाब आये हों—यह कोई अचरज की बात नहीं।

(ग) मुस्लिम अत्याचारों पर मौन क्यों ?—सामान्यतया यह प्रश्न किया जाता है कि हिन्दी-साहित्य के आदि-काल में हिन्दुओं पर अवर्णनीय अत्याचार हो रहे थे। संतों, भक्तों, कवियों तथा अन्य लेखकों ने इन अत्याचारों पर इतना नहीं लिखा, जितनी कि आवश्यकता थी। इस प्रश्न के उत्तर में प्रायः दो तर्क उपस्थित किए जाते हैं :

(१) मुसलमान इतिहासकारों ने इन सब अत्याचारों पर अपने दृष्टि-बिन्दु से लिखा है। उनके विचारों में हिन्दुओं को तंग करना औचित्य के अन्तर्गत था। तारीख-ए-दाऊदी के लेखक अब्दुल्ला ने इस पर अच्छा लिखा है।

(२) हिन्दी-साहित्य के आदि-काल में कुछ सूफी कवि हुए है, वे मत थे, ईश्वर तक (?) पहुँचे हुए थे, पर निष्पक्ष नहीं थे। वे इन अत्याचारों पर क्यों लिखते ? बौद्ध और नाथ लेखक मुस्लिम आक्रमणों की विभीषिका से पंजाब ही छोड़ गए थे।

हाँ, आदिकाल तथा मिश्रित काल के सन्धिस्थल में होने वाले गुरु नानक ने अत्याचारों पर यथेष्ट लिखा है। यथा :

"मुँह से मुर्दे का मांस खाकर कलियुग के मनुष्य कुत्तों के समान हो गए है। धर्म का विचार छोड़कर नित्य झूठमूठ भौंकते रहते है। जीते-जी उनका मान नहीं है और मर जाने के बाद उसकी निंदा होगी। जो भाग्य में लिखा होता है, वह अवश्य होकर ही रहता है[1]।"

"कलियुग के राजे कसाई बन गए हैं और हाथ में छुरी लिये फिरते हैं।

१. कलि होई कुते मुही खाजु होआ मुरदारु।
कूड़ बोलि बोलि भउकणा चूका धर्म बीचारु॥
जिन जीवंदिआ पति नही मुइआ मन्दी सोई।
लिखिआ होवे नानका करता करे सु होई॥
आदिग्रन्थ : राग सारंग : महला १ : पृष्ठ १२४२

आज धर्म तो पंख लगाकर उड़ गया है। झूठ रूपी अमावस्या मे सत्यरूपी चन्द्रमा भी छिप गया है। वह कहीं भी उदय हुआ नज़र नहीं आता। मैं देख-देखकर थक गया हूं। दूसरा कोई मार्ग नही है। अहंकार में डूबे सब रो रहे है। जाने इसका निर्वाह कैसे होगा ?[1]"

'जिनके माथे सिन्दूर था, उन स्त्रियों के बाल कैंची से काटकर उन पर धूल डाल दी है, जो गले तक उतर गई है। जो स्त्रियाँ घरों मे विराजमान थी, उन्हे आज कही स्थान की सीमा ही नही रही। (अर्थात् उनके लिए कोई स्थान न था) आज गिरी-दुहारे खाने वाली पलंगों पर विराजमान स्त्रियो के गले मे से मोती-माला टूटकर फदे की रस्सियाँ बँध गई हैं।[2]

"खुरासान का स्वामी बनकर (बाबर) हिंदुस्तान को डराने आया है। ईश्वर ने अपने ऊपर दोष न लेकर मुगलो को यमदूत बनाकर भेजा है। इतनी मार-काट होजाने पर भी प्रजा के करुण क्रन्दन सुनके भी उसे दया नही आई।"[3]

बाबर के आक्रमणकाल मे गुरु नानकदेवजी के अन्तिम वर्ष थे। बाबर के आक्रमणो की चर्चा विगत पृष्ठों में पढ चुके हैं। गुरु नानकदेव संवत् १५९५ विक्रमी मे गुरुलोक को सिधारे थे। उन्होंने न केवल बाबर द्वारा हो रही सैयदपुर की लूटमार[4] देखी थी, अपितु उनके सामने अल्लाउद्दीन (१५०८ ई०) मुगल ने

१ कलि काति राजे कसाई धरमु पंखकरि उडरिआ।
कूड़ अमावस सचु चन्द्रमा दीसे नहि कहं चढिआ॥
हउमै भाली विनी होई ओधेरे राहु न कोई।
विचि हउमै करि दुखु रोई कहु नानक किनी विध गति होई॥
—आदि ग्रन्थ : राग माझ : महला १ : पृष्ठ १४५

२. जिन सिरि सोहनि पटीआ मागी पाई संधूर।
ते सिरि कांनी मुनीअन्हि गल विचि आवै धूडि।
महला अन्दर होदिआ हुणि बहणि न मिलन्ह हदूरि।
गरी छुआरे खोदिआ माणन्हि सेजडिआ।
तिन गलि सिलकां पाईआ तुटन्हि मोतसरिआ॥
—आदि ग्रन्थ : राग आसा : महला १ : पृष्ठ ४१७

३. खुरासान खसमाना किआ हिन्दुसतान डराइआ।
आपै दोसु न देई करता जमकरि मुगलु चढाइआ।
एती मार पई करलाणै तै की दरदु न आइआ।
—आदि ग्रन्थ : राग आसा : महला १ : पृष्ठ ३६०

४. पंजाब का इतिहास : कृपालसिंह नारंग : पृष्ठ ५९

लाहौर को लूटा था। एक इतिहासकार के अनुसार बाबर ने गुरु नानकदेव जी को गिरफ्तार कर लिया था। बाबर के अत्याचारों पर नानकदेव जैसे वीतराग परम पुरुष भी मौन नहीं रह सके। यदि उस समय अन्य हिन्दू-कवि होते तो तुर्कों, अफ़गानों और मुग़लों के अत्याचारों को अवश्य लेख-बद्ध करते। अलबत्ता, इस समय आदि-ग्रन्थ-वर्णित मुस्लिम अत्याचारों का वर्णन ही हमारे प्रस्तुत प्रश्न का ठोस और ज्वलन्त उत्तर है।

(घ) **हिन्दी-साहित्य का अभाव**—इस प्रश्न पर अधिक गंभीरता से चिन्तन-मनन करने की आवश्यकता नही है। कारण, वैक्रम संवत् की पाँच शताब्दियो (१००० वै० सं० से १५०० वै० सं०) तक इतने मुस्लिम अत्याचार हुए कि इन पर मौन रहना ही उत्तम है। मुसलमान संस्कृत-ग्रन्थों को जला दिया करते थे। तात्कालिक समस्या लिखित ग्रन्थों की रक्षा की थी, नये साहित्य के निर्माण का प्रश्न ही नही उठता। अतः इस प्रश्न के उत्तर खोजने की अपेक्षा उपलब्ध साहित्य पर संतोष करना अधिक उचित है।

(ङ) **उपलब्ध हिंदी-साहित्य का वर्गीकरण**—आदि-काल में केवल गिने-चुने व्यक्ति ही काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए; उनकी रचनाएँ भी बहुत थोडी संख्या में है। अतः इनके वर्गीकरण का प्रश्न इतना जटिल नही है। उक्त साहित्य को निम्न वर्गों में देख सकते हैं—

१. **काव्य-रूप**—महाकाव्य : पृथ्वीराज रासो ; खण्डकाव्य : संदेशरासक; मुक्तक : बाबा फरीद के सलोक ; गीतिकाव्यः चौरंगीनाथ, चर्पटनाथ तथा जयदेव के पद।

२. **विषयात्मक वर्ग**—चरितकाव्य : पृथ्वीराजरासो; प्रेमकाव्य : सदेश-रासक; सूफ़ीविचार-प्रतिपादक : फरीद के पद; नाथमत-संतमत : चौरंगीनाथ, चर्पटनाथ तथा जयदेव के पद।

३. **भाषायी रूप**—विशुद्ध अपभ्रंश: संदेशरासक; अर्ध-अपभ्रंश काव्य : पृथ्वीराज-रासो ; लोकभाषा : चौरंगी-चर्पट-फरीद और जयदेव की रचना।

आदि-काल

इस काल का नाम क्या हो—इस पर बडे जटिल प्रश्नों का मायाजाल बुना गया है। श्री राहुल ने इसका नाम 'सिद्ध-सामन्त काल देने का प्रस्ताव किया है, पर उनके नामकरण का आधार किसी ठोस तथ्य का चुनाव नही है; बल्कि एक कटु व्यंग्य है, जिस पर लिखने की आवश्यकता नही है। आचार्य शुक्ल ने इसको लिए 'वीरगाथा-काल' नाम दिया है; पर पंजाब में वीरगाथात्मक

रचना केवल एक है। एक रचना के बल पर नामकरण कोई तुक नहीं रखता। भाषा, विषय तथा काव्य-रूपों मे मतैक्य न होने पर इसका 'आदिकाल' नाम ही यथार्थ प्रतीत होता है। यह नाम डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के दृढ़ सुझाव पर आधृत है।

आदिकाल की कालावधि पाँच सौ वर्ष तक सीमित की गई है। वैक्रम सवत् १००० से १५०० तक। इस सीमा-निर्धारण की मुख्य प्रवृत्तियाँ ये हैं—

इतिहास—इतिहास की घटनाएँ पाँच सौ वर्षों को एक इकाई में घटित करती है। इस इकाई मे राजनीतिक अस्थिरता दृष्टि में आती है। यही अस्थिरता समाज एवं साहित्य की अस्थिरता का कारण है।

भाषा—इस इकाई का दूसरा ठोक तथ्य है भाषायी संक्रमण; इसमे हम अपभ्रंश को अपना पुराना निर्मोक उतारकर दो रूपों मे विभक्त होता देखते हैं। इनमे से एक रूप हिंदी का मूल है।

शैली—गीति-काव्य की शैली आदि-काल में प्रमुख स्थान पर है। रासो भी वार्णिक छन्द होने से गेय ही है।

संस्कृति—मुसलमानों के आगमन के साथ अरब, तुर्क तथा मुगलो की संस्कृति ने भारत मे पदार्पण किया। उसने गृहकला, वेश, भोजन से आगे बढकर साहित्य मे स्थान बनाया। इसका विशद रूप मिश्रित काल मे देखेगे। साहित्य मे 'प्रेमसाधना' विशुद्ध मुस्लिम-संस्कृति है।

इकाई—वैक्रम सवत् का दूसरा सहस्राब्द 'हिन्दी-युग' कहलाता है। हिन्दी-युग का पहला अर्धभाग इतिहास, भाषा, शैली तथा संस्कृति के समूहीकरण से पृथक् इकाई के रूप मे घटित हुआ है। इसमे भाषा, साहित्य तथा संस्कृति-समन्वय की दशा प्रारम्भावस्था की है।

आदिकाल की भाषा का ऐतिहासिक, सांस्कृतिक (व्याकरण) विवेचन कर लेना अनुचित न होगा। यहाँ एक बात लक्ष्य करने योग्य है कि संस्कृत एक

भाषायी चिंतन

सश्लिष्ट भाषा है (शब्द-विभक्ति-संयुक्त) और अपभ्रंश भी वैसी भाषा है। खड़ी बोली (हिन्दी तथा उर्दू) एक विश्लिष्ट भाषा है; उसमें शब्द और विभक्ति अलग-अलग रहते हैं। चूंकि अर्ध-अपभ्रंश भाषा में भी ऐसा देखा गया था, जैसा कि अपभ्रंश मे; अतः उसे अपभ्रंश के निकट रखने में कोई आपत्ति शेष नहीं रह जाती। इसे अर्ध-खड़ीबोली का नाम भी नहीं दिया जा सकता। मध्यवर्ती अपभ्रंश की कड़ी को ऊर्ध्ववर्ती कड़ी से मिलाना उचित होगा। निम्न-

वर्ती कड़ी से नहीं। खड़ी बोली तथा सधुक्कडी पर अगले अध्याय में विचार किया जायगा।

१. **ऊर्ध्ववर्ती अपभ्रंश**—यह भाषा वैक्रम की ५वी, ६ठी, ७वी, ८वी तथा ९वी शताब्दी मे संस्कृत-कारकों मे क्वाचित्-क्वचित् पायी जाती है। जो हमारे विवेच्य काल में नहीं आती।

२. **मध्यवर्ती अपभ्रंश**—दसवी तथा ग्यारवी शती मे इस भाषा का विस्तृत साम्राज्य देखने को मिलता है। पंजावेतर जैन-साहित्य तथा पजाब के अब्दुल-रहमान की रचना इसी भाषा की निधि बतायी जाती है। चूँकि यहीं से अपभ्रंश निम्नवर्ती स्तर का रूप लेता है, अतः हिंदी-साहित्य के इतिहास मे इसका उल्लेख अनिवार्य हो जाता है। रचना का नमूना—

णवगिम्हागमि पहिय णाहु जं पविसयउ।
करवि करंजुलि सुह समूह मह णिवसियउ।
तसु अणिअंचि पलुट्टि विरहहवितवियतणु।
वलिवि पत्तणिय भुयणि विसंठलु विहलमणु॥

—परिनिष्ठित मध्यवर्ती अपभ्रंश : १०६७ विक्रमी।

३. **निम्नवर्ती (अर्ध) अपभ्रंश**—इस समय तक इस भाषा मे चदकवि-कृत 'पृथ्वीराज-रासो' उपलब्ध है। जिन भाषा-विज्ञानी विद्वानो ने परिनिष्ठित अपभ्रंश भाषा के विमोह मे आकर इसे जाली ग्रन्थ माना है, उन्हे बीसल-देव रासो की भाषा के विषय में पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉक्टर रामकुमार वर्मा की सम्मतियाँ पढ़नी चाहिए। यदि कारक, क्रिया तथा सज्ञाओं में अपभ्रंश का नियम पालन करने वाला बीसलदेव रासो सद्यःविकसित हिंदी का ग्रन्थ माना जा सकता है, तो कारक, क्रिया तथा संज्ञाओं मे निम्नवर्ती अपभ्रंश का नियम पालन करने वाले पृथ्वीराज रासो को जाली क्यों माना जाय? अतः पृथ्वीराज रासो को पंजाब की (अपभ्रंश+मुल्तानी=) अर्ध-अपभ्रंश भाषा का प्रमाणित ग्रन्थ मानने में कोई आपत्ति टिक न सकेगी। रचना का नमूना—

जुत्तं जो शिवयान अनगति वरं कापालभूतं वरं।
डोंरु डक्कय नद्दं नारदबलं बेताल बेतालयं।
तूं जीता रन बारुनेव कमलं जं जं अताताइयं।
क्षातं मंत्रय छितितारन तुही पुज्जै न कोई बलं॥

—निम्नवर्ती (अर्ध-) अपभ्रंश : १२५० वैक्रम संवत्

४ **हिन्दी**—अपभ्रंश से उतर कर पारसी का बाना पहन कर बोली 'हिन्दी'

का रूप ले लेती है। शेख़-उल-मुसलमीन फरीदुद्दीन शकरगंज अधोजनी की भाषा हिन्दी का असंदिग्ध प्राथमिक रूप है। यही से हिन्दी का विस्तार एवं प्रदेश-संक्रमण माना जाता है। रचना का नमूना—

तन धोये से जो दिल होता पूक। पेशरु असफ़िया के होते गूक।
रीश सबलत से गर बड़े होते। बोड़बवाँ से न कोई बड़े होते।
ख़ाक लाने से गर खुदा पाएँ। गाय बैलाँ भी बासलाँ हो जाएँ।
गोशगीरी में गर खुदा मिलता। गोशचोयाँ कोई न वासिल था।
इश्क़ का रमूज न्यारा है। जज मदद पीर के न चारा है।

—प्रथम हिन्दी : १३२२ विक्रमी संवत्

४. **सधुक्कड़ी**—सधुक्कडी भाषा सार्वदेशिक साधुओं के परस्पर व्यवहार की भाषा है। जिसका सूत्रपात नाथ और सिद्ध-साहित्य में हुआ था। कबीर, नानक, दादू आदि संतों ने इसी भाषा का प्रयोग किया था। संतमत के शिथिल हो जाने से आज वह केवल कहानी में रह गई है। रचना का नमूना—

साकु अंत होई सखाई
हरि बिनु होर रासि है कूड़ि चलदिआं नाल न जाइ।
हरि मेरा धन मेरे साथ चाले जहाँ हऊँ जाऊँ तहँ जाइ।
सो झूठा है जो झूठे लागै झूठै करम कमाइ।
कह नानक हरिका भाणा होआ कहणा कछु न जाइ॥

—हिन्दी का सधुक्कड़ी रूप : १५६० विक्रमी संवत्

इन चार प्रकारों की उपलब्ध भाषाओं का ऐतिहासिक पर्यालोचन करने के बाद व्याकरण की दृष्टि से परिशीलन करना समुचित प्रतीत होता है। इस समय व्याकरण के दो युग बताये जाते हैं : १. हेमचन्द्र-युग तथा २. कामताप्रसाद-युग।

व्याकरण

हेमचन्द्र सूरि का व्याकरण केवल अपभ्रंश पर चरितार्थ होता है, और गुरु का व्याकरण खडी बोली पर। अतः यहाँ हेमचन्द्र की कतिपय परिभाषाओं का संग्रह किया जा रहा है।

१. अपभ्रंश में ध्वनियाँ तो प्रायः वही है, जो ध्वनियाँ संस्कृत के लिए स्वीकार की गई है। परन्तु यहाँ ऐ और औ का प्रयोग ह्रस्व में भी होता है, दीर्घ भी। छन्द की मात्रा-गणना (गोपाल के स्थान पर गुपाल) में इसका ध्यान रखा जाता है।

२. ङ, ञ और ष के अतिरिक्त व्यंजन-ध्वनियाँ प्रायः सब-की-सब अप-

भ्रंश में ले ली गई हैं। ष का स्थानीय उच्चारण 'ख' के रूप में किया जाता है। जैसे पीयूष को पीयूख और खुरासान को षुरासान।

३. अपभ्रंश में अन्तिम अक्षर 'अकार' प्रायः उकार तथा ह्रस्व उकार बन जाता है—यथा बाह-बाहु, घर-घरु, तृण-तृणु, आदि। यह परम्परा ब्रज-भाषा में नियमित एवं पंजाबी में क्वचित् पायी जाती है।

४. अपभ्रंश में अन्तिम स्वर से पूर्व का व्यंजन लुप्त हो जाता है और उनका सहयोगी स्वर यथावत् विद्यमान रहता है। यथा—अन्धकार-अन्ध-आर, गोरोचन-गोरोअन।

५. शब्दों का मध्यवर्ती व्यंजन प्रायः लुप्त रहता है, परन्तु उसका स्थानीय स्वर बना रहता है। यथा—राजन्-राअ, चतुर्थ-चऊथ।

६. महाप्राण व्यंजनों का प्रयोग 'ह' के वर्ण-विपर्यय के नियमानुसार परिणत हो जाता है। यथा—कथा-कहा, शोभा-सोह। यह परम्परा किसी-न-किसी रूप में ब्रज तथा पंजाबी मे आज भी विद्यमान है।

७. कर्ता कारक में 'अ' के स्थान पर प्रायः 'उकार' का प्रयोग होता है। यथा—दशमुख-दहमुहु, भयंकर-भयंकरु, पुत्र-पुत्तु,। सम्भवतः यह संस्कृत विसर्गों का प्रतीक है।

८. कर्म कारक का 'म्' सुरक्षित है।

९. सर्वनाम के प्रयोग भी संज्ञाओं की तरह कुछ परिवर्तित हो जाते है। यथा—अहं-हऊं, हौ; मया-मइं या मैं; मह्यं-मुझ्भू, यस्मिन्-जहं, तस्मिन्-तहं।

१०. क्रियाओं में भी कुछ ऐसी वर्ण-विपर्यय भावना पायी जाती है। करोति करेइ, करोषि करसि-करेसी, करोमि, करिमि इत्यादि।[1]

अपभ्रंश के नियम ब्रज तथा पंजाबी पर लागू होते है, हिन्दी पर नही। अतः उन्हें जिस सुविधा के साथ भारतीय भाषाओं में गिना जा सकता है, उतना हिन्दी को नहीं। व्याकरण-विभिन्नता उसके पारसीपन का बहुत बड़ा प्रमाण है।

---

१. हिंदी-वाङ्मय का विकास : सत्यदेव चौधरी : पृष्ठ ७६-८४

कवि-परिचय

आदि-काल का बहुमुखी सिंहावलोकन करने के अनन्तर कवि-परिचय देने का अवकाश मिला है। यद्यपि इस युग के कवियों में कोई ऐसा सामान्य सूत्र उपलब्ध नहीं है, जिसे देखकर यह अनुमान दिया जा सके कि "इनमें यह समानता है।" तथापि आदि-काल की विविध प्रवृत्तियों को समक्ष रखकर कवियों का परिचय इस प्रकार देखा जा सकता है। यथा—

१. अद्दहमाण—अद्दहमाण (अब्दुल रहमान) को प्रथम शृंगारी कवि, प्रथम मुसलमान कवि और पंजाब का प्रथम कवि मानकर पण्डितों ने अनेक विचार-विंदु उपस्थित किये हैं। अद्दहमाण को प्रथम शृंगारी मानते हुए प्राध्यापक हरिश्चन्द्र बत्रा का यह कथन उपयुक्त समझा जा रहा है: "**अपभ्रंश भाषा के भंडार में ऐसी कोई रचना नहीं, जिसे विशुद्धतः साहित्यिक कहा जा सके, जिसका सृजन (? सर्जन) मात्र स्वान्तः सुखाय हुआ हो और जो साहित्य की मूल प्रेरणा है। अपभ्रंश साहित्य में प्रधानतः जैनमत से संबंधित विचारों तथा भावनाओं का सन्निवेश है।**"[1] उनके प्रथम महाकवि के पक्ष में प्राध्यापक डॉ० सत्यदेव चौधरी का कथन बड़ा महत्त्वपूर्ण है, "**भारतीय साहित्य में मुसलमानों का कितने चिर से संबंध चला आ रहा है, उनके ग्रन्थ से इस संबंध की ऊर्ध्ववर्ती एक नई कड़ी जुड़ गई है।**"[2] उसके पंजाब के प्रथम कवि होने पक्ष में अब तक अनेक तर्क जुटाये जा रहे हैं। हिंदी में अद्दहमाण की अब तक एक ही रचना उपबब्ध है—'संनेह रासय'। रचना अपने स्रष्टा की कीर्ति को अमर रखने में पर्याप्त है।

'संनेह रासय' कब रचा गया? इस विषय पर अनेक मत प्रकाश में आ चुके हैं। अनेक विचारों के परस्पर-विरोधी स्थिति ग्रहण कर लेने से अन्तिम

१. विश्वज्योति, होशियारपुर: पृष्ठ १०७: मार्च '५७

२. हिन्दी-वाङ्मय का विकास: सत्यदेव चौधरी: पृष्ठ ३९

निश्चय नहीं किया जा सका । इसका मुख्य कारण है, ग्रन्थकार का अपने विषय में गम्भीर मौन । रासय के (सम्भवतः) प्रथम संस्कृत टीकाकार का, स्वयं का टीका-काल १४६५ संवत् घोषित करना भी इस उलझाव का कारण बन गया है । इस उलझाव में जिन पण्डितों ने भाग लिया है, उनके नाम यों हैं—डा० कात्रे, मुनि जिनविजय, अगरचंद नाहटा। डा० कात्रे ने इसका रचनाकाल ११वीं शताब्दी से लेकर १४वीं शताब्दी के मध्य माना है । निश्चय ही अनिश्चित रुख अपनाने से डा० कात्रे का विचार पण्डितों के लिए ग्राह्य न हो सकेगा । मुनि जिनविजय ने १२वीं शती के उत्तरार्ध से लेकर १३वीं शती के पूर्वार्ध तक इस रचना का समय कूता है । यह विचार संकुचित कालावधि होने पर भी श्री कात्रे के विचारों-जैसा ही है । श्री अगरचंद नाहटा ने इस ग्रन्थ का रचना-काल संवत् १४०० के आस-पास माना है[1] । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक अखण्डनीय तर्क उपस्थित किया है, जो इन सभी अनुमानो की अपेक्षा अधिक बुद्धि-संगत एवं निर्णायक माना जा सकता है । उन्होने निर्दिष्ट किया है कि हेमचन्द्र सूरि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हेमचन्द्र-शब्दानुशासन' में 'सनेह रासय' का पद्य उद्धृत किया है । सूरि महोदय का समय ११६५-१२२९ संवत् सभी जैनधर्मा चार्यों एवं अपभ्रंश के पण्डितों को मान्य है । अतः 'सनेह रासय' को १२वी शताब्दी के मध्य की रचना मानने मे कोई आपत्ति शेष नही रह जाती ।

संनेहरासय का रचनाकाल ग्रन्थ में आये कतिपय शब्दो को आधार मानकर निर्णीत किया जा सकता है । यथा—

(क) **खंभात**—लेखक ने ग्रन्थ में चार नगरों का उल्लेख किया है : खंभात, तपनतीर्थ, सामोरू और म्लेच्छदेश । तपनतीर्थ निश्चयपूर्वक मुल्तान है। खभात भूगोल विद्या के अनुसार गुजरात प्रदेश मे आता है । गुजरात तथा मुल्तान का आपस में क्या सम्बन्ध है, इस प्रश्न का उत्तर इतिहास में मिल जाता है। एक अरब यात्री मसऊदी सन् ३०३ हिजरी[2] मे खंभात मे था और उसने वल्लभराय वंशीय राजा की चर्चा की है । वल्लभराय वंश का राज्य बड़ा विस्तृत था और उसमे मुसलमान व्यापारियो का आना-जाना भी था । अतः

---

१. हिन्दी-वाङ्मय का इतिहास : सत्यदेव चौधरी : पृष्ठ ३९-४०; अपभ्रंश साहित्य : पृष्ठ २४८ ; राजस्थानी भारती : ३-१, पृष्ठ ४८ ; हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृष्ठ : ७१

२. (क) तदनुसार : ९१६ ईसवी तथा ९७३ वैक्रम संवत् ।
(ख) अरब अते हिन्द दे संबन्ध : भाषा-विभाग, पटियाला, पृष्ठ २३०-२३१

मुसलमान सन् ३०० हिजरी से ७०० हि० सन् तक यात्रियों के आकर्षण-केन्द्र खंभात को कैसे भूल सकते है ? काव्य में खंभात का उल्लेख ऐतिहासिक अभिसन्धि की एक कड़ी है।

(ख) **म्लेच्छदेश**—अद्दहमाण ने अपने निवास-प्रदेश का नाम म्लेच्छदेश[1] बताया है। टीकाकार तथा अन्य आलोचकों ने म्लेच्छदेश की संगति मुल्तान नगर से लगाई है, जो हमारी नम्र सम्मति में अशुद्ध है। अफ़गानिस्तान-पतन से पूर्व ग़ज़नी में महाराज गज का शासन था। वह अरब-आक्रमणों से भीत होकर सिन्धु-पूर्ववर्ती प्रदेश में आ गया था। आर्य-जन जिस प्रदेश का परित्याग कर देते थे, वह म्लेच्छदेश कहलाता था। मनुस्मृति तथा अमरकोश के प्रमाण हमारे तर्क का समर्थन करते हैं।[2] यह एक इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि गज़नी पर कभी १०५५-१११६ वैक्रम संवत् तक तुर्कों ने शासन किया था और पंजाब पर आक्रमण भी किये थे। यद्यपि मुल्तान प्रदेश अरब-(अब्बासीवंशीय)-साम्राज्य का अंग था[3], तथापि सूर्य-मन्दिर के कारण चातुर्वर्ण्य मुल्तान को सर्वथा नहीं छोड गया होगा। अतः संवत् ९७९ विक्रमी के बाद और संवत् १०५५ विक्रमी के मध्य अफगानिस्तान का पतन सभव है और तभी उसका नाम म्लेच्छदेश चरितार्थ हो सकता है। मुल्तान को म्लेच्छदेश कहने की युक्ति बुद्धिगम्य प्रतीत नही हो रही।

(ग) **तपनतीर्थ**—रचना मे तपनतीर्थ नाम भी आया है। यथा—

"तवणतित्थु चाउद्दिस मिर्याच्छ बाखणियई।
मूलत्थाणु सुपसिद्धउ महियलि जाणियई॥

—संनेहरासय[1]

और तपनतीर्थ तथा मुल्तान का एक कविता मे ग्रहण करना भी निरर्थक नहीं है। उस समय तक मुल्तान का सूर्यमन्दिर अपनी प्रसिद्धि की चरम सीमा

---

१. पच्चाएसि पहूओ पुव्वपसिद्धो य मिच्छदेसो त्थि।

—संनेहरासय १-३

२. (क) प्रत्यन्तो म्लेच्छदेशः स्यात् मध्यदेशस्तु मध्यमः।

—अमरकोशः २। १। ६

(ख) चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानं यस्मिन् देशे न विद्यते।
म्लेच्छदेशः स विज्ञेयः आर्यावर्तः ततः परम्॥

—हिन्दी-विश्वकोश : पृष्ठ ९९

३. (क) मध्य एशिया का इतिहास : राहुल : पृष्ठ ३०६ (चित्र)

पर थी। मुहम्मद इब्न क़ासिम ने इस तीर्थ के समकक्ष जुम्मा मस्जिद बनाई थी और अलप्तगीन तक सूर्य-मन्दिर के अस्तित्व का पता चलता है। कहते हैं, महमूद गज़नवी ने इस सूर्य-मन्दिर को समाप्त कर इसे ही जुम्मा मस्जिद में बदल दिया था और पुरानी (कासिम वाली) मसजिद को बन्द करवा दिया था।[1] महमूद का आक्रमण वैक्रम सवत् १०६२ में तुर्क राज्यपाल के विरोध में हुआ था। अद्दहमाण का समय १०६२ विक्रमी के बाद का किसी भी कीमत पर नहीं माना जा सकता।

(घ) इस कड़ी का चौथा शब्द है—सामोरु। सामोरु संभवतः शाम्बपुर का अपभ्रंश है और शाम्ब कृष्ण का पुत्र (कई ग्रन्थों में पौत्र) प्रसिद्ध है। यह पहले बताया जा चुका है कि कृष्ण का विवाह गान्धार-नृपति नग्नजित् की कन्या से हुआ था। कृष्ण की पत्नियो मे नग्नजिती का नाम आता है। बहुत संभव है कि सामोरु बाद मे समरकन्द (शम्बरस्कन्द) प्रसिद्ध हुआ हो। रचना देखने से पता चलता है कि अब्दुल रहमान का संदेशहर पथिक सामोरु (शम्बर स्कन्ध) से चलकर तपनतीर्थ के मार्ग से खंभात[2] जा रहा है। मुल्तान को तपनतीर्थ मानकर सामोरु को मुल्तान नहीं बताया जा सकता; मुल्तान से चलकर मुल्तान के द्वारा खंभात पहुँचना भूगोल के विपरीत है। अलबत्ता कवि की विरहिणी विजयनगर की है और मुल्तान का खंभात से व्यापार-सबंध इतिहास-सम्मत है। निश्चयपूर्वक विजयनगर मुल्तान-खंभात का कोई मध्यवर्ती नगर है।

अतः ऐतिहासिक प्रक्रिया के अनुसार अद्दहमाण को संवत् १०६७ विक्रमी से लगभग मानना ही उचित प्रतीत होता है।

कवि कहाँ का रहने वाला है? इसका उत्तर भी इन्ही अनुच्छेदों से मिल जाता है। वह अनुमानतः सिन्धु-परवर्ती प्रदेश के रहने वाला है, जिसे म्लेच्छदेश नाम देना भी इतिहास के तथ्य का द्योतक बताया जा चुका है। वह मुल्तान-निवासी नही है। संदेशहर के मार्गवर्ती किसी नगर को कवि का नगर बताना ख़याल उड़ान-मात्र है।[3]

अद्दहमाण ने अपने पिता का नाम मीरसेन (मीरसेनस्स) तथा अपनी जाति 'आरट्ट' बताई है। पण्डितों ने 'आरट्ट' का अर्थ तन्तुवाय मान लिया है, परन्तु इसके हेतु कोई प्रमाण नहीं दिया। वेन्स ने जिन वयन-जीवी जातियों का उल्लेख

---

१. अरब ते हिंद दे संबंध : भाषा-विभाग, पटियाला : पृष्ठ १६७

२. देखिये, परिशिष्ट ६

३. अपभ्रंश-साहित्य : हरिवंश कोछड़ : पृष्ठ २४८

किया है, उनमे कही भी आरट्ट सज्ञा नजर नहीं आती। बेन्स-वर्णित वयन-जीवी जातियाँ ये है[1] : —(रूई) पटलूनी, पटघे, खतरी, ताँती, ततवा, परिके, जण्णपन, कपाली, धोर, पाँका, गॉडा, डोंवा, कोरी, जुलाहा, बराही, कैक्कोलन, साले तोगट, देवांग, नेयिगे, जुमी, कोष्ठी (पशम) गड्डी, गडरिया, धंगर, कुडवर, इड्डयन, भरवाड़, आदि। इनमे से पटलूनी, खतरी और, गड्डी— केवल ये जातियाँ पंजाब में पायी जाती है। पटलूनी को मुल्तानी भाषा मे 'पटोली' कहते है। अत: बिना किसी पुष्ट प्रमाण के आरट्ट का अर्थ वयन-जीवी मान लेना भूल हो सकती है। इसके विपरीत पंजाब की आरट्ट जाति प्रसिद्ध है ही। आरट्ट का उल्लेख पुराण-ग्रन्थो मे भी पाया जाता है। आरट्ट का अर्थ आधुनिक कथ्य में 'अरोड़ा' प्रसिद्ध है। इतने विद्या-निष्णात, शास्त्रज्ञ, कलाविज्ञ, संगीतज्ञ को इतने सस्ते में वयन-जीवी मान लेना उसकी मौलिकता को कल्पना के पंख लगा देने के समान है। अपना अनुमान है कि मीरसेन (? मीर हसन) मुसलमान का पुत्र नही है। संभवत:, ग़जनी-पतन के साथ ज्यों ही शालिवाहन गजपुत्र ने सिन्धु-परवर्ती तट को छोड़ा, त्यों ही वहाँ अनेकों बौद्धों, नाथों शकों ने अथवा खत्रियों और अरोडों ने इस्लाम स्वीकार लिया होगा ; उन नव-मुसलमानों मे मीरसेन का नाम लिया जा सकता है। अपनी पैतृक विद्या-सम्पदा के बल पर अद्दहमाण का सिद्ध-प्रसिद्ध कवि होना मान्य हो सकता है। कवि का अपभ्रंश के प्रति निष्ठावान् होना इस बात से सिद्ध हो जाता है कि उसने अपने पिता का नाम मीरहसन के स्थान पर 'मीरसेनस्स' रहने दिया और अपने नाम 'अब्दुर्रहमान' को अद्दहमान मे अपभ्रष्ट कर डाला। ऐसा लगता है कि उस समय पैशाची-अपभ्रंश ने अरबी-पारसी को भी अपनी लपेट मे ले लिया था। निष्कर्ष है यह कि—

१. अद्दहमाण का समय इतिहास की सगति के बल पर वैक्रम संवत् १०६७ के लगभग मान्य हो सकता है।

२. म्लेच्छदेश के स्मरण से अद्दहमाण संभवत: सिन्धुतट-परवर्ती देश (अपने विचार मे वर्तमान डेरागाजीखाँ) का रहने वाला अनुमित किया जा सकता है।

३. आरट्ट से तात्पर्य नाथमतावलम्बी, बौद्ध अथवा शाक्तधर्मा अरोड़ा हो सकता है, वयनजीवी शूद्र नहीं। कवि अपने लिए 'कौलिक' शब्द का प्रयोग करता है।

४. सामोरू, तपनतीर्थ, खभात—इन शब्दों मे भारत के आर्थिक भूगोल का पता चलता है।

---

१ नाथ-सम्प्रदाय : हजारीप्रसाद द्विवेदी : पृष्ठ २२

'संनेह-रासय' के काव्य-सौन्दर्य तथा भाषा-सौष्ठव पर विचार करने से बहुत कुछ उपलब्ध होता है—मौलिकता, शृंखलाबद्ध कथानक, मसृण भाव एवं विशद चरित्र। 'मेघदूत' संदेश-काव्यों में प्रथम स्थान रखता है, तो संनेहरासय निश्चय-पूर्वक दूसरे स्थान का अधिकारी है ; हाँलाकि मेघदूत का संदेशहर दिव्य (मेघ) है और उसकी कल्पना अर्ध-पार्थिव है, जबकि इसका संदेशहर और कथा दोनों नितान्त पार्थिव हैं। संनेहरासय की कथा इस प्रकार है :—

"मरुस्थली के विजयनगर मे बैठी अपने प्रवासगत पति के विरह से उद्विग्न कोई अपूर्व सुन्दरी वररमणि आँखों से आँसू बहाती विरहाग्नि से दग्ध और क्षीणकाय होकर अपने मन में अपने पति का चिंतन कर रही है। इसी समय कोई पथिक शहर छोड़कर तेजी से आता हुआ समीप से दिखायी देता है। वह उत्कंठित होकर ज्यों ही त्वरा में पग उठाती है, त्यों ही उसकी करधनी कमर के खिसक जाती है। वह जबतक उसे सँभालती है, उतावली में मुक्तावली टूट जाती है। वह कतिपय मोतियों को दबाती, बचाती और कुछ को उपेक्षा-पूर्वक छोड़ती आगे बढती है, कि निर्बल होने से नूपुरों में उलझकर गिर पडती है। लज्जावनत होकर उठती है तो सिर से धवल आँचल खिसक जाता है। आँचल को ठीक करती हुई आगे बढती है तो फटे कंचुकी मे से उरोज बाहर आ जाते हैं। किसी तरह अपने कर-कमलों से कुच-कनक-कलशों को ढाँपती गद्‌गद होकर पथिक से कहती है—"निमेषार्ध सुस्थिर होकर रुको ! मैं जो कह रही हूँ, उसे सुनने की कृपा करो !" पथिक रुक जाता है। हंसगामिनी रमणी धरती को अपने पादागुष्ठ से कुरेदती हुई बोली—"पथिक ! कहाँ से आ रहे हो और इधर कहाँ जाओगे ?" पथिक ने कहा—"मै सामोरु से अपने स्वामी का लेख-वाहक बनकर सुन्दर नगर मुल्तान से होता हुआ खभात जा रहा हूँ।" खंभात का नाम सुनकर दीर्घोच्छ्वास छोड़ती हुई, कदली-दल की तरह काँपती हुई बोली—"स्तंभतीर्थ का नाम सुनते ही मेरा शरीर जर्जर हो गया है। उसी जगह मेरा विरह-प्रदायक पति रहता है। उसके बिना मैंने बहुत दिन व्यतीत कर दिये हैं। वह निर्दय अभी तक नही आया। हे पथिक ! यदि क्षण-भर रुको तो मैं अपने पति के लिए तुच्छ शब्दों में कुछ संदेश कहूँ।" पथिक का आश्वासन पाकर कहती है—"हे प्रियतम, तुम्हारे विरह-प्रहार से चूर्ण-चूर्ण अंग टूट-फूट भी नही सके, उसका कारण आज-कल तुम्हारे मिलन की कल्पना-रूपी औषध है।" उसने पुनः कहा—"हे पथिक ! सम्भवतः विरहानि से दग्ध होकर मैंने कुछ कठोर बातें कह दी है। उन्हे छोड़कर जो नियमानुकूल हो, उसे मेरे प्रियतम से कह

देना।" इसके बाद वह स्वस्तिवाद से प्रियतम के पास संदेशहर को जाने की अनुमति देती है। वह विरहिणी ज्यो ही पथिक को विदा करके घर की ओर द्रुतगति से चलती है, त्योंही दक्षिण की ओर से मार्ग मे कदम बढाताँ उसे प्रियतम नज़र आता है।[1]

संनेह-रासय एक खंड-काव्य है। इसमे तीन प्रक्रम है। पहले प्रक्रम में मंगलाचरण, कवि-परिचय तथा अन्य कवि-प्रौढोक्तियाँ है। कथा का आरम्भ दूसरे 'प्रक्रम' से होता है। इसी बीच षट्ऋतुवर्णन, विरह-निरूपण, अलंकार तथा कई मनोवैज्ञानिक तथ्य इसमें विद्यमान है। तीसरे प्रक्रम के सुखद वातावरण मे कथा की समाप्ति होती है। खंड-काव्य एक विरहोत्तेजक प्रेमकाव्य है। रचना को सूफी मत से प्रभावित सिद्ध करने के अन्तःसाक्ष्य इसमे नही है। इसे इस्लामिक संस्कृति से पुष्ट मानना भी रचना के साथ न्याय नहीं होगा। यह मात्र विशुद्ध प्रेमकाव्य है और स्वान्तःसुखाय है। कवि प्रस्तावना में बड़ी ही नम्रता से कहता है—"बुद्धिमान इस कुकाव्य मे मन नही लगायेगे और अपनी मूखंता के वश मूर्ख इसमे प्रवेश न पा सकेंगे। अतः मध्यम श्रेणी के लोग इसे रुचि से पढें।"

यह उत्कृष्ट रचना मात्रिक छंदो के कारण गेय काव्यों में शीर्षस्थान पाने की अधिकारिणी है। इसमे गाहा, रड्डा, पद्धडिया, डोमिलय, रासा, दोहा, कामिणी, मोहण, वत्थ, मालिणी, अडिल्ला, फुल्लय, मडिल्ला, चूड़िलय, खडहउल, दुवई, नंदणी, भमरावलि, रमणित्त—कुल मिलाकर उन्नीस छन्द है।

रचना की भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश है। डाक्टर हरिवंश कोछड़ ने संनेह-रासय की भाषा पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—**"इस काव्य में प्रयुक्त भाषा का रूप अधिकतर बोलचाल में प्रयुक्त होने वाली अपभ्रंश भाषा का रूप है। भाषा का यह रूप साहित्यिक अपभ्रंश से भिन्न है। अपभ्रंश भाषा का उत्तरकालीन रूप जिस पर प्रान्तीय भाषाओं का प्रभाव भी पड़ने लगा था, इस काव्य में देखा जा सकता है।**[2] मुल्तानी भाषा का कोई पण्डित इससे सहमत हो सकेगा, इसमे संदेह है। इसमे मुल्तानी भाषा का ऊर्ध्ववर्ती रूप विद्यमान है। कुछ शब्द अवश्य विलुप्त हो चुके है, परन्तु इस पर अन्य प्रान्तीय भाषाओं के प्रभाव की बात स्वीकार करने का आधार सामने नहीं है। विषय-विस्तार से बचने के लिए कतिपय शब्दों का उल्लेख अनुचित न होगा।

---

१. भारती : वर्ष ३, खंड २, अंक १ : पृष्ठ ७३८-३९। (परिवर्तन के साथ साभार)

२. अपभ्रंश-साहित्य : हरिवंश कोछड़ : पृष्ठ २५६

संनेह (सनेआ), रहइ (रहन्दी) मोडई (मुड़दी), उत्तावलि (उतावली), छुड़वि (छुडवीं), लक्क (लक्क), मन्नाइ (मनेन्दी), वद्दलिग्ग (वद्दल) घुट्टिवि (घुट्टके), इक्कलिय (कल्ही), थणि (थण) इत्यादि।

रचना की बानगी देखिये—

हम विलवन्ती कहत बिण पाइउ
गेउ निरंत पवतह पाइउ।
पिय अणुराइ रयणिय रमणीइब
गिज्जइ पहिय, मुणिय रमणीइब।
दिक्खिण मग्गु णियंतय भत्तिहि
दिट्ठु अइत्थि रिसिउ मइ भत्तिहि।
मुणियउ पाउसु पुण परिगमियउ
पिउ परएसि रहिउ णहु रमिअ-उ।
गय विद्दरवि बलाहय गयणिहि
मणहर रिक्ख पलोइय रयणिहि।
हुयइ वासु छम्मयलि फणिंदह।
फुरिय जुन्ह निसि निम्मल चंदह ॥ १५७-१६० ॥

२. **चौरँगीनाथ**—चौरगीनाथ का मूलनाम पूरणमल बताया जाता है। किंवदन्ती और इतिहास की संगति मिल जाने पर इनके पिता का नाम 'शालिवाहन' बताया जा सकता है। इतिहास मे पाँच शालिवाहनों का पता चलता है, इनमें से किस शालिवाहन के साथ चौरगीनाथ का सम्बन्ध जोडा जाय, इस पर पर्याप्त छान-बीन की आवश्यकता है। इतिहास-प्रसिद्ध शालिवाहन ये है—

(क) संवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्य शालिवाहन[1] (९० वैक्रम संवत्)

(ख) गुहिलोत-वंशीय शालिवाहन[2] (१०२८ वैक्रम संवत्)

(ग) चंबा का राजा शालिवाहन[3] (१०९३ वैक्रम सवत्)

---

१. युधिष्ठिरो विक्रमशालिवाहनो नराधिनाथो विजयाभिनन्दनः।
इमे तु नागार्जुनभोदिनीविभुः बली क्रमाद् षट् शकृत्कारकाः कलौ।
—विक्रमादित्य : राजबली पाण्डेय : पृष्ठ ८९, पादटिप्पणी

२. चाहमानान्वयोद्भूता श्रीजेजयनृपात्मजः।
राजा जयति शालिवाहनः इति ख्यातः प्रतापः ततः।
—हिन्दू भारत का उत्कर्ष : चिन्तामणि विनाक वैद्य : १३७। १२३

३. पंजाबी साहित्य दा इतिहास : गुरुमुखी : डा० मोहनसिंह : पृष्ठ १२

(घ) स्यालकोट का राजा शालिवाहन[1] (१०८० वैक्रम संवत्)

(ङ) जैसलमेर का राजा शालिवाहन[2] (१२४५ वैक्रमसंवत्)

स्पष्ट है, प्रथम शालिवाहन से पूरनमल को नहीं जोड़ा जासकता। समयावधि इन्हें अलग रखती है। शालिवाहन शाक-द्वीप का शासक था और ब्राह्मण था। इसे विक्रमादित्य नाम से डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने भी स्मरण किया है। शालिवाहन के वंशधर 'सलवान' ब्राह्मण आज भी पंजाब में पाये जाते हैं। गुहिलोत-वंशीय शालिवाहन तथा जैसलमेर का शालिवाहन दोनों पंजाब से संबद्ध नहीं है। शेष रहे, चंबा तथा स्यालकोट के शालिवाहन। डा० मोहनसिंह इन दोनों को अभिन्न मानते हैं और डा० बड़थ्वाल स्यालकोट तथा जैसलमेर के शालिवाहन को अभिन्न मानते हैं। संवत्-वैपरीत्य के कारण डा० बड़थ्वाल का मत टिकता नज़र नहीं आता। डा० मोहनसिंह ने अपने कथन में कोई प्रमाण नहीं जुटाया। अनुमानतः इतर शालिवाहन की स्थापना से समस्या सुलझ सकती है।[3] अस्तु।

पंजाब में राजा रसालू की अनेक गाथाएँ प्रचलित हैं। इतिहास का परिशीलन करने वाले तीन रसालुओं का नाम बताते हैं। (१) एक रसालू वह है, जो वैक्रम संवत् ७५० में विद्यमान था और उसका सम्बन्ध जैसलमेर से जोड़ा जाता है; (२) दूसरा रसालू वह है जो काबुल से सिंधु मुहम्मद इब्न-कासिम से संधि करने गया था; (३) तीसरा, शालिवाहन का पुत्र बताया जाता है। प्रथम रसालू जैसलमेर से सम्बन्धित होने से ब्राह्मण नहीं था; दूसरा रसालू मध्यवर्ती समय की उपज होने से हमारे वर्ण्य कवि से दूर हो जाता है। अतः तीसरा रसालू पूरणभक्त का वैमातृक भाई बताया जाता है।

चौरंगीनाथ को गोरखनाथ का गुरु-भाई मान लेने पर इसका समय निम्नवर्ती मानने को बाध्य होना पड़ता है।

निष्कर्ष यह है कि—

(१) शालिवाहन का पुत्र होने से···

(२) रसालू का वैमात्र भाई होने से, तथा

(३) नाथ होने से।

---

१. (क) वही, पृष्ठ १२। (ख) मकरन्द : डॉ० पीतम्बरदत्त बड़थ्वाल : पृष्ठ १४४

२. मकरन्द : डा पीताम्बरदत्त : पृष्ठ १४३

३. (क) इसके लिए देखिये, परिशिष्ट ७

(ख) टाड का राजस्थान : कर्नल टाड : हिन्दी-संस्करण : पृष्ठ ४६८-४६६

चौरंगीनाथ का समय १२ वीं शताब्दी का अन्तिम समय निर्धारण करने में कोई आपत्ति नही रह जाती। पूरनमल के चौरंगीनाथ हो जाने की कथा बड़ी विचित्र है—

"पूरन भगत उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य के वंशज थे। उनके बाप-दादों ने स्यालकोट के थाने पर अधिकार कर लिया था। इनके पिता का नाम सलवान (सालवाहन-शालिवाहन) था। जन्म के बाद ज्योतिषियो के आदेशानुसार पूरन बारह वर्ष तक एकान्त में रखे गए। इस बीच राजा ने लूणा नामक चमार युवती से शादी कर ली। एकान्तवास के बाद पूरन अपने माँ-बाप से मिले। उन्होंने सहजभाव से विमाता को 'माँ' कहकर पुकारा। इस पर गर्विणी नई रानी का यौवन-भाव आहत हुआ। उसने कई दुष्प्रस्ताव किये। अन्त में पूरन भगत के सरल स्वभाव से उसकी उद्दामता अत्यन्त प्रबल हो ठी। ईर्ष्या से अन्धी होकर इस रानी ने राजा से उल्टी-सीधी लगाकर पूरन के हाथ-पैर कटवा कर और आँखें फुडवाकर कूएँ में डलवा दिया। इस कूएँ से गोरखनाथ ने उनका उद्धार किया। गुरु के आशीर्वाद से उनके हाथ-पैर और आँखें फिर से मिली। जब वे नगर लौटकर गये और उनके पिता को इस छल का पता चला तो राजा ने कठोर दण्ड देना चाहा, पर पूरन ने निषेध किया। पूरन की माँ रो-रोकर अन्धी होगई थी। पूरन की कृपा से उन्हे आँखें मिली और उन्ही के वरदान से पुत्र भी हुआ। पिता ने आग्रह-पूर्वक उन्हे राजसिंहासन देना चाहा, पर पूरन ने अस्वीकार दिया।"

—नाथसम्प्रदाय : पृष्ठ १६१-१६२।

चौरंगीनाथ की रचनाएँ तो बहुत बतायी जाती है, पर उनकी 'प्राणसंगली' प्रसिद्ध रचना बतायी जाती है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने संगली की भाषा पूरबी बतायी है और पूरन को कहीं पूरब का रहने वाला[1]। क्या ब्रजभाषा मे कविता करने से पंजाब के सभी कवि इतरप्रदेशीय हो जायँगे? निस्संदेह, चौरंगीनाथ की भाषा अर्वाचीन है। अन्यथा 'प्रथम कवि' का श्रेष्ठ पद चौरंगीनाथ को मिलता। रचना का नमूना देखिये—

"कहा कौ कथिवा कछु कथना न जाई
सिध संकेत वाणी बिरला हिरदे समाई
पिंडे प्राणी परचो संधान
गुरुमुष आये ले ज प्रमान" ॥२२॥

१. नाथ-सिद्धो की बानियाँ : हजारीप्रसाद द्विवेदी : पृष्ठ २०

"बाहर भीतर फीटला भ्रांति। ते पिंडे प्राणे होय मुक्त।
प्राण संगली सरीर विचारं अनन्तसिधां तिरियौ मूत घोर पारं" ॥२२५॥
"सत्यगुर मछन्द्रनाथ प्रसादे अह्मारा फीटला भ्रांति।
सत्य सत्य भाषंत चौरगीनाथ अनन्त पिंडरा होइ मुक्ति ॥२२६॥

३. **चंदबरदायी**—हिन्दी के प्रथम महाकवि चन्द और उसकी रचना के विषय मे पर्याप्त मतभेद पाया जाता है ; चंद के जन्म-मरण के बारे में पाया जाने वाला मतभेद किसी सीमा तक सहज हो सकता है ; पर यह केवल चंद की बात नही, बल्कि हिन्दी के छोटे-बडे सभी कवियों के साथ यही हो रहा है; यहाँ तो चंद को फूँक मार कर उड़ा देने के प्रयत्न कम नहीं हुए। रासो के अन्तःसाक्ष्य से यह प्रतीत होता है कि चंद और पृथ्वीराज का जन्म एक ही समय में हुआ[1]। रासो के अनुसार दुण्ढा राक्षसी के अवयवों से पृथ्वीराज, संयुक्ता, चंद बरदायी तथा अनेक सामन्तों का जन्म हुआ[2]। इस नियमानुसार चंद का जन्म १११५ विक्रमशाकाब्द मानना समुचित ठहरता है ; परन्तु उक्त ग्रन्थ के एक अन्य अन्तःसाक्ष्य—

"तब बुलाय सोमेसवर लौहानौ अरु चंद।
ले आवहु अजमेर घर पहोते घरह सु इंद ॥"

के बल पर विद्वान् इससे पृथक् मत अभिव्यक्त करते है ; तदनुसार चंद को

१. 'चित्रमय जगत' पूना के किसी अंक में छपा था कि शहाबुद्दीन गौरी पृथ्वीराज का सहजन्मा अथवा भाई था। कहते है कि अणौराज ने एक ऋषि से पुत्र-प्राप्ति के लिए वर माँगा; ऋषि ने चिमटा देते हुए कहा—"इसे आम के वृक्ष पर फेंको, इससे जितने फल गिरेंगे उतने पुत्र होगे।' राजा ने वैसा किया, पर फल एक ही गिरा। राजा ने दूसरी बार चिमटा फेंका; फल गिरने के बजाय चिमटा वृक्ष पर चिपक गया। फल खाने से रानी का पुत्र (पृथ्वीराज चौहान) हुआ। झूठन चुनने से दासी के भी गर्भ होगया। दासी ने जात बालक को गर्त (गौर) में फेंक दिया। मार्ग से गुजरते हुए किसी फकीर ने उसे उठाया, पाला और बेच दिया। वही गुलाम आगे चलकर शहाबुद्दीन नाम से प्रसिद्ध हुआ। अतः शत्रु का जन्म भी इन्ही के साथ मानना ठीक हो सकता है। —लेखक

२. दानव कुल छत्रीय नाम दुण्ढा रासवसवर।
तिहि सु जोत पृथिराज सूर सामान्त अस्ति भर।
जीह जोती कवि चंद, रूप संजोगि भोगि भ्रम।
इक्क दीह ऊपन्न इक्क दीहे समाइ क्रम।
जथ्थ कथ्थ होइ निर्भये जोग-भोग राजन लहिय।
वज्जंग बाहु अरिदल-मलनु तासु कित्ति चन्दह कहिय।

पृथ्वीराज से वयस्क होना चाहिए। अपनी राय कुछ और है। पंजाब के राजाओं में यह परम्परा रही है कि जब राजकुल में किसी बालक का जन्म होता था और उसी समय यदि प्रजा मे किसी के यहाँ बालक जन्म लेता था तो उसकी पालना भी राजपरिवार की ओर से होती थी। इस विषय में इतिहास हमारी सहायता न कर सकेगा; यदि राजपरिवारों की रूढ़ियों की खोज की जाय तो उक्त तथ्य का कहीं-न-कहीं सूत्र अवश्य मिल जायेगा। लोहाना और चंद को अजमेर ही तो बुलाया है। अतः पृथ्वीराज के होने वाले सामन्त, सखा, तथा राजकवि के रूप में शिशु चद का यहाँ उल्लेख आपत्तिशून्य हो सकता है। एक बात और। चंद के पिता का नाम राव (वेन)[1] बताया जाता है, एक दूसरे अन्तःसाक्ष्य से उसका नाम 'मल्ह' [2] भी बताया जा सकता है। 'राव' नाम जातिपरक होने से वेन के पक्ष को अधिक पुष्ट नहीं करता। यदि 'रावचन्द्र' अथवा 'वेनचन्द्र' अथवा 'मल्हचन्द्र' नाम रख लिया जाय, तो उत्तरार्ध नाम से : **तब बुलाय सोमेसवर लोहानौ अरु चंद** : ('चद' से) चन्दबरदायी का पिता माना जा सकता है। इसी प्रकार चद की मृत्यु के विषय मे भी यही विवाद है। रासो में पृथ्वीराज की मृत्यु गजनी मे बतायी गई है। परन्तु मुस्लिम इतिहास-लेखक इस मत से सहमत नही दीख रहे। मुस्लिम लेखकों की बात यों भी कच्ची पड़ जाती है कि वे आपस मे मतैक्य नही रखते। मिजहान के[3] अनुसार वह (पृथ्वीराज) तुरन्त मरवा दिया गया था। हसन निज़ामी[4] ने लिखा है—उसे पकडकर अजमेर ले गए और वही विद्रोह के अपराध में उसका वध कर दिया गया। चौहान के राजकुमार को (जो बाद में अजमेर के तख्त पर बैठा था) विद्रोह के अपराध में दण्ड देने की तुक समझ मे आ सकती है; पर बन्दी राजा के विद्रोह की बात समझ में नही आती। दूसरी बात—गौरी की मृत्यु कहाँ हुई ? क्या पंजाब से लौटते हुए 'दमयक' नामक स्थान पर या ग़ज़नी में ? डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव पहले स्थान को ठीक मानते हैं[4] जबकि राहुल सांकृत्यायन उसकी मृत्यु ग़ज़नी में बतलाते है।[5] इस मतभेद को तोलने पर राहुल-पक्ष युक्त नज़र आता है। कारण, गौरी कराख़ताइयों के ऊपर अभियान की तैयारी कर रहा था, वहाँ वधु के

१. बद्धाई राव सोमेस दीन। इक सहस हेय हय हुकम कीन।

२. चल्यौ रह अप्पन मल्ह सुतनं रच्यो निरकार विलीयन मनम्॥

३ दिल्ली सल्तनत : आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : पृष्ठ ७०

४. वही, पृष्ठ ७८

५. मध्य एशिया का इतिहास : पृष्ठ ४३९

किनारे बदला लेने की भावना से आये किसी हिन्दू के हाथों उसकी मृत्यु बतलायी गई है। क्यों न उस हिन्दू का नाम 'चंदबरदायी' रख लिया जाय? इस स्वीकृति से रासो की तथा इतिहास की चूल पटड़ी पर ठीक बैठ जाती है। डा० श्रीवास्तव का पक्ष मुस्लिम इतिहासकारों के भद्दे पक्षपातपूर्ण मतों पर अवलम्बित है। इस तरह चन्द की मृत्यु भी पृथ्वीराज के मृत्युवर्ष में हो जाती है। तदनुसार चंद का जन्म विक्रमशाकाब्द ११११५ (वैक्रम संवत् १२०६) में तथा मरण विक्रमशाकाब्द ११७२ (वैक्रम संवत् १२६३ में) मान लेने में कोई ऐतिहासिक बाधा आड़े नही आनी चाहिए। इस अन्तःसाक्ष्य को क्षेपक मानने से पूर्व सोचना होगा कि इतिहास के साथ इसकी संगति बैठती है या नही। यथा—

"नृप चहुँआन अरु चंद कवि अर गोरी सुल्तान।
इक्क मुहूरत में मरं इह हम दिय वरदान॥"

चंद बरदायी जगातगोत्रीय ब्रह्मभाट प्रसिद्ध है। पंजाब में आज भी जगातगोत्रीय ब्रह्मभाट पाये जाते है। चद के दस पुत्रों के नाम ये बताये जाते हैं—सूर, सुन्दर, सुजान, जल्ह, वल्ह, बलभद्र, केहर, वीरचंद, अवधूत और गुणराज।

भारत के अति प्रसिद्ध इतिहासकारों ने पुरातत्त्व के मूल आधार—जैसे कि साहित्य, पट्टा, परवाना, दानपत्र आदि—में चंद का नाम न मिलने से उसके अस्तित्व मे शका प्रकट की है। डॉ० वुल्हर ने जयानक कवि-रचित 'पृथ्वीराज विजय' नामक काव्य मे चंदबरदायी का उल्लेख न मिलने से एकाएक फ़तवा दे दिया कि ग्रन्थ जाली है। यह युक्ति अपने-आप में बड़ी जीवित मालूम पड़ती है। कुछ-एक शिलालेखों मे भी चंद का नाम नहीं है। नयनचन्द्र सूरी-कृत (१५वी शताब्दी)'हम्मीर' महाकाव्य मे चौहानवंश का वर्णन तो है, पर चंद का नाम कहीं नही। इसी तरह रभामंजरी नाटक मे भी चंद की चर्चा नहीं है। इन प्रमाणो को देखकर सहसा यह विचार आता है कि सचमुच चंदबरदायी नाम का कोई व्यक्ति था भी या नही; पर ये तर्क किसी व्यक्ति के होने या न होने मे बहुत बड़ी सहायता नहीं करते। जयानक के इस साक्ष्य :

"तनयः चन्द्रराजस्य चन्द्रराज इवाभवत्।
संग्रहः यस्सुवृत्तानां सुवृत्तानामिव व्यधात्॥"

को लेकर बड़े-बड़े अनुमान भिडाये गए है। म० म० ओझा ने जिस 'चन्द्रक' कवि की सूचना दी है, अथवा क्षेमेन्द्र काश्मीरी ने जिसका उल्लेख किया है, क्या उस 'चन्द्रक' कवि ने पृथ्वीराज का वृत्तान्त लिखा है? और वह वृत्तान्त

उपलब्ध है ? दानपत्र, शिलालेख, हम्मीर महाकाव्य, रंभामंजरी आदि में उस 'चन्द्रक' का समरस उल्लेख है ? या उसकी रचना का कहीं उद्धरण है ? यदि नहीं, तो क्यों न इसी श्लोक द्वारा चन्द का अस्तित्व मान लिया जाये ? अष्टाक्षरीय अनुष्टुप् छन्द में 'चंदबरदायी' का संस्कृत-अनुवाद और क्या हो सकता है ? क्या 'चन्द्रराज' चन्दबरदायी नहीं है ? या चन्द्रराज का तनय झलन (चन्द्र) नहीं है ? अतः—

तनयः चन्द्रराजस्य=चन्द्रराज का पुत्र (झलन)।

चन्द्रराज इवाभवत्=चन्द्रराज (पिता) की तरह (विद्वान्) हुआ।

संग्रहः यस्सुवृत्तानाम्=समाचारों का संग्रह किया।

क्या श्लोक के तीसरे चरण का समर्थन रासो के अन्तःसाक्ष्य से नहीं हो जाता ? यथा—

"पुस्तक जल्हन हत्थ दे चलि गज्जन नृपकाज"

अतः चंद को संस्कृत में 'चन्द्रराज' बना देने में छन्द और भाषा के अनुसार झुठलाया नहीं जा सकता। जयानक का साक्ष्य चंद की अस्वीकृति के पक्ष में नहीं, बल्कि ठोस समर्थक तर्क के रूप में लिया जा सकता है। म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने चंद-वंशावली खोज निकाली है और प्रो० रमाकान्त त्रिपाठी ने चंद के वंशधरों से मिलकर उक्त वंशावली[1] का समर्थन कर दिया है। सभी विद्वान् इस बात को जानते हैं कि इतिहास वंशावलियों पर निर्भर करता है। गज़नी वंश, यामिनी वंश, तुगलक वंश तथा मुगल वंश की परम्पराएँ ही तो इतिहास बन गई हैं। आखिर पुराणों की परिभाषा क्या है[2] ? यही कि वंशों का समूह ही पुराण है न ? अतः चंद के अस्तित्व में सन्देह करना लाभ में नहीं है। चंद की आधी रचना ही अब तक मिली है। वही उसकी एकमात्र कृति है, जो हिंदी-जगत् के विचार-विनिमय का कारण बनी हुई है।

रासो के प्रामाणिक और अप्रामाणिक मानने पर पर्याप्त विवाद चल चुका है। रासो को सर्वथा अप्रामाणिक मानने वाले विद्वद्वरिष्ठों के नाम ये हैं—प्रो० बुल्हर, श्रीमुरारीदान, कविराज श्यामलदास, मुंशी देवीप्रसाद, म० म० पं० गौरीशंकर ओझा, पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा डा० रामकुमार वर्मा। मण्डनमूलक विचारधारा के प्रतिपादक हैं—डॉ० श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु, प्रो० रमाकान्त, श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय, म० म० हरप्रसाद शास्त्री, पं०

---

१. देखिये परिशिष्ट ८।

२. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्।

विष्णुलाल मोहनलाल पाण्ड्या और म० म० पं० मथुराप्रसाद दीक्षित। कुछ एक विद्वान् तटस्थ भाव से इस पर विचार कर चुके है वे श्री ग्रियर्सन, जो अमरचन्द नाहटा और श्री नरोत्तमस्वामी आदि।

रासो के वाद-विवाद के मुख्य विचार-बिन्दु ये हैं—रासो, संवत्समस्या, उद्धर्ता, भाषा, घटनाएँ और रासो के विभिन्न रूप। इन पर क्रमशः विचार किया जायगा। यथा :—

रासो—अब तक यह निर्णय नहीं किया जा सका कि 'रासो' शब्द का मूल क्या है ? 'रसायन' शब्द से, 'रासक' शब्द से 'रास' शब्द से, रासो की व्युत्पत्ति बतायी जा रही है। 'रसायन' का अपभ्रंश 'रसाइन' अथवा 'रसाअन' की सुबोध कल्पना तो हो सकती है, रासो की कष्ट-कल्पना के लिए स्थान नहीं है। 'रासक' एक गेय काव्य होता है और 'रास' एक नृत्य अथवा नृत्यकाव्य (कथकली) होता है। 'रास' से 'राह' की संभावना की जा सकती है, रासो की नही। अतः रासक > रासअ > रासओ > रासो की व्युत्पत्ति व्याकरण-सम्मत मानी गई है। पृथ्वीराज-रासो को गेय काव्य कहने में कोई आपत्ति नही दीख पड़ती है। हमारे विचार मे 'रासो' अब व्युत्पत्ति-निरपेक्ष रूढ़ स्तर तक पहुँच गया है, जिसका अर्थ वीरकाव्य का बोध कराता है।

संवत्-समस्या—रासो को जड़-मूलसे उखाडने के लिए 'संवत्समस्या' को खूब उभारा गया है। सच बात यह है कि इसे समझने का आज तक जो यत्न किया गया है, उससे पण्डितों को संतोष नहीं हुआ। पाण्ड्याजी की 'आनन्द संवत्' की स्थापना भी मनोविनोद के लिए अच्छी है। हाँ, 'आनन्द' अर्थात् नव्वे (९०) रहित वाली तुक भी अर्ध-प्रस्फुटित कली की तरह रह गई है ; न तो वह रहस्यपूर्ण रही है, न ही पूर्णतया प्रस्फुटित हुई है। अतः इसे समझने के लिए कतिपय संवत्-बोधक शब्दोंपर ध्यान देने की आवश्यकता है। भारत में अनेक संवतों के रहते हुए भी कुछ सवत् अति लोकप्रिय रहे है :—

नाम	कलि संवत्	ईसा
१. युधिष्ठिर संवत्	३६ कलिपूर्व	३१३७ ई० पू०
२. शूद्र संवत्	२६४५ कलि संवत्	४५७ ,,
३. विक्रमी संवत्	३०४४ ,,	५७ ई० पू०
४. शकशालिवाहन संवत्	३१३८ ,,	३३ ईसवी
५. कनिष्क शब्द	३१७९ ,,	७८ ईसवी

१. स्रोत—(१) विक्रमादित्य : राजबली पाण्डेय ; (२) भारतवर्ष का बृहद इतिहास।

इनमें से कौन सा रासो की इस उक्ति पर—

एकादस सै पंचदह विक्रम - साक - अनंद।
तिहि रिपुजय पुरहरन को हुअ प्रिथिराज नरिंद।
एकादस समवैसुकृत् विक्रम जिमि भ्रमसुत्त।
तृतिय साक पृथिराज कौ लिख्यौ बिप्र गुन गुत्त॥

खरा उतरता है? रासो के अनुसार पृथ्वीराज का जन्म ११११५ विक्रमशाकाब्द घटता है, और इतिहास का समाधान १२२१ वैक्रम संवत् के पक्ष में है। रासो के अनुसार ११३८ विक्रम-शाकाब्द में पृथ्वीराज का गोद जाना, ११५१ विक्रम-शाकाब्द मे कन्नौज जाना, ११६२ विक्रम-शाकाब्द में शहाबुद्दीन ग़ौरी से अन्तिम युद्ध होना बताया गया है। पर ये तिथियाँ निम्न शिलालेखों से प्रमाणित नहीं होती। यथा—

१. पृथ्वीराज के अपने लिखाये चार शिलालेख विक्रमी संवत् १२२४ और १२४४ के बीच में है।

२. जयचंद के १२ शिलालेख भी उपलब्ध है, जो विक्रमी संवत् १२२४ तथा १२४३ के मध्य पड़ते है, जिनमे पृथ्वीराज का उल्लेख है।

३. परमर्दिदेव के छह शिलालेख मिलते हैं, जिनके संवत् १२२३-५८ के बीच मे है, इनमे पृथ्वीराज का उल्लेख है।

४ मुस्लिम इतिहासलेखकों ने गौरी-चौहान के प्रथम युद्ध (भठिण्डा) का समय हिजरी सन् ५८७ दिया है, जो वैक्रम संवत् १२४८ के अनसार ठीक ठहरता है। इस प्रकार इतिहास से पुष्ट बाह्य साक्ष्य से रासो के अन्तःसाक्ष्य सर्वथा भिन्न पड़ते है।

इस भ्रमजाल को समझने के लिए हमे रासो में लिखित संवतों को अन्य संवतों के साथ तुलनात्मक सारिणी बनाकर देखना चाहिए। यथा—

रासो सवत्	विक्रमी	ईसवी	हिजरी
११११५ (+९०=)	१२०५	११४८	५४३
११३३ (+९०=)	१२२३	११६६	५६१
११३८ (+९०=)	१२२८	११७१	५६७
११४१ (+९०=)	१२३१	११७४	५७०
११४४ (+९०=)	१२३४	११७७	५७३

१. एकादस संवतह अट्ठ अग्गह तित्तिस भनि।

११६२[1](+९०=)१२५२ ११९५ ५९१

श्री ओझा ने रासोलिखित सभी संवत् अप्रामाणिक माने हैं और संस्कृत-काव्य के अनुसार पृथ्वीराज का जन्म १२२१ विक्रमी संवत् कूता[2] है। पृथ्वीराज के अपने लिखाये शिलालेख १२२४-४४ के मध्य मिले हैं—जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं। माननीय ओझाजी ने पृथ्वीराज का राजसिंहासन पर बैठना विक्रमी संवत् १२३६ में माना है।[3] यथा—

१. अर्णोराज (वि० संवत् ११९६—१२०७

२. जगदेव	(?)	३. बीसलदेव	६. सोमेश्वर
५. पृथ्वीभट्ट		(१२१०-१२२०)	(वि० १२२६-१२३४)
(वि० सं० १२२४-२६)		४. अमर गंगू	
			७. पृथ्वीराज चौहान (सं० १२३६-१२४५)
			८. गोविन्दराज
			९. हरिराज (सं० १२५१)

इस वंश-वृक्ष के अनुसार अर्णोराज—जगदेव—बीसलदेव—अमरगंगू पृथ्वीभट्ट—सोमेश्वर—पृथ्वीराज—गोविन्दराज—हरिराज क्रमशः अजमेर-नरेश हुए। इस बहिःसाक्ष्य के अध्ययन से निम्न निष्कर्ष निकलता है—

(क) पृथ्वीराज का जन्म १२२१ में हुआ।

(ख) पृथ्वीराज १६ वर्ष की आयु मे अजमेर-नरेश बना।

(ग) २५ वर्ष की आयु मे उसका अंतिम समर और पराजय हुई।

शिलालेख इसका समर्थन करते है। म० म० ओझाजी के तर्क अकाट्य हैं और इतिहास-प्रक्रिया के सर्वथा अनुकूल है। इतना मान लेने पर भी खटक मन से नही मिटती। प्रश्न होता है कि पृथ्वीराज की मृत्यु के समय गोविंदराज की आयु क्या रही होगी? क्या वह भी अपने पिता की तरह अल्पायु में साँभरि-नरेश बना था? जो हो, जब तक पृथ्वीराज के विवाह और पुत्र-जन्म

---

१. एकादस सै सत्त+पंच+पंचास अधिकतर।
सावन सुकुल सुपच्छि तिथि पंचइ गुरवासर॥

२. ओझा-निबन्ध संग्रह : द्वितीय भाग, पृष्ठ ८६

३. वही, पृष्ठ १६

की बात प्रमाणित नहीं हो जाती, तब तक इस पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। हम तो बस एक बात जानते हैं—चौहान-ग़ोरी समर पर रासो और मुस्लिम लेखकों की तुक परस्पर मिल जाती है। रासो का यदि एक अन्तःसाक्ष्य किसी भी बाह्य साक्ष्य से पुष्ट हो जाता है, तो उसे अप्रामाणिक ठहराने में बड़ी कठिनाई सामने आ सकती है। यही कारण है, म० म० ओझा ने इसे अनमने मन से स्वीकार कर लिया है।[1]

अतः इस रासोलिखित संवत् को बड़ी सुगमता से झुठलाया जा रहा है। पं० मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या ने इसके समाधानार्थ एक कूट-युक्ति खोज निकाली है। उनका कहना है, भूल एक-दो पद्यों में होना संभव है, सर्वत्र नहीं; चूँकि रासो में लिखित सभी संवत् 'एकादश' सवत् से आरम्भ होते है, परिणामतः इसे भूल न मानकर इसके लिए किसी नयी मान्यता को खोजना होगा। उन्होंने सभी प्रयुक्त संवतों में ९०-९१ वर्षों का अन्तर बताया है और एतदर्थ युक्तियाँ दी हैं, जिसमें 'अ-नन्द' शब्द पर अधिक बल दिया गया है, जिसका अर्थ है अ=शून्य (०) और नन्द=नौ (९); अर्थात् रासो संवत् में विक्रमी संवत् ९० वर्षका अन्तर पड़ता है।

क्या इस ९० वर्षीय अन्तराल को किसी बाह्य साक्ष्य से पुष्टि मिल रही है? इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में दिया जा सकता है। यथा—

षोडशाभिहिता षष्टिः प्रभावाद्यब्द-संयुता।
दावेरपि समायुक्ताः शाकभूपोहिताः समाः॥
एक-पंचाशदधिके सहस्रे शरदां गते।
शाकस्य सोमभूपाले सति चालुक्य-मंडिते॥[2]

---

१. ओझा-निबन्ध-संग्रह, पृष्ठ ३५

२. (क) भारतवर्ष का बृहद् इतिहास : प्रथम भाग, पृष्ठ १७६
(ख) यह षष्टि-संवत्सर इस प्रकार है—

१ प्रभव (प्र०)	९ युवा	१७ सुभानु	२५ खर
२ विभव	१० धाता	१८ तारण	२६ नन्दन
३ शुक्ल	११ ईश्वर	१९ पार्थिव	२७ विजय
४ प्रमोद	१२ बहुधान्य	२० व्यय	२८ जय
५ प्रजापति	१३ प्रमाथी	२१ सर्वजित् (वि०)	२९ मन्मथ
६ अंगिरा	१४ विक्रम	२२ सर्वधारी	३० दुर्मुख
७ श्रीमुख	१५ वृष	२३ विरोधी	३१ हेमलम्ब
८ भाव	१६ चित्रभानु	२४ विकृत	३२ विलंब

इसके अर्थ को गम्भीरतापूर्वक सोचने की आवश्यकता है। इन साठ संवत्सरों में 'सौम्य' (४३) संवत् लक्ष्य करने योग्य है। जिस समय चालुक्य-नृप-तिलक सोमेश्वर भूपति शासन कर रहे थे तो उनके शासन-वर्षों में 'सौम्य' नामक वर्ष पड़ा था; उसी वर्ष वैक्रम (मालव) संवत् तथा विक्रमशाकाब्द का, अनुसंधान किया गया था; जिसका फलितार्थ निम्नलिखित निकला—

(क) वैक्रम (मालव) संवत् के १०५१+३=१०५४ वे वर्ष में 'सौम्य' नामक संवत्सर था।

(ख) परन्तु विक्रमशाकाब्द के ६०×१६=९६०+३=९६३ वें वर्ष में वही 'सौम्य' नामक संवत्सर था।

क्या इस अनुसंधान में ९०-९१ वर्षों का अन्तराल सिद्ध नहीं होता? यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है रासो-काल से कोई डेढ़ शताब्दी पूर्व ऐसा अनुसन्धान किया गया था, और अनुमान का कहना है कि चन्दबरदायी ने इसी परम्परा को अपनाया है। यहाँ पाण्डयाजी का ९० वर्षीय पक्ष तो दृढमूल हो गया प्रतीत होता है, परन्तु उनका नामकरण 'आनन्द' संवत् बैठता नजर नहीं आता।

संवत्-समस्या में 'विक्रम' शब्द बडा रोचक विवाद का कारण बन गया है। 'विक्रम' नाम से तीन संवत् चल रहे हैं: (१) विक्रमादित्य शूद्रकसंवत्, (२) विक्रमादित्य मालव संवत्, और (३) विक्रमादित्य शालिवाहन संवत्। इसके अतिरिक्त 'विक्रम' नाम का वर्ष भी होता है। पृथ्वीराज का जन्म 'विक्रम' नामक वर्ष मे हुआ था; जो 'धाता' वर्ष से पाँचवें स्थान पर पडता है।

परन्तु तथाकथित दोहे में आये हुए इसी 'विक्रम' शब्द ने बड़ी समस्या

---

३३ विकारी	४१ प्लवंग (रु०)	४९ राक्षस	५७ रुधिरोद्गारी
३४ शबरी	४२ कीलक	५० नल	५८ रक्ताक्ष
३५ प्लव	४३ सौम्य	५१ पिंगल	५९ क्रोधन
३६ शुभकृत्	४४ साधारण	५२ कालयुक्त	६० क्षय
३७ शोभन	४५ विरोधकृत	५३ सिद्धार्थ	
३८ क्रोधी	४६ परिधावी	५४ रौद्र	
३९ विश्वावसु	४७ प्रमादी	५५ दुर्मति	
४० पराभव*	४८ आनंद	५६ दुन्दुभि	(गीताप्रेस पंचांग, स० २०१८)

खड़ी कर दी है। यह समस्या केवल साहित्य-सेवियों के सामने रही हो, सो बात नहीं; अनुमानतः यह समस्या कवि के सामने भी आयी होगी। 'विक्रम' और 'आनन्द' के चक्कर में वह भी फँस गया होगा। तभी तो उसको कहना पड़ा—

एकादस समवै सुकृत विक्रम जिमि ध्रमसुत्त।
तृतिय साक पृथिराज कौ लिख्यौ बिप्र-गुन-गुत्त॥

इसका अर्थ विद्वानों की पकड़ायी में नहीं आया। उन्होंने इसके संभ्रान्त अर्थ लिखे हैं।[1] इससे समस्या के समाधान में रत्ती-भर सहायता नही मिलती। इस दोहे में 'विक्रम' समस्या पर प्रकाश डाला गया है। अनुमानतः कवि ने सोचा होगा—

(क) 'विक्रम-शाकाब्द' को मालव-संवत् न समझ लिया जाय।

(ख) 'विक्रम' नाम से संवत्सर भी समझा जाय और 'विक्रमशाकाब्द' भी।

(ग) 'आनन्द' का अर्थ गलत न लगाया जाय।

यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि साठ संवत्सरों में 'आनन्द' नाम का संवत्सर भी है। इन सभी समस्याओं का समाधान तथाकथित दोहे में है। पहली दो समस्याओं का समाधान पहले तीन चरणों में है और तीसरी समस्या का समाधान चौथे चरण में है—

…लिख्यौ बिप्र-गुन-गुत्त

'विप्र' शब्द द्विज का पर्यायवाची है, जिसका संख्यावाचक अर्थ है—तीन। चौबीस गुण प्रसिद्ध है ही। विप्र+गुण, अर्थात् ३+२४=२७। 'आनन्द' नामक संवत्सर से २७वाँ संवत्सर 'विक्रम' साल ही सर्वथा ग्राह्य है जो दोहे का मुख्य केन्द्र-बिन्दु है। गणनानुसार वैक्रम (मालव) संवत् 'धाता' से आरम्भ होता है और विक्रमशाकाब्द 'पराभव' से आरम्भ होता है। 'धाता' और 'पराभव' से गिनते-गिनते 'विक्रम' नामक सवत्सर पर मालव-संवत् का १२०५ वाँ तथा विक्रमशाकाब्द का १११५ वाँ वर्ष घटित होता है। अतः—

---

१. (क) "उत्तरार्ध सरल है और उसका अर्थ यह है—हे विप्रगण! तीसरे शक में यह पृथ्वीराज का जन्म लिखा है। इस शक का नाम गुप्त है।

—पं० भगवद्दत्त : भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, पृष्ठ १७२

(ख) "विक्रम और युधिष्ठिर संवत् के समान ही तीसरा आनंद संवत् ११००, जो पृथ्वीराज के जन्मादि के विषय में माना गया है, वही विप्रों द्वारा गणित किया हुआ गौण रूप में लिखा गया है।"

—कविराज मोहनसिंह : पृथ्वीराज रासो, प्रथम भाग, पृष्ठ २३

१. विक्रम : साठ संवत्सरों में विक्रम नाम का संवत्सर ग्राह्य है।

२. विक्रम : यह विक्रमशाकाब्द का १११५वाँ साल है।

३. विक्रम : यह वैक्रम (मालव) संवत् का १२०५वाँ साल है।

इस तरह सभी समस्याएँ हल होती नज़र आती हैं।

शेष रह जाती हैं पहली दो समस्याएँ; उनका रहस्य दोहे के पहले तीन चरणों से अनावृत हो जाता है। यहाँ 'कृत्' मालव संवत् का सूचक है।

महाराजा शूद्रक भी विक्रमादित्य कहलाते थे। उनका संवत् भी है। पर चूँकि वह ५ सौ ई० पू० ठहरता है, अत उसका प्रश्न ही पैदा नही होता। वैक्रम (मालव) संवत् को ऐतिहासिक साक्ष्य के विपरीत अर्थ-संगति मे लगाना असम्भव हो गया है। रह जाता है—विक्रमादित्य (शाक) शालिवाहन सवत्, वह इसमें ठीक उतरता है। यथा—

चौहान-शहाबुद्दीन गौरी का प्रथम समर ११५८ विक्रम-शाकाब्द में ९० अंक जोड़ देने से १२४८ वैक्रम (मालव) संवत्, तदनुसार ११९१ ईसवी[1] तथा ५८७ हिजरी युक्तियुक्त ठहरता है और मुस्लिम-इतिहास के विपरीत भी नहीं पड़ता[2]। इसी प्रकार अन्य संवत्-समस्याओं के समाधान का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। प्रश्न उठता है कि शालिवाहन कौन है? प्रसिद्ध संवत्-प्रवर्तक शालिवाहन काबुल और पजाब का शासक था और उसने पंजाब से पल्लवों को पीछे धकेल कर 'विक्रमादित्य' की पदवी धारण की और अपना एक संवत् भी चलाया।[3] यह प्रसिद्ध मालव-(वैक्रम)-संवत् से ९० वर्ष पीछे चला था। मालव-(विक्रम)-संवत् चन्द्रमान से लिया जाता है और शालिवाहन-(विक्रम)-संवत् सौरमान से। अत: सौरमान को 'पंजाबी संवत्' या 'पंजाबी कलैण्डर' से जाना जाता है[4]। इस सम्बन्ध में म० म० ओझा का कथन है कि "राजस्थान में विक्रम-संवत् का प्रचलन रहा है, किसी अन्य का नही। यदि रासो की रचना राजस्थान मे हुई होती, अथवा किसी राजस्थानी कवि ने इसकी रचना कही अन्यत्र की होती, तो इसमें विक्रम-(मालव)-संवत् की अनिवार्यता चरितार्थ होती; पर इसकी रचना दिल्ली मे हुई है तथा ग्रन्थकार पंजाब (लाहौर) का निवासी है।" अत: इसके लिए पंजाब की परम्पराओं को देखना

---

१. दिल्ली सल्तनत : आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, पृष्ठ ६८

२. देखिये परिशिष्ट ६

३. देखिये परिशिष्ट ७

४. गीता-पंचांग, संवत् २०१८, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ ३ तथा १७

होगा।[1] इसके लिए साहित्य और इतिहास—दोनों अनुमान का स्थान बना देते हैं। झंग-निवासी दामोदर गुलाटी ने अकबर के समय में 'हीर' नामक पंजाबी खण्डकाव्य लिखा है और उसमें संवत् दिया है—

पंद्रह सौ अते उनत्री,[2] संवत विक्रमराए।
हीर ते राझाँ होए इकट्ठे, झगड़े रब्ब चुकाए।

हम जानते हैं कि अकबर का राज्यकाल[3] वैक्रम संवत् १६१३-१६६२ तक माना जाता है। कवि ने अकबर को स्मरण भी किया है; यथा—

पातसाही जो अकबर संदी दिनदिन चढ़े सवाए।
आख दमोदर दे असीसाँ शहिरों बाहर आए।

और 'विक्रमराय' का नाम लिया है। विक्रमादित्य (मालव) संवत् के १५२९वें साल में अकबर नहीं था, बल्कि बाबर आक्रमण कर रहा था। निश्चय ही यह तिथि अशुद्ध है। यदि इसमें ९० वर्ष जोड़ दिये जायँ तो १६१९ विक्रम-(मालव)-संवत् ठीक हो जाता है। अतः यहाँ 'विक्रमराय' से विक्रमादित्य शालिवाहन का तात्पर्य ग्राह्य है। यह पंजाब की परम्परा है, जिसका पालन चंद कवि ने किया है। अपने 'विक्रम' शब्द को सुलझाते-सुलझाते चंद स्वयं उलझ गया है। उसे विक्रम-(मालव)-संवत् से विक्रम-(शाक)-संवत् संदोहनार्थ 'अनन्द' शब्द रखना पड़ा; पर, चूंकि 'विक्रम' और 'आनंद' कहीं वर्ष नाम न समझ लिये जायँ, उसे फिर कहना पड़ा—

"लिख्यौ बिप्र गुन गुत्त।"

निष्कर्ष यह कि—

१. 'विक्रम शाक' से तात्पर्य 'विक्रमशाकाब्द' अर्थात् विक्रमादित्य शक-शालिवाहन संवत् है; मालवा का विक्रमी संवत् नहीं।

२. 'अ-नन्द' निश्चयपूर्वक ९० अंक का बोधक है।

३. विक्रम—आनन्द, दोनों वर्षों के भी नाम पड़ते हैं।

४. विक्रमशालिवाहन संवत् सौरमान की अनुवर्ती पंजाबी परम्परा है।

उद्धर्ता—रासो को अप्रामाणिक ठहराने के लिए उसके प्रक्षिप्त पाठों की ओर संकेत किया जा रहा है। इस प्रसंग में इसके उद्धर्ता तीन बताये जाते हैं: झल्ल, चन्द्रसिंह और अमरसिंह।

---

१. हिंदी वाङ्मय का विकास : सत्यदेव चौधरी : पृष्ठ ६५

२. पन्द्रह सौ उनत्तीस (१५२९)

३. तदनुसार १५५६-१६०५ ईसवी, मार्तण्डपंचांगम् : मुकुन्दवल्लभ मिश्र, पृष्ठ ३७

(क) **झल्ल**—झल्ल या जल्हन चंद कवि का पुत्र था। पिता ने पुत्र को अधिकारी तथा आत्मानुरूप जानकर आज्ञा दी कि पुस्तक को पूर्ण कर दो और आप ग़ज़नी चल दिया। भारतीय साहित्य के इतिहास में निर्माण-दायित्व को पिता-पुत्र दोनों ही उठाते रहे हैं; बाणभट्ट के पुत्र ने भी अपने पिता के ग्रन्थ-यज्ञ को चालू रखा था। अतः रासो के कलेवर-विस्तार के लिए उद्धर्ता अथवा कर्ता के स्थान पर झल्हन का नाम पहले रखना उचित है। इसकी पुष्टि अन्तः-साक्ष्य और बहिःसाक्ष्य दोनों से हो जाती है—

अन्तःसाक्ष्य : **प्रथिराज सुजस कवि चंद कृत चंदनंद उद्धरिय इमि।**

बहिसाक्ष्य : **तनयः चन्द्रराजस्य·····संग्रहं यः सुवृत्तानाम्।**

(ख) **गुणचंद**—चंदबरदायी का दूसरा पुत्र जो अपने दस भाइयों में योग्यता के क्रम से दूसरे स्थान पर था, संभवतः इस रचना के कायाकल्प में सहायक रहा है। श्लेषानुप्राणित अनुमान यही कहता है—

लिख्यौ बिप्र गुनगुत्त।

विप्र=ब्रह्मभाट, गुनगुत्त=गुणगुप्त या गुणचद ने पृथ्वीराज के लिए तृतीय साक (शाक) [अर्थात् दो विक्रमशूद्रक साक तथा विक्रममालव साक का परित्याग करके] लिखा है। श्लेष के द्वारा अथवा कूटगुप्ति के द्वारा संवत् की संगति भी इसमें से लग जाती है। गुणचद ने झल्हन की देखादेखी रासो में परिवर्तन, परिवर्धन तथा परिमार्जन कर दिया हो, तो इसमे कुछ भी आश्चर्य न होगा।

चन्द्रसिंह—रासो के लघुरूपान्तर में 'चदनद उद्धरिय इमि' इस पाठ के स्थान पर 'चंद्रसिंह उद्धरिय इमि' यह पाठ है। यह रूपान्तर सोलहवी शताब्दी से मिलना आरम्भ होता है। यह चंद्रसिंह कौन है ?—इसका उत्तर पं० उदयनारायण तिवारी ने इस प्रकार दिया है—"चाँदसिंह अथवा चंद्रसिंह महाराजा मानसिंह के छोटे भाई तथा अकबर के सेनापति सूरजसिंह के पुत्र थे। इस प्रकार चंदसिंह मानसिंह का भतीजा था।" श्री तिवारी की इस खोज से पण्डितजन संतुष्ट हो जायेंगे, मन नही मानता। कारण, रासो का लघु-रूपान्तर सोलहवी शती से मिलना आरम्भ होता है और चंद्रसिंह को (यदि वह मानसिंह का भतीजा है तो) किसी भी अवस्था में सत्रहवी शती से ठेलकर ऊर्ध्ववर्ती शती में ले जाना असम्भव है। क्यों न चदवंशधर हरिचंद (चन्द्र-सिंह) को इसका उद्धर्ता माना जाय ? पैतृक अथवा वंशानुगत कविकर्म में प्रवृत्ति होने से चन्द्रसिंह ने उत्तरदायित्व स्वयं उठा लिया हो। चंद-वंशधरों में 'उद्धारचन्द' नाम भी अनुमेय हो सकता है।

अमरसिंह—रासो के उद्धार करने वालों मे अमरसिंह का नाम भी कहा जा रहा है। ये अमरसिंह द्वितीय बताये जाते है – जिनका राज्यकाल संवत् १७५५ से १८०८ है। बृहत् रूपान्तर की प्रतियाँ १७५० संवत् के बाद की बतायी जाती है। इसे उद्धारक सिद्ध करने के लिए यह दोहा बताया जा रहा है—

छन्द प्रबंध कवित्त यति, साटक गाह दुहत्थ।
लघु-गुरु मंडित खण्डि यह पिंगल 'अमर' भरत्थ॥

इस कविता से इतनी ध्वनि तो अवश्य मिलती है कि कवित्त, साटक (सार्दूल), गाह, दुहत्थ आदि पिंगल अमरसिंह द्वारा (भरत्थ) जोड़े गए है। क्या इसका अवलम्बन लेकर रासो का अनुसन्धान नहीं किया जा सकता ?

घटनाएँ—चंद-लिखित कतिपय घटनाओं पर आपत्ति की जा रही है; यथा—

(क) रासो में चित्तौड़-नरेश समरसिंह से पृथ्वीराज की बहिन पृथा का विवाह होना लिखा है। यह भी लिखा है कि शहाबुद्दीन गौरी से युद्ध करते समय समरसी वीरगति को प्राप्त हुए थे। इसके विपरीत संवत् १३३५-४२ में समरसिंह द्वारा लिखवाये गए शिलालेख से उसका जीवित होना सिद्ध होता है। 'रासो' का अभिमत यदि एक बाह्य साक्ष्य से खण्डित हो रहा है तो दूसरे बाह्य साक्ष्य से मण्डित हो रहा है।[1] साक्ष्य-वैपरीत्य मे तर्क-तराजू से काम लेना भी उचित माना जाता है। क्या (शिलोल्लेखक) समरसी पृथा के पति थे भी ? दूसरे, पृथ्वीराज की पराजय १२५२ विक्रमी संवत् के बाद हुई ; क्या ऐसे व्यक्ति को, जो ८२ वर्षों की दूरी पर खडा है और जीवित है, चौहान-सबधी के रूप में कल्पित किया जा सकता है ? इस विषम परिस्थिति मे सोचना होगा कि समरसी एक है या दो ? अगर दो है तो रासो की घटना पर आँच नही आती ; अगर समरसी अभिन्न है तो ८२ वर्षों का अन्तराल पाटना असाध्य हो जाता है।

(ख) चौहान, परमार, सोलंकी राजाओं की अग्नि-कुल से उत्पत्ति में इतना वजन नहीं है, जितना इसे उछाला जा रहा है। काव्य मे इन्हे कवि-प्रौढोक्ति समझ कर इन चर्चाओं का रस लेना उचित है, विश्लेषण करना नहीं।

१. ततः समरसिंहाख्यः पृथ्वीराजस्य भूपतेः।
पृथ.ख्यायाः भगिन्यस्तु पतिरित्यतिहार्दतः॥
गोरी शहाबुदीनेन गज्जगांशेन संगरम्।
कुर्वातोऽखर्व-गर्वस्य महासामन्त-शोभिनः॥
दिल्लीश्वरस्य चौहाननाथस्य सहाय-कृत॥
स द्वादशसहस्रैः रवैः.....।

—मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या : टाड का राजस्थान, पृष्ठ १२८

(ग) रासो की एक अन्य बात भी इतिहास-विपरीत ठहरायी जा रही है। साँभरि-नरेश अर्णोराज का विवाह जयसिंह की पुत्री से हुआ; इनके पुत्र सोमेश्वर का विवाह चेदिराज की कन्या कर्पूरदेवी से हुआ था। अतः पृथ्वीराज को दिल्ली-पति अनंगपाल का दौहित्र नहीं माना जा सकता। ठीक है; क्या इस रहस्य पर विचार नहीं किया जा सकता कि तोमर-वंशी अनंगपाल ने अपनी कन्या (संभवतः कमलादेवी?) का विवाह सोमेश्वर से कर दिया हो और कमला-पुत्र के अभाव में कमला के सपत्नी-पुत्र 'पृथ्वीराज' को दौहित्र को रूप में अंगीकार किया हो? आखिर साँभरि-नरेश की राजसीमा दिल्ली, हाँसी, भटिण्डा तक कैसे पहुँच गई? ऐसा होना दो अवस्थाओं में कल्पित किया जा सकता है—(१) सोमेश्वर-अनंगपाल युद्ध, अनंगपाल की पराजय और दिल्ली की अजमेर राज्य में अन्तर्भुक्ति; अथवा (२) कर्पूरदेवी के पुत्र को कमला-पुत्र समझकर गोद लेना। देखे, इतिहासकार इसका क्या उत्तर देते हैं!

(घ) रासो में पृथ्वीराज को दिल्लीश्वर लिखा है। मुस्लिम इतिहास-लेखकों ने उसे अजमेर-नरेश लिखा है। अब तक यह बात समझ में नहीं आयी कि भारतीय पण्डितों ने मुस्लिम इतिहासलेखकों पर इतना भरोसा क्यों कर लिया है? संयोगवश मुस्लिम-लेखकों की बात सत्य है; अर्णोराज का पौत्र पृथ्वीराज साँभरि-नरेश नहीं होगा तो अन्य कौन होगा? इतिहास-लेखकों से मेरा प्रश्न है कि चौहान-पतन के बाद गौरी ने अपना प्रतिनिधि (ऐबक) दिल्ली में नियुक्त किया था या अजमेर में? अनुमान है, अजमेर साधारण संघर्ष से गौरी के हस्तगत हो गया था। इसी एक बात से ज्ञात होता है अर्णोराज के पुत्र सोमेश्वर के उत्तराधिकारी पृथ्वीराज को साँभरि-नरेश तथा अनंगपाल के दौहित्र पृथ्वीराज को दिल्ली-नरेश मानने में इतिहास कहाँ अड़चन डालता है।

(ङ) गौरी की मृत्यु गक्खरों के हाथ से हुई है—मुस्लिम लेखकों के इस निर्णय का खण्डन हम पीछे कर आए हैं। ख्वारिज़्म पर आक्रमण करने की तैयारी में व्यस्त शहाबुद्दीन ग़ौरी पर बदला लेने की भावना से आये किसी हिन्दू के घातक हमले की बात विदेशी इतिहासकारों ने मान ली है।[1] जब एक व्यक्ति (अपने विचार में संभवतः चन्द?) बदले की भावना से दिल्ली से चला, तो इतिहास और काव्य की तुक जुड़ती मालूम पड़ती है। गक्खरों की बात सम्मान-रक्षणार्थ कल्पित कर ली गई है।

रासो के विभिन्न रूप—रासो को अप्रामाणिक ठहराने के लिए रासो के

१. मध्यएशिया का इतिहास : राहुल, पृष्ठ ४५०

विभिन्न रूपों की चर्चा भी ज़ोरों से चल पड़ी है। अबतक इसकी पाँच प्रतियाँ मिल चुकी हैं।[1]

जब तक इन पाँच प्रतियों का विश्लेषण न कर लिया जाय, तब तक इस पर निश्चित धारणा बनाना अनुसंधान-विज्ञान के विपरीत पड़ता है।

भाषा—रासो के लेखक चन्द बरदायी ने अपने भाषा-विज्ञान का परिचय स्वयं दे दिया है। यथा—

षट् भाषा पुराणं कुरानं कथितं मया।

चंद छह भाषाओं का पण्डित था और छहों भाषाओं का खुलकर प्रयोग किया गया है। आलोचकों ने इस गुण को दोष मानकर कहना आरम्भ कर दिया है : **"इसकी भाषा इतनी विकृत हो गई है कि किसी एक तथ्य पर टिक सकना असम्भव है।"** वैदिक, संस्कृत, पाली, पैशाची, मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश, प्राचीन राजस्थानी (डिंगल), पंजाबी, ब्रज आदि भाषाओं के अतिरिक्त अरबी, पारसी, तुर्की आदि शब्दों के प्रयोग से रासो की भाषा विकृत बतायी जा रही है। यदि विदेशी शब्दों के प्रयोग से कोई भाषा विकृत मानी जा सकती है तो गोस्वामी तुलसीदास की रामायणी भाषा को विशुद्ध कह सकना कठिन हो जायेगा। फिर वैदिक और संस्कृत शब्दों की बात हमें निरर्थक मालूम पड़ती है। क्या संस्कार (व्याकरण-शुद्धि) हो जाने के बाद भाषा का अथवा शब्दों का आर्ष रूप लोक में देखा गया है? वैदिक और संस्कृत शब्दों का विश्लेषण करके मत स्थापित करना उचित नहीं होगा। राजस्थानी की बात भी बड़े जोरों से उठायी जा रही है। हम समझते हैं, चन्द्र-सिंह (?) तथा अमरसिंह के प्रक्षिप्त पाठों का शातन हो जाने बाद राजस्थानी

---

१. रासो की विभिन्न प्रतियों का परिचय इस प्रकार है—

सं०	कलेवर	अध्याय	छन्द	संवत्	उपलब्धि
१	बृहद्रूप	३९ समयौ	१६३०६	१७५०	बीकानेर पुरतकालय, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
२	मध्य रूप	प्रस्ताव	७०००	१७२३-३९	अगरचंद नाहटा, साहित्य-सदन, अबोहर
३	लघु रूप	१९ खण्ड	३५००	—	अगरचंद नाहटा, अनूप सं० पुस्त-कालय
४	लघुतम रूप	—	१३००	—	अगरचंद नाहटा
५	नवीन रूप	—	—	१४०३	जैनमुनि कान्तिसागर

स्रोत—१. हिन्दी वाङ्मय का विकास : स० दे० चौधरी। २. अपभ्रंश-साहित्य : हरिबंश कोछड़। ३. आलोचनात्मक हिन्दी-साहित्य का इतिहास : रामकुमार वर्मा

मुलम्मा टिक न सकेगा । वास्तविक स्थिति यह है कि पाली, पैशाची, मागधी शौरसेनी आदि भाषाओं के प्राकृत, अपभ्रंश और स्थानीय रूप शब्दों पर इतना निर्भर नही करते है, जितना कि क्रियाओं पर निर्भर करते है । रासो की भाषा का निर्णय शब्दों से नही, बल्कि क्रियाओं से करना होगा । शब्द तो संस्कृत के तद्भव होंगे या तत्सम, वे चाहे पजाबी में चल रहे हैं या ब्रज मे; है तो संस्कृत के ! अलबत्ता स्थानीय शब्दो से भाषा का रूप सुगमता से पहचाना जा सकता है । चन्द ने जिन छः भाषाओं की चर्चा की है, वे इस प्रकार हैं—

१. मूलभाषा : अवहट्ट : मुल्तानी अथवा पंजाबी ।
२. अरबी : शब्द-संग्रह ।
३. पारसी : शब्द-संग्रह ।
४. तुर्की : शब्द-संग्रह ।
५. प्राकृत : शब्द-सग्रह और क्रियाएँ ।
६. अपभ्रंश : शब्द-संग्रह और क्रियाएँ ।

रासो में उपलब्ध क्रियाओं के दो रूप हैं—स्थानीय तथा प्राकृत+अपभ्रंश ; शब्दों के भी दो रूप प्राप्त होते हैं—(१) विभक्ति-संश्लिष्ट (प्राकृत+अपभ्रंश) और (२) विभक्ति-विश्लिष्ट (स्थानीय) । अतः रासो की भाषा को ऊर्ध्ववर्ती (अपभ्रंश की ओर बढती हुई) कड़ी भी कह सकते है और निम्नवर्ती (स्थानीय भाषा की ओर गिरती हुई) कडी भी । इस प्रकार की संधि-स्थलीय भाषा को पं० चन्द्रधर गुलेरी ने 'पुरानी हिन्दी' नाम से अभिहित करने का परामर्श दिया है । अतः सन्धिकालिक भाषा ही रासो की वास्तविक भाषा है । हमारा विश्वास है कि मुल्तानी भाषा का सर्वांग अध्ययन किये बिना रासो की भाषा पर लेखनी उठाना साहस-मात्र है । यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि मुल्तानी भाषा का विकास पंजाबी से भी पूर्व का माना जाता है । कोई समय था, मुल्तानी भाषा का ज्ञान योग्यता का मानदंड माना जाता था। शेख फ़रीद तथा गुरु नानकदेव की वाणी में मुल्तानी भाषा का प्राचुर्य है । पृथ्वीराज-रासो को भाषा-सन्धि का प्रमाणित रूप माना जा सकता है । पं० रामचन्द्र शुक्ल ने तथा डा० रामकुमार वर्मा ने अपनी जो राय 'बीसलदेव-रासो'[1] के बारे में स्थापित की है, ठीक वही राय पृथ्वीराज-रासो पर भी चरितार्थ होती है ।

१. (क) इस ग्रंथ से एक बात का आभास अवश्य मिल जाता है । वह यह कि शिष्ट काव्य-भाषा में ब्रज और खड़ी बोली के प्राचीन रूप का ही राजस्थानी में व्यवहार होता था । साहित्य की सामान्य भाषा हिन्दी ही थी, जो पिंगल भाषा कहलाती थी । 'बीसलदेव रासो' में

छन्द—पृथ्वीराज-रासो में अपभ्रंश-परम्परागत छन्द विद्यमान है। ये प्रायः मात्रिक छन्द हैं। इनमें भी छप्पय को विशेष अधिमान मिला है। यद्यपि इसमें वर्णवृत्तों को भी स्थान दिया गया है, तथापि रासो को गेयकाव्य मान लेने पर उसमें वर्णवृत्तों की सम्भावना कम हो जाती है। अलबत्ता, एक-आध वर्णवृत्त होने से गेय काव्य अखण्डित रह सकता है। रासो में निम्न छन्दों का प्रयोग है :—

साटक, बधुआ, भुजगप्रयात, पद्धरि, गाहा, दूहा, कवित्त, विराज, श्लोक, अरिल्ल, हनुफाल, चौपाई, भुजंगी, बाधा, बिअष्षरी, मलय, मुरिल्ल, रसावला, काव्यजाति, वृद्धनाराच, लघुनाराच, नाराच, दंडमाली, बेलीभुजग, गीतामालती, त्रिभंगी, मोतीदाम, कुडलिया, आर्या, चन्द्रायना, जुतिचाल, सोरठा, चालि करषा, बिज्जुमाल, छन्दफारक, छन्दमोदक, भ्रमरावलि, वार्ता, बेलिमुरिल्ल, मुकुन्दडामर, कठाभूषन, माधुर्य, उधोर, वचनिका, कवित्तविधान, जाति, रोला, दुमिला, निसाँनी, काव्य, लघुत्रोटक, कंठशोभा, दोधक, कमंध, दंडक, मधुराकल, अर्धनाराच, ऊधो, अर्धमालती, मालिनी, रासा, वृद्धभ्रमरावली, बेलिविद्रुम, बस्तबंधरूप, तारक, युवत, पारस, मालती, दुर्गम, चावर, नाराच और लीलावती।[1]

काव्यरूप—पृथ्वीराज-रासो को कौन-सा नाम दिया जाय, इस पर बड़ा मतभेद पाया जाता है। चारणकाव्यों मे इसे असदिग्ध शब्दों मे सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया जा सकता है; कलेवर की दृष्टि से रचना महाकाव्य है और चदबरदायी महाकवि। भाषा की दृष्टि से पृथ्वीराज-रासो अपभ्रंश की अन्तिम कडी है। पर रासो के काव्यरूप-निर्धारण मे यह 'रासो' नाम सब से बड़ा बाधक है। कुछ लोग रासो का सम्बन्ध 'रहस्य' से जोड़ते है; वे अपनी मत-सिद्धि के लिए क्या

बीच-बीच बराबर इस साहित्यिक भाषा (हिन्दी) को मिलाने का प्रयत्न दिखायी पडता है।

—रामचन्द्र शुक्ल

(ख) बीसलदेव-रासो का व्याकरण अपभ्रंश के नियमों का पालन कर रहा है। कारक क्रियाओं के और संज्ञाओं के रूप अपभ्रंश भाषा के ही हैं। अतएव भाषा की दृष्टि से इस रासो को अपभ्रंश-भाषा से सद्यःविकसित हिन्दी का ग्रंथ कहने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

—रामकुमार वर्मा

१. तुलना करें, गुरु गोविन्दसिंह के छन्द तथा केशव के छन्द
—चदबरदायी और उनका काव्य : विपिनविहारी त्रिवेदी, पृष्ठ २१५-२१६

तर्क रखते हैं, इसका समाधान अभी तक प्रकाश में नहीं आया। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'बीसलदेवरासो' में काव्य-अर्थ में आये 'रसायन' शब्द को लक्ष्य कर, लिखा है—"हमारी समझ में इसी 'रसायण' शब्द से होते-होते रासो हो गया है।" और अपना अन्तिम अभिमत यों प्रकट कर दिया है।[1] 'संनेह-रासय' पुस्तक के प्रकाशित होते ही लोगों ने 'रासय' से 'रासो' बना डाला है। इधर डा० हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने काव्यरूपों में गेय काव्यों की चर्चा की है और रासो को स्वतन्त्र गेय-रूपक माना है। रासो गेयरूपक तो निर्भ्रान्त है। 'रासो' की उत्पति भी 'रासक' से मानी जा रही है। यथा :—रासक > रासअ > रासऊ > रासो। अतः हमारी नम्र सम्मति में 'पृथ्वीराज रासो' एक बृहत्काय गेयरूपक है, जिसका अभिनय तो नहीं, पर अभिनयपूर्ण पाठ अवश्य किया जा सकता है। इस बात को समझने के लिए 'आल्हखण्ड' को मन में रख लेना चाहिए।

मूल्यांकन की दृष्टि से 'पृथ्वीराज-रासो' राजस्थान का महाभारत है। हिंदू जाति में जो आदर महाभारत को प्राप्त है, वही स्थान राजस्थान में इसे मिलना चाहिए। प्रक्षिप्त पाठों का हलाहल-पान करके भी रासो आज भी महा-(देव)-काव्य है। इतिहास न सही, राष्ट्र की बहुत बड़ी अनुपेक्षणीय निधि है। पंजाब की उपज होने पर भी हिंदी-जगत् की अमूल्य धरोहर है। अनेक रूप होने पर भी वह 'पृथ्वीराज-रासो' है। अपभ्रंश की रचना होने पर भी वह नित्य नवीन है। वह मनोविज्ञान (चरित्र) का भण्डार है, काव्यकला का व्यापक प्रयोग है। बस, एक शब्द में वह हिन्दी-सत्साहित्य परम्परा का 'अथ' है, 'आदि' है।

रचना का नमूना देखिये—

इक्कु बाण पुहबीसु जुपइं कइंबासह मुक्कउ।
उर भितरि खडहडिउ धीर कक्खंतरि चुक्कउ।
बीअं करि संधीउं भंमइ सुमेसर नंदण।
एहु सुगडि दाहिमओं खणइ खट्टइ सइंभरिवणु।
फुड छंडि न जाइ इह लुब्भिउ वारइ पलकउ खल गुलह।
नं जाणउं चंद बलिट्ठिउ वि न वि छट्टइ इह फलह।

(२)

अगहु म गहि दाहिमओ रिपुराय खयंकरु।
कूड़ मंत्र मम ठवओ एहुँ जं बूयमिलि जग्गरु।

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृष्ठ २८

सहनामा सिक्खवउ जइ सिक्खिविउ बुज्झई ।
जंप्पइ चंद बलिवइ मज्झ परिमक्खर सुज्झई ।
पहु पहुविराय सहंभरि धणी सयंभरि सउणइ संभरिसि ।
कइवास विग्रास बिसट्ठविणु मच्छिबंधि बद्धउ मरिसि ।

(३)

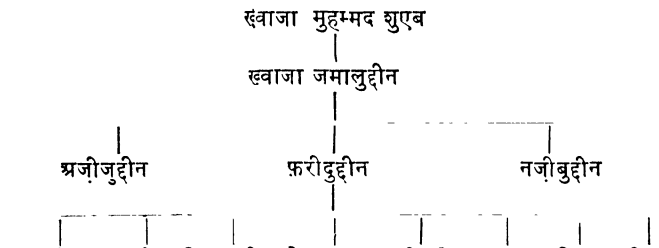
जिम जिम तन जर जरयो वहसि वर धायौ तिम-तिम ।
जिम जिम अंत रुलंत लष्ष दल तिन गनि तिम-तिम ।
जिम जिम करिवर परत उठत जिम सीस सहित वर ।
जिम जिम रुधिर झरंत सघन घन बरखत सद्धर ।
जिम जिम सु षग्ग बज्यो उरह तिम-तिम सुरनर मुनि मन्यौ ।
जिम जिम सु चाव धरनी पर्‌यो तिम तिम संकर सिर धुन्यौ ।

(४)

हिंदुवान थान उत्तम सुदेस तहँ उदित दुग्ग दिल्ली सुदेस ।
संभरि नरेस चहुँआन थान प्रथिराज तंह राजंत भान ।
संभरि नरेस सोमेसपूत देवत्तरूप अवतार धूत ।
जिहि पकरि साह साहेबदीन तिहि बेर करिय पानिप्प हीन ।
सिंगिनि सुसद्द गुनि चढ़ि जँजीर चुक्कइ न सबद बेधंत तीर ।

४. **फ़रीदु-द्-दीन शकरगंज**—इनका पूरा नाम है—"शेख-उल्-इस्लाम, मौलाना, दीवान बाबा फरीद्-उद्-दीन गंज-ए-शकर सुलेमान अजोधनी ।" बाबा का जन्म हिजरी सन् ५४४ (तद्नुसार ११४८ ईसवी तथा १२०६ वैक्रम संवत्) मुल्तान के समीप खेतवाल गाँव में हुआ था । बताया जाता है कि आपके पूर्वज किसी राज-परिवार से सम्बन्धित थे । इनके पिता का नाम जमालु-द्दीन (कमालुद्दीन) सुल्तान था, जो महमूद गज़नवी के भांजे थे । सुल्तान जमाल साहब जब काबुल से चलकर लाहौर आये ; उस समय शहाबुद्दीन गौरी काबुल के सुल्तान थे । जमाल साहिब लाहौर से चलकर मुल्तान आये और वही के रईस मौलाना वजीहुद्दीन की कन्या से विवाह किया । जमालुद्दीन के तीन पुत्र हुए :—(१) अजीज़ुद्दीन महमूद ; (२) फरीदुद्दीन मसऊद ; (३) नजीबुद्दीन मुतववकल । मध्यम पुत्र 'गज-ए-शकर' नाम से विख्यात हुए । सक्षेप मे इन्हे बाबा फ़रीद' भी कहा जाता है । बताया जाता है कि बाबा फरीद के दादा 'ख्वाजा मुहम्मद शुएब शहीद' चगेज़खाँ के आक्रमण-काल मे लाहौर-पलायन के लिए विवश हुए थे । बाबा फरीद हजरत मौलाना मिनहाजु-

द्दीन के शिष्य हुए और बचपन मे कुरानशरीफ़ कंठ कर लिया था। बाबा फ़रीद का सामान्य-सा वंश परिचय इस प्रकार है :



यह भी बताया जा रहा है कि गयासुद्दीन 'बलबन' की पुत्री से बाबा फ़रीद का विवाह वृद्धावस्था में हुआ, जिससे तीन कन्याएँ उत्पन्न हुईं। इनमें से एक कन्या का विवाह सैयद बदरुद्दीन इसहाक से हुआ था। बाबा फ़रीद ने अजोधन में इस्लामी ढंग की तपस्या (जिसे हम हठयोग कहना उत्तम समझते है) की थी, इसलिए वह स्थान 'पाकपत्तन' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। बाबा फ़रीद की खानकाह आज भी वहाँ विद्यमान है, जिसके अन्तिम गद्दीनशी दीवान कुतुबुद्दीन साहब खानकाह से पृथक् कर दिये गए है।

बाबा साहब के बाद उनकी गद्दी के उत्तराधिकार के बारे में मतभेद पाया जाता है। एक पक्ष शकरगंज के द्वितीय पुत्र बदरुद्दीन को अधिकृत मानता है; दूसरा पक्ष शकरगंज के दामाद बदरुद्दीन को उत्तराधिकारी मानता है। नाम की समानता निःसन्देह भ्रम उत्पन्न करती है। सन्तोष की बात यह है कि यह झगड़ा केवल एक पीढी का है। दूसरी पीढी के उत्तराधिकारी 'दीवान अल्लाउद्दीन अजोधनी' को उभय पक्ष मानते है और ये बाबा साहब के पोते थे। उसके बाद उत्तराधिकारियो का क्रम[1] ठीक चलता है। मौलाना बदरुद्दीन इसहाक के दो पुत्र हुए—१. मौलाना, दीवान सैयद मुहम्मद; २. मौलाना दीवान सैयद मूसा। अधिकार-वंचित हो जाने से दोनों इसहाक-पुत्र भाई मुहम्मद और मूसा अनाथावस्था में रहे और औलिया निज़ामुद्दीन ने उन्हें दिल्ली बुला लिया, जिनके वंशधर आज भी बस्ती निज़ामुद्दीन में रहते है।

---

१. देखिये, परिशिष्ट १०

बालक फरीद मस्जिद में बैठकर अपने विद्या-गुरु के पास 'नाफ़ा तिरमिजी' पढ़ रहे थे कि इतने में ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी आ पहुँचे; उन्होंने पूछा, "बच्चे, क्या पढ़ रहे हो ?" बालक फ़रीद ने उत्तर दिया—"श्रीमान्, नाफ़े।" ख्वाजा साहब बड़े खुश हुए और कहा—"बच्चे, जीवन में नफ़ा-ही-नफ़ा रहेगा।" इस आशीर्वाद से प्रभावित होकर बालक फ़रीद ने बख्तियार काकी का शिष्यत्व ग्रहण किया। जब हजरत काकी दिल्ली के लिए चले तो फ़रीद (आयु १८ वर्ष) भी साथ चलने को तैयार हो गए। ख्वाजा साहब की आज्ञा से फरीद मुल्तान से कन्धार गये, वहाँ से बगदाद जाकर हजरत शेख बहाउद्दीन सुहरावर्दी (मृत्यु सन् ६१२ हिजरी) सैफ़ुद्दीन बाखर्जी, बहाउद्दीन ज़करिया (६२३ हि०) फ़रीदुद्दीन अत्तार नेशापुरी, आदि सूफ़ी संतों के पास बैठकर सूफ़ी-साधना की। वहाँ से लौटकर ईराक़, खुरासान, मर वाडल-नहिर तथा मक्के की यात्रा की। वहाँ से लौटकर दिल्ली आये। ख्वाजा हसन काकी हिजरी सन् ६३३ में इहलोक छोड़ गए। बाबा फ़रीद उन्ही का चोला (कंथा) पहन कर धर्मोपदेश देने लगे। ख्वाजा बख्तियार काकी का शिष्यत्व लेने से फ़रीद की गणना अजमेर के चिश्ती-सम्प्रदाय में की जाती है। बाबा फरीद हाँसी से होते हुए अजोधन (पाकपत्तन—पाकिस्तान) मे जाकर रहे। इस प्रकार सूफी धर्म का पालन एव उपदेश करते हुए ६५९ हिजरी में बाबा फ़रीद ने अमर समाधि ली। इनके मृत्यु-वर्ष की निश्चिति मे भी बडा मतभेद पाया जाता है। शाह अब्दुलहक़ देलहवी, मुंशी जैशीराम, डॉ० मोहनसिंह आदि ने बाबा की मृत्यु हिजरी सन् ६६४ में बतायी है। अहमद कासिम ने हिजरी सन् ६६० में बतायी है; 'मीरदुल अक्ताब' के लेखक ने हिजरी सन् ६९० तथा भाई काहनसिंह ने हिजरी सन् ६६५ माना है[1]। हिजरी सन् ६५९ मे या ६६० मे कोई अन्तर नही पड़ता; गिनती में एक-आध साल इधर-उधर हो जाया करता है। हिजरी सन् ६७० अथवा ६९० कई दृष्टियों से आपत्तिपूर्ण हैं। ६६४ अथवा ६६५ के वर्ष भी गणना के कारण इधर-उधर जा पड़े हैं। वस्तुतः हिजरी सन् ६५९ (अथवा ६६०) उनकी मृत्यु का सर्वसम्मत काल है।

साहित्य—बाबा फ़रीद की रचनाओं के विषय में भी उग्र विवाद उठ खड़ा हुआ है। जो रचनाएँ गुरु ग्रन्थसाहिब में संगृहीत है, उन पर किया गया विचार-विमर्श इतना उलझ गया है कि प्रशस्त मार्ग ढूंढने में कठिनाई हो रही है। जो रचनाएँ ग्रन्थसाहब से बाहर छप चुकी है, उनकी विवेचना करना विषय-विस्तार के

१. पंजाबी हीरे : मौलाबख्श, पृष्ठ ६

अतिरिक्त और कुछ नहीं। हम अपने आलोच्य विषय के लिए गुरु ग्रन्थसाहब को अपनी सीमा समझते है। 'सलोक सेख फ़रीद जी' के अन्तर्गत जितनी रचनाएँ उपलब्ध हैं, उनका निर्णय किवदन्तियों के बल पर किया गया है; अक, भाषा, विषय तथा इतिहास को सामने रखकर उनपर विचार नहीं किया गया। अन्य विद्वानों के विचारों पर कुछ लिखने से पूर्व क्या यह अच्छा न होगा कि पहले अपना विचार रख दिया जाय !

हमें विश्वास है, गुरुग्रन्थसाहब में 'शेख फरीद' शीर्षकस्थ रचनाएँ गज-ए-शकर बाबा फरीद की है, फ़रीदसानी की नहीं। किसी मुस्लिम इतिहासकार ने दीवान इब्राहीम सुलेमान का महत्त्व बढ़ाने के लिए यह बात उड़ा दी कि हजरत की भेंट गुरु नानकदेवजी से हुई थी। बस, फिर अनुमान-पर-अनुमान लगाये जाने लगे कि ग्रन्थसाहब की फरीदी रचनाएँ शेख फरीदसानी की है। कही शकरगज का नाम आया भी तो बड़े धीमेपन के साथ। आइये देखे, क्या फरीद-सानी की भेंट गुरु नानकदेवजी से हुई भी है—

नाम	ध्येय	ईसवी सन्	हिजरी सन्	विक्रमी संवत्
नानक	जन्म	१४६९	८७४	१५२६
	मरण	१५३९	९४६	१५९६
फरीदसानी	गद्दीनशीन	१५५३	९६०	१६१०
	मरण	१६१४	१०२३	१६७१

जब आदिनानक गुरुलोक को सिधारे तो गद्दी पर शेख मुहम्मद सुलेमान विराजमान थे, दीवान इब्राहीम नहीं; अतः नानक-इब्राहीम भेंट का प्रश्न ही पैदा नही होता। यदि भेंट संभव भी हो तो उस समय तक वे गद्दीनशीन नही थे। अतः इन दो महानुभावों की भेंट को संभव बनाने के लिए १३ वर्षों का अन्तर पाटना पड़ेगा। उक्त नानक-इब्राहीम भेंट को मान्यता देने वाले कितना औचित्य रखते हैं, इस पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं रह गई। अलबत्ता, इस अनैतिहासिक भेंट को जीवित रखने के लिए जो भ्रान्तियाँ सक्रिय है, उनका निराकरण असामयिक न होगा।

१. "बाबा नानक के समय शकरगंज विद्यमान नही थे। १२६५ ईसवी

१ (क) सलोक फरीद : मुंशी जैशीराम; (ख) राहित उल्कलूब : निज़ामुद्दीन देहलवी; (ग) इसरार-उल-औलिया : हजरत बदरुद्दीन औलिया; (घ) फ्वायद उल् सालकीन : बाबा फरीद; (ङ) सलोक फरीद : खालसा ट्रैक्ट सोसाइटी।

—पंजाबी हीरे : मौलाबख्श, पृष्ठ ६

सन् में उनका देहान्त हो चुका था और बाबा नानक सन् १४६९ ई० में प्रकट हुए थे।"[1] प्रश्न उठता है, क्या ग्रन्थसाहब में रचना-संग्रह के लिए कवियों का सामयिक होना आवश्यक है ? पहले तो गुरु ग्रन्थसाहब के संकलन-काल में (१६०४ ई०) स्वयं आदिनानक विद्यमान नहीं थे; अन्य कवि तथा संत-जन भी आदिनानकजी के समसामयिक नही थे, जैसे कि जयदेव ; यद्यपि कतिपय संत या कवि पंचम नानक गुरु अर्जुनदेवजी के समय मे थे, पर कुछ नही भी थे, जैसे कि कबीर ; अतः फ़रीद या फ़रीदसानी—इनमे से चुनाव करने के लिए उसके किसी गुरु का समकालिक होने की शर्त कितनी बेतुकी है—विज्ञ जन स्वयं समझ सकते है।

२. अन्य तर्क उपस्थित करते हुए उसी विद्वान् ने पुनः लिखा है—"बाबा जी की गोष्ठी शेख ब्रह्म (इब्राहीम) से हुई थी, अतः जो सलोक है, शेख ब्रह्म जी के ही है; और वही श्री गुरुग्रन्थसाहिब में लिखित है।"[2] यह बात भी पहले तर्क का रूपान्तरमात्र है। चूंकि शकरगज की भेट आदिनानक से नही हुई, अतः वे रचनाएँ उसकी नही है; फरीदसानी की भेट गुरु नानकदेव से हुई थी, अतः उसकी रचनाओ को ग्रन्थसाहब मे स्थान प्राप्त है; इन दोनो बातों मे क्या अन्तर है ? एक तर्क निषेधात्मक है, दूसरा तर्क विध्यात्मक है। श्री गुरुग्रन्थ-साहब पर इस विधि-निषेध का कोई प्रभाव नही। काहनभगत तथा छज्जूभगत श्री पचम नानक के समय विद्यमान थे, पर उनकी रचनाओ को पवित्र स्थान देने के लिए नही चुना गया; जयदेव कवि का सत-समाज में कोई स्थान नही, वह न आदि नानक के समय मे थे, न पंचम नानक के समय मे; उसे वह सम्मान प्राप्त है। अतः इन निम्नस्तरीय तर्कों पर किया गया कोई भी निर्णय इतिहास में अधिक देर तक जीवित रह न सकेगा।

३. अज्ञातनामा लेखको पर टिप्पणी करते हुए उसी विद्वान् ने फिर लिखा है : "ग्रन्थकर्ता की यह राय नही। बाबा शकरगज फरीद तथा फरीदसानी—दोनों के मिले-जुले श्लोक है। बाबा नानकजी शेख इब्राहीम फ़रीदसानी को मिले थे।"[3] लेखक का कथन उन बाज़ारू ज्योतिषियों के अनिश्चित फलादेश के समान है, जो अनायास कह दिया जाता है, अतः अमान्य है।

४. 'हसचोग' के लेखक ने भाषा का प्रश्न भी उठाया है; लेखक ने अन्त

---

१. हंसचोग (गुरुमुखी) : बुधसिंह : पृष्ठ १२४

२. वही, पृष्ठ १२४

३. वही, पृष्ठ १२४ की पाद-टिप्पणी

में भाषायी प्रश्न का बड़ा ज़ोरदार समाधान भी कर दिया है। फिर भी उक्त समाधान के पीछे जिस दृढ़ विश्वास की अपेक्षा की जाती है, वह नही है।

५. प्रो० सुरेन्द्रसिंह नरूला ने अपनी 'पंजाबी साहित्य दा इतिहास' नामक रचना मे श्रीग्रथसाहब में संगृहीत फ़रीद-नामांकित सलोकों को फ़रीदसानी की कृति बताया है। उन्होने जो तर्क दिये है, क्या उनमे अभीष्ट क्षमता है भी? हमारे विचारों मे नही। (क) श्री नरूलाने फ़रीदसानी को शकरगंजी गद्दी का ग्यारहवाँ धर्मगुरु माना है[1], जबकि वह तेरहवे गुरु थे। श्री नरूला ने यह भी लिखा है कि फरीदसानी गद्दी पर ४० वर्ष रहे; पर उनकी वंशावली देखने से पता चलता है कि वह ६१ वर्ष गद्दी पर रहे।[2] दीवान अताउल्ला सुलेमान ग्यारहवे धर्मगुरु निश्चित है।[3] (ख) श्री नरूला ने फ़रीदसानी का समय १४५० ई० से १५७५ ईसवी तक माना है; जबकि उनका समय १५५२ (१६१० वि०) वंश-क्रमानुसार बताया जाता है। इन्होंने भी फ़रीदसानी तथा श्रीगुरु नानकदेवजी की दो बार हुई भेंट की चर्चा की है। फरीदसानी के १३ वर्ष पूर्व आदिनानक के गुरुलोक पधारने की बात पहले कह आए हैं। श्री नरूला के विचारों का आधार है—'गुलज़ारे फरीदी'। इस ग्रन्थ में दो बातें लिखी हैं :

१—गुरु नानकदेवजी ने फ़रीदजी की आज्ञा से सलोक ग्रंथसाहब में संग्रह किये।

२—गुरु नानकदेवजी दो बार फ़रीदसानी से मिले थे।

पहली बात चूँकि सिख-इतिहास एवं सिख-धारणाओं के विपरीत पडती है, अतः सब ओर से उसका खण्डन हो रहा है। दूसरी बात का समर्थन जन्मसाखी से हो जाता है, अतः उसे विश्वसनीय समझा जा रहा है। जबकि यह बात भी सही नही उतरती। अलबत्ता श्री गुरुग्रंथसाहिब के सकलना-काल (१६०४ ई०) में दीवान शेख इब्राहीम सुलेमान विद्यमान थे।

६. डा० मोहनसिंह ने इस प्रसंग में अधिक अन्वेषण किया है—ऐसा अनुमान होता है। डा० साहब ने जयपुर तथा जोधपुर की प्रतियों से तुलना करके ग्रंथसाहब मे संकलित रचना को बाबा फरीद (गंज-ए-शकर) की कृति प्रमाणित किया है। परन्तु फ़रीदसानी के विषय में उनकी धारणा भी ठीक नही है।

---

१. पंजाबी साहित्य दा इतिहास : सुरेन्द्रसिंह नरूला, पृष्ठ ९८

२. देखिये परिशिष्ट १०

३. पंजाबी अदब की मुख्तसर तारीख़ : डा० मोहनसिंह एम० ए०, पृष्ठ ३१

उन्होंने अपने ग्रंथ में लिखा है :

१—फ़रीदसानी शाहजहाँ के समय में हुए, जिनके सन् हैं—१६२७-१६५८।

२—गुरु नानकदेवजी के समय शेख इब्राहीम थे, जिन्होंने शेरशाह सूरी (१५४०-१५४२) के जरनैल हैबतखाँ से मुलतान के सरदार फतहखाँ को क्षमा दिलाई थी।

डा० साहब ने शेख इब्राहीम को (हिजरी सन् ९५९-१०२२) फ़रीदसानी नहीं माना, बल्कि, दीवान इब्राहीम असगर को (हिजरी सन् १०३९-१०८३) फ़रीदसानी माना है। जहाँ तक दीवान इब्राहीम असगर की शाहजहाँ के समकालिक होने का प्रश्न है, वे समसामयिक हैं—यह पक्की बात है; पर क्या दीवान असगर को फ़रीदसानी भी कहा जाता है? विश्वास है, इस तथ्यसिद्धि के लिए कोई ठोस आधार डाक्टर साहब ने चुन रखा होगा। अगर फ़रीदसानी के चुनाव की बात होती, तो उसे किसी सीमा तक सहन किया जा सकता था; पर शेरशाह सूरी (१५४५ ई० में मृत्यु निश्चित) के समय के साथ इब्राहीम असगर को तो क्या, शेख इब्राहीम के समय के साथ भी उसे नहीं मिलाया जा सकता। सूरी की मृत्यु के उपरान्त ७ वर्ष बीत जाने पर शेख इब्राहीम गद्दीनशीन हुए थे। इन सब पेचीदगियों के उत्तर भी डाक्टर साहब ने सोच रखे होंगे।

७. 'खोलासा तुत्तवारीख' को आधार मानकर मन्तव्य स्थिर करने वाले श्री मैकालिफ़ को पथ-प्रदर्शक मानकर चलने वाले पं० परशुराम ने भी अनेक भ्रान्तियाँ फैलायी है। इनके अभिमत को छानबीन करके देखने की आवश्यकता है।

(क) प्रसिद्ध इतिहास-लेखक फ़रिश्ता के अनुसार तैमूरलंग के आक्रमण के समय (१३१८ ई०) सादुद्दीन (फ़रीद शकरगंज का पोता) अपने साथियों के साथ बीकानेर भाग गया था। वहीं उसने आक्रमणकारियों से सन्धि की।[1] मुग़लों ने पजाब पर बड़े-बड़े २३ आक्रमण किये थे। पाँचवाँ आक्रमण इतमिरखाँ (१२८०) के नेतृत्व में लाहौर पर हुआ था; पन्द्रहवाँ आक्रमण (१३९९ ई०) तैमूरलंग के नेतृत्व में दिल्ली पर हुआ था। इतमिरखाँ (तैमूरखाँ) का लाहौर-समर वही प्रसिद्ध घटना है, जिसके साथ बलवन-पुत्र मुहम्मद की मृत्यु

---

१. उत्तरी भारत की संत-परम्परा : पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ ३७२-७७

तथा खुसरो का बन्दी होना सम्बद्ध है। भाटनेर की लूट तैमूरलंग के (१३९९ ई०) हाथों हुई थी। पं० परशुराम इन दो तैमूरों मे से किसको चुनते है ? इधर सादुद्दीन (तथाकथित फरीद का पोता) कभी पाकपत्तन की गद्दी पर नहीं बैठा। तैमूरखाँ (१२८०) ने पाकपत्तन पर जब आक्रमण किया था तो वहाँ बदरुद्दीन सुलेमान गद्दी-नशीन थे। यहाँ बडा भयानक विकल्प खड़ा हो गया है—

१—यदि भाटनेर तथा तैमूरलंग की बात आती है, तो उस समय शकरगंज के पोते आदि का नाम नही था।

२—यदि शकरगंज के किसी (सादुद्दीन न सही, कोई और सही) पोते की बात है तो उस समय तैमूरलंग को ११८ वर्ष की ऊर्ध्ववर्ती घटना में नहीं ठेला जा सकता।

इस प्रसंग में फ़रिश्ता ने अवश्य कही भूल की है, जिसे पं० चतुर्वेदी ने समझने का यत्न नहीं किया।

(ख) जिस फ़रीदसानी की चर्चा पं० चतुर्वेदी ने की है, उसका असली नाम शेख इब्राहीम सुलेमान है। उसके बाद उसका पुत्र ताजुद्दीन सुलेमान गद्दीनशीन हुआ। शेख फरीद पिता का दिया हुआ नाम है ; फरीदसानी भक्तों का दिया हुआ नाम है। अतः शेख फ़रीद और फ़रीदसानी मे व्यावहारिक अन्तर है। फ़रीदसानी, सलीस फरीद, शेखब्रह्म, बलराज, शाहब्रह्म, शेख फ़रीद ब्रह्मकल[1] आदि-आदि नाम मुरीदो की श्रद्धा के प्रतीक है। कोई संत अपने पिता अथवा गुरु के दिये हुए नाम के स्थान पर शिष्यो के दिये हुए नाम को अधिमान देगा—बुद्धि नही मानती। फिर पं० चतुर्वेदी ने फ़रीद-नानक भेट की बात उठायी है, जो ऐतिहासिक साक्ष्यों से असत्य सिद्ध हो चुकी है। पं० परशुराम ने लिखा है—

१—उन्होंने पारसी एव पंजाबी-हिन्दी मे अपनी अनेक रचनाएँ रचीं।

२—पंजाबी हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वाले उन्हे लहँदी में की गई कविता का सर्वप्रथम योग्य कवि व लहँदी काव्य का पिता तक कहा करते है।[2]

इस संदर्भ के दो शब्दों पर आपत्ति की जा रही है : 'पंजाबी हिन्दी' और 'पंजाबी हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने वाले'। पं० चतुर्वेदी पंजाबी-हिन्दी से क्या तात्पर्य ग्रहण करते हैं ? पंजाबी हिन्दी-साहित्य का इतिहास किसने लिखा है ? आशा है पं० परशुराम चतुर्वेदी ने इसका समाधान सोच रखा होगा।

---

१. उत्तरी भारत की संत-परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ ३७३

२. वही

भाषा—शेख फ़रीद की रचना को भाषा-कसौटी पर देखने से उसे फ़रीद-सानी की कृति मानने में कठिनाई हो रही है। फ़रीदसानी कभी मुल्तान जाकर नहीं रहे। रचना में मुल्तानी के इतने ठेठ और प्राजल शब्द मिलते है, जो उसका अस्तित्व अक्षुण्ण बनाये हुए है। कोई प्रदेश से बहिःस्थित व्यक्ति इन शब्दों का इतना प्रचुर प्रयोग नही कर सकता; यथा—

निमाणी, हड, परणाइ, जोलि, गलि, निकी, वञाघति, गुझी, बुक, नंढडा, माण, छिजडा, जेवडु, आपनडे, चुमि, थीआ, पिछा, बाझहु, करेन्दीवञ, लोइण, कुकेन्दिआँ, चांगेन्दिआँ, वञाइआ, बिआ, बड़ियाइ, जीवन्दिया, मोइयाँ, वणि, कंडा, हियालिए, निकी, डूगर, वड़ीआं, धिग, विडाणी, होंदा, लोडे, विञाडरिआँ, तुंटे, माखीऊ, मांझा, खाधी, डोहागणी, धन, हिङ्, कथूरी, खटोला, वाण, लेफ, लिवाणी, हढ, सम, केहें, दा, घडियालु, डुखी, कंभण, वरिआ, कुहाड़ा, लोड़ी, सिञापसनि, खासी, कोठे, माड़ीआ, उसारदे, दीवी, दीवड़ा, कनि, सूफ, रत, कुकेदी, लघे, वञाणा, थीवहीं, मेडा, टुबी, झुरेइ, वत, हंझ, चिझू, गहला, विडारण, कीड़ा, सवंनवी, वखत, कपि, कुंने, हेठ, बालण, जणिआई, टोए-टिबे, निन्द्रावले, लमी, कंधी, सुका, खूडहि, बंना, त्रैं, कियऊं, झाक, गाखड़ी, फाहीवाल, हेकड़ा, भैणे, सिक इत्यादि।

चूंकि शकरगंज के पिता मुल्तान में चालीस वर्ष रहे, स्वयं शेख-उल-इस्लाम फ़रीद सुलेमान १८ वर्ष मुल्तान मे रहे, अतः मुल्तानी भाषा का साधिकार प्रयोग जितना इनकी रचना मे आँका जा सकता है, उतना फ़रीदसानी की रचना में नही। प्रांजल मुल्तानी शब्दों की पुट देखकर कोई भी तटस्थ व्यक्ति सहज मे यह निर्णय देकर रख देगा कि ये रचनाएँ फ़रीदसानी की नही हैं।

स्थान—बाबा फ़रीद को हिंदी के प्रथम कवि के रूप में पहले बताया जा चुका है। लोक भाषा (मुल्तानी अथवा हिंदी) का प्रयोग करने वाले बाबा फ़रीद से पूर्व साहित्य में अपभ्रंश अथवा निम्नमुखी अपभ्रंश का प्रयोग हो रहा था। संभवतः उस समय हिंदी बोल-चाल में आ चुकी थी, जिसका आभास नाथ-साहित्य तथा अर्ध-अपभ्रंश में मिल जाता है। पर हिंदी में निश्चित रूप से रचना करने वाले फ़रीद शकरगंज का नाम सब से पहले आता है।

आपत्तियाँ—गुरुग्रन्थसाहब में वर्तमान शेख फ़रीद की रचना सर्वथा आपत्ति-रहित नहीं है। जब तक रचना को ग्रन्थसाहब में स्थान नहीं मिला, तब तक उसमें गड़बड़ होती रही—इस पर अनुमान के अतिरिक्त हमारे पास

और कुछ नहीं है; अलबत्ता श्रीग्रन्थसाहब में स्थान पाने के बाद वह उलट-फेर से कुछ बच सकी। फिर भी उस पर कतिपय आपत्तियाँ शेष रही हैं। यथा—

१—फ़रीद की रचना मे गुरु साहबान की रचनाएँ मिश्रित हैं।[1]

२—कतिपय रचनाएँ छंद की दृष्टि से दोषपूर्ण हैं।

३—कुछ श्लोकों मे 'फ़रीद' की छाप छन्द-भंग का कारण बन गई है।

४—कुछ पद्य, लोक मे, अन्य कवियों के नाम से भी चल रहे हैं।

इन छन्दों में से (आपत्तियों के रहते हुए भी) फ़रीद की रचना सिद्ध करने में कोई अड़चन शेष नही रह जाती। रचना का नमूना देखिये—

कागा करंज ढँढोलिया, सगला खाइया मासु।
ए दोउ नैना मति छुहउ, पिय देखन की आसु॥
कागा चुंडि न पिंजरा बसै त उडरी जाय।
जित पिंजरे मेरा सहु बसै मास न तिंदु खाय॥
फरीदा खाक न निन्दिए खाक जेड न कोइ।
जीवन्दियाँ पैरा तले मोइयाँ ऊपर होइ॥
बुढ़ा होय शेख फरीद कंभण लागी देह।
जे सौ वरहियाँ जीवणाँ भी तनु होसी खेह।

५. चर्पटनाथ—चंबा रियासत पहाड़ी रियासतों में बहुत प्रसिद्ध है। इसकी स्थापना शैलवर्मा ने की थी। यही शैलवर्मा आगे चलकर 'चर्पटनाथ' नाम से प्रसिद्ध हुए। इनके सिद्ध हो जाने की दंत-कथा इस प्रकार है कि रियासत में नाथों और सिद्धों का आना-जाना रहता था, उन्हीं के सत्संग में आकर शैलवर्मा विरक्त हुए और युवराज युगार्कवर्मा को राज देकर साधु-संतों के साथ हो लिए। अन्य दंत-कथा के अनुसार युगार्क का वंशधर हुआ, जिसने 'शालिवाहन' नाम से प्रसिद्धि पायी और स्यालकोट के शालिवाहन-पुत्र (?) को हराकर उसका राज्य हस्तगत कर लिया था। इस शालिवाहन के साथ एक अन्य

---

१. आदि ग्रन्थ साहिब : देवनागरी-संस्करण—
(क) महला १. श्लोक नं० ११३, १२० तथा १२४ (तीन पद्य)।
(ख) महला ३. श्लोक नं० १३, ५२, १०४, १२१, १२२ (चार पद्य)।
(ग) महला ४. श्लोक नं० १२१ (एक पद्य)।
(घ) महला ५. श्लोक नं० ७५, ८२, ८३, १०५, १०८, १०९, ११०, १११ (आठ पद्य)।

किंवदन्ती भी जुड़ी हुई है। तदनुसार, उज्जैन के विक्रमादित्य ने पंजाब पर आक्रमण किया और शालिवाहन ने कश्मीर-नरेश (?) की सहायता से उसे परास्त किया। क्या उज्जैन की राज-वंशावली में सभी राजा विक्रमादित्य हुए थे? अथवा राजा भोज को विक्रमादित्य मान लें, जिसका पंजाब पर आक्रमण भी किंवदन्ती से आभासित होता है? पर उसका यह पता नहीं चला कि वह उज्जैन का विक्रमादित्य था या धारा का विक्रमादित्य? विक्रमादित्य-शालिवाहन के संग्राम की बात वैक्रम संवत् १०८० के उपरान्त बतायी जा रही है; पर इस अनुमान का प्रमाणों ने समर्थन नहीं किया।[1]

चर्पटनाथ सामाजिक सुधारवाद मे रुचि लेने वालों में प्रथम बताये जाते हैं। कबीर आदि को चर्पटनाथ का अनुगामी बताया जा सकता है। इनकी भाषा देखकर यह संदेह होना स्वाभाविक है कि क्या यह भाषा ग्यारहवीं शताब्दी की है? अनुमान इसके विपरीत जाता है। यह १५वीं शती की भाषा का रूप है। यदि यह रचना सचमुच उन्ही की है, तो चर्पट वैक्रम सवत् १३८० में न होकर १५८० में हुए होगे। चर्पटनाथ और उनकी भाषा तथा शैली का मध्यवर्ती अंतर इन्हें इतनी दूरी पर रखे हुए है कि समय की दरार को पाटना सुगम कार्य नहीं है। रचना का नमूना देखिये—

(१) इक सेत पटा इक नील पटा, इक तिलक जनेऊ लमक लटा।
जब नहीं उलटी प्राण घटा, तब चर्पट भूले सब पेट नटा।
जब आवेगी काल घटा, तब छोड़ जाएंगे लटा पटा।

(२) इस संसार काटियों की बाड़ी, निरख निरख पग धरना।
चर्पट कहे सुनह रे सिद्धो, हठ करि तप नहीं करना।

(३) होवे कारन कथहि गियानु, होवे कारन धरहि धियानु।
होवे कारन तीरथ असनानु, होवे कारन पुन्य अरु दानु।
होवे कारन युद्ध संग्रामु, होवे कारन पचि पचि मूआ।
चर्पट प्रणवं कोइ अन्होनी हूआ॥

६. **जयदेव**—भ्रमवश पंजाब के किसी 'जयदेव' संत को, जिसकी रचना आदि-ग्रन्थ में विद्यमान है, 'गीतगोविन्द' के रचयिता जयदेव से अभिन्न मान लिया गया है। वे अभिन्न क्यों हैं? इसका उत्तर अभी तक किसी आलोचक ने नहीं दिया। श्री ए० बी० कीथ, मॉनियर विलियम्स तथा मैकालिफ़ ने भी दो जयदेवों को अभिन्न मानते हुए उसका कुछ भी आधार नहीं दिया। कीथ ने

१. देखिये परिशिष्ट ७

लिखा है : **उनकी एक हिंदी की छोटी-सी कविता, जिसमें हरगोविन्द की स्तुति है, सुरक्षित मिलती है। इसे सिक्खों के आदिग्रन्थ मे प्राचीनतम कहा जाता** है।[1] इस कथन में केवल एक बात मानने योग्य है, कि यह रचना नानक-पूर्व साहित्य में प्राचीनतम है। यह 'प्राचीनता' फरीद-पूर्ववर्ती है, या फ़रीद-परवर्ती—यह भी स्पष्ट नही है। परन्तु इसमें हरि अथवा गोविन्द की स्तुति नाममात्र को भी नहीं है। मैकालिफ़ ने लिखा है : **यह एक अत्यन्त कठिन मननीय रचना है।**[2] यह सम्मति भी आदि ग्रन्थ-स्थित रचना को महाप्रभु जयदेव की रचना मानने में कठिनाई उपस्थित करती है। मैकालिफ़ के स्वर में स्वर मिलाते हुए पं० परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है : **इनकी भाषा संस्कृत से बहुत प्रभावित है, और गो० तुलसीदास की अनेक रचनाओं की भाँति यह भी पण्डिताऊ पद कहलाने के योग्य है।**[3] निम्न उद्धृत पद्यों को देखकर कोई भी निर्णय कर सकता है कि चतुर्वेदीजी के कथन में कितना सत्य है। निम्न दो पदों का विषय नाथमत अथवा सिद्धमत से प्रभावित ज्ञात होता है; इन्हें पढ़ कर यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि नानक-पूर्ववर्ती युग में संत-विचारधारा जागृत हो चुकी थी। जयदेव महाप्रभु को वैष्णव-परम्परा में प्रथम स्थान प्राप्त है;[4] जब कि संत जयदेव को किसी भी मूल्य पर वैष्णव नही कहा जा सकता। चतुर्वेदीजी का यह कथन कि **जयदेव वास्तव में एक महत्त्वपूर्ण सन्धिकाल में उत्पन्न हुए थे और अपनी कृतियों द्वारा उन्होंने एक ऐसे मार्ग का प्रदर्शन किया जो संत-मत के लिए आदर्श बन गया**[5], एकदम भ्रान्ति-ग्रस्त है। सत जयदेव भारत के किस भाग में जन्मे, रहे, प्रचार किया या आये-गये—इसे सिद्ध करने की सामग्री शेष नही रह गई है। अनुमानत: संत जयदेव को पंद्रहवी शताब्दी के अंत मे मानना समुचित होगा। क्योंकि यह 'सन्धिकाल' भाषायी दृष्टि से अथवा नाथ-सिद्ध-सूफ़ी-समन्वय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इनकी भाषा साधुक्कड़ी है। रचना का नमूना देखिये—

(१) **सत चंद भेदिआ नाद सत पूरिआ सूर सत खोड़सावतु किआ।**
अबल बल तोड़िआ अचल चल थापिआ अघडु घड़िआ तहं अपिउ पिआ॥

---

१. कीथ : संस्कृत-साहित्य का इतिहास (हिंदी-अनुवाद—मंगलदेव शास्त्री) पृष्ठ २३०

२ उत्तरी भारत की संत-परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ ६८

३. वही, पृष्ठ ६८

४. विष्णुस्वामीसमारंभां जयदेवादिमध्यमाम्।
श्रीमद्वल्लभपर्यंतां स्तुमो गुरु-परम्पराम्॥

५. उत्तरी भारत की संत-परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी : पृष्ठ ६६

मन आदि गुण आदि बखाणिआ।
तेरी दुबिधा दूसिट सँभानिआ।
अरधि कउ अरधिआ, सरधि कउ सरधिआ, सलिल कउ सललि संमानि आइया।
वदति जैदेव जैदेव कउ रंमिआ ब्रह्म निरवाण लिवलीणु पाइआ।[1]

७. **बालानाथ**—पंजाब की नाथ-परम्परा मे बालानाथ का नाम बड़े सम्मान से लिया जाता है। वास्तविकता यह है कि मच्छन्दरनाथ, गोरखनाथ बाहर से आये और पंजाब में अलख जगाकर चले गए; पंजाब के चौरंगीनाथ तथा चर्पटनाथ भी नाथों-सिद्धों के साथ रमते योगी बन गए। पंजाब में नाथ-मत को बलपूर्वक जागृत रखने का श्रेय बालानाथ को दिया जा रहा है। झेलम में जिस 'गोरख टीले' की चर्चा की जाती है, वह वास्तव में बालानाथ का प्रचार-मठ है। बालानाथ के विषय में अन्य परिचय अभी तक अज्ञात है। रचना का नमूना देखिये—

चहुँ दिसि जोगी सदा मलंग। षेले बर कामिनी इन संग।
हंसै सेजै राषै भाव। राषै काया गढ़ का राव।
दस दरवाजा राखै बाँग। भीतरि चोर न देइ जाण।
ज्ञान कछौटी बाँधे कस। पाँचों इन्द्रि राषै बस।
पवन पियाला भषिवौ करै। उनमनी तालो जुगि जुगि धरै।
रामं आगे लक्ष्मण कहै। जोगी होइ सु इह बिधि रहै।[2]

८. **बू अलीशाह कलन्दर**—फ़रीदुद्दीन शकरगंज ने पंजाब मे चिश्ती-सम्प्रदाय की स्थापना की और मुल्तान, पाकपत्तन, करनाल तथा अंबाला में सूफी मठ स्थापित हुए। करनाल में चिश्ती-सम्प्रदाय के सूफ़ी बू अलीशाह कलंदर के कतिपय पद्य मिले हैं। आपकी मृत्यु १३८० विक्रमी संवत् में हुई बतायी जाती है। रचना विशुद्ध हिंदी में है। बानगी देखिये—

सजन सकारे जाएंगे, नैन मरेंगे रोय।
बिधना ऐसी रैन कर, भोर कधी ना होय॥[3]

---

१. राग मारू : आदिग्रन्थ : देवनागरी-संस्करण, पृष्ठ ११०६
२. नाथ-सिद्धों की बानियाँ : रुद्र काशिकेय, पृष्ठ ९१
३. दक्खिनी हिंदी : पृष्ठ ३१

प्रथम खण्ड : मिश्रित काल

(वैक्रम संवत् १५०१-१९००)

पृष्ठभूमि

ऐतिहासिक प्रगति

पानीपत की अप्रत्याशित पराजय ने भारत की कायापलट कर दी। राज-लक्ष्मी ग़ौरीवंश, गुलामवंश खिलजीवंश, तुग़लकवंश तथा सैयदवंश के अनन्तर लोधीवंश के वशीभूत रहकर मुग़लवंश के आधीन होगई। मुग़ल जिस दुर्घट कल्पना से प्रेरित होकर ३०५ वर्ष से भारत का द्वार खटखटा रहे थे, आखिर वह द्वार खुल गया और बाबर ने भारत में मुग़लशासन की नींव डाल दी। इतिहास का छात्र जानता है कि पिछले दो सहस्राब्द में काबुल और भारत में खींचतान चली आ रही थी; सहसा उसका पटाक्षेप हुआ और कुछ समय के लिए काबुल और दिल्ली एक शासन के आधीन हो गए। विगत इतिहास के पृष्ठों में देखा जा सकता है कि शक, हूण, पल्लव, तुर्क और मुग़ल क्रमशः काबुल-दिल्ली के संघर्ष के मुख्य पात्र रहे हैं। शकों से लेकर तुर्कों तक प्रायः एक भूल को दुहराया गया; वह यह, कि जिस जाति ने दिल्ली (अथवा अपने समय की राजधानी) को प्राप्त कर लिया, वह काबुल के प्रति उदासीन हो गई। काबुल के प्रति बरता गया यह प्रमादजन्य उपेक्षा-भाव एक महँगा सौदा सिद्ध हुआ। भारत-स्थित शकों के लिए हूण, हूण-पल्लवों के लिए तुर्क (मूर्तिपूजक), तुर्कों के लिए मुग़ल क्रमशः निरन्तर सिर-दर्द बने रहे। पर मुग़लों ने भारत में बैठते ही अपनी नीति बदली और काबुल को अपने चगुल में बनाये रखा; ज्योंही काबुल की पकड़ ढीली पड़ी कि वह मुग़ल शासकों के लिए समस्या बन गया। इधर मुग़ल शासन का जुआ उतार फेंकने के लिए मराठे, राजपूत और सिख मैदान में उतर आए थे, पर उधर से उसकी जड़ खोदने में नादिरशाह और अब्दाली ने भी कम प्रयत्न नहीं किये। काबुल में मुग़ल शासन से पूर्व तुर्क शासन था, और यहाँ भी मुग़ल शासन से पूर्व तुर्क शासन था; पर वह अस्थिर शासन था और निरापद भी नहीं था। दोनों स्थानों पर मुग़ल निरन्तर मुस्लिम शासन को

ललाकर रहे थे। खिलजी-वंश ने, जो रक्त में मुग़लों से भिन्न[1] न थे, पर धर्म से भिन्न थे, मुग़लों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित किये और उन्हें बौद्ध धर्म से च्युत कर मुसलमान बना लिया था; पर क्या इससे समस्या का समाधान हो गया? समस्या का समाधान तो दिल्ली-तख्त के समर्पण में था। अतः संघर्ष मिटने के स्थान पर अधिक उग्र हो चला। इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि मुग़ल-आक्रमणों का प्रतिरोध हिन्दुओं ने नहीं किया। वे तो शक्ति-सन्तुलन देख रहे थे। हुआ क्या? एक नयी[2] मुसलमान जाति ने प्राचीन मुसलमान जाति को पटक मारा। इस उलट-फेर से भारत को लाभ नहीं हुआ; बल्कि उसके इतिहास, संस्कृति, जीवन तथा कला पर एक अभिनव इतिहास, संस्कृति, जीवन तथा कला ने अधिकार कर लिया। इसे इतिहासकारों ने 'परतंत्रता का युग' नाम दिया है। मुग़लों से पूर्व तुर्क-शासन ने भारत में भारतीय साहित्य, कला और संस्कृति को बहुत बड़ी मात्रा में प्रभावित नहीं किया। हिन्दू अपने धर्म एवं आचार-विचार में स्वायत्त थे। पर मुग़ल-आगमन के पश्चात् पहले जैसी स्थिति स्थिर न रह सकी। अतः बाबर की (विक्रम-संवत् १५८३) पानीपत की विजय भारत में कायाकल्पान्तकारी सिद्ध हुई। अस्तु।

पूरे मुगलशासन को निम्न प्रश्नों और शीर्षकों के आधीन रखकर विचार करना लाभ में हो सकता है, यथा—

१. मुग़लशासन की नयी नीति;

२. पंजाब पर मुग़ल शासन का लौह-पाश;

३. मुग़ल तथा सिख गुरुओं में अकारण खींचतान;

४. सिख रियासतों का अभ्युदय; और

५. पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण के संघर्ष में मुग़ल सत्ता का अन्त।

इन शीर्षकों को उपशीर्षकों में भी विभक्त किया जा सकता है। यथा—मुगल शासन के लौह-पाश में हिन्दुओं की जागृति के चिह्न; आदि।

१. **मुग़ल शासन की नयी नीति**—दिल्ली-तख्त हस्तगत करते ही मुगलों ने एक नीति पर आचरण किया, जिसकी संभावना बहुत ही कम थी; कारण,

---

१. "जलालुद्दीन खिलजी तथा महमूद खिलजी मान्दवी चंगेज़ खाँ के दामाद कलिजखाँ के पौत्र थे।" "कलिज का नाम खलिज और तत्पश्चात् निरन्तर प्रयोग में आते रहने के कारण 'खल्ज' होगया।"

—तक़बात-ए-अकबरी : डॉ ईश्वरीप्रसाद : भारतीय मध्ययुग का इतिहास, पृष्ठ २०३.

२. उस समय मुगलों को 'नव मुस्लिम' कहा जाता था। देखिये परिशिष्ट ११

मुग़ल-पूर्व मुस्लिम शासकों ने अपने आचरण से यह सिद्ध कर दिया था कि आक्रान्ता और आक्रान्त मे अन्तर होना स्वाभाविक है। पर, मुगल इस आचरण के विपरीत चले। उन्होंने हिन्दुओं का विश्वास जीतने के लिए उन्हें राजपद देने आरम्भ किये। राजा टोडरमल टण्डन का अकबर के दरबार में विशेष आदर था। सच बात तो यह है कि अकबर के शासन का पूरा-का-पूरा आर्थिक ढाँचा टोडरमल की देन है। अकबर के शासनकाल (वैक्रमसंवत् १६४२) में राजा मानसिंह को काबुल का राज्यपाल बनाया गया। पंजाब में बड़े लम्बे समय के बाद राजा भगवानसिंह (हिन्दू) को राज्यपाल बनाकर भेजा गया। जहाँगीर और शाह-जहाँ ने भी अकबर-नीति का पालन किया। औरंगजेब भी इस नीति पर चलना चाहता था, जयसिंह तथा जसवंतसिंह यद्यपि उसके दरबार व सेना में उच्च पद पर थे, पर उसकी अपनी नीति उसके लिए समस्या बन गई। वह मन से इन हिन्दू अधिकारियों पर विश्वास न करता था; तथापि हिन्दू वीरों को मन से न अपनाकर भी येन-केन-प्रकारेण पूर्व-निश्चित नीति पर चल रहा था—यह एक अखण्डनीय सचाई है।

इस नीति का एक व्यावहारिक प्रभाव भी पड़ा। हिन्दुओं ने देखा कि मुगल शासन के दो पार्श्व हैं, एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। प्रत्यक्ष पार्श्व में हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ, औरंगजेब दृष्टिगोचर हो रहे थे, परोक्ष पार्श्व में सक्रिय पात्र--मानसिंह, भगवानसिंह, तानसेन, बीरबल, जसवंतसिंह, जयसिंह तथा नन्दलाल मुल्तानी आदि हिन्दू थे, जिन्हे देखकर हिन्दुओ मे एक धीमी-सी आशा-किरण का अभ्युदय हुआ। यह अल्पीयसी आशा एक महती प्रगति का कारण सिद्ध हुई। हिन्दू अज्ञात सबल पाकर आगे बढे, मुगल शासकों ने उनके मार्ग में रुकावट नही डाली, बल्कि सहयोग दिया; यथा—

(क) संगीत—महाप्रभु जयदेव जिस शास्त्रीय संगीत को बारहवी शती में जागृत कर चुके थे, वह शनैः शनैः भारतीय भाषाओं में विस्तृत हो चला था, पर अभी तक वह राज्य-संरक्षण से वंचित था; संगीत के अभावात्मक अन्धकार को दूर करने में मुगल शासन ने पूरा सहयोग दिया। बैजू बावरा, तानसेन तथा सूरदास (रामदास-पुत्र) ने संगीत-साधना में प्रमुख भाग लिया।

(ख) साहित्य—मुगल शासकों ने साहित्य की अभिवृद्धि में भी कम सहयोग नहीं दिया। सम्राट् बाबर स्वय बड़ा साहित्यकार था, वह तुर्की तथा पारसी भाषा का न केवल विद्वान् था, बल्कि सफल कवि भी था। बाबर के दरबार में ग़यासुद्दीन, मुहम्मद, खुदामीर, शहाबुद्दीन तथा मीर इब्राहीम विशेष सम्मा-

नित थे। हुमायूँ अपने पिता से बढ़कर साहित्यानुरागी सिद्ध हुआ था। हुमायूँ की मृत्यु एक सच्चे साहित्यकार की मृत्यु है। वह अपने पुस्तकालय की सीढ़ियों से गिरकर मरा। हुमायूँ ने अपने पलायन-काल में भी अपने निर्वाचित पुस्तक-संग्रह तथा संग्रहाध्यक्ष लालबेग को अपने साथ रक्खा।[1] हुमायूँ की बहिन गुलबदन बेगम भी अपने भाई की तरह साहित्य में रुचि रखती थी और उसकी 'हुमायूँ-नामा' कृति अपना अलग स्थान रखती है। साहित्य की अभिवृद्धि में सबसे बड़ा सहयोग रहा अकबर का। अकबर के दरबारी कवियों का विवरण हिन्दी-साहित्य में उच्च दृष्टि से देखा जाता है। साहित्यिक ही नहीं, इतिहास लेखक भी अकबर की प्रेरणा से क्षेत्र मे उतरे और कतिपय प्रसिद्ध रचनाएँ प्रकाश में आयी; यथा—तारीखे अलफ़ी (मुल्ला दाऊद), आईन-ए-अकबरी, अकबरनामा (अबुलफजल), मुन्तखब-उत-तवारीख (बदायूँनी), तबकात-ए-अकबरी (निजा-मुद्दीन अहमद) और अकबरनामा (फैज़ी)। इनमे अबुलफजल शीर्ष स्थान पर आता है—वह न केवल इतिहासकार था, बल्कि निबन्धलेखक तथा आलोचक भी था। खानखाना अब्दुर्रहीम को हिन्दी-जगत् हिन्दी-कवि के रूप मे जानता है; पर वह पारसी का लेखक भी था, यह बहुत कम लोग जानते है। रहीम-लिखित बाबर की आत्मकथाएँ 'तुज़ुके बाबरी' और 'वाक़यात बाबरी' पारसी भाषा में हैं। इस प्रकार जहाँगीर, शाहजहाँ तथा औरगजेब ने साहित्य की समृद्धि में पर्याप्त अभिरुचि दिखायी।

(ग) **चित्रकला**—यह प्रसिद्ध है कि मुसलमान मूर्तिकला तथा चित्रकला के पक्ष मे नहीं रहे; उनका धर्म इसमें आडे आता है। पर मुगलों ने चित्रकला में भी पर्याप्त अभिरुचि दिखायी। हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ ने भी इस कला को पर्याप्त सरक्षण दिया तथा अपने यहाँ कई कलाकारों को आश्रय दिया। अकबर के दरबार मे अब्दुस्समद, मीर सैयद अली, फर्रुखबेग जैसे मुस्लिम चित्रकार तथा जसवन्त बसावन, ताराचन्द और जगन्नाथ जैसे हिन्दू चित्रकार विद्यमान थे। सर टामस रो ने जहाँगीर की चित्रकला का खासा परिचय दिया है।

(घ) **स्थापत्य कला**—मुगलो ने जिस कला मे सबसे अधिक रुचि ली, वह है स्थापत्य कला। बाबर ने समरकंद से कई कलाकार बुलाये थे और भारत से कई संगतराश काबुल भेजे थे। भारत में आगरा और दिल्ली के लालक़िला, ताजमहल, काश्मीर का निशात और शालीमार बाग, लाहौर की शाही मस्जिद

१. भारत का मुग़ल इतिहास : कृपालसिंह नारंग, पृष्ठ ५२७

तथा फतहपुर-सीकरी की सुन्दर इमारतें स्थापत्य कला के उत्तम प्रयोग है।

अर्थात् भारत मे रहकर भारतीयता मे रुचि लेकर मुगलों ने सिद्ध कर दिया कि वे केवल आक्रान्ता या शासक-मात्र नही है, बल्कि भारत की मिट्टी के वैसे ही पुतले हैं, जैसे सामान्य नागरिक। इस अकल्पित मुगलनीति ने भारत को सांस्कृतिक स्तर पर जीने का अवसर प्रदान किया। मुसलमानों के नौ सौ वर्षो के शासन मे चार सौ वर्ष निरन्तर समृद्धि का युग आया। औरंगज़ेब रूढिबद्ध भारतीय सस्कृति मे रुचि ले रहा था, पर उसकी विसंगत नीति ने वे अभीष्ट फल प्रस्तुत नही किये, जिन्हें मुगल औरंगज़ेब से पूर्व पा चुके थे। फलतः औरंगज़ेब को मुग़ल शासन का 'खलनायक' कहने की स्थिति पैदा हो चुकी थी।

२. **पजाब पर मुग़ल शासन का लौह-पाश**—भारत के मुगल शासक अपने पूर्वज मुगल आक्रान्ताओ के इतिहास से परिचित थे, और काबुल के उस पार के शासकों से—जिनसे मुगलों की पुश्तैनी शत्रुता चली आ रही थी—निश्चिन्त नहीं थे। यद्यपि मुगलों की प्रतीकात्मक राजधानी दिल्ली मानी जाती थी, तथापि उनकी दो उपराजधानियाँ थी : आगरा में मुगलों ने सांस्कृतिक उपराजधानी स्थापित कर रक्खी थी, लाहौर में उनकी सामरिक उपराजधानी स्थापित थी। अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ तथा औरंगज़ेब—समय-समय पर पंजाब आते और कुछ समय के लिए रहते। लक्ष्य करने की बात यह है कि मुग़ल शासन से पूर्व पंजाब दो भागों में विभक्त था—१ सूबा-ए-मुल्तान और २ सूबा-ए-लाहौर। सूबा-ए-मुल्तान तो क्वचित्-क्वचित् पृथक् अस्तित्व में उभरता रहा है, अन्यथा 'पंजाब' पूरे सूबे के रूप में विख्यात रहा। पंजाब को पूर्णतया हस्तगत रखने के हेतु यहाँ जो भी राज्यपाल नियुक्त किये गए, उनकी सामरिक पृष्ठभूमि को भी सदा दृष्टिगत रखा गया।

बाबर ने तुर्क राज्यपालों को अपदस्थ करके पंजाब में अपने राज्यपाल नियुक्त किये थे, यह हम पहले अध्याय में देख चुके है; यथा—

१ जालन्धर	...	दौलतखाँ लोधी
२ मुल्तान	...	आलमखाँ
३ लाहौर	...	अब्दुलअज़ीज़ मुगल
४ स्यालकोट	...	खुसराव कोकुलताश

बाबर ने वैक्रम संवत् १८५७ में शरीर छोड़ा था। हुमायूँ ने पिता के अस्थिर शासन की बागडोर सँभाली; पर उसे एक बलिष्ठ पठान के प्रतिरोध का सामना करना पड़ा और २५ वर्षों के लिए दिल्ली-शासन से वंचित भी होना पड़ा।

इस अन्तराल में शेरशाह सूरी ने दिल्ली-शासन हस्तगत तो कर लिया, पर उसके अशक्त उत्तराधिकारी उसे हस्त-न्यस्त नहीं रख सके। हुमायूँ फिर लौटा। वह एक साल के बाद ही अकबर के लिए राजसिंहासन छोड़कर संसार से चल बसा। वैक्रम संवत् १६१३ से लेकर संवत् १८५६ तक, अर्थात् अकबर-शासन से लेकर आलमशाह-शासन तक पंजाब में निरन्तर मुस्लिम राज्यपालों का ताँता लगा रहा।[1] यहाँ मुग़लकाल की तीन बातें लक्ष्य करने योग्य हैं; यथा—

(१) मुग़ल सम्राट् समय-समय पर पंजाब में आकर रहे। अकबर स्वयं १३ वर्षों (वैक्रम सवत् १६४२-१६५५) के लिए लाहौर में जमा रहा। जहाँगीर खुसरो-विद्रोह के बाद समय-समय पर पंजाब पहुँचता रहा। शाहजहाँ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र दारा को पंजाब में ही रक्खा। इस प्रकार पजाब की पकड़ शिथिल नही होने पाई। औरंगज़ेब ने अपनी शक्ति अधिकतर दक्षिण में केन्द्रित रखी, परिणामतः पंजाब की पकड़ ज़रा ढीली पड़ी कि काबुल ने फिर से दिल्ली को ललकारना आरम्भ किया।

(२) दूसरी बात यह कि दिल्ली से आनेवाले मुस्लिम राज्यपाल इतने उदार न थे, जितनी उदार नीति मुगलों की थी। परिणामतः पंजाब में कई बीभत्स कांड घटित हुए, जो इतिहास मे सदा स्मरणीय रहेगे। पंजाब मे असह्य अत्याचारों का क्रम खिज्रखाँ (वै० संवत् १६१४) से आरम्भ होता है। संवत् १६८५ में जहाँगीर को शाहजहाँ ने पजाब मे गिरफ्तार कर लिया और यही शाह की मृत्यु हुई। इस समय पजाब पर आसफखाँ का शासन था। वै० सवत् १६९४ में पंजाब में एक अन्य क्रूर राज्यपाल आया—अलीमरदानखाँ। औरंगज़ेब के राज्यपाल खलील-उल्खाँ ने सिखों पर दमनचक्र चलाने मे कमी नही की। जकरियाँ खाँ के राज्यकाल में वीर क्षत्रिय बालक हक़ीक़तराय पुरी का बलिदान हुआ था। भाई तारुसिंह का बलिदान भी इस युग की प्रमुख घटना है। वैक्रम संवत् १७६४-१७६९ में पंजाब को बंदा बैरागी ने झकझोरा।

(३) बाबर को भारत में आने के लिए अवलंबन चाहिए था, वह विद्रोही सरदार दौलतखाँ लोधी के रूप मे उसे मिल गया। पंजाब मे २२२ वर्ष की स्थिरता के बाद इतिहास ने करवट ली। जकरियाँ खाँ के उत्तराधिकार के प्रश्न पर उनके पुत्र—यहियाखाँ और शाह नवाजखाँ में ठन गई। यद्यपि पंजाब का उत्तराधिकार यहियाखाँ को एक छोटे-से युद्ध मे शाहनवाजखाँ को परास्त कर थोड़ी देर के लिए ही सही, मिल गया; पर दिल्ली-शासन ने उसका समर्थन नहा

१. देखिये परिशिष्ट ११

किया, परिणामतः उसने काबुल के शाह अब्दाली को आमन्त्रित किया। अब्दाली ने पंजाब को प्राप्त करने के लिए आठ आक्रमण[1] किये; यद्यपि दिल्ली-शासन में उसका प्रतिरोध करने के लिए दम-खम नहीं रह गया था, पर अब्दाली बाबर की तरह शासन को पटक देने में कृतकार्य नहीं हुआ। उसके दो कारण हैं, एक तो अफगानिस्तान की गृहस्थिति अच्छी न थी। दूसरे, पंजाब में अब एक नयी शक्ति पूरे उभार में थी। सिक्खों के सामयिक विद्रोहों ने अब्दाली के राज्यपालों को टिकने नहीं दिया। मुसलमानी शासन में—चाहे वह दिल्ली का हो, चाहे वह काबुल का हो—सिक्खों के लिए रत्ती-भर शान्ति नहीं थी। सरदार मुईन-उल-मुल्क अर्थात् (मीर मन्नू) पंजाब का सूबेदार बना, तो सिक्खों ने उसके अत्याचारों के विपरीत यह नारा लगाया—

मीर मंनू साडी दातरी, असी मीर मंनू दे सोए।
ओ ज्यूं ज्यूं सानूं बढ़दा असी दून सबन्ने होए।

निष्कर्ष यह कि—

(१) आरम्भ में मुगलों ने पंजाब को दृढ़ता से वशीभूत रखा।

(२) मुग़लों की उदार-नीति से पंजाब सांस्कृतिक दृष्टि से जी उठा।

(३) मुस्लिम राज्यपालों के अत्याचारों से हिन्दुओं में राजनीतिक चेतना आयी।

(४) विद्रोही मुस्लिम सरदारों ने नये सिरे से पंजाब को दिल्लीकाबुल का संघर्ष केन्द्र बना दिया।

(५) मुगल शासन के पतन के साथ पंजाब का उदय हुआ।

(६) दुर्रानी के अत्याचारों से पीड़ित सिख पूर्णतया 'राजशक्ति' में परिणत हो गए।

(७) मुगल युग की प्रमुख 'घटनाएं' पंजाब का इतिहास बन गईं।

३. **मुग़लों तथा सिख गुरुओं में खींचतान**—पंजाब का मुग़ल-युग सिख-इतिहास के दो चित्र उपस्थित करता है—१. बाबर से लेकर औरंगज़ेब तक दिल्ली-शासन अपने पूरे उभार में था और सिख-गुरु अपना शान्त, तपोमय जीवन-यापन कर रहे थे; २. औरंगजेब के बाद मुगल शासन निरस्त होने लगा और पंजाब में सिख-शासन उभरने लगा। यद्यपि काबुल ने बीच में अप्रत्याशित आक्रमण करके पंजाब को हथियाना चाहा, पर उदीयमान नयी शक्ति के कारण उसे सफलता नहीं मिली। सिख-इतिहास के एक पार्श्व को उक्त शीर्षक के अधीन दिया जा रहा है, और दूसरा पार्श्व अग्रिम शीर्षक 'सिख रियासतों का

अभ्युदय' मे देखिये।

गुरु नानकदेव से लेकर साहबज़ादे चार बालक-गुरुओं तक—गुरुओं तथा मुगलो का परस्पर मित्र-शत्रु भाव किसी-न-किसी रूप मे बराबर दीख पडता है। यथा—

१. **नानक-बाबर**—गुरु नानकदेव भ्रमण करते हुए जब सैयदपुर पहुँचे, तो बाबर ने गुरु नानकदेवजी को बन्दी बना लिया। यह गुरु-मुगल संघर्ष का पुरश्चरण था। गुरुजी के महान् व्यक्तित्व से प्रभावित होकर बाबर ने उन्हे छोड दिया।

२. **हुमायूँ-अंगद**—शेरशाह से विस्थापित बाबर-पुत्र हुमायूँ ने अंगददेवजी से सम्बन्ध बनाये रखा। गुरुजी की सेवा में पहुँचकर हुमायूँ ने राज्य-प्राप्ति का वर माँगा।

३. **अकबर-अमरदास**—धार्मिक दृष्टि से उदार सम्राट् अकबर अपने पिता की तरह गुरु-घर से सम्पर्क बनाये रहा। अकबर अमरदासजी की सेवा मे आशीर्वाद लेने गया था। गुरु अमरदासजी के कहने पर सम्राट् ने हरिद्वार के यात्रियों पर से कर हटा दिया था। उसने गोईन्दवाल मे कुछ भूमि गुरुघर के लिए भेंट की।

४. **अकबर-रामदास**—गुरु रामदासजी की प्रेरणा से अकबर ने अमृतसर के लिए ५०० बीघा भूमि प्रदान की। सम्राट् ने एक वर्ष के लिए किसानों तथा ज़मीदारों के लिए कर-मुक्ति की आज्ञा दी थी।

५. **अर्जुनदेव जहाँगीर**—गुरु अर्जुनदेव के बारे मे सम्राट् के विचार अच्छे नही थे।[1] विद्रोही खुसरो गुरु अर्जुनदेवजी से सहायता लेने उनके पास गया था। मुहसन फानी के अनुसार, गुरुजी ने उसके लिए 'अरदास' पढी थी; भाई काहनसिह के अनुसार, गुरुजी ने उसे काबुल जाने का खर्च दिया था। जो हो, इसी आरोप में गुरुजी पर २ लाख रु० का दण्ड डाला गया। दण्ड न देने पर

१. "गोविन्दवाल में जो व्यास नदी के किनारे पर है, पीरों-फकीरों के वेश में अर्जुन नामक हिन्दू रहता था। उसने बहुत से भोले-भाले हिन्दुओं एवं कुछ मूर्ख तथा बेसमझ मुसलमानों को अपना अनुयायी बनाकर अपने पीर तथा औलिया होने का ढोल बहुत ऊँचा बजाया हुआ था। लोग उसे गुरु कहते थे। कपटी तथा कपट के उपासक सब ओर से आ-आकर उसके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करते थे। तीन-चार आत्मिक पीढियों से उसकी यह दूकान गर्म थी। बहुत देर से मेरे मन में यह विचार आता था कि इस झूठ की दूकान को बन्द करना चाहिए अथवा उसे मुसलमान धर्म में लाना चाहिए।"

—भारत का मुग़ल इतिहास : पृष्ठ ४५६

गुरुजी को रावी के किनारे वैशाख, वैक्रम संवत् १६६३ में बलिदान के लिए विवश किया गया।

६. **हरगोविन्द-जहाँगीर**—पिता के बलिदान के अनन्तर गुरु हरगोविन्द जी ने सिखो के लिए सैनिक जीवन की आज्ञा दी। उन्होंने स्वयं दो तलवारें धारण की, एक मीरी के लिए और दूसरी पीरी के लिए। वैक्रम संवत् १६८५ मे जहाँगीर गुरु-परिवार से तटस्थ रहा; पर छह वर्षों में पुनः कटुता आ गई, जब सिखों तथा मुगलों मे तीन हल्के-फुल्के प्रतीकात्मक युद्ध हुए। कहते है, जहाँगीर ने कुछ समय के लिए गुरुजी को ग्वालियर मे बन्दी बनाकर रखा था।

७ **हरराय-औरंगजेब**– गुरु हररायजी ने राज्य-प्राप्ति के हेतु युवराज दारा शिकोह की सहायता की, परिणामतः औरंगजेब ने गुरुजी को दिल्ली बुला भेजा। परन्तु गुरुजी ने स्वयं न जाकर अपने पुत्र रामरायजी को भेजा था।

८. **तेगबहादुर-औरंगजेब**—किसी कारणवश औरगजेब ने गुरुजी का बलिदान कर दिया, जिसका स्मारक 'सीसगज' चाँदनीचौक, दिल्ली मे विद्यमान है। इससे पूर्व गुरु तेगबहादुरजी ने औरंगजेब के पक्ष मे कामरूप के किसी समर में सहायता भी दी थी। इसी प्रवासकाल मे गुरु गोविन्दराय जी का जन्म हुआ था।

९. **गोविन्दसिंह-औरंगजेब**—गुरु गोविन्दसिंह के विपरीत मुगल सम्राट् को समर में उतरना पड़ा। चमकौर का समर मुगल सत्ता एवं गुरुघर के सघर्ष की अतिम घटना है।

इस तथाकथित संक्षिप्त-सी, पर लम्बी संघर्ष-परम्परा में यह बात लक्ष्य करने योग्य है कि क्षत्रिय अपने स्वाभाविक धर्म (युद्ध) से विरत होकर अधिक देर के लिए ब्राह्मण धर्म (शान्ति, पूजा-पाठ) मे रह नही सके; परिस्थितियाँ उन्हें पुनः क्षात्र धर्म में लाकर खडा कर देती रहीं।

४. **सिख रियासतों का अभ्युदय**—गुरु-मुगल संघर्ष के दो परिणाम निकले, एक तो मुगल सत्ता हिल गई। दूसरे—दशम गुरुजी, गुरुलोक सिधारने से पूर्व सिखों को एक सैनिक एवं पृथक् वर्ग मे संघटित कर गए थे, जो खालसा-संघटन के रूप में नयी शक्ति, नयी उमंग और नयी राजसत्ता लेकर प्रकट हुआ। गुरुजी के बाद सिख बारह मिसलों मे बँट गए। ये मिसलें पंजाब में कतिपय रियासतें स्थापित करने में कृतकार्य हो गईं। इनका संक्षिप्त-सा परिचय इस प्रकार है—

---

१. स्रोत : १. भारत का मुग़ल इतिहास : कृपालसिंह नारंग

२. सिख इतिहास : ठाकुर देसराज

दशम गुरु गोविन्दसिंहजी ने वर्ण-धर्म को समाप्त कर 'एक वर्ण', 'एक धर्म' तथा 'एक रूप' मे लाने का प्रयत्न किया था। पर, मनुष्यों में वर्गीकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति दबाये दब नही सकती। वह किसी-न-किसी रूप मे व्यक्त होकर ही रहती है। जब तक दशम गुरु महाराज स्वयं विद्यमान रहे, सिखों में एकता बनी रही; पर उनके बाद वह स्थिर न रह सकी। यद्यपि बन्दा बहादुर के नेतृत्व मे सिख अस्थायी रूप से संघटित हो चुके थे; पर बन्दा के बाद वह अस्थायी एकता भयानक 'दरार' में परिणत हो गई। उस समय सिखों के तीन प्रमुख स्तम्भ थे—

१ सहजधारी, २ बन्दायी और ३ तत्खालसा।

सहजधारी सिख उस वर्ग का नाम था और है, जिसने नानक के सिद्धान्तों पर अचल विश्वास तो रखा, पर सैनिक वेश लेने से इन्कार कर दिया। 'बन्दा' के नेतृत्व मे चलने वाले सिखों ने एक नया वर्ग पैदा किया। तत्खालसा बारह वर्गों मे बँट गया। यथा—

१ सिंहपुरिया, २ अहलूवालिया, ३ रामगढ़िया, ४ माँगी, ५ कन्हैया, ६ शुकरचकिया, ७ फुलकियाँ, ८ डलेवालिया, ९ काई, १० शहीद, ११ करोडसिंहिया और १२ निशानवालिया।

मुगलो के अत्याचारो से पीडित सिखों में जिस नये वर्गीकरण (जत्थेबन्दी) का प्राकट्य हुआ, उसमे कुछ क्षात्रधर्मा और क्षात्ररक्त वाले भी थे। वैसे, शक्तिसंचय के साथ-साथ मिसल के मालिकों ने जागीर अथवा राजशक्ति पैदा कर ली थी। इस तरह वे छोटी-छोटी रियासतों में परिणत होते गए। इतिहास का छात्र इसे बडी रुचि के साथ पढेगा कि शालिवाहन (गजपुत्र) के पौत्र भट्टी के वंशधर दो वर्गो मे बँट गए—१. एक वर्ग अपने पैतृक धर्म पर निष्ठावान् एवं सुस्थिर रहा; २. दूसरा वर्ग मुसलमान बन गया। मुसलमान भट्टियो से चुगताई तुर्क एव खिलजी निकले थे। पजाब पर मुसलमानो का शासन दूसरे शब्दों में भट्टियो का शासन बताया जा सकता है। पजाब के जाट भी भट्टियों के वशधर है—विशेषतया सिधू गोत्र के जाट। क्या यह आश्चर्य का विषय नही है कि मुस्लिम भट्टियों को पटक कर जाट भट्टियों ने सिख धर्म का संबल पाकर पंजाब पर अपना अधिकार प्राप्त किया। फरीदकोट, जीद, नाभा, पटियाला तथा लाहौर की रियासते भट्टियों की पुश्तैनी सम्पदा है ! सिखों की बारह मिसलों में से भट्टि वंशधरों की कितनी संख्या है—यह अभी शोध-सापेक्ष है; पर इतना

१. देखिये परिशिष्ट १२

तो सत्य है कि क्षत्रिय धर्म-परिवर्तन करने पर भी क्षत्रिय ही रहे। पजाब की सिख-रियासतों का अभ्युदय इस छाया मे देखना, परखना और पढना चाहिए। पंजाब में स्थापित हुई सिख रियासतों का परिचय इस प्रकार है—

(१) **रियासत लाहौर** – शुकरचकिया मिसल के सरदार चड़तसिंह ने अपनी शक्ति संचित कर ली थी। महासिंह मुगलसेना तथा अफगान सेना की युद्धकला से प्रत्यक्ष और परोक्ष लाभान्वित हो रहा था। उन दिनो 'लाहौर' दिल्ली और काबुल के संघर्ष का केन्द्र-विन्दु बना हुआ था, निरन्तर गिरती हुई मुग़ल-शक्ति लाहौर को अपने अधीन रखने मे अशक्त सिद्ध हो रही थी। अपने घरेलू झगड़ों से काबुल-शक्ति उसे हस्तगत करने में अयोग्य सिद्ध हुई। स्थानीय मुस्लिम राज्यपालों से जनता अत्यन्त त्रस्त हो चुकी थी—इस स्वर्ण-अवसर का सबसे अधिक लाभ महासिंह को मिला। बालक रणजीतसिंह किशोर-वय में एक विशाल मिसल तथा उदयंगम रियासत का स्वामी बन गया। रणजीतसिंह ने अपने भुजबल से मुल्तान, पेशावर, कश्मीर प्रदेश को जीतकर अपने साम्राज्य का विस्तार किया। सिख-साम्राज्य की बड़ी शाखा अंग्रेजी राज्य मे मिलकर वैक्रम संवत् १९०५ से इतिहास का मुख्य विषय बन गई।

(१) **पटियाला**—शालिवाहन गजपुत्र के वशंधर फूल के पौत्र तथा चौधरी रामाँ के पुत्र सरदार आलासिंह ने 'पटियाला' राज्य की नींव रखी। पटियाला का अर्थ है—पट्टिआला, अर्थात् आलासिंह की पट्टि। पटियाला राज्य का क्षेत्र-फल ५९३२ वर्गमील है। बताया जाता है कि चौधरी फूल को स्वयं दशम गुरु गोविंदसिंह जी ने आठ पीढी राज्य करने का आशीर्वाद दिया था। पटियाला राज्य की स्वीकृति वैक्रमसंवत् १७८२ में दिल्ली-सम्राट् मुहम्मदशाह ने दी थी। वर्त्तमान सर यादवेन्द्रसिंह इस पीढी के एक होनहार युवक एवं दूरदर्शी महाराज हैं।[1]

(२) **नाभा**—नाभा-नरेश का वंश-पक्ष भी फुलकियाँ मिसल में से है।[2] नाभाराज्य का क्षेत्रफल ९६६ वर्गमील है। इस राज्य की नीव सरदार त्रिलोकसिंह ने रक्खी थी। सरदार जी (जन्म १७७३ वैक्रम संवत्) स्वयं गुरु गोविन्दसिंह जी के साथ युद्धों में भाग लेते रहे है।

(३) **जींद**—जींद राज्य की नीव फुलकियाँ वंश के सुखचैनसिंह ने रखी।[3]

---

१. देखिये परिशिष्ट १२ और ७

२. देखिये परिशिष्ट १२

३. देखिये परिशिष्ट १२

राज्य का क्षेत्रफल १३३२ वर्गमील तथा ५०० ग्रामों तक विस्तृत है।

(४) **कपूरथला**—अहलूवालिया मिसल ने कपूरथला राज्य की नींव रक्खी। राज्य का क्षेत्रफल ४८२ वर्गमील है। 'कपूर' वास्तव मे शालिवाहन गजपुत्र का वंशधर था और ग्यारहवी शती मे उसने कपूरथला की नीव रखी। वैक्रम सवत् १८०७ मे भट्टी राजपूत इब्राहीम ने इस राज्य पर अधिकार कर लिया था। १८३७ वैक्रम सवत् मे भट्टी जस्सासिंह कलाल ने इसे पुनः हस्तगत किया और पजाब-विलय तक राज्य उनके वशधरों के पास रहा।

इनके अतिरिक्त फरोदकोट, कलसिया, कैथल आदि अनेक छोटी-मोटी सिख-रियासते अस्तित्व मे आयी।

५ **मुगल सत्ता का अन्त**—पूर्व में एक नयी शक्ति, कम्पनी सरकार, का अभ्युदय हो रहा था। कम्पनी सरकार जिस कूटनीति से आगे बढ़ रही थी, उसे समझने और उसका सामना करने की शक्ति मुगल सम्राटों में न थी। दक्षिण के मराठे अपनी अदम्य शक्ति से दिल्ली-शासन को ललकार रहे थे। मराठे एक बार तो पंजाब पर छा-से गए थे। पश्चिम में सिख मिसलें तथा काबुल दिल्ली-शासन के लिए समस्या थे ही। परिणाम यह हुआ कि दक्षिण ने मुगल साम्राज्य को हिला दिया, पजाब ने उसे संबल प्रदान नहीं किया और कम्पनी सरकार की आँधी ने उसे उखाड फेका। बुझते हुए दीपक की तरह मुगल साम्राज्य का अन्तिम प्रतीक बहादुरशाह उभरा और मुगल साम्राज्य को समेट कर गहरी नीद मे सो गया।

१. मुगल शासन की नयी नीति ने पंजाब में पंजाबी तथा हिन्दी-साहित्य के सवर्धन के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

२. सिख गुरुओं ने पंजाब को एक नयी संस्कृति दी।

३. सिख राज्यों ने हिन्दी को प्रश्रय दिया और उसकी वृद्धि में पूरा योग दिया।

मिश्रित काल के हिंदी-साहित्य के लिए मुगल शासन ने अवकाश दिया, सिख गुरुओं ने उसे रूप-रेखा दी, सिख रियासतों ने उसे पाला-पोसा। कहना न होगा कि मिश्रित काल की मिश्रित राजनीति से ओत-प्रोत हिंदी-साहित्य हिन्दी-विकास मे एक स्वतन्त्र एवं विचित्र स्थान रखता है।

१. देखिये परिशिष्ट १२
२. देखिये परिशिष्ट १२

तुर्क-मुग़ल-आक्रमण काल में इस्लाम धर्म के लिए पर्याप्त अवसर था, स्थान-स्थान पर मुस्लिम खानकाह स्थापित किये गए; पर वह भारतीय जीवन को अत्यधिक मात्रा मे प्रभावित नहीं कर सका।

धार्मिक आन्दोलन

इधर सम्राट् अकबर की उदार नीति ने सभी धर्मो को विकसित होने मे अपूर्व सहायता दी। भारतीय धर्म ने मुस्लिम आक्रमण से बचने के लिए अपने ऊपर जातीयता का लौह-आवेष्टन ओढ लिया था। वह अपने-आप को पूरी तरह सुरक्षित कर पाया हो—ऐसी बात नही है; जिन-जिन लोगो मे भारतीयता का आकर्षण नही रह गया था, वे मुसलमान बनते गए। जहाँ इस्लाम ने व्यापक रूप से भारतीय धर्म को प्रभावित किया, वह एक अलग सम्प्रदाय के रूप मे सामने आया, वह था—सिख धर्म। पजाब के धार्मिक आन्दोलनों का क्रम-प्राप्त विवरण यह है।

१. **नाथ-सम्प्रदाय**—नाथ-सम्प्रदाय को धर्म कहना भूल होगी। न तो वह दार्शनिक ढग से व्यवस्थित था और न जातीयता रूप मे दृढमूल। वह तो चली आ रही अनेक परम्पराओं का एक 'समूह' मात्र था; इन परम्पराओ मे न तो परस्पर सामंजस्य था और न ही इनकी स्पष्ट रूपरेखा उसके सामने थी। नाथ-सम्प्रदाय विद्वान् तथा उच्च वर्ण को आकर्षित नही कर सका; उसमे छोटी जातियाँ ही अधिकतर सम्मिलित हुई थी। अतः ज्यों ही इस्लाम ने तलवार उठायी कि नाथ-सम्प्रदाय ने उसके आगे सिर झुका दिया। स्पष्ट हो कि बौद्ध मत इस्लाम के आगे टिकने की शक्ति नही रखता था, वह तो इस्लाम मे खो ही गया था; नाथ-सम्प्रदाय का बहुत बड़ा भाग भी बौद्धमत के मार्ग पर चल पडा—महाजनो येन गतः स पन्थाः। सो मुगल काल में नाथ-सम्प्रदाय की कोई सक्रियता नजर नही आ रही थी।

२. **भारतीय (सनातन) धर्म**—भारतीय (सनातन हिंदू) धर्म बहुत बडा है। उसकी व्यापकता अद्भुत, अतर्क्य और निरपेक्ष है। वह निर्गुण उपासक भी है, सगुणोपासक भी; वह निरा आध्यात्मिक धर्म भी है और पार्थिव धर्म भी; उसका मस्तिष्क आकाश मे है, और पाँव पृथ्वी पर। वह वर्तमान मे स्थित होकर भी भूत और भविष्यत् की कड़ी मिला सकता है। वह समय के अनुसार बदल भी सकता है, समय आने पर डट भी जाता है। जहाँ भारतीय धर्म विशाल है, वहाँ उसकी महिमा अपरिमेय है।

इस्लाम ने उत्तर-पश्चिम कोण से भारत में प्रवेश लिया था। ठीक इसके

विपरीत पूर्व-दक्षिण में भारतीय धर्म ने फिर से करवट ली। जैसे कि इससे हजार वर्ष पूर्व उत्तर ने एक नये धर्म (बौद्धमत) को जन्म दिया था, और उसकी प्रतिक्रिया भी दक्षिण में हुई थी; भगवान् शंकर ने उसका डटकर प्रतिरोध किया था। वैसे ही अब इस्लाम के लिए भी दक्षिण ने अपना 'उत्तर दायित्व' पूरी तरह निभाया और इस्लाम के प्रतिरोधक तत्त्वों को धर्म में स्थान दिया।

शंकर-पूर्व धर्म की स्थिति तथा शंकर-प्रतिपादित धर्म की तुलना करके उसका महत्त्व समझा जा सकता है। यथा —

शंकर-पूर्व	शंकर-उत्तर
१. बहुदेवतावाद	ब्रह्मवाद
२. यज्ञ-विधान	भक्ति-प्रचार
३. कर्मकाण्ड	ज्ञानकाण्ड
४. प्रवृत्तिमूलक जीवन-यात्रा	निवृत्तिमूलक जीवन-यात्रा[1]

शंकर-प्रतिपादित ब्रह्ममूलक, भक्तिमय, ज्ञान-सहित, निवृत्ति-बहुल धर्म आगे आने वाले आचार्यों को स्वीकार्य नही हुआ। वे इस्लाम का अभ्युदय देख रहे थे, और तदनुसार शंकरवाद को परिमार्जित करने को उद्यत हो गए थे। मायावाद भी अब इतना सशक्त नही रह गया था, जो भारतीय धर्म का संबल बन सके। अतः सर्वप्रथम श्रीरामानुजाचार्य ने मायावाद को अस्वीकार कर दिया। मायावाद मे केवल ब्रह्म ही सत्य है, जीव और जगत् दोनों मिथ्या है। मायावाद ने सन्यास धर्म को, जो अब युगानुरूप नही रह गया था, अनावश्यक प्रश्रय दिया था। रामानुजाचार्य का मायावाद के खण्डन में प्रस्तुत किया गया तर्क दार्शनिक दृष्टि से बहुत ऊँचा है। उनके मतानुसार ब्रह्म (कारण) से उत्पन्न जीव और जगत् (कार्य) मिथ्या कैसे हो सकते है? अतः उन्होंने मायावाद को अस्वीकार करते हुए 'मोक्ष' की नयी परिभाषा दी। विद्वानो ने रामानुजाचार्य के सिद्धान्त को 'विशिष्टाद्वैतवाद' नाम दिया है। जिस प्रकार रामानुजाचार्य ने शाकर मत का परिमार्जन आरम्भ कर दिया था, ठीक उसी प्रकार माध्वाचार्य ने इन दोनों में संशोधन उपस्थित कर दिया। उनके मतानुसार, जीव ईश्वर से पैदा तो हुआ है, वह समवाय-संबंध से ईश्वरीय गुणों से शून्य भी नहीं है; पर, आत्मा ईश्वर से उत्पन्न होकर भी नित्य पृथक् रहता है।

---

१. हिंदी-वाङ्मय का विकास : सत्यदेव चौधरी, पृष्ठ ६७

'कार्य' कारण से जन्म लेकर नित्य कार्य रहता है, वह कारणान्तर से पुनः कारण-रूप (विलय-मुक्ति नहीं) हो सकता। माध्वाचार्य ने विष्णु को पूर्ण ब्रह्म का प्रतीक माना है। माध्वाचार्य के अभिमत का नाम है—'द्वैताद्वत'। अर्थात् जो कभी अद्वैत था, कालान्तर में द्वैत बन कर रह गया। निम्बार्काचार्य ने माध्वाचार्य के 'नित्यपृथक्' वाद को स्वीकार नहीं किया। उनके मत में माया मिथ्या नहीं है, जीव और ब्रह्म भी नित्य-पृथक् नहीं हैं। जिस प्रकार माध्वाचार्य ने विष्णु को पूर्ण ब्रह्म तथा माया को शून्य माना था, उसी प्रकार निम्बार्काचार्य ने कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म विष्णु का अवतार माना और राधा को माया का अवतार। रामानन्द ने निम्बार्काचार्य की मान्यता को अमान्य न ठहराते हुए उसे नया रूप दिया; निम्बार्क ने कृष्ण को ब्रह्म का अवतार माना, और इन्होंने राम को ब्रह्म का अवतार माना। आगे चलकर श्रीवल्लभाचार्य ने इन सभी मत-मतान्तरों का समन्वय किया। उन्होंने अद्वैतवाद को यथावत् स्वीकार कर लिया, परन्तु माया को कार्यरूप में स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार चलते-चलते भक्ति मार्ग का रूप स्पष्ट हो गया। इसी भक्ति का आलम्बन प्राप्त कर भारतीय (हिन्दू) समाज इस्लाम के सांस्कृतिक समर में विजय प्राप्त कर सका। शंकर-प्रतिपादित सनातन धर्म तथा संशोधित सनातन धर्म का तुलनात्मक चित्र देखिये—

शांकर धर्म	वैष्णव धर्म
१. निर्गुण ब्रह्मवाद	सगुण अवतारवाद
२. भक्ति-प्रचार	विग्रह-पूजन, भक्ति
३. ज्ञानकाण्ड	उपासनाकाण्ड
४. निवृत्तिमूलक जीवन (संन्यास)	प्रवृत्तिमूलक जीवन (गृहस्थ)
५. अद्वैतवाद : मायामिथ्या	विशिष्टाद्वैतवाद : मायाभाव

वैदिकेतर धर्म के विरोध-रूप शंकराचार्य ने सनातन (हिन्दू) धर्म को जो रूप दिया था, वह एक तरह का युगधर्म था। मौलिक मान्यताओं पर चोट किये बिना शंकर के अद्वैतवाद के नये संस्करण के लिए रामानुचार्य, माध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य और वल्लभाचार्य को श्रेय मिलना चाहिए। इन्होंने शंकर के अभिमत को इस योग्य बना दिया कि वह जनता द्वारा ग्राह्य हो सका और सांस्कृतिक संघर्ष में भी विजयी हो सका।[1]

---

१. द्रष्टव्य : परिशिष्ट १३

सनातन (हिंदू) धर्म का विकास-इतिहास पढ़कर उसके कुछ सिद्धान्तों को जान लेना सामयिक होगा—

ब्रह्म—भगवती श्रुति ने सर्व-व्यापक निर्गुण-सगुण सत्ता को ब्रह्म नाम दिया है। सगुण ब्रह्म 'अपर ब्रह्म' कहलाता है और निर्गुण 'परब्रह्म'। निर्गुण ब्रह्म मूल है, सगुण ब्रह्म उसकी शाखा। सगुण ब्रह्म 'पुल्लिंगबोधक' शब्दों द्वारा सूचित होता है और निर्गुण ब्रह्म 'नपुंसक लिंग' शब्दों द्वारा अभिहित होता है।[1] अपर ब्रह्म का नाम 'ईश्वर' है।

ईश्वर—सगुण ब्रह्म की दैवशक्ति को 'ईश्वर' नाम दिया गया है। यही ईश्वर देवताओं का परम दैवत और अनित्य सृष्टि का उत्पादक (**ब्रह्मा-रूप**), पालक (**विष्णु-रूप**) तथा नाशक (**रुद्र-रूप**) बताया जाता है। अवतारवाद में इसी ईश्वर की सत्ता मानी जाती है। माया की पहुँच या उत्पत्ति इसी ईश्वर से संभव है। सायुज्यमुक्ति अथवा सामीप्यमुक्ति इसी ईश्वर से मान्य ठहरायी जाती है। विलयमुक्ति परब्रह्म से मानी जाती है।[2]

आत्मा—आत्मा[3] के दो रूप है—जीव और मुक्त। मनुष्य, पितर और देवता-रूप में विचरण करने वाली आत्मा 'जीव' कहलाती है। कर्मबन्धन (क्रिया और प्रतिक्रिया=फल) इसी जीव तक सीमित है। कर्म-बन्धन-रहित चेतन शक्ति मुक्त आत्मा कहलाती है। सामीप्य और सायुज्य मुक्ति आत्मा के लिए अभिप्रेत रहती है, पर ब्रह्मलीनावस्था में 'आत्मा' अपना रूप खो देती है।

प्रकृति—ईश्वर की चित् और आनन्द-शून्य शक्ति का नाम प्रकृति है। प्रकृति ईश्वर से संभूत है। प्रकृति के पाँच रूप हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश।

सृष्टि—ब्रह्म ने ईश्वर को, ईश्वर ने आत्मा और प्रकृति को, प्रकृति ने (पुरुष से मिलकर) रचना उत्पन्न की।[4] इसी का नाम सृष्टि है।

---

१. सन्ति उभयलिंगाः श्रुतयो ब्रह्मविषयाः। —शांकरभाष्य

२. (क) यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये। —श्वेताश्वतर उपनिषद्—६।१८
(ख) सृष्टि-स्थिति-लयाख्येषु कर्मसु त्रिषु हेतुताम्।
प्रभुत्वेन सहैतेषां प्रसीदति महेश्वरः॥ —वा० सं०, अ० २

३. माहाभाग्याद् देवतायाः एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति।

४. (क) पादोऽस्य विश्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि।
(ख) ऊर्ध्वमूलम् अधःशाखम् अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्॥ —गीता १५।१

उपासना—'आत्मा' ईश्वर (ऊर्ध्वमूल) और प्रकृति (अधःशाखा) से संबंधित है; वह कर्म द्वारा प्रकृति से और चिन्तन-मनन-स्वाध्याय द्वारा ईश्वर से कड़ी मिलाये रहता है, इसी का नाम उपासना है। उपासना के दो पार्श्व हैं—(१) ज्ञानकाण्ड और (२) कर्मकाण्ड। ज्ञान और कर्म की मध्यवर्ती कड़ी को संध्या कहते हैं।

कहना न होगा कि पंजाब के हिंदी-साहित्य में इस सनातन (हिंदू) धर्म की ध्वनि बड़ी स्पष्ट सुनायी पड़ती है। यद्यपि दक्षिण से चली आ रही वैष्णव धारा राम-कृष्ण की भूमि उत्तरप्रदेश में रम कर रह गई, पंजाब मे उसकी मात्र प्रतिध्वनि सुनायी पड़ी; तथापि, यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है जबतक गुरु-सम्प्रदाय भक्ति तक सीमित रहा, तबतक पंजाब में वैष्णव-वाणी प्रखर-रूप न ले सकी; ज्योंही गुरु-सम्प्रदाय ने राजनीति में पदन्यास किया, त्योंही वैष्णव-वाणी ने स्वस्थ रूप ले लिया। दूसरे शब्दों मे, मध्यभारत मे जहाँ भक्ति-काल समाप्त हुआ, पंजाब में वहीं से भक्ति-काल आरम्भ हुआ। इस वैष्णव वाणी को कवि-परिचयों में स्पष्ट करेंगे।

३. **सिख-धर्म**—पंजाब में परम्परागत सनातन (हिंदू) धर्म के अतिरिक्त एक नये धर्म ने जन्म लिया, जिसे सिखधर्म कहते है। 'सिखधर्म' ने समय की गति के अनुसार एक अद्‌भुत रूप ले लिया, जिसमे इस्लाम की विशेषताएँ सन्निहित है, हिन्दू धर्म की कतिपय मान्यताएँ भी यथावत् है—और कुछ-एक निजी विशेषताएँ भी हैं—इस अद्‌भुत रूप को देखकर अच्छे-अच्छे विद्वान् इसे समझने में असमर्थ रहे है। ट्रम्प ने सिक्खों को पूर्ण हिंदू, फैड्रिक पिंटन ने इन्हें पूर्ण मुस्लिम तथा मैकालिफ ने इन्हे स्वतंत्र धर्म के रूप में माना है। तुलना करके देखें कि हिंदू-सिख सिद्धान्तों और मुस्लिम-सिख सिद्धान्तों में कहाँ समानता है और कहाँ विषमता।

(क) हिंदू-सिख—सिख धर्म चलाने वाले हिन्दू क्षत्रिय थे, अतः उन्हें हिंदू-धर्म से पृथक् कैसे रखा जा सकता है? उनमें कतिपय विशेषताएँ हिन्दुओं जैसी हैं; यथा—

१—सिखों ने जिस शक्ति को 'अकाल' नाम[1] से स्मरण किया है, हिंदू उसे 'काल' नाम देकर[2] आज से पाँच हजार वर्ष पहले ही स्मरण कर चुके हैं। काल-अकाल मे भाषायी उच्चारण-भेद है। जैसे—स्तुति-अस्तुति।

१. ओं सतिनाम करता पुरप निरभऊ, निरवैर, अकालमूरति, अजूनि, सैभं गुरप्रसादि।

२. कालोस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः। —गीता

२—माया और जीव, अर्थात् चेतन और प्रकृति सब ईश्वर के बनाये हुए है।[1]

३—सृष्टि पंचभूतात्मक है, और पाँच भूत भी उसी के पैदा किये हुए हैं।[2]

४—देवतावाद हिन्दुओं की सनातन परम्परा है। देवता कोई अलग अनेक ईश्वर नहीं हैं, बल्कि मनुष्य-योनि की तरह एक देव-योनि विशेष है। ईश्वर ने इन देवताओं को उत्पन्न किया है। उत्पादक शक्ति का नाम है ईश्वर, और उत्पाद्य शक्ति का नाम है 'देवता'। देवतावाद हिंदू और सिख दोनों को समान अभिप्रेय है और अविभाज्य रिक्थ है।[3]

५—ईश्वर के स्वरूप-निर्धारण में दोनों धर्मों की मान्यता एकदम अभिन्न है।[4]

---

१. (क) शिव शक्ति आप उपायिकै करता आपै हुकम बरताए। —रामकली : म० ३
(ख) द्वावेव नित्ययुक्तौतु परमः प्रकृतिस्तथा। —भागवत तात्पर्य-निर्णय

२. (क) पंचभूनायको आपि सिरंदा जिनि सचु का पिंड सवारिया।
(ख) एषः सर्वाणि भूतानि पंचभिः व्याप्तमूर्तिभिः।

३. (क) त्रितिया ब्रह्मा विशनु महेशा। देवी देव उपाए वैसा।
जोति जाति (दिव्य जातियां) गणत न आवे। जिन साजि सो कीमत पावे।
—राग बिलावल : महला १
(ख) अग्निर्नाम यो देवता जातिविशेषो लोकवेदप्रसिद्धः तदभिमानको ब्राह्मणः।
—बालमनोरमा (व्याकरण टीका)

४. (क) ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपाख्यानभूतम्। —मांडूक्योपनिषद
(ख) १ ओं सतिनाम करता पुरुष··· —सारंग : म० १
(क) सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म —तैत्तिरीयोपनिषद्
(ख) सति पुरुष सति अस्थान्। —सारंग : म० १
(क) कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् —मुण्डकोपनिषद्
(ख) करण कारण प्रभ एक है दूसर नाही कोई। —सुखमनी : महिला ५
(क) सन्ति उभयलिङ्गाः श्रुतयः। —शांकरभाष्य
(ख) इसु जग माहि पुरुष एक है, होर सगली नारी सवाई। —बार : म० ५
(क) अभयं ज्योतिः —ऋग्वेद
(ख) निरभऊ निवैरू निरंकारू। —रागगौड़ी : म० ४
(क) न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। —गीता
(ख) निरवैरु अथाह अतोले। —महला ५
(क) न जायते म्रियते वा कदाचन। —कठोपनिषद
(ख) सुरि नर नाथ बेअन्त अजोनी साचे महलि अपारा। —रागगूजरी : म० १

६—अवतारवाद में दोनों धर्मों की दृढ़ आस्था है।[1]

७—'नामस्मरण' रूप भक्ति-मार्ग दोनों में पाया जाता है।[2]

८—ईश्वर के निर्गुण और सगुण रूप के प्रति दोनों धर्म एक मंच पर साथ-साथ खड़े है।[3]

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी ऐसी है, जिन्हें देखकर यह आभास भी नही होता कि इनमे नाम-मात्र के लिए कही भी पार्थक्य है? यथा—दाह-संस्कार, मूर्तिपूजा (ग्रथपूजा)[4], प्रार्थना (अरदास), पुजारी (ग्रन्थी) और आरती आदि अनेक रूढ़ियों को गिनाया जा सकता है।

(ख) मुस्लिम-सिख—सिख सम्प्रदाय में कुछ-एक बातें भी ऐसी हैं, जो उन्हें हिन्दुओं से पृथक् करती हैं। बल्कि, ये बातें कुछ सीमातक इस्लाम धर्म की मान्यताओं-जैसी लगती है। यदि बारीकी से छान-बीन की जाय, तो ये बातें भी 'आभास-मात्र' रह जाती है। कुछ बातें यों हैं—

१—मुसलमान सीमित पैग़म्बरवाद मानते हैं; अर्थात् 'ख़त्म-ए-नबूबत' के अनुसार उनका अन्य पैगम्बर नहीं हो सकता। सिख-सम्प्रदाय भी आदि-ग्रन्थ को गुरु मानकर अपनी गुरु-परम्परा को विरत मानते हैं।

२—जैसे मुसलमानों मे जीव-हनन की एक विधि (हलाल) निश्चित है, वैसे सिक्खों में भी एक हनन-विधि (झटका) निश्चित है।

३—कर्मकाण्ड का अभाव, वर्णधर्म का विरोध, शौच-विचार की शून्यता और धर्म-परिवर्तन आदि अनेक विशेषताएँ दोनों में पायी जाती हैं।

४—धर्ममूलक समाज-व्यवस्था दोनों में नही है, आदि-आदि।

इन बातों को देखकर भी सिखो को मुसलमान नहीं बताया जा सकता। सिख हिन्दू-धर्म, हिन्दू-जाति (रक्त) तथा हिन्दू-मान्यताओं की प्रमुख शाखा होने पर भी अपने को हिन्दू नही बता रहे।[5] जिन विद्वानों ने सिख धर्म को 'इस्लाम की भारतीय टीका' अथवा 'इसलाम का हिन्दू-संस्करण' नाम दिया है, उनकी धारणा के पीछे भ्रान्तियाँ अधिक हैं, वास्तविकताएँ कम। वास्तव में 'सिख

१. (क) धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे। —गीता
(ख) जब-जब होत अरिष्ट अपारा। तब तब देह धरत करतारा। —दशम ग्रंथ
२. (क) नाम निरंजन अति अगम अपारा। —रागसूही : म० ३
(ख) मनामहे चारु देवस्य नाम —ऋ० १।२४।१
यत्ते अनाधृष्टं नामयज्ञियम्। —यजु० ५-९
३. निरगुन हरिआ सरगुन धरिया। (ख) अगुनहि सगुनहिं नहिं कछु भेदा।
४. गुरुग्रन्थ को जानिये प्रगट गुराँ दी देह।
५. द्रष्टव्य : हम हिन्दू नहीं।

धर्म' आरम्भ से चली आ रही धार्मिक सुधारवादी अथवा क्रान्तिवादी अनेक विचारधाराओं का सफल समूहीकरण है; सिखों को बौद्ध धर्म का अवशेष नहीं मान सकते, क्योंकि सिक्खों में भिक्षु-वृत्ति नहीं है ; पर इन्हें वर्ण-विरोधी होने से बौद्धों से अलग भी नहीं रखा जा सकता। सिखों को सूफ़ी भी नहीं बताया जा सकता, क्योंकि क्षात्र धर्म इन्हें राजनीति में लाकर खड़ा कर देता है ; पर प्रणय-उपासना के कारण इन्हें सूफ़ी-प्रभाव से सर्वथा मुक्त भी नहीं कहा जा सकता। सिख नाथ भी नहीं हैं, क्योंकि मत्स्येन्द्रनाथ या गोरखनाथ इनके उपास्य नहीं हैं ; पर 'शून्यवाद' के कारण नाथों और सिखों में अन्तर कम रह जाता है। योग-मार्ग [१]के व्यावहारिक अभाव में सिखमत संतमत भी नहीं है ; पर इनमें अनहद शब्द सुनायी पड़ रहा है, जिससे कोई भी इन्हें संतमत से अलग नहीं रख सकता। फलतः सिद्धमत[२], नाथमत[३], बौद्धमत[४], संतमत[५], अद्वैतमत[६], सनातनमत[७], सूफ़ीमत[८] आदि विचारधाराओं के समन्वय से 'सिखमत' अभिव्यक्त हुआ है—इसे कौन अस्वीकृत कर सकता है ? सिख धर्म की प्रमुख मान्यताएँ यों है—

सृष्टि-विधान—गुरुमतानुसार सृष्टि का मूल निरंकार परमेश्वर है। उसके 'हुक्म' से सृष्टि बनी है। माया ईश्वरीय रचना होने से सृष्टि है, कर्त्ता नहीं। यथा—

हुकमी होविन आकारु हुकुम न कहिआ जाई।
हुकमी होवन जीअ हुकमि मिलै बडियाई ॥[९]

---

१. हठु निग्रह करि काइया झीजै।
वस्तु तपतु करि मनु नहि भीजै।
रामनाम सरि अवर न पूजै। रामकली : महला १—अष्टपदी।
२. शून्यवाद : सुन्नि सरोवर सुरति समानी। नानक चूकी आवन जानी।
३. योगवाद : अउघट घाट है विषम बाट। गुरमुख खोले बज्र कपाट।
४. वर्ण विरोध : फक्कड़ जाति फक्कड़ नाऊँ। सभना जिआं दा इक ढाऊँ।
५. संस्कार विरोध : दया कपाह, संतोष सूतु, जतुगण्डी सत वटु।
ऐ जनेऊ जीअ का हई ते पाण्डे घतु।
६. एकत्ववाद : आपे बीज आपे ही खाहु। नानक हुकुमि आवहु-जावहु।
७. अवतारवाद : जब-जब होत अरिष्ट अपारा। तब-तब देह धरत करतारा।
८. प्रणयवाद : इस जगु मोहि पुरुष एक है। होर सकली नारी सवाई (पत्नी)।
९. जप साहब : महला २

पुनः—

माया मोह मेरो प्रभु कीना आपै भरमि भुलाए ।[1]

मानव—गुरु-मत के अनुसार मानव-जीवन पृथ्वी के सब जीव-जन्तुओं में सर्वश्रेष्ठ है और उसमें एक निरंकार की जोत जग रही है। मानव-जीवन की परिभाषा और रूपरेखा के लिए इतना ही कहना पर्याप्त है—

अवर जोति तेरी पनिहारी ।
इस धरती महि तेरी सिरदारी ॥[2]

पुनः—

ए शरीरा मेरिया हरि तुम महि जोत धरी ।[3]

मोक्ष—गुरुमत के अनुसार जप, तप, साधना, संन्यास आदि के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति नहीं हो सकती, अपितु संसार में रहकर गुरु-मतानुसार जीवन-यापन करके परम पद की प्राप्ति होती है। यथा—

जैसे जल महि कमलु निरालमु, मुरगायी नैसाणै ।
सुरति सबदि भवसागर तरिये, नानक नाम वखाणै ।
रहहि इकान्त एको मन बसिआ, आसा माहि निरासा ।
अगम अगोचर देखि दिखाये, नानक ताका दासा ॥[4]

सति गुरु—गुरु-मत में ईश्वर के बाद दूसरा स्थान गुरु को प्राप्त है। इसके विपक्ष में यह भी बताया जाता है कि गुरु ईश्वर का अवतार है, अथवा गुरु स्वयं ईश्वररूप है। यथा—

गुरु सरु सागरु बोहिथा, गुर तीरथ वरियाऊ ।
जे तिसु भावै ऊजली, सतसरि नावण जाऊ ॥[5]
गुरु करता गुरु करणै जोगु । गुरु परमेश्वर है भी होगु ।[6]
आदि अन्त एको अवतारा । सोई गुरु समझि मनु हमारा ॥[7]
गुरु परमेश्वर एको जाणु । जो जिस भावै सो परवाणु ।[8]

---

१. श्रीराग : आदि ग्रन्थ, महला ३ (अष्टपदी)
२. आसा : महला ५
३. रामकली : महला ३, अनंद
४. रामकली : म० १, सिद्धगोष्ट
५. श्रीराग : म० १
६. गौड़ : म० ५
७. गौड : म० ५
८. गौड़ : म० ५

योग—गुरु-मत में हटयोग का स्थान नही है। पर ध्यान-योग तथा कीर्तन-योग के लिए गुरुवाणी आज्ञा देती है। यथा—

गुरमुखि प्राणी भरमु गवाई।
सहज धुनि उपजै हरिलिव लाई।[1]

कर्म—कर्म-सिद्धान्त हिन्दुओ और सिखों का समान रिक्थ है। इस पर जितना मान करे, कम है। जिस प्रकार 'हुकम' से सृष्टि हुई है, उसी प्रकार ईश्वर के हुक्म से मानव के भाग्य बनते है, जो पूर्व-कर्मो का परिणाम-मात्र होते है, यथा—

बाबा नाँगड़ा आइआ जगमहि दुखु सुखु लेख लिखाइआ।
लिखिअड़ा साहा न टलै जेहड़ा पूरबि कमाइआ॥[2]

अद्वैतवाद—उपास्य (ईश्वर अथवा गुरु) और उपासक (मानव) में अभेद भारतीय दर्शन-शास्त्र की देन है। सिख धर्म में इसका प्रखर रूप उपलब्ध होता है। यथा—

खालसा मेरो रूप है खास। खालसे माहि हौं करौं निवास।
खालसा मेरो मित्र सखायी। खालसा मात्र पिता सुखदायी।[3]

सिख धर्म का विकासक्रम भी कम रोचक नहीं है। सिख-इतिहास को तीन युगों में विभाजित किया जा सकता है; यथा—संघटन-काल, जागृति-काल, एवं नवीन काल। सिख धर्म हिन्दू जाति की एक शाखा है, यह हम पीछे लिख चुके है। आरम्भ में सिखमत को नानक-मत या नानक-पन्थी बताया जाता था। इस मत के विकास मे गुरु-परम्परा का विशेष स्थान है। आरम्भ मे यह परम्परा गुरु-शिष्य के रूप में चली। पंचम नानक के उपरान्त यह वंश के रूप में चली। इस गुरु-वंशावली का परिचय इस प्रकार से है। यथा—

पदवी	नाम	जन्म	गुरुआई	गुरुलोक
प्रथम नानक	नानकदेव	सं० १५२६	—	सं० १५९५
द्वितीय नानक	अंगददेव	,, १५६१	सं० १५९५	,, १६०९
तृतीय नानक	अमरदास	,, १५३६	,, १६०९	,, १६३१
चतुर्थ नानक	रामदास	,, १५९१	,, १६३१	,, १६३८
पंचम नानक	अर्जुनदेव	,, १६२०	,, १६३८	,, १६६३
षष्ठ नानक	हरगोविन्द	,, १६५२	,, १६६३	,, १७०१

१. गौड़ी : म० ३, अष्टपदिआ
२. वडहंस : म० १ अलाहणिआ
३. गुरुमतनिर्णय : भाई जोधसिंह, पृष्ठ २८१

पदवी	नाम	जन्म	गुरुआई	गुरुलोक
सप्तम नानक	हरराय	सं० १६८७	सं० १७०१	सं० १७१८
अष्टम नानक	हरकृष्ण	,, १७१३	,, १७१८	,, १७२१
नवम नानक	तेगबहादुर	,, १६७९	,, १७२१	,, १७३२
दशम नानक	गोविन्दसिंह	,, १७२३	,, १७३२	,, १७६५
आदिग्रंथ	-	—	१७६५	—

यहाँ यह बात लक्ष्य करने योग्य है कि स्वय आदि नानक निर्गुण विचार-धारा के उन्नायक थे। उनकी वाणी में वही लचक और वही तेज है। पर बाद मे आने वाले दो गुरु स्वभावतः निर्गुणवादी न थे। गुरु अंगददेव जी शक्ति के उपासक थे और गुरु अमरदास जी वैष्णव थे। इन्हे (पूर्व निष्ठा को निरस्त कर) निर्गुणवाद में दीक्षित किया गया। परन्तु प्रथम वय मे संचित संस्कार इतने जल्दी मिट नही जाते, जैसे कि आम जनता विश्वास करती है। कहीं इनकी वाणी मे सगुणवाद उभरकर प्रकट न हो जाय, उसके लिए सतत प्रयत्न भी किया गया और इस योजना के पीछे एक अन्य शक्ति सक्रिय थी, जो गुरु-वश मे सगुणोपासना को रोक रही थी। उस 'शक्ति' को एक विद्वान् ने 'भाई गुरुदास' का नाम दिया है; पर लेखक यह श्रेय भाई बुद्धा को देना पसन्द करेगा। परन्तु सिख-मत में उभर रही सगुण भक्ति को रोका नहीं जा सका। गुरु गोविन्दसिंहजी के सगुण-लीला-परक पद ग्रन्थसाहिब में नही हैं; उन्हें एक अलग ग्रन्थ के रूप में (दशम ग्रन्थ) प्रतिष्ठित किया गया है। यहाँ एक अन्य बात भी लक्ष्य करने योग्य है कि गुरु-परिवार के उभवतः पार्श्व में—जो गुरु-पुत्र गद्दी पर नही बैठ सके, वे, और गुरुओं के श्वशुर-परिवार मे—सगुण भक्ति की गंगा बह रही थी। सोढी मिहरबान की रामायण का यहाँ उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। निर्गुण भक्ति के अतिरिक्त गुरुओं ने शनैः-शनैः उत्तरोत्तर ऐसी परम्पराएँ डालीं कि जिनसे प्रभावित सिख जनता सनातन (हिन्दू) धर्म से एक जाति के रूप में अलग संगठित होती गई। यथा—

१. गुरु अंगददेव जी ने एक नयी लिपि चलायी, जिसे 'गुरुमुखी' कहते हैं। लण्डे लिपि का विकास भी इसी युग में हुआ है। दोनों लिपियों में किंचित् रेखा-साम्य है और दोनों शारदा लिपि की उपज हैं। लण्डे लिपि के आविष्कारक राजा टोडरमल हैं। ब्राह्मणेतर हिन्दुओं ने लण्डे और सिखों ने गुरुमुखी अपना-कर अपना-अपना मार्ग सँभाला।

२. द्वितीय गुरु ने नानकदेवजी का 'जीवनवृत्त' तथा 'वाणी-संग्रह' तैयार कराये, जो सिख-समाज के प्रथम साहित्य के रूप में मान्य हुए।

३. द्वितीय गुरु ने लंगर (सहभोज) की प्रथा चलायी।

४. गुरु अमरदास जी ने सिख-तीर्थों की नींव डाली, जिससे सिखों की संघवृत्ति को बड़ा बल मिला।

५. गुरु अमरदास जी ने विवाह की नयी रीति (आनन्द कारज) चलायी, जिससे हिन्दू-सिखों में संस्कारात्मक दरार पैदा हो गई।

६. गुरु रामदास जी ने मसंद-प्रथा डाली, जिससे दान-संग्रह की भावना पैदा हुई, इसी धन-बल से गुरु-गद्दी राजगद्दी में परिणत हो गई।

७. गुरु अंगददेवजी के समय से वाणियों का छुट-पुट संग्रह (संचियाँ) हो चला था; गुरु अर्जुनदेवजी ने उन्हें विधिवत् संकलन करके 'आदिग्रंथ' नाम दिया और अन्त में गुरु-वाणी को गुरु-पदवी प्राप्त हुई।

८. गुरु हरगोविन्दजी ने दो तलवारें धारण की, एक तलवार 'फकीरी' का प्रतीक समझी गई, दूसरी तलवार 'मीरी' का प्रतीक। सम्भवतः गुरु हरगोविन्द फकीरों, संतों या गुरुओं में पहला स्थान रखते हैं, जिन्होंने अपने रक्षार्थ शस्त्र उठाया; इससे सिखों के संगठन में और चार चाँद लग गए।

९. गुरु गोविन्दसिंहजी ने वैक्रम संवत् १७५६ में खालसा पंथ की नींव रखी। अपने अनुयायियों को सैनिक तथा भक्त—दोनों का मिश्रित रूप दिया। 'अमृत-पान' का नया संस्कार चलाया। कड़ा, कच्छा, केश कंघा, और कृपाण धारण करने की आज्ञा दी।

इस प्रकार ईश्वरोपासना के व्याज से बनाये गए हिन्दू 'शिष्य' अपने मूल धर्म तथा जाति से अलग हो गए। धर्म, जाति एवं समाज की दृष्टि से सिख आज भी अपना अस्तित्व रखते है। गुरु नानकदेवजी से लेकर आदि-ग्रंथ के गुरु-स्थापना तक के समय को सिखों के लिए 'संगठन-काल' कहते हैं। जागृति-काल का विवरण मिसलों और रियासतों के उदय के साथ मानना समुचित है। नवीन काल का परिचय आगामी अध्याय में दिया जा रहा है।

सिख समाज जिस 'इकाई' की भावना को लेकर चला था, क्या उसमें उसे सफलता मिली? इसका उत्तर नानक-उपासना पर अटल आस्था रखने वाले कई सम्प्रदायों के परिचय से मिल जायगा। उदासी सम्प्रदाय को चलाने वाले थे—श्रीचंद जी। ये महात्मा गुरु नानकदेव जी के आत्मज एवं योगी थे। सिख-समाज में संन्यास-धर्म को स्थान प्राप्त नहीं

है। जिन लोगों में वैराग्य-भावना विद्यमान थी, वे योगी श्रीचंद के सम्प्रदाय में दीक्षित एवं संगठित हुए। गुरु गोविंदसिंहजी के एक प्रमुख शिष्य वीरसिंह ने **'निर्मल सम्प्रदाय'** चलाया। कहते हैं, गुरु गोविंदजी ने इन्हें स्वयं गैरिक वस्त्र दिये थे। रणजीतसिंह के सैनिक श्रीरामसिंह ने **'नामधारी'** सम्प्रदाय चलाया। इनके विचानुसार गुरु-परम्परा समाप्त नहीं हो गई, गुरु-परम्परा आज भी विद्यमान है। श्री बालकराम इनके ११वें तथा गुरु रामसिंहजी इस सम्प्रदाय के १२वें गुरु हुए। इस सम्प्रदाय का मठ 'भैणी साहब' में है तथा 'निरामिष भोजन' एवं 'खादी वस्त्र-धारण' इनका सिद्धान्त है। **सुथरा पंथ, सेवा पंथ, निहंग सम्प्रदाय, अकाली सम्प्रदाय,** भगतपंथी तथा **गुलाबदासिए** छोटे-मोटे साम्प्रदायिक मतान्तरों के कारण अनेक पक्ष खड़े हो गए हैं। भगत-पथी मुर्दों को गाढ़ने मे विश्वास रखते हैं। गुलाबदासिए केश-धारण को अनिवार्य नहीं समझते। **निरंकारी सम्प्रदाय** वाले दयालदास खत्री को अपना संस्थापक बताते हैं; इनकी आस्था केवल नानकदेव की वाणी तक सीमित है। निरंकारी परस्पर-वंदना के रूप में छोटे-बड़े का भेद किये बिना चरण छूते हैं। विद्रोही होने के नाते **हंवली सम्प्रदाय** सिख समाज का अंग होने पर भी अपना सम्मानित स्थान नहीं बना सका। छूआ-छूत न मानने वाले सिख समाज में **मजहबी सिख** वही स्थान रखते हैं, जो स्थान हिंदुओं में हरिजनों को प्राप्त है।

कहना न होगा कि अपनी अद्भुत विशेषताओं के बल पर विकसित होने वाले सिख-समाज की समस्त धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक उपलब्धियां संवत् १६०० से संवत् १९५० तक गुरुमुखी लिपि एवं ब्रजभाषा में विद्यमान हैं। सच बात तो यह है कि पंजाब में ब्रजभाषा के विकास और संरक्षा का पूरा श्रेय सिख-समाज को ही दिया जा सकता है, किसी अन्य समाज को नहीं।

३. **संत-मत**—विगत पृष्ठों में जयदेव का उल्लेख (प्रथम अध्याय और तीसरा प्रकरण) हो चुका है। भ्रान्तिवश महाप्रभु जयदेव को संत जयदेव से अभिन्न मान लिया गया है। जयदेव महाप्रभु चन्द बरदायी के समकालीन थे। उस समय तक संत मत विकसित नहीं हो सका था; अनुमान यदि गलत नहीं तो कम-से-कम पंजाब में नाथ-सम्प्रदाय के अस्तित्व से संत-मत के विकास का अवकाश नहीं रह गया था। अलबत्ता नानकपूर्व काल में—जब नाथ-सम्प्रदाय लोक-जीवन से उठ कर केवल साहित्य में ही रह गया था—संत जयदेव के अस्तित्व पर विचार किया जा सकता है। महाप्रभु जयदेव तथा संत जयदेव की चर्चा छोड़ यहाँ संतमत पर विचार करना रुचिकर होगा। जिस प्रकार

नानकदेव के प्रखर तेजस्वी व्यक्तित्व के आगे वैष्णव भक्ति की धारा कुछ दशाब्दियों के लिए थम-सी गई थी; उसी प्रकार सिद्ध-नाथ-सूफी-शंकर के मतों का समूहभूत संतमत भी नानक-मत के आगे स्थिर न रह सका; हालाँकि बहुत-से विद्वानों ने सिख-मत को भी संत-मत माना है। परन्तु संत-मत की सर्वसम्मत विशेषताएँ उसके अपने ह्रास का कारण बन गईं। अनुभव कहता है कि संत-जन सामाजिक जीवन से हट कर केवल भगवद्-चिन्तन मे ही काल-यापन उचित समझते थे। पजाब के संत ही नही, कबीर-पंथ, मलूक-पंथ तथा दादू-पंथ जैसे व्यापक सम्प्रदाय भी अपना व्यावहारिक पक्ष नही बना सके। अतः एक ऐसे मत के सामने, जो भक्ति और गृहस्थाश्रम का समन्वय करना श्रेष्ठ मानता है, किसी सतमत के ठहरने की बात सोचना ही व्याव-हारिक रूप से मिथ्या है। निर्गुण भक्ति चाहने वाला जितना जनसमुदाय था, और जितना गृहस्थाश्रम के जटिल कर्मकाण्ड से त्रसित मानव-समुदाय था—वह सब-का-सब सिखपंथ में खिचा चला गया था। फिर संत-मत के लिए अवकाश कहाँ रह गया था इस स्थिति मे? पंजाब में सत-मत की क्या दशा होनी चाहिए—इसका उत्तर विज्ञ पाठकों से अनवगत नही है। दूसरे, सत-मत मे जितनी मौलिकताएँ, मान्यताएँ व उपलब्धियाँ थी, सिख-मत उन सबको आत्मसात् कर चुका था। अतः पंजाब के कतिपय प्राप्त सतों में से किसी नवीन ज्ञान या मौलिक देन अथवा किसी साधन वाले साधु-संत की आशा नहीं करनी चाहिए। परन्तु गरीबदास, बाबालाल, निश्चलदास, अनेमी, दयालदास जैसे संतों के रचित संत-साहित्य से इतना पता अवश्य चल जाता है कि पंजाब में संत-मत सर्वथा निर्मूल नहीं हो गया था।

बस, पंजाब में धार्मिक दृष्टि से संत-मत का विचार्य विषय इतना ही है।

कहना न होगा कि पंजाब के बहु-रंगी तथा बहु-अंगी हिंदी-साहित्य में संतमत का योगदान उतना ही काचित्क है, जैसे कि वैष्णव विचारधारा अथवा सनातन (हिंदू) विचारधारा का योगदान। अतः पंजाब के हिंदी-साहित्य में संत-मत की अधिक आशा करना निरर्थक है।

४. **इस्लाम**—अब तक के अध्ययन से इतना ज्ञात हो चुका होगा कि इस्लाम हाथ में तलवार लेकर भारत में आया था; उसने राजनीतिक स्तर पर विजय प्राप्त कर ली, देश पराधीन हो गया। भारतीय जन मुसलमानों के अधीन क्यों हो गए, कैसे हो गए?—इन प्रश्नों के उत्तर में इतिहासकारों का कहना कुछ और है और समाज-विज्ञान-विज्ञों का कथन कुछ और है। पर इस

भ्रान्ति में दोनों साथ-साथ खडे हैं कि भारत की तथाकथित शूद्र-जातियों के इस्लाम अंगीकार करने से 'भारत' संख्या की दृष्टि से दुर्बल पड गया और पराधीन हो गया। पर इसमे सत्य का अंश बहुत कम है। शूद्रों ने इस्लाम मंजूर नहीं किया, ऐसा हमारा कोई दावा नही; पर आनुपातिक दृष्टि से क्षत्रियों ने सब से आगे बढ़-चढ़ कर इस्लाम का स्वागत किया। शालिवाहन (गज-पुत्र) के पुत्रों के इस्लाम अपनाने पर बहुत-से भट्टी क्षत्रिय मुसलमान बन गए। जो बच रहे, वे जैसलमेर में जा बसे; इन में से जो पंजाब मे रह गए वे सिख बन गए।[1] क्या भट्टी शूद्र थे? स्याल, टिवाना, हरजायी, मग्गू, उप्पल, सहगल जातियों ने इस्लाम मंजूर किया, क्या ये क्षत्रिय जातियाँ शूद्र थी? भारत के क्षत्रिय सदा प्रगतिशील रहे है। शक और हूण— जो राजा नरिष्यन्त की सन्तान थे और मूलतः सूर्यवंशी क्षत्रिय[2] थे, बौद्ध धर्म के उदय होते ही (यह भी वस्तुतः एक क्षत्रिय-धर्म था) सब ने ब्राह्मण-धर्म परित्याग कर दिया और नये धर्म में दीक्षा ली। तत्पश्चात् इस्लाम के उदय होने पर इन नव बौद्धो ने इस्लाम के आगे आत्म-समर्पण कर दिया।[3] काश! इन बुद्ध-मतानुयायी क्षत्रियों ने इस्लाम स्वीकार न किया होता तो आज अफ़ग़ानिस्तान, ताजिकिस्तान, उजबेकिस्तान, तुर्कमानिस्तान (अर्थात् मध्य एशिया) बौद्ध देश होते, ये इस्लामी देश न होते। काश्मीर, पजाब, सिध, बिहार तथा बंगाल मे बुद्ध मतानुयायी अधिक संख्या में थे; फलतः मुस्लिम आक्रमण से त्रस्त बौद्धो ने मुस्लिम धर्म में आत्म-परिवर्तन कर लिया। शक, खोखर, खान—जो कल तक आर्य थे, आर्य से बौद्ध बने और बौद्ध धर्म से गिर कर शेख, खोजा और खाँ बन गए। क्षत्रियों के प्रगतिवाद को शूद्रों पर क्यों थोपा जा रहा है? इतना जान लेने पर भी हमारा प्रश्न वहीं-का-वहीं है कि हम पराधीन क्यों हुए? इसके उत्तर में हमारा एक निवेदन है, जिसे इतिहासकार स्वीकार नहीं करेंगे, कई उत्तेजना के वातावरण में पले-पोसे समाजवादी भी इसका खण्डन करेंगे, पर हम सभी को ठण्डे मन से अनुसन्धान करने की प्रार्थना करेंगे। हमारे विचार में—

१—महाभारत के उपरान्त (१८ हजार अक्षौहिणी सेना की मात्रा में क्षत्रियों के निधन के बाद) देश की राज-व्यवस्था को बड़ी चोट लगी। फलतः राजसत्ता ब्राह्मणों के हाथ आ गई। पंजाब, अफ़ग़ानिस्तान तथा काश्मीर का

१. सिख इतिहास, ठाकुर देसराज, पृष्ठ २८६

२. संक्षिप्त हिंदी-शब्द-सागर : रामचन्द्र वर्मा, पंचम संस्करण, पृष्ठ १०६०-६१

३. मध्य एसिया का इतिहास : राहुल सांकृत्यायन

नागवंश इस कथन को प्रमाणित करने के लिए उपस्थित किया जा सकता है। यह वह नागवंश वही है, जिसके लिए जन्मेजय को नाग-यज्ञ करना पड़ा था। पंजाब में नाग ब्राह्मण आज भी विद्यमान हैं।[1] सातवाहन वंश, शुंग, वाकाटक, शालिवाहन (विक्रमादित्य), गुप्तवंश तथा अन्य ब्राह्मण जातियों ने राजसत्ता हस्तगत कर ली।

२—पंजाब में आरट्ट (उरुज) वैश्यों ने अरोटपुर में अपना राज्य स्थापित किया।

३—अग्रसेन वैश्य ने भी राज्य प्राप्त किया।

४—जिन क्षत्रियों के हाथ में राज था, वे बौद्ध बन गए।

देश, क्षत्रिय-शासन के विच्छिन्न हो जाने पर राजनीतिक स्तर पर जर्जर हो गया था। जब तक वे पुनः प्रबुद्ध होकर (हमारा तात्पर्य आबू पर्वत पर क्षत्रियों की उत्पत्ति से है) राजसत्ता सँभालें, इतने में मुसलमान देश में आ धमके। यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि भारत में ही मुसलमान शासन-सत्ता स्थिर करने में कृतकार्य हुए थे, जिनके पूर्वज शक, हूण, पल्हव नाम से भारत पर आक्रमण कर चुके थे और अपने सजातीय बन्धुओं को एक बार पहले भी अधीन रख चुके थे। निष्कर्ष यह कि—

१—क्षत्रियों के नाश से ब्राह्मणों के दुर्बल हाथों में राजसत्ता चली गई।

२—एक क्षत्रिय वर्ग क्षात्रवृत्ति से हट कर भिक्षु-वृत्ति में चला गया।

३—बच रहे क्षत्रियों को दूसरे क्षत्रियों (जिन्होंने इस्लाम अंगीकार कर लिया था) ने पद-दलित किया।

४—क्षत्रिय शक्ति के पुनर्जागरण के साथ ही वही नव-मुस्लिम क्षत्रिय देश को पराधीन कर सके।

यह कारण है और यही कहानी है हमारी पराधीनता की!

राजनीतिक लड़ाई समाप्त होते ही सांस्कृतिक युद्ध आरम्भ हो गया। प्रगतिवादी क्षत्रिय मुसलमान बने, सो बन गए, तथाकथित शूद्र भी मुसलमान बन गए। तलवार के भय से कतिपय ब्राह्मण-परिवार तथा कुछ अन्य जातियाँ भी मुसलमान बन गईं। पर धार्मिक युद्ध में ब्राह्मण-धर्म ने विजय प्राप्त कर ली। सनातन (हिंदू) धर्म का सिर काटने वाली तलवार पीछे हट गई, पर वह धर्म आज भी है। इस सत्य को आत्माभिमान, मिथ्या गर्व या आत्म-प्रशंसा—जो नाम देना अभीष्ट हो, भले ही दे दिया जाय; पर धार्मिक

१. कश्यप गोत्र, पुण्डरीक उपजाति, माध्व वेदशाखा, त्रि-प्रवर (पं० तुलसीदत्त शर्मा काँगड़ा)

संग्राम में परास्त जाति ने स्वयं 'पराजय' मान लिया है।[1] मुग़ल काल में इस्लाम ने आगे बढ़ने का बड़ा यत्न किया, पर उसे सफलता कितनी मिली ? इसका उत्तर इतिहास के पृष्ठों मे देखा जा सकता है। साहित्य-क्षेत्र में इस्लाम के धार्मिक संघर्ष का एक व्यूह भी बँध गया। मुग़ल-आगमन से पूर्व पंजाब में यत्र-तत्र-सर्वत्र सूफ़ियों की खानकाहें स्थापित हो चुकी थीं। सूफ़ी लोग घूम-घाम कर, गा कर इस्लाम का प्रभाव जमा रहे थे। यह एक विचित्र प्रसंग है कि अरब-वासियों ने भारत की सरस्वती-निधि से जो चाहा, सो ले लिया, पर उसके पास देने के लिए क्या था ? पारसी-अरबी उतनी समृद्ध भाषाएँ भी न थी, जिनसे रत्न चुन-चुन कर हिंदी-साहित्य का भण्डार भरा जाता। अलबत्ता, मुसलमान हिंदी-क्षेत्र मे आकर अपना अंशदान पूरा करने लगे। पहले-पहल उन्होंने हिंदी को खुले-आम अपनाया ; पर इस मध्यवर्ती मुग़लकाल में वे अलग जा बैठे। हिंदी ने दक्षिण-यात्रा भी की और कायाकल्प भी किया। पंजाब के मुसलमान या तो विदेश-प्रवासित भाषा में अथवा काया-कल्पित हिंदी मे साधना कर रहे थे, या फिर पंजाबी भाषा में। काया-कल्पित हिंदी को हमने उर्दू नाम दिया है। अतः पंजाब के हिंदी-साहित्य में मुसलमानों की प्रत्यक्ष उपलब्धि 'नही' के समान है। अलबत्ता उसके परोक्ष प्रभाव को स्वीकार किये बिना काम न चलेगा। पहले तो समस्त सिख-साहित्य मुस्लिम उपलब्धियों में आकण्ठ निमग्न है ; जो कमी रह गई थी, उसे पंजाब के हिंदी-प्रेम-काव्यों ने पूरा कर दिया। सभाचंद सोंधी, गुरदास गुणी तथा हेमराज दुग्गल को सूफ़ी प्रेम-कवियों में निस्सन्देह उच्च स्थान दे सकते हैं। निष्कर्ष यह कि—

(क) मध्यवर्ती मुग़ल काल में इस्लाम ने जितनी प्रखरता प्रदर्शित की, हिंदी-साहित्य में उसका उतना प्रखर प्रभाव नही है।

(ख) मुस्लिम धार्मिक उपब्धियाँ अधिकांशतः सिख-साहित्य में हैं या फिर अंशतः प्रेम-काव्यों में।

---

१. वो दीने हिजाज़ी का बेबाक बेड़ा, निशाँ जिसका अक्साए आलम में पहुंचा।
मज़ाहम हुआ कोई खतरा न जिसको, न आसमाँ में ठटका, न कुल्ज़म में झिझका।
किये पै सिपर जिसने सातों समुन्दर, वो डूबा दहाने में गंगा के आकर।
वो दी जिससे तौहीद फैली जहाँ में, हुआ जल्वागर हक़ जमी आसमाँ में।
रहा शिर्क बाकी न बहमों जहाँ में, वो बदला गया आके हिंदोस्ताँ में।
हमेशा से इस्लाम था जिस पै नाज़ाँ; वो दौलत भी खो बैठे आखिर मुसलमाँ।
—मौलाना अल्ताफ़हुसैन 'हाली' (कल्याण : हिंदू-संस्कृति अंक)

(ग) मुसलमान साहित्यिक स्तर पर, उर्दू को अपनाकर, इसी मुग़ल काल में हिंदुओं से अलग-थलग जा पड़े थे। इत्यादि

कहना न होगा कि पंजाब का हिंदी-साहित्य मुस्लिम धार्मिक परम्परा का उतना प्रतिनिधित्व नहीं करता, जितना कि पंजाबी-साहित्य और उर्दू-साहित्य का नाम लिया जाता है। मात्र धार्मिक रचना के नाते केवल एक पुस्तक[1] उल्लेखनीय रह जाती है। यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि यही रचना' पंजाब के हिंदी-साहित्य की ही क्यों, समस्त हिंदी-साहित्य की एकमात्र 'उपलब्धि' रह गई है।

सामाजिक दृष्टि से यह 'मुग़ल काल' असंदिग्ध शब्दों में क्रान्तिकारी बताया जा सकता है। समाज अब इतस्ततः भ्रमण के स्थान पर स्थायी हो चला था।

सामाजिक अवस्था

यद्यपि कतिपय क्षत्रिय जातियाँ (सेठ, कक्कड़, मेहरोत्रा, महेन्द्र, खन्ना, कपूर, चोपडा) पंजाब से निकल कर उत्तर प्रदेश में जा बसी थीं, पर पजाब सर्वथा सवर्ण हिंदुओं से खाली नही हो गया था। अपने परिवारों के साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—चारो वर्ण अपने-अपने धर्म-पालित समाज में स्थिर बने रहे। इस काल में एक-दो उल्लेखनीय घटनाएँ हुईं। यथा—

१. काबुल तथा अन्य पार्वत्य प्रदेश के छोटे-मोटे राज्यों मे से क्षत्रिय जातियाँ निकल आईं और पजाब के रावलपिण्डो, मुल्तान, लाहौर, अमृतसर, जालन्धर, पटियाला आदि प्रदेशों में आकर बस गईं।

२. सिंध प्रदेश से चलकर आरट्ट (अरोड़े) मुल्तान, रावलपिण्डी, लाहौर, सियालकोट और अमृतसर में आकर बसे।

३. अकबर के शासन-काल में ब्राह्मणों के लिए यजमान-वृत्ति को क़ानूनी रूप दिया गया।

४. हिंदू-मुसलमानों में विलुप्त समान पूजा-भाव की जागृति हुई। यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि पंजाब के ब्राह्मण-क्षत्रिय जिस सर्प-देवता का पूजन करते थे, मुसलमानों के पूर्वज भी उसी सर्प-देवता का पूजन करते थे। वही सर्प-पूजन 'गूगापूजन' का रूप लेकर इस मध्यवर्ती-काल में हिंदू-मुस्लिम एकता

---

१. कीमिआ सआदत भाखा लिख्यते। —अबणशाह

(यह रचना मुस्लिम सिद्धान्तों पर आधृत होने पर भी भारतीय अद्वैतवाद (वेदान्त) को मुखर करती है। इसका भारतीय नाम 'पारस भाग' है।)

का मूलाधार बन गया। मुल्तान के 'बुधला' संत का पूजन भी हिंदू-मुसलमान मिल कर करते थे।

५. मुगल काल में हिन्दू-मुस्लिम सामाजिक सम्याचार 'एक वेषभूषा' के रूप में पनपा—सलवार, कमीज, फतूयी, तहमद, पगड़ी अथवा चौकोर टोपी और दुपट्टा—यह वेश प्रायः सभी हिन्दू-मुसलमानों मे प्रचलित था।

६. मुगल काल में मुगल शासकों ने सियालकोट, लाहौर, मुल्तान, सिंध में ऐसे शिक्षा-केन्द्र स्थापित किये, जहाँ हिन्दू-मुसलमान साथ-साथ पढ सकते थे। यद्यपि इन विद्या-केन्द्रों में कभी-कभार धार्मिक तूफान भी खडे हो जाते थे (जैसे कि हकीकत-काण्ड); पर मेलजोल का वातावरण भी देख पडता था। जहाँगीर के युग में पादरियों ने भी एक स्कूल खोला था, जिसमे अंग्रेज़ी की पढ़ाई होती थी। जहाँगीर इस मिशन स्कूल को ५० रु० की मासिक सहायता भी[1] देता था और संरक्षण भी।

इस प्रकार समाज के कुछ अच्छे पहलुओं को देखकर अनुमान लगाना अप्रासंगिक न होना चाहिए कि पंजाबी के हिन्दी-साहित्य में इसकी झाँकी मिल सकेगी; पर खेद है कि इस सारे समाज का प्रभावशाली अस्तित्व हिन्दी-साहित्य में से नहीं झलकता। इतना तो बताया जा सकता है कि सिख-समाज को मुखरित करने वाला हिन्दी (पंजाबी-मिश्रित) साहित्य तो है, पर वह हिन्दू (सनातन) समाज को मुखरित नही करता।

कहना न होगा कि मुस्लिम आक्रमण-काल से लेकर मुग़ल-शासन के अन्त तक सनातन हिन्दू-समाज अपने स्वरूप में स्थिर रहा। वह विदेशी समाज-व्यवस्था तथा भारतीय नव-विकसित (सिख) समाज-व्यवस्था से संघर्ष लेकर भी जीवित रहा, पर वह साहित्य मे भी प्रतिफलित होता रहा—यह बताने का दायित्व कोई भी इतिहासकार नहीं उठा सकता।

आर्थिक दशा

अब्दुलफ़ज़ल तथा सुजानराय ने[2] पंजाब की तत्कालिक आर्थिक दशा का चित्र बडे सुन्दर शब्दों मे अंकित किया है। पंजाब पाँच नदियों का मैदानी क्षेत्र है। मुग़ल राज्य का समस्त आर्थिक ढाँचा पंजाब की आय पर निर्भर करता था। अकबर के समय पंजाब मे १,६१,५५,६४५ बीघे कृषि होती

---

१. पंजाब का इतिहास : कृपालसिंह नारंग, पृ० २१४

२. वही, पृ० २०२-२०७

थी।[1] संवत् १६५१ में १,३६,८६,४६० का कृषिकर प्राप्त होता था।[2] कृषि की उत्तरोत्तर उपजवृद्धि के लिए शासन की ओर से प्रयत्न भी होते रहते थे। परिणामतः औरंगजेब के शासन-पर्यन्त कृषि २,४३,१६,६६० बीघे (लगभग ८१,६४,३२० बीघे अधिक) हो गई।[3] और आय भी विक्रमी संवत् १७६४ तक २,०६,५३,३०२ रुपये अधिक हो गई। कर-प्रणाली बड़ी जटिल थी। उस समय भूमि को चार भागों में विभक्त किया गया था। यथा—पोल्ज, पड़ती, चाचर और बंजर। यद्यपि अलग-अलग अनाजों पर कर भी अलग-अलग था, पर कर अधिकतर रुपयों में प्राप्त कर लिया जाता था, और अपवाद-रूप में अनाज भी ले लिया जाता था। अकबर ने एक अन्य कर[4] (जिसका नाम 'दहसिरी' बताया जाता है) भी लगा रखा था, जो प्राप्त होने पर केवल अकाल के समय व्यय किया जाता था। पंजाब में छोटे-मोटे अकालों के अतिरिक्त दो बड़े अकाल भी बताये जाते हैं। एक बार अकबर-काल में दुर्भिक्ष पड़ा था, जब गुरु रामदासजी के कहने पर अकबर ने कृषि-कर क्षमा[5] कर दिया था। दूसरी बार शाहजहाँ के समय में दुर्भिक्ष पड़ा था, जब मुग़ल-सम्राट् ने निःशुल्क भोजन- वितरण की व्यवस्था की थी।[6] सम्राट् जहाँगीर ने पंजाब की उन्नति के लिए सड़कें बनवायी[7], कुएँ खुदवाये, छायादार वृक्ष लगवाये, विश्रामशालाएँ चालू की और यथासम्भव अन्य लोकहितकर कार्य किये, जिनसे पंजाब समृद्ध हो सका।[8]

पंजाब के आर्थिक भवन का दूसरा स्तम्भ (शिल्प) भी पर्याप्त उन्नत था। अकबर स्वयं बड़ा शिल्पानुरागी था। उस समय लाहौर, मुल्तान, सियालकोट, गुजरात, विजयवाड़ा, सुल्तानपुर आदि नगर शिल्प के केन्द्र बताये जाते है। लाहौर की कला देश-विदेश तक विख्यात हो चुकी थी। विदेश के व्यापारी व यात्री लाहौर की शालें देखकर चकित रह जाते थे। मुल्तान मिट्टी के खिलौनों के अतिरिक्त खेस की बुनाई में ऊँचा स्थान रखता था। सियालकोट

१. पजाब का इतिहास : कृपालसिंह नारंग ; पृ० २०२
२. वही, पृ० २०३
३. वही, पृ० २०३
४. वही, पृ० २०३
५. वही, पृ० २०३
६. वही, पृ० २०३
७. भारत का मुगल इतिहास : कृपालसिंह नारंग; पृ० ५४१
८. पंजाब का इतिहास : कृपालसिंह नारंग, पृ० २०४

कागज़ बनाने का मुख्य केन्द्र था। यहाँ पर 'मानसिंही' और रेशमी कागज बहुत बड़ी मात्रा मे बनाया जाता था।[1] मुगल शासन के लिए कागज की पूर्ति सियालकोट ही करता था। 'गुजरात' अकबर की शिल्प-प्रियता का एक ज्वलन्त प्रमाण बताया जाता है।[2] कहते हैं कि रेशमी वस्त्रों की बुनाई का कार्य यहाँ होता था और बड़ी मात्रा में रेशमी वस्त्रों का निर्यात होता था। सुल्तानपुर बढ़िया छपाई तथा रँगाई के लिए प्रसिद्ध था।[3] ये सब बातें इस बात को प्रमाणित करती हैं कि पंजाब आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी हो चला था।

आर्थिक जीवन का तीसरा स्तम्भ है—व्यापार। उस समय व्यापार के दो बड़े केन्द्र थे—एक मुल्तान तथा दूसरा लाहौर। लाहौर से कलानौर, सुल्तानपुर, जालंधर, हदियाबाद, पानीपत, सोनीपत, देहली, मथुरा तथा आगरा तक व्यापारिक वस्तुओं का यातायात रहता था।[4] मुल्तान से नौशहरा पेशावर, काबुल, कोटा, करांची और ईरान के लिए माल जाता था और वहाँ से आता था। बताया जाता है कि चौदह हजार ऊँट माल से लदे हुए लाहौर से गुज़रते थे।[5] खुरासान की मखमल, रेशमी वस्त्र, काबुल से सूखे मेवे, खनिज पदार्थ तथा घोड़े आते थे। इस प्रकार मुगल काल में पजाब की आर्थिक दशा समुन्नत थी।

कहना न होगा कि पंजाब एक बार उजड़ कर या उखड़ कर फिर से बस चला था और उसकी यही समृद्धि समाज की साहित्य की समृद्धि का कारण बन सकी।

मुग़ल शासन-काल के सामयिक सुखद वातावरण में पंजाब सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक आन्दोलनों से पूर्णतया प्रतिबुद्ध हो चुका था। समाज, अर्थ, धर्म के सांस्कृतिक वातावरण में जन्म प्राप्त 'पजाब में हिन्दी-साहित्य' अपनी भिन्न-भिन्न धाराओं में प्रस्फुटित हुआ। स्वस्थ और जीवित साहित्य के लिए यह अपरिहार्य शर्त मानी जाती है कि वह पार्श्ववर्ती साहित्य से 'कुछ' ले और उसे 'कुछ' दे। इन सभी बातों को शीर्षकों, उपशीर्षकों में विभक्त करना

साहित्यक रूपरेखा

१. पंजाब का इतिहास : कृपालसिंह नारंग, पृ० २०४
२. वही, पृ० २०४
३. वही, पृ० २०५
४. वही, पृ० २०६

समुचित होगा। यथा—

१. **पार्श्ववर्ती साहित्य**—(क) अरबी साहित्य, (ख) पारसी साहित्य और (ग) पजाबी साहित्य तथा (घ) उर्दू साहित्य।

२. **साहित्यिक गतिविधि**—(क) आगन्तुक कवि, (ख) वर्गीकरण, (ग) आदिग्रंथ, (घ) कच्ची वाणी।

१. (क) **अरबी साहित्य**—पंजाब में मुस्लिम संस्कृति का वर्चस्व सर्वोपरि रहा। यहाँ के प्रसिद्ध अरबी विद्वानों ने सर्वश्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि की। इनमे से मौलाना अब्दुल्ला[1] सुल्तानपुरी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनकी रचना 'इस्मते अनबिआ' तथा 'शरफुशमैली नबी' पजाब के अरबी-साहित्य में बडा महत्त्व रखती है। इनके अतिरिक्त शेख मुईन तथा शेख काजी नूरुल्ला का नाम स्मरण किया जाता है।

(ख) **पारसी साहित्य**—पारसी पंजाब की सरकारी भाषा थी। अतः पारसी-शिक्षा के लिए इससे बढ़कर और क्या आकर्षण हो सकता था! परिणामतः हिन्दू-मुसलमानों के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति पारसी पढ़कर कार्यक्षेत्र में उतरे। राजा टोडरमल टण्डन पारसी के चोटी के विद्वान् एवं लेखक थे। शेर कासिम, अरसलान, शर्फी मुल्लाशिरी[2] आदि पंजाबी मुसलमान पारसी के सर्वश्रेष्ठ कवि थे और इनकी पहुँच अकबर के दरबार तक थी। पंजाब का राज्यपाल मीर मुहम्मद कुली खाँ पारसी का विद्वान् साहित्यकार था।[3] इसकी स्थापित साहित्य-गोष्ठी में अच्छे-अच्छे साहित्यकार भाग लेते थे, जिनमें से अब्दुलहमीद लाहौरी, सादुल्ला खाँ, मौलाना शाह मुहम्मद के नाम उल्लेखनीय हैं।[4] मुसलमानों के अतिरिक्ति कई विशिष्ट हिन्दुओं ने पारसी-साहित्य की अच्छी सेवा की है। पं० चन्द्रभान[5] शाहजहाँ के समय का सुप्रसिद्ध गद्यकार हुआ है। मुल्तान-निवासी भाई नन्दलाल की पारसी विद्या में अपूर्व क्षमता देखकर औरगजेब उस पर बड़ा मुग्ध रहता था।[4] इनकी रचना 'दीवाने-गोया' दशम नानक गुरु गोविन्दसिंह को बड़ी प्रिय थी। दशम गुरु स्वयं पारसी के अच्छे ज्ञाता और लेखक थे।

१. पजाब का इतिहास : कृपालसिंह नारंग : पृ० २१५
२. वही, पृ० २१४
३. वही, पृ० २१४
४. वही, पृ० २१४
५. वही, पृ० २१५

(ग) **पंजाबी-साहित्य** : अरबी-पारसी से बढ़कर पजाबी भाषा में साहित्य-सृष्टि हुई। पंजाबी के समस्त साहित्य को चार वर्गों में बड़ी सुगमता से विभक्त किया जा सकता है। यथा—१. प्रेमकथानक : अकबर के राज्यकाल में पंजाब में एक विशेष घटना घट गई; झंग-मघियाण में स्यालपुत्री हीर राँझा के अनुराग में फँस गई। दामोदर गुलाटी ने इसे रचना का रूप दे दिया। इसकी देखा-देखी ससी-पुन्नू, सोहनी-महिवाल, मिर्जा साहिबाँ आदि अनेक प्रेम-काव्य लिखे गए। ये सब प्रेम-कथानकों के अन्तर्गत गिने जाते हैं। २. मुस्लिम धर्म-साहित्य : शाह हुसैन लाट इनायतुल्ला आदि कवियों ने अपने मुस्लिम धर्म को सर्वजन-संवेद्य बनाने के हेतु पंजाबी में उसका विशदीकरण किया है। मियाँ बरखुरदार को परम्परा मे उत्तम स्थान दिया जा सकता है। ३. सूफी साहित्य : बुल्लेशाह तथा वारिसशाह ने लौकिक तथा अलौकिक प्रेम को लेकर बड़ा सुन्दर लिखा है। इनके प्रेम-प्रतिष्ठान में 'गुरु' का विशेष स्थान है। इनका गुरु एक ओर लौकिक प्रेमपात्र (माशूक) है, दूसरी ओर वह ईश्वर का प्रतीक है। ४. सिख-साहित्य : भाई गुरुदास ने वाराँ लिखकर पहली बार सिख-सिद्धान्तों का परिचय दिया था। यद्यपि यह परम्परा बीच में क्षीण होकर संवत् १९३० में पुनः आरम्भ होती है, तथापि इसके महत्त्व से इनकार नहीं किया जा सकता। पंजाब में सांस्कृतिक तौर पर दो धाराएँ बह रही थीं—एक धारा विशुद्ध भारतीय संस्कृति को लेकर चली थी, दूसरी धारा मुस्लिम संस्कृति को लेकर। कहना न होगा कि भारतीय संस्कृति का प्रतिफलन भाखा-साहित्य में हुआ तथा मुस्लिम संस्कृति का प्रकाशन पंजाबी-साहित्य में। इन दो अलग-अलग चलने वाली विभिन्न धाराओं को एकदम निरपेक्ष नही बताया जा सकता। इसके सम्यक् ज्ञान के लिए कतिपय सिद्ध-प्रसिद्ध कवियों का परिचय प्राप्त करना अप्रासंगिक न होगा।

भाई गुरुदास : इन्हें यदि पंजाबी-साहित्य का 'पितामह' कहा जाय तो इस में रत्ती-भर अत्युक्ति न होगी। यद्यपि आदरणीय गुरुओं की वाणी में पंजाबी के अस्तित्व की चर्चा चलायी जाती है, पर उसे पंजाबी के स्थान पर मुल्तानी कहना कहीं अधिक उत्तम होगा। भाई गुरुदास की रचना को ठेठ पंजाबी की प्रथम कृति कहना सर्वथा संगत होगा। इनकी रचना देख कर कोई भी आलोचक यह निर्णय देने मे स्वतन्त्र होगा कि रचना का ऊर्ध्ववर्ती रूप ब्रजभाषा में है और निम्नवर्ती रूप पजाबी में। अर्थात् इनकी रचना में से ब्रजभाषा उत्तरोत्तर लुप्त होती चली गई है, और पंजाबी उत्तरोत्तर निखरती और

उभरती चली गई है। 'वारां' में गुरु के सिद्धान्तों का विशद प्रतिपादन किया किया गया है, अतः उन्हें 'आदि ग्रन्थ' की कुंजी बताया जा रहा है।

शाह हुसैन लाल : शाह को पंजाबी-साहित्य का जनक माना जाता है। आप का जन्म शेख उस्मान के घर हुआ। बालक हुसैन को जब लाहौर के मदरसे में पढ़ने बैठाया गया तो कुछ दिनों के बाद उसने यह कह कर कि **जब ईश्वर ने सारी सृष्टि खेल-खेल में बनायी है और यह महज़ एक तमाशा है तो मैं जीवन खेल में क्यों न बिताऊँ**—मदरसा छोड़ दिया। शाह हुसैन का 'माधवलाल' नामक ब्राह्मण से सच्चा अनुराग था। अतः शाह के नामाक्षरों के अन्त में ब्राह्मण नाम के अन्तिम अक्षर (लाल) जुड़े हुए हैं। शाह की क़व्वालियाँ तथा काफ़ियाँ अति प्रसिद्ध हैं। इनकी रचना में पंजाबी का ठेठ रूप उपलब्ध है। शाह का रचनाकाल विक्रम-संवत् १५९५ से सवत् १६५६ तक माना जाता जाता है। इनका मज़ार बादामी बाग, लाहौर में आजतक विद्यमान है।

दमोदर कवि : इसे पंजाबी साहित्य का महाकवि बताया जाता रहा है। गुलाटी-वंशीय तथा झंगनिवासी कवि दमोदर हीर के पिता (चूचक) के यहाँ नौकर था। हीर-राँझे की प्रेम-घटना कवि ने स्वयं प्रत्यक्ष में देखी थी। कवि ने रचना में अकबर को अनेक स्थानों पर स्मरण किया है। रचना के अन्त में सम्वत् १५२९ लिखा है, जिसे पंजाब के इतिहास-लेखक अशुद्ध बता रहे है। यह अशुद्धि वैसी है, जैसी पृथ्वीराज रासो के सम्वतों मे बतायी जा रही है। 'हीर' एक प्रबन्ध-काव्य है। इसकी भाषा साहित्यिक भाषा न होकर लोक-भाषा है। बाद में उक्त घटना पर जितनी रचनाएँ प्रस्तुत की गई है, उन पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष दमोदर का प्रभाव माना जाता है।

पीलू : कवि के विषय में अभी तक यह सन्देह बना हुआ है कि वह हिन्दू था या मुसलमान। पर अधिकांश कवि तथा आलोचक उसके मुसलमान होने के पक्ष में अपना मत प्रकट करते हैं। जब तक उसके माता-पिता का सुनिश्चित पता न लग जाये, तब तक के लिए निर्णय 'सुरक्षित' ही समझना चाहिए। पीलू को दमोदर के बाद दूसरा प्रबन्धकार कवि बताया जा रहा है। पीलू ने मिर्ज़ा-साहिबा की प्रेम-घटना को अपने समक्ष घटित हुआ बताया है। इसके बाद हाफ़िज़, बरखुरदार, मियाँ मुहम्मद, अहमदयार खाँ आदि ने मिर्ज़ा-साहिबा के प्रेम-काण्ड पर लेखनी उठायी और यथास्थान पीलू के काव्य-सौष्ठव की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

मौलाना अब्दुल्ला : आपका जन्म मियाँ जान मुहम्मद के घर जिला

मिण्टगोमरी में हुआ था। आप आटा पीसकर अपनी आजीविका चलाया करते थे। आपने पंजाबी की एक दर्जन पोथियाँ लिखी और उनमें इस्लामी सिद्धान्तों का विशदीकरण किया। आप पहले कवि हैं कि जिसने अपने धर्म के प्रचार के हेतु पंजाबी को माध्यम चुना। शायद ही किसी लेखक अथवा कवि ने मात्र इस्लाम धर्म के प्रचार के लिए हिन्दी भाषा को चुना हो ? हिन्दी के मुसलमान कवि तथा पंजाब के मुसलमान कवियों का यह अन्तर ध्यान देने योग्य है।

सुथरेशाह : आपका जन्म पटियाला में हुआ था। कहते है कि सुथरे को माँ-बाप ने जन्मते ही परित्याग कर दिया था, क्योंकि उसी समय इनके मुँह में दाँत देखे गए थे। जंगल में पड़े बालक सुथरे को कुतिया ने दूध पिला कर पाला था—ऐसा दन्तकथाओं से ज्ञात होता है। यह भी प्रसिद्ध है कि गुरु हरगोविन्द जी ने स्वयं इसे कुत्ती के बच्चों के मध्य दूध पीते देखा था। यह भी बताया जा रहा है कि इन्होंने १४० वर्ष की आयु पायी। अब 'सुथरा-सम्प्रदाय' एक नये मतवाद के रूप में प्रसिद्ध हो चला है। इसके अनुयायी हिन्दू-मुसलमान दोनों हैं। सुथरे शाह के पंजाबी में रचे बंत और काफ़ियाँ बड़ी प्रसिद्ध हैं। इन्होंने लौकिक प्रेम-प्रसंग के परदे में आलौकिक रहस्यों के चित्र उरेहे हैं।

सुल्तानबाहु : आपका जन्म वाजिद मुहम्मद के घर शेरकोट (जिला झंग) में हुआ था। इनके बारे में यह प्रसिद्धि चली आ रही है कि जन्म के बाद पहली बार आये रमज़ान के दिनों में बालक सुल्तान ने दूध नहीं पिया। सायंकाल को दूध पिया, जबकि सारे परिवार ने मिलकर भोजन किया। आपने सूफी-सिद्धान्तो पर छोटी-बड़ी १४० पुस्तकें लिखी है। इन मे अधिकांश पंजाबी में, शेष फारसी में हैं।

बुल्लेशाह : आप पंजाब और पंजाबी के सिद्धि-लब्ध सन्त हुए हैं। आप का जन्म लाहौर के निकट गाँव में संवत् १७३८ में हुआ था। आपने हज़रत गुलाम मुरतज़ा और मौलाना गुलाम मुहीउद्दीन केसूरी से शिक्षा प्राप्त की। हज़रत शाह इनायत कादरी के दीक्षित सेवकों में आपका प्रमुख स्थान है। कहते हैं—एक बार आपके आध्यात्मिक गुरु आपसे रुष्ट हो गए, तब आपने बड़े नाटकीय ढंग से उनकी कृपापात्रता पुनः उपलब्ध की। आपकी रचनाएँ ठेठ पंजाबी में है, जिनमें सूफियाने प्रेम की नाना अवस्थाओं का निरूपण और व्याख्यान है। आपके बनाये कतिपय हिन्दी-पद्य भी मिलते हैं।

बरखुरदार : आप 'पिण्ड मुसलमानी' (परगना चीमा, इलाक़ा लाहौर) के रहने वाले थे। आपका जन्म तो शाहजहाँ के राज्य-काल (?) का माना जाता

है, पर सिद्धि और प्रसिद्धि औरंगजेब के युग की मानी जाती है। आपकी पंजाबी रचनाएँ ये हैं :—यूसुफ-जुलेखा, ससी-पुन्नू, मिर्जा साहिबा, किस्सा खेची। कहते हैं, नबाव जफर खाँ की प्रार्थना पर संवत् १७४४ में 'यूसुफ-जुलेखा' रचा। नवाब ने इसके पुरस्कार-स्वरूप सात बीघे ज़मीन, एक घोड़ा, एक सरोपा तथा सौ रुपये दिये।

कादरयार—पंजाब के कुछ-एक पंजाबी कवियों मे आपका नाम अवश्य लिया जाता है। आप वंशत: सिंधू जाट (शालिवाहन-पुत्र) बताये जाते हैं। आप 'माछीके' गाँव के निवासी थे और विशेष पढ़े-लिखे भी नही थे। पर आपकी कवित्व-शक्ति के प्रति किसी को कोई आक्षेप नही। आपकी रचनाएँ ये हैं—पूरन भगत, मिहराजनामा, रोजनामा, राजा रसालू, सोहणी-महिवाल तथा हरिसिंह नलवा। 'हरिसिंह नलवा' रचना के आधार पर डा० बनारसीदास ने आपको रणजीतसिंह का समकालीन बताया, जो कि तर्कसंगत भी लगता है; पर मिहराजनामा मे लेखक ने रचना-काल १२४७ हिजरी (अर्थात् १८८१ वैक्रम संवत्) स्वयं लिखा है। चूँकि महाराज रणजीतसिंह ने १२१३ हिजरी में राज्य प्राप्त किया था, अत: डा० बनारसीदास का कथन अन्त:साक्ष्य या बहि:साक्ष्य से पूरा उतरता है। किसी लिपिकार ने मिहराज-नामा का लिपिकाल ११४७ हिजरी लिख दिया है, जो कि असंगत है।

सैयद वारिस शाह—आपको पंजाब में जितनी लोकप्रियता मिली है, सम्भवत: उतनी लोकप्रियता मलिक मुहम्मद जायसी को भी नही मिली। जायसी को केवल हिन्दी का इतिहास-प्रिय छात्र जानता है, वह तुलसी-सूर की तरह हिन्दी-जगत् का घर-घर का कवि नहीं है; वारिस पंजाब के घर-घर और जन-जन मे निवास करता है। वारिस के पिता का नाम 'कुतुबशाह' था और वह जंडियाला शेरखाँ (जिला गुजराँवाला) का निवासी था। 'हीर वारिसशाह' एक ही रचना है जो अपने स्रष्टा को युगों तक जीवित रखने की क्षमता रखती है। आपका जन्म ११५० हिजरी (वैक्रम संवत् १७९५-१७३८ ईसवी) अनुमान किया जाता है; कारण, आपने अपना रचना-काल ११८० हिजरी (१७६८ ईसवी तथा १८२५ वैक्रम संवत्) बताया है जो कि रणजीतसिंह की राज्य-प्राप्ति से कुछ पूर्व ठहरता है।

वारिस ने सामान्य शिक्षा अपने गाँव में तथा उच्च शिक्षा कसूर में प्राप्त की बतायी जाती है। उस समय कसूर मुफ्ती गुलाम मुईउद्दीन तथा हाजी गुलाम मुस्तफा द्वारा संचालित बृहत् इस्लामी शिक्षा के केन्द्र थे। वारिस

ने यहाँ फ़िका का इल्म तथा हदीस तथा कुरानमजीद का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त किया। आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करने वारिस पाकपटन (सम्भवतः दीवान मुहम्मद यूसुफ के पास) आये। शिक्षा प्राप्त कर वारिस घर लौट रहे थे कि मिंटगोमरी के किसी गाँव मे एकान्त पाकर वही रहने लगे। उसी स्थान पर 'भागभरी' नामक भटियारिन से आपका प्रेम हो गया; भागभरी के माता-पिता जितना विरोध करते, इन पर प्रेम का रंग उतना गहरा हो जाता। प्रेम की इस गहराई में उतरकर आपने **हीर-राँझा** पर एक वृहत्काय काव्य लिखा। अपने काव्य में स्त्रियों के विशेषणों में 'भागभरी' का बडा सुन्दर प्रयोग किया है। अन्ततोगत्वा आपका विवाह भागभरी से हो गया। विवाह के उपरान्त वारिस अपने दीक्षा-गुरु के पास गये; हजरत गुलाम मुर्तज़ा 'हीर' की प्रशंसा सुन चुके थे। मिलते ही गुरु ने शिकायत की : **बुल्लेशाह को पढ़ाया, तो उसने सारंगी उठा ली, और तुम्हें पढ़ाया तो तूने इश्क़िया क़िस्से लिखने शुरू कर दिए।** जब वारिस के मुँह से हीर काव्य के कतिपय पाठ सुने, तब फरमाया : **"बहार-ए-दानिश के कर्त्ता इनायतउल्ला की तरह तूने भी मूंज की रस्सी में जवाहर पिरो दिए है।"**

बुल्लेशाह वारिस का सहपाठी था। वैसे अब्दुल हकीम बहावलपुरी, अली हैदर मुल्तानी वारिस के समकालीन थे। शाहनवाज के बाद पंजाब की सूबेदारी की खींचतान वारिस के समक्ष हुई, जिसकी चर्चा उसके अमर काव्य मे विद्यमान है। 'हीर वारिसशाह' को पंजाबी-साहित्य की 'सजग चेतना' बताया जा रहा है। यदि पंजाबी-साहित्य में से इस रचना को निकाल दिया जाय, तो पंजाबी-साहित्य निष्प्राण हो जायगा।

हाशिम—आप रणजीतसिंह के दरबारी कवि थे। आपके पिता का नाम हाजी मुहम्मद शरीफ़ महसूमशाह था। यद्यपि वंशतः आप कुरैशी थे, पर वृत्ति के लिए 'तरखन' का काम करते थे। आपका जन्म जगदेवकलाँ में हुआ था। दन्त-कथा के अनुसार आपने चालीस वर्ष मदीने की मनवरा में झाड़ लगाया था। आपने कुछ हिन्दी-कविताएँ भी लिखी हैं।

इनके अतिरिक्त पंजाबी के सर्वश्रेष्ठ कवियों में बिहारी, मंगल, कमाल, जल्हण, मौलवी हबीबुल्ला, हजरत सुल्तानबाहु, हकीम दरवेश, अब्दुल करीम, हाफ़िज मुअज्जुद्दीन, अली हैदर, शाह ज़रीफ़, रुकनुद्दीन, कमालदीन, मियाँ चिराग, शाहशरफ़, सदीक लाली, नूरमुहम्मद, हामदशाह अब्बासी, मौलवी नूरमुहम्मद, सुन्दरदास तथा लुत्फ़अली के नाम गिनाये जा रहे हैं।

भाई गुरुदास को छोड़कर, मध्यवर्ती ३२० वर्षों में (अर्थात् अकबर-काल से लेकर रणजीतसिंह-काल तक) किसी सिख सत ने पंजाबी में नही लिखा। हिन्दू-सिख दोनों ने मिलकर भाषा-साहित्य की अभिवृद्धि की है। क्योंकि उनकी साँझी संस्कृति का माध्यम केवल 'भाखा' ही थी। यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि सिख रियासतों ने भाषा (गुरमुखी लिपि से युक्त) साहित्य की अभिवृद्धि मे योग दिया था, पंजाबी-साहित्य की नहीं।

(घ) **उर्दू-साहित्य**—गत अध्याय मे पढ़ चुके है कि हिन्दी तथा उर्दू एक भाषा (खड़ी बोली) की दो शाखाएँ हैं। राजनीतिक स्तर पर इनका विघटन एवं स्वायत्त अस्तित्व अनुभव में आया है। हम यह भी पढ़ चुके है कि हिन्दी तथा उर्दू का जन्म पजाब में एवं मुस्लिम परिवारों में हुआ। अकबर-युग की सांस्कृतिक चेतना से अनुप्रेरित अरबी, पारसी, संस्कृत, ब्रजभाषा तथा पंजाबी भाषा एवं साहित्य मे जैसी संस्फूर्ति देखने में आयी, वैसी संस्फूर्ति हिन्दी (अर्थात् उर्दू) में भी पायी गई। इस खड़ी बोली के मध्यवर्ती साहित्य में ऐसी कोई विभाजक रेखा अंकित नहीं की जा सकती कि रेखा-परवर्ती भाषा 'अमुक' है अथवा रेखा-पूर्ववर्ती भाषा 'अमुक'। बल्कि कहे जा रहे उर्दू-साहित्य में वह रंग-रूप नही देखा जा सकता, जो दक्षिण से लौटकर आयी प्रतिक्रिया-संभूत भाषा में विद्यमान है।

अन्य प्रान्तों की भाँति (उत्तरप्रदेश, बिहार और दक्षिण) पजाब में भी 'उर्दू' भाषा मुग़ल राज्य के स्थायी हो जाने के बाद पली और पनपी है; अतः कतिपय लोग आरम्भिक उर्दू की जड़ें पंजाब और पंजाबी समझने लगें तो आश्चर्य नही होना चाहिए; कारण, प्रारम्भ मे पंजाबी तथा उर्दू में नाममात्र को अन्तर दीख पडता है। पुराने साहित्य में प्राप्त ६० प्रतिशत शब्द एक-से हैं, जो हमारे अनुमान को पुष्ट करते हैं। पंजाब में जिन-जिन कवियों को उर्दू-वर्ग मे रखने का यत्न किया गया है, वे बडी आसानी से हिन्दी में रखे जा सकते हैं। ६० प्रतिशत शब्दों को रहने भी दें, तो भी छन्द तथा अलंकार-योजना तथाकथित कवियों को उर्दू-क्षेत्र में गिनने से रोकते हैं। और तो और, प्रेमाभिव्यक्ति भी हिन्दी-शैली की है। स्पष्ट हो, पारसी-शैली में 'नारी' को प्रेयसी मानकर प्रेमाभिव्यक्ति होती है, जो मुस्लिम संस्कृति का प्रतीक है; हिन्दी-शैली में 'नर' को प्रेमन् मानकर प्रेमाभिव्यक्ति होती है, जो सनातन हिन्दू संस्कृति का प्रतीक है। जायसी ने पद्मावती को लक्ष्य माना है, जबकि कबीर-सूर ने अपने ऊपर नारी का आरोपण कर लिया है।

उर्दू-कवियों में मुहम्मद जान को निर्विवाद 'प्रथम' स्थान दिया जा सकता है; कारण, उसकी रचना सही अर्थों में 'उर्दू' मानी जा सकती है। इससे पूर्व 'उर्दू' के दिल्ली-स्कूल तथा पंजाबी-स्कूल में भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ स्पष्ट दिखायी देती हैं और दिल्ली स्कूल में हम जिस पारसीपन को उभरा-उभरा देखते हैं, सम्भवतः मुहम्मदजान से ऊर्ध्ववर्ती उर्दू-कवि उससे सर्वथा अपरिचित थे। रचना का एक नमूना इसे समझने के लिए पर्याप्त रहेगा—

बुलबुल की तरह दिल के झुँझलाने को क्या कहिये।
जंजीर में जुल्फों की फँस जाने को क्या कहिये।
रो रो के ऊबत दिल के जल जाने को क्या कहिये।
बिसमिल होके तड़पता है, मर जाने को क्या कहिये।
हर सुबह का वह रोना हर शाम की यह ज़ारी,
क्या काम किया दिल ने दीवाने को क्या कहिये।" इत्यादि

सरल पदावली होने पर भी इस पर पारसीपन का ठप्पा कितना स्पष्ट है—बुलबुल, जुल्फ़, जंजीर, तेग और सिर काटना आदि हमारी धारणा को पुष्ट करते है। इसका छन्द भी भारतीय नहीं है। इसके विपरीत—

अब क्या करे कोई रे जिया, आँखों से पिया दूर होया।
तब लकड़ी हो जल राख भया, यह सीना गर्म तनूर होया।
वो नूर सजन को जिसने दिया, यह चाँद चौदस का हक ने दिया।
ये सूरज है वो आप पिया, पुरनूर होया मशहूर हुआ।
वह कब पिया का कामत है या शोला नूर करामत है।
यह कब नहीं है कयामत है, वह धूम पड़ी है शोर होया।

यह शाह मुराद की कविता है, जो कठिन शब्दों से लदी होने पर भी भारतीयता से ओत-प्रोत है। प्रेमाभिव्यक्ति नारी की ओर से है और छन्द भी अभारतीय नहीं है। यह केवल इतना प्रमाणित करने के लिए है कि १२वीं सदी (हिजरी) से पूर्व भाषा-साहित्य व तथाकथित उर्दू-साहित्य मे कितना गम्भीर साम्य है।

कतिपय उर्दू-कवियों का परिचय इस प्रकार से है—

शेख उस्मान—ये ग्यारहवीं सदी (हि०) के माने जाते हैं। इनकी रचना पर पारसी का प्रभाव स्पष्ट है; इसका अर्थ यह न समझ लिया जाय कि वह स्थानीय भाषायी प्रभाव से सर्वथा मुक्त है। कुछ कविताएँ पारसी छन्द में हैं, कुछ हिन्दी-छन्द में। शब्दों के पंजाबी स्वर को देखकर यह कथन संगत हो सकता है कि उर्दू अभी अँगुली पकड़कर चलना सीख रही है।

मुंशी वलीराम---ये शाहजहाँ के समकालीन थे। दाराशिकोह के मशीरे-खास थे। शब्दावली पारसी-प्राय है।

नासिर अली—सरहिन्द के नासिर अली की कविता पंजाब में बड़ी प्रसिद्ध रही है। इनकी शब्दावली इनके युग एवं व्यक्तित्व का खासा परिचय देती है। शैली पारसी की है और शब्दावली हिन्दी की—मानो मूंज की रस्सी मे मोती पिरोये गए हों।

गुलाम क़ादिर—हजरत गुलाम क़ादिर बटाला के रहने वाले थे। इनकी मृत्यु ११७६ हिजरी (१७६१) ईसवी की बतायी जा रही है। ये बडे ही प्रतिभासम्पन्न कवि थे। 'रमजुल आशकीन' नामक उर्दू-मसनवी बड़ी प्रसिद्ध है। रचना में कुछ ऐसी तुकें भी है कि जो इन्होने अपने पिता को सम्बोधित करके लिखी है। छन्द हिन्दी के है और स्वर पंजाबी। शब्दावली अरबी-बहुल है।

मुहम्मद जान—ये गुलाम कादिर के शिष्य व साले है। उर्दू का वास्तविक रूप इनकी कविता से मानना ठीक हो सकता है।

बुधसिंह—हमने इन्हें हिन्दी ४७ कवियों में प्रमुख स्थान दिया है। इनका प्रसिद्ध नाम शशिनमृगेन्द्र है, जिसे हम अन्य दो बुधसिंहों से दूर करते है। कविता में पारसी-शब्दावली है, परन्तु पजाबी छन्द व स्वर अखण्डनीय है।

नामदार खाँ 'दत्त'—इनके पूर्वज मुहाल ब्राह्मण थे। इनका कोई 'लकड़दादा' कभी काबुल के राजपद को सुशोभित करता था। इसने रणजीतसिंह के दादा चडतसिंह का 'मरसिहा' लिखा है। इनकी भाषा दिल्ली-स्कूल की भाषा के समानन्तर है। यद्यपि पंजाबीपन से दूर रहना इनके बस का भी नहीं है।

हजरत मुरादशाह—इनके पिता का नाम पीर करमशाह है। ये लाहौर के रहने वाले थे। इन्होंने 'दीवान' के अतिरिक्त कई छोटी-मोटी मसनवियाँ भी लिखी हैं। १२१२ हिजरी (१७९६ ई०) में इन्होंने 'किस्सा चहार दरवेश' को पद्यबद्ध किया था, परन्तु वह पूरा न हो सका।

इनके अतिरिक्त मौलाना अब्दी, शेख मुहम्मद, फ़जलउद्दीन बटालवी, शेख मुहम्मद नूर, मूसा, शेख नसीरुलहक़, शाह मुराद, मियाँ अहमद, मुहम्मद, खुफिया बेगम, मीर साबर, रहमन, नियामतउल्लाह, मुहम्मद ग़ौस बटालवी, दिलमुहम्मद दिलशाद, खुशदिल फ़िदवी, हफरत सिकन्दरशाह 'इमदाद', रामकिशन, फकीर उल्लाह, रहमतशाह, अब्दुल रहमान खल्दी,

गुलामक़ादिर जलालपुरिया के नाम उल्लेखनीय हैं।[1]

२. (क) **आदि ग्रन्थ**—हिन्दी-जगत् के सुदीर्घ काल मे विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध बडा भाग्यशाली बताया जा सकता है। इस काल मे दो महान् ग्रन्थ लिखे गए, एक तो गोस्वामी तुलसीदास की अमर कृति रामचरित-मानस; दूसरी महती रचना है—आदि ग्रन्थ। इनके अतिरिक्त हनुमन्नाटक, रामचन्द्रिका आदि रामकाव्य भी लिखे गए। संवत् १६६१ विक्रमी में आदि-ग्रन्थ का शुभ संकल्प एवं पवित्र संकलन सम्पन्न हुआ। आदि-ग्रन्थ से पूर्व गुरुओं की वाणी संचिकाओं के रूप में विद्यमान थी और गुरु अमरदासजी के वंशधर श्री मोहनजी के पास सुरक्षित थी। कहते है, गुरु अर्जुनदेवजी स्वयं इन संचिकाओं को प्राप्त करने के लिए गोइन्दवाल गये थे। उनके कतिपय पद्यों[2] से प्रभावित होकर बाबा मोहन ने सचिकाएँ गुरुजी को भेट दे दी। संचिकाओं के सभी पद ग्रन्थसाहिब में संगृहीत हों, ऐसा नही है। अनुमानतः जो पद्य ठेठ निर्गुण भक्ति से सम्बन्ध रखने वाले थे, केवल उन्ही को आदिग्रन्थ में संचित किया गया। संचिकाएँ 'हरमण्डल' अमृतसर साहिब में विद्यमान है। श्री आदि-ग्रन्थ में ७ गुरुओं तथा १६ अन्य सन्तों की वाणियाँ संकलित हैं।[3] इनकी पद-संख्या इस प्रकार है :—गुरु अमरदासजी ८६९, गुरु अंगददेवजी ६३, गुरु अर्जुनदेव जी २३१२, गुरु गोविंदसिंह १, गुरु तेग बहादुर ११५, गुरु नानकदेवजी ९४७, गुरु रामदासजी ६३८, (कुल योग ३९६५) के पद हैं और सत्ता बलवंड ११, सधना १, सुन्दर ६, सूरदास २, सेना १, कबीर

---

१ स्रोत—पंजाब में उर्दू : महमूद शीरानी, प्रोफेसर ओरियण्टल कालेज, लाहौर : लखनऊ-प्रकाशन।

२ (क) मोहन तेरे ऊँचे महल अपार।
मोहन तेरे सोहनि दुआर जीउ संत धरमसाला।
—आदि ग्रन्थ : राग गौड़ी : महला ५

(ख) मोहन तेरे वचन अनूप चाल निराली।
मोहन तूं मानहिं एक जी अपर सभराली।
—आदि ग्रन्थ : राग गौडी : महला ५

(ग) मोहन तू सुफलु फलिआ सघु परिवारे।
मोहन पुत्र मीत भाई कुटम्ब सभि तारे।
—आदि ग्रन्थ : राग गौड़ी : महला ५

३. (क) महान्कोश : भाई काहनसिंह, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १३०७
(ख) कुछ अन्य लेखकों ने मीरा और साँई के नाम (१६ संतों के अतिरिक्त) गिनाये है।

५३४, जयदेव २, त्रिलोचन ५, धन्ना ४, नामदेव ६२, परमानन्द १, पीपा १, फरीद १२३, बेनी ३, भीखन २, मरदाना ३, रविदास ४० तथा रामानन्द १—कुल मिलाकर ६२५ पद हैं। भाटों के पद १२३ हैं, जिसके परस्पर मिश्रित होने से उनकी गणना एक समस्या बन गई है।[1] गुरु ग्रन्थसाहिब की स्थापना के बाद पुराण, उपनिषद् तथा वेदशास्त्रों के प्रति अनास्था व्याप्त हो गई और सिखों के संगठन का मूलाधार यही 'आदिग्रन्थ' बन गया।

आदि-ग्रन्थ के संकलन की भावना क्यों पैदा हुई ?—इस प्रश्न के उत्तर में चार अभिमत व्यक्त किये जा रहे है। एक पक्ष का कहना है कि गुरु अर्जुनदेव जी के मन में ग्रन्थ-संकलन की भावना जागृत हुई। दूसरे पक्ष का कहना है कि साध-संगत की प्रेरणा से ग्रंथ का संकलन किया गया। तीसरे पक्ष का कहना है कि वाणी-संग्रह की भावना आदि नानकदेव से चली आ रही थी और गुरु अंगददेव, गुरु अमरदास एवं गुरु रामदासजी ने उस भावना को जागृत रखा और गुरु अर्जुनदेवजी ने उसे सर्वांग-सम्पन्न किया। छठे, सातवें और आठवें

१. भाटों की कविता का विश्लेषण इस प्रकार से है :—

संख्या	नाम	प्रथम नानक	द्वितीय नानक	तृतीय नानक	चतुर्थ नानक	पंचम नानक	योग
१.	कल्ह	१०	५	६	१२॥	११	४७॥
२.	जल्हण	...	...	...	१	...	१
३.	नल	...	...	...	६	...	६
४.	कलस	...	४	...	॥	१	५॥
५.	मथुरा	..	...	...	६	७	१३
६.	जालप	...	...	४	...	...	४
७.	बल्ल	...	...	...	५	...	५
८.	हरिदेश	...	...	...	...	२	२
९.	टल्ल	...	१	...	...	...	१
१०.	सल्ल	...	...	१	२	...	३
११.	जल्प	...	...	१	...	...	१
१२.	भल्ल	...	...	१	...	...	१
१३.	दास	...	...	...	१५	...	१५
१४.	कीरत	...	...	४	४	...	८
१५.	गयन्द	...	...	...	५	...	५
१६.	सेवक	...	...	...	३	...	३
१७.	भिखा	...	...	२	...	...	२
	कुल योग	१०	१०	२२	६०	२१	१२३

गुरुओं की रचनाएँ इसमें नहीं हैं। चौथे पक्ष का दावा है कि गुरु-मत में सगुण-निर्गुण भक्ति के विवाद को सर्वदा के लिए समाप्त कर देना ही इस ग्रन्थ के संकलन की प्रेरणा है। इस विवाद से ऊपर उठकर जब आदि-ग्रन्थ के संकलन पर दृष्टि डालते हैं तो इसमें निम्न राग गाये गए दीख पड़ते है—

सिरी राग, माझ, गउड़ी, आसा, गूजरी, देव गंधारी, बिहागड़ा, वड हंस, सोरठा, धनासिरी, जैतसिरी, टोडी, बैराडी, तिलंग, सूही, बिलावल, गौड, रामकली, नट नारायन, माली गउड़ा, भारु, तुखारी, केदार, भैरड, बसंत, सारंग, मलार, कानड़ा, कलियान, प्रभाती, जैजैवन्ती, (छन्द) सलोक, गाथा, फुनहे, चउबोले, सवैये, मुंदावणी, आदि-आदि।

इनमें से १९ राग गुरु नानकदेवजी ने गाये हैं, १७ राग गुरु अमरदास जी ने गाये हैं। भक्तों ने भी २२ के लगभग राग गाये है[1]। निष्कर्ष यह है कि—

१—आदिग्रन्थ रागमय रचना है।

२—निर्गुण भक्ति का प्रतिपादन आदि ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

३—ग्रन्थ के सम्पादन का श्रेय श्री अर्जुनदेवजी महाराज को है।

४—इसमें ७ गुरुओं तथा १६ अन्य भक्तों की वाणियाँ संगृहीत हैं।

ग्रन्थ-संकलन के बाद भाई बुद्धा को इसका प्रथम ग्रन्थी बनाया गया। भाई बुद्धा के आत्मज भाई भानाजी दूसरे ग्रन्थी मनोनीत किये गए। दशम गुरु के बाद भाई मनीसिंह इसके ग्रन्थी बनाये गए।

आदि-ग्रन्थ की भाषा क्या ठहरायी जाय—इस प्रश्न पर रोचक विवाद छिड़ गया है। कहने को इसमें हिन्दी भाषा है; पर इसमें एक दूसरी प्रमुख भाषा भी है, जिसे संत जन पंजाबी कहना पसन्द करेंगे, वस्तुतः वह भाषा है ही नहीं। इस विषय में हमारी निश्चित धारणा है कि आदिग्रन्थ में दूसरी भाषा 'मुल्तानी' है। विक्रम की १३वीं शती से लेकर १७वीं शती तक पंजाबी की अपेक्षा 'मुल्तानी' साहित्य की भाषा मानी जाती थी। सात गुरुओं की वाणी का

१. श्री राग, गउडी, आसा, गूजरी, सोरठा, धनासरी, जैतसिरी, टोडी, तिलंग, सूही, बिलावल, गौड़, रामकली, मालीगउड़ा, मारू, केदार, भैरउ, बसन्त, सारंग, मलार, प्रभाती।

२. देखिये परिशिष्ट १५

तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि आदिनानक से लेकर नवम नानक तक की रचनाओं मे मुल्तानी भाषा उत्तरोत्तर लुप्त होती चली गई है और हिंदी भाषा उत्तरोत्तर उभरती और निखरती चली गई है। यथा—

(१)

मुल्तानी शब्द		हिंदी (ब्रज)
वडा, आखे	सुखि वडा आखे सब कोई।	के शब्द
डिठ, आखण	केवडा बड़ा डिठ होइ॥	होइ, कीमति,
किया, चारा	कीमति पाइ न कहिआ जाइ।	जाइ, देहि,
सवारण,	कहणै वाले तेरे रहे समाइ॥	ठगि, करम,
कूड़, खाधा,	आखण वाला किया विचारा।	करतारु
सलाहणा,	सिफती भरे तेरे भण्डारा॥	
	जिस तू देहि तिसे कि आचारा।	
	नानक सचु सवारण हारा॥	

—आदिग्रन्थ : गुरु नानकदेव : पृष्ठ ९

लबु कुत्ता कूड चूहडा ठगि खाधा मुरुदारु।
पर निंदा पर मलु मुख सुधी अगनि क्रोध चंडालु।
रस कस आप सलाहणा ए करम मेरे करतारु॥

—आदिग्रन्थ : महला १, पृष्ठ १५ (दे० ना०)

(२)

सउ, चानण		उगवहि,
होन्दिआं,	जे सउ चंदा उगवहि सूरज चढ़हि हजार।	छोर, जगु,
कोठड़ी	एते चानण होन्दिआं गुरु बिन घोर अँधार।	आपि, करै
इकन्हां,	इह जगु सचै की है कोठड़ी सचे का विचिवासु।	
विणासु	इकन्हा हुकमि सभासू लए इकन्हा हुकमें करे विणासु।	
भाणे,नजापई	इकन्हा भाणे कढि लए इकन्हा माइया विचि निवासु।	
आणै, विचि	एवभि आखि न जापइ जि किसै आणै रासि।	
	नानक गुरमुख जाणिए जा कऊ अपि करै परगासु।	

—आदिग्रन्थ : गुरु अंगददेव, पृष्ठ ४६३ (दे०)

(३)

मंनिआ,		पुरुष,शबदि,
इसनानु,	सतगुरु पुरुष न मंनिआ सबदि न लागो पिआरु।	दानु, कृपा,
संभालि,	इसनानु दानु जेता करहि दूजै भाइ खुआरु।	हेत अपार
	हरि जिऊ आपणी कृपा करै ता लागै नाम पिआरु।	

पिआरु नानक नाम समालि तू गुर के हेत अपारि।

—आदिग्रन्थ : गुरु अमरदास, पृष्ठ ३४ (दे० ना०)

(४)

मुल्तानी शब्द		हिंदी (ब्रज)
सति, सते	हरि सति मेरे बावुला	के शब्द
बावुल, जञ	हरिजन मिलि जञ सुहंदी।	मेरे, जपि,
पेवकड़े	पेवकड़े हरि जपि सुहेली	खरी, जनमु,
साहुरड़े,	विचि साहुरड़े खरी सुहंदी॥	मनु, संत
पासा	साहुरड़े विच खरि सुहंदी जिनि	जना
सोइआ	पेवकड़े नामु समा लिया।	
	सभ सफल जनम तिना दा गुरमुखि	
	जिना मनु जिणि पासा ढा लिया।	
	हरि संत जना मिली कारजु ओइआ	
	वर पाइआ पुरखु अनंदी।	
	हरि सति मेरे बावुला	
	हरि जन मिलि जञ सुहंदी।	

—आदिग्रन्थ : गुरु रामदास, पृष्ठ ४५ (दे०ना०सं०)

(५)

सिउ, से जिना सत गुरु सिउ चित लाइआ से पूरे परधान॥··· सत गुर,
जिग कउ मसतक लिखिआ तिन पाइआ हरिनाम। लाइआ, परधान, मसतक

—आदिग्रन्थ : गुरु अर्जुनदेव, पृष्ठ ४५ (दे० ना०सं०)

(६)

सभ, निभयौ		
	गुरु गोविंद गाइओ नहीं,	अकारथ,
	जनमु अकारथ कीन।	नाहिन, विधि,
	कह नानक हरि भजु मना,	दूसर, सिमरित
	जिहि विधि जल को मीन॥१॥	तिह, थिर,
	सभ सुखदाता रामु है,	सखा, तजि,
	दूसर नाहिन कोइ।	विपत, टेक,
	कहु नानक सुनि रे मना,	आदि
	तिह सिमरत गति होइ॥९॥	

राम गइओ रावन गइओ,
जाकउ बहु परिवार।
कहु नानक थिर कछु नहीं,
सुपने जिऊँ संसार ॥५०॥
संग सखा सभ तजि गए,
कोऊ न निभयो साथ।
कहु नानक इह बिपत मे,
टेक एक रघुनाथ ॥५५॥

—आदिग्रन्थ : गुरु तेगबहादुर, पृष्ठ १४२६-१४२७

इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन के बाद आदि-ग्रन्थ की भाषा पर अधिक टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है। संतों या फकीरों की भाषा की स्थिति भी यही है। यद्यपि ये संत जन पंजाब-निवासी नहीं हैं; जैसे सधना, सूरदास, सेना आदि—इनकी भाषा में मुल्तानी या अन्य भाषायी शब्दों के अस्तित्व का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। यदि वे पंजाबी कवि हैं, जैसे जगदेव या फरीद, बाबा शकरगंज, उनकी भाषा का स्वरूप वही है जैसा कि गुरु-वाणी मे दिखाया गया है। उनकी रचना मुल्तानी-मिश्रित हिन्दी है। मुल्तानी की शृंखला अब्दुर्रहमान से आरम्भ होती है. पृथ्वीराज-रासो में से गुजर कर वह गुरु-वाणी में समाप्त होती है। जो हो, संवत् १६६१ का वर्ष 'आदि ग्रन्थ' के कारण महान् माना जायगा।

(ख) **कच्ची वाणी**—यह पीछे लिखा जा चुका है कि गुरु-परिवार के उभय पार्श्वों में सगुण धारा की भक्ति-परम्परा विद्यमान थी। इस प्रसंग में सोढ़ी मिहरबान की रामायण का उल्लेख हो चुका है। यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि गुरु नानकदेव जी के बाद से लेकर गुरु गोविन्दसिंह जी तक गुरु-गद्दी हस्तगत करने का संघर्ष चल रहा था। इस संघर्ष के पीछे तीन तथ्य अनुमान किये जाते हैं—सगुण भक्ति को उपासना मे स्थान देना, २. संन्यास धर्म को यथासम्भव अपनाना, तथा ३. पैतृक सत्त्व की रक्षा करना। गुरु नानकदेवजी के बाद श्रीचन्दजी इस गद्दी के लिए सक्रिय हुए, यह बात ऐतिहासिक तौर पर सत्य मानी जा रही है कि वे संन्यास धर्म की ओर झुकाव रखते थे। पुत्र होने के नाते वे सच्चे उत्तराधिकारी भी थे। पर आदि नानकजी ने उन्हें 'द्वितीय नानक' का पद न देकर, यह गौरव श्री अंगददेवजी को दिया द्वितीय और तृतीय नानक के समय में सगुण-निर्गुण भक्ति का प्रश्न खड़ा हो

गया। इसका समाधान अनिवार्य था। यह प्रश्न न केवल गुरु-परिवारों में विद्रोह का कारण बन रहा था, बल्कि किसी सीमा तक साध-सगत को भी प्रिय न था। भाई बुद्धा तथा भाई गुरदास को यह श्रेय असंदिग्ध शब्दों में मिलना चाहिए कि उन्होंने सजग प्रहरी की तरह 'निर्गुणवाद' की रक्षा की; सगुण उपासना को सर्वसम्भव उपायों से दूर-दूर ही रखा। इस पारिवारिक एवं औपासनिक समस्या के लिए दो हल ढूंढे गए—

१. गुरु-गद्दी वंश-परम्परागत मान ली गई; बीबी भानी के वर माँगने पर यह गद्दी 'सोढी वंश' को प्राप्त हुई और सात पीढ़ी गुरुआई उसके पास रही।

२. निर्गुण-सगुण की समस्या का समाधान 'आदिग्रन्थ' के संकलन से हो गया। अतः साक्ष्य के बल पर आदिग्रन्थ की वाणी को 'सच्ची वाणी' नाम दिया जा रहा है। पर क्या आदिग्रन्थ की वाणी को सच्ची वाणी घोषित कर देने मात्र से यह समस्या यहाँ समाप्त हो गई? इतिहास पढ़ने वाला कह सकता है कि 'नहीं'। विद्रोही परिजनों का इतिहास गुरु-गद्दी के साथ जुड़ा ही रहा—

(क) नानकदेव के आत्मज श्री लक्ष्मीचन्द।

(ख) अंगददेव के आत्मज दातू और दासू।

(ग) अमरदास के पुत्र मोहन और मोहर।

(घ) रामदास के आत्मज पृथिया और महादेव।

(ङ) गुरु हरगोविन्द के पुत्र रामराय।

(च) गुरु गोविन्द सिंह के सगोत्र मिहरबान।

'सच्ची वाणी' के रूप में आदिग्रन्थ की स्थापना के बाद भी गुरु-गद्दी के विद्रोह प्रत्याशियों ने अपना सघर्ष समाप्त नही कर दिया, बल्कि सच्ची वाणी के समकक्ष नयी वाणी भी रची जाने लगी। इन प्रत्याशियों ने एक रोचक पहलू पकड़ लिया। जो भी विद्रोही उठता, 'नानक' उपनाम देकर रचना करने लगता। इस संघर्ष की चर्चा भाई गुरुदास ने भी की है।[२] 'अनुमान' यह सोचने के लिए

---

१. (क) साची वाणी मीठी अमृतधार। जिनि पीती तिसु मोख दुआर

—आदिग्रन्थ : पृष्ठ १२७५

(ख) पूरे गुर की साची वाणी। सुख मन अन्तरि सहज समाणी।

—आदिग्रन्थ : पृष्ठ ६६३

(ग) पूरे गुर की वाणी। पार ब्रह्म मनमानी।

—आदिग्रन्थ : पृष्ठ ९२९

२. द्रष्टव्य : वारां, भाई गुरुदास, पृष्ठ २९३

अवकाश दे देता है कि विद्रोही परिजनों की वाणी इतनी मात्रा में आ गई होगी और श्रद्धालुओं के लिए अवश्य समस्या बन गई होगी। तभी तो श्री गुरु अमरदासजी को कहना कहना पड़ा—

(१) **आवहु सिख सतिगुर के पियारियहु गावहु** सच्ची वाणी।
वाणी त गावहु गुरु केरी वाणिआं-सिर-वाणी।
जिन कउ नदरि करमु हो वै हिरदै तिना समाणी
पीवहु अमृत सदा रहहु हरि रंगि जपिहु सारंगी पाणी।
कहै नानक सदा गावहु एह सच्ची वाणी।

पुनश्च—

सति गुर बिना होर कच्ची है वाणी।
वाणी ते कच्ची सतिगुर बाझहु होर कच्ची वाणी।
कहंदे कच्चे सुणदे कच्चे कचीं आंख बखाणी।

—आदिग्रन्थ : रामकली महला ३, पृष्ठ ६२०

(२) **सदिगुर की वाणी सति सुरुपु है गुरवाणी बणीए।**
सति गुर की रीसे होरि कचु पिचु बोलदे से कूड़ियाल बूड़े झड़ि पड़ीए।

—आदिग्रन्थ : गडड़ी की वार महला ४, पृष्ठ ३०४

कच्ची वाणी नाम से जिन ग्रन्थों की चर्चा की जाती है, उनके तीन वर्ग बताये जा रहे हैं—

(१) गुरुओं की वह वाणी, जिसे आदिग्रन्थ में स्थान नहीं दिया जा सका।

(२) समर्पित वाणी, तथा

(३) प्रतिद्वन्द्वी परिजनों की वाणी।

(१) कुछ रचनाएँ ऐसी भी भी बतायी जा रही हैं कि जिनका उल्लेख संचिकाओं में तो है, पर वे आदिग्रन्थ में नहीं हैं। इसी प्रकार पुरातन जन्म-साखी (१६६१ संवत्-परवर्ती) में जिन नानक-नामांकित पदों का उल्लेख है, वे भी आदिग्रन्थ में नहीं हैं। इस प्रकार अन्य परित्यक्त कच्ची वाणी में गुरुओं की सच्ची वाणी का मिश्रण देख सकता है।

(२) गुरुओं ने स्वयं एक परम्परा चलायी, जो अन्य गुरुपद-प्रत्याशियों के लिए अनुकरणीय हो गई। आदिग्रन्थ के पढ़ने से पता चलता है कि गुरुओं ने अन्य भक्तों के नाम से रचना करके उन्हें श्रद्धारूप में भेंट की है। उदाहरणार्थ शेख फ़रीद[1]

१. इह तनु सभो रतु बिनु तनु न होइ।
जो सह रते आपणे तितु तनु लोभ रतु न होइ।

तथा भक्तराज सूरदास[1] के नाम से श्री गुरु अर्जुनदेवजी ने रचना की है। इन्ही की देखा-देखी गुरुपद-प्रत्याशियों ने नानक नाम से बहुत-कुछ लिखकर गुरु के अर्पित कर दिया। इसे समर्पित वाणी कहते हैं।

(३) विद्रोही परिजनों ने सत्ता हथियाने की वृत्ति के वशीभूत जो कुछ लिखा, उसे भी इसी वर्ग में रखा जा रहा है।

जो हो, धार्मिक दृष्टि से वह कच्ची वाणी ही सही, पर इतिहासकार के लिए इसकी उपेक्षा कर सकना कठिन है। कच्ची वाणी में पृथिया की रचना इस समय तक अप्राप्य है। सोढी मिहरबान की रामायण सिख-साहित्य के पण्डितों के पास विद्यमान है। हरियाजी की रचनाएँ प्रो० प्रीतमसिंहजी के पास सुरक्षित है। सच्ची वाणीकार तथा कच्ची वाणीकार का प्रश्न यहाँ स्थापित कर शेष कवि-परिचय मे देखेगे।

(ग) **आगन्तुक कवि**—पजाब के साहित्यिक वातावरण को बनाये रखने का जो शुभ यज्ञ कबीर-खुसरो के द्वारा आरम्भ हुआ था, वह निरन्तर बना रहा, यह कम सन्तोष की बात नही है। इस मध्यवर्ती युग मे पजाब मे आने वाले साहित्यकारो की सख्या पूर्ववर्ती सख्या से आठ गुनी तक जा पहुँची है। परिचय इस प्रकार से है—

बीरबल—सम्राट् अकबर के विनोदी सखा, प्रमुख योद्धा एव सिद्धहस्त कलाकार वीरबल के विषयों मे लोग कम जानते होंगे कि उसका पंजाब में आना-जाना था। वीरबल अकबर के साथ पजाब में आकर पर्याप्त समय तक रहा था, दूसरी बार गुरु-परिवार से 'जजिया' उगाहने आया था और तीसरी बार एक युद्ध में भाग लेने आया था। इसकी कविता अत्यन्त हृदयग्राही, मिष्ट

भैमइऐ तन खीण होई लोभु रतहु विचहु जाहि।
जिउ वैसन्तरि धातु सुधु होइ निउ हरि का भउ दुरमति मैल गवाइ।
नानक ते जन सोहणे जि रते हरि रग लाइ।
—आदिग्रन्थ : महला नं० ३ : पृष्ठ १३८० (सलोक सेख फरीदजी के)

१. हरि के संग बसे हरिलोक।
तनु मनु अरपि सरबसु सभु अरपियो अनद सहज सुनि झोक।
दरसनु पेखि भए निरविघई पाए है सगले थोक।
आन बसतु सिउ काजु न कछुऐ सुन्दर बदन अलोक।
सिआम सुन्दर तजि आन जु चाहत जिउ कुसरी तनि जोक।
'सरदास' मनु प्रभि हथि लीनो दीनो इहु परलोक।
—आदिग्रन्थ : सारंग महला ५, पृष्ठ १२५३। (सूरदास)

एवं भाव-बहुत है, नमूना देखिये—

प्राण चढ़ाय कै जोग करौ कहा काहे करौ व्रतपुंज विबसाला।
देह तपाय तपाय पँचागिन काहे सहौ बन बैठि कसाला।
'ब्रह्म' विचारत जो हिय मैं सोई रूप धरै नर को इह काला।
जाय लखौ किन वा नँदराय के आँगन खेलत नन्द के लाला॥

हंसराय—वाजपेयी-वंश के हंसराय गुरुजी हजूरी कवियों मे मुख्य स्थान रखते हैं। हंसराय ने गुरुजी की आज्ञा से 'महाभारत' के कर्ण-पर्व का अनुवाद किया था। गुरुजी ने उसे साठ हजार टके पुरस्कार दिया था। 'हनुमन्नाटक' का भी आपने उद्धार किया था। भाषायी कसावट की दृष्टि से हंसरायजा की कविता उत्तम है—

चारों चक्क सेवैं गुरु गोविंद तिहारे पाइ
मेरे जाने आज तू ही दूजौ करतार है।
प्रबल प्रचण्ड खण्ड-खण्ड महि मण्डल में
साँचौ पातसाह जाकौ साँचौ सिर भार है।
कामना के दानबान जाकी हंसराय कहे
परम धरम देखे बिबिध बिचार है।
परम उदार पर पीर कौ हरनहार
कौन जानै कौन भाँति लीनों अवतार है॥

चन्दन—गुरुजी की साहित्य-सभा में पहुँच कर चन्दन कवि ने निम्न-लिखित कविता पढ़ कर हजूरी कवियों को चुनौती दी और गुरुजी के अश्व-पालक धन्नासिंह ने उसे स्वीकार कर लिया। गुरुजी ने उसे सादर अपने कवि-मण्डल में स्थान दिया। रचना :—

नवसात तिए नवसात किए नबसात पिरत नवसात पियाए।
नवसात रचे, नवसात बचे नवसात पिया पहि दायक पाए।
जीत कला नवसातन की नवसातन के मुख अंचर छाए।
मानहु मेघ के मण्डल में कवि चन्दन चन्द कलेवर छाए।

कुमरेश—केशव मिश्र के सुपुत्र कुमरेश मिश्र भी गुरुजी के दरबारी कवियों में उपस्थित थे। 'महाभारत' के अनुवाद-यज्ञ में कुमरेश ने द्रोणपर्व (भारद्वाज-गोत्रीय होने से ?) का भाषानुवाद वैक्रम संवत् १७५२ में समाप्त कर अपना योगदान दिया था।[1]

---

१. (क) महान कोश : काहनसिंह : पृष्ठ १०२८

गोपालसिंह—वृन्दावन-निवासी गोपालसिंह 'नवीन' का पटियाला-दरबार में अच्छा सम्मान था। इससे पूर्व नवीनजी नाभा के राजा जसवन्तसिंह के दरबार में रह चुके थे और कुछ समय के लिए राजा देवेन्द्रसिंह के यहाँ भी रहे। इनकी सम्पादित 'नेह निदान' तथा 'सुधासर' पोथियाँ सुनने में आती हैं। 'सुधासर' की संगृहीत पद्य-संख्या २६१६ तक बतायी जाती है। रचना—

श्री वृद्धावन धाम कौ, वासी दीन नवीन
तहँ आयौ सुनि कै सुयश, देखी सभा प्रवीन॥
प्राचीन कवि उक्ति कौ, नृपवर चित्त उमाह।
पाय हुकुम तब यह कियौ, ग्रन्थ सुधासर चाह॥
प्रभु सिधि कविरस तत्त्वगनि, संवत्सर[1] अवरेख।
अर्जुन शुल्क सप्तमी सोम सुधासर लेख॥

चन्द्रशेखर वाजपेयी—हंसराय गुरुजी के पौत्र चन्द्रशेखर वाजपेयी महाराज कर्मसिंहजी के समय मे पटियाला के कवि-दरबार मे पधारे एवं महाराज महेन्द्रसिंह के समय तक सम्मानित रहे। यह संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनकी कृतियाँ इस प्रकार बतायी जाती है—देवीभागवत, वृन्दशतक, नखशिख, रसिक-विनोद, गुरुपंचाशिका, राजनीति-प्रकाश, हमीरहठ, भक्ति-विलास, विवेकविलास, माधवीवसन्त तथा 'ताजिक'। रचना का नमूना—

थोरी थोरी बैसवारी, नवल किसोरी सभैं
भोरी भोरी बातनि बिहँसि मुख मोरतीं।
बसन बिभूखन बिराजत बिमल वर
मदन मरोरति लरक तन तोरतीं।
प्यारे पातसाह के परम अनुराग रँगीं
चाय भरी चायल चपल दृग जोरतीं।
काम अबला सी कलाधर की कला सी चारु
चम्पक लता-सी चपला-सी चित्त चोरतीं॥

(ख) केसवदास हुतौ कबि जोइ, भयौ बुंदेलखण्ड में सोइ।
तिसकौ पुत्र कुवर है नामु, सो भी रचत गिरा अभिरामु॥
तुरक करन नवरंग चित चह्यौ, गुनी अधिक हिन्दुन में लह्यौ।
जबै कुवर सुध इन बिधि पाइ, त्यागि देस घर गयौ पलाइ।
दुर-दुर दूर-दूर नित चलकर, पहुँच्यौ आन अनंदपुर सिखकर।

गुरुप्रताप्सूर्य : ऋतु २, अयन ५१

जातीदास—यह कहाँ के रहने वाले थे, इस विषय मे अधिक स्पष्ट कह सकना कठिन है। अलबत्ता राजभवन 'मोती महल' के निर्माण-काल में आप महाराज नरेन्द्रसिंह के यहाँ उपस्थित थे। इनकी भाषा ब्रज एवं कवित्व साधारण है। यथा—

शोभित नगर उदित पटियाला, वर नरिंद सिंह सरस भुपाला।
राजकाज गुन नीति उमंगा, रथ गज बाज सैन चतुरंगा।
मन्दर नवल झलक रवि जोति, कंचन कलस लसत नग मोति।
धरम करम जस बिस्व प्रकासी, दरस परस पूरन सुखरासी।
मोती बाग अनुपम मनभायौ, सोभा सरस नूर मन भायौ।
चातक मोर कीर कपि बोलै, मन अनन्द खग करत कलोलै।
भरे ताल जल छुटै फुवारे, फूलै कँवल भंवर गुँजारे।
भवन खचित नग लसत अटारी, रची चित्रकारी फुलवारी।

ग्वाल कवि—वृन्दावन के भाट, सेवाराम के पुत्र ग्वालकविजी महाराजा रणजीतसिंह के दरबार मे विद्यमान थे। कुछ समय तक महाराज शेरसिंह के आश्रय मे रहे। उनका 'शेरसिंहविनोद' अलंकार-ग्रन्थ सुना जाता है, देखने मे नही आया। लाहौर से चलकर ग्वाल पटियाला आये तथा जीवन के अन्तिम दिनों नाभा मे रहे। आपकी पजाब मे रहकर गुरुमुखी लिपि मे लिखी लब्ध कृतियो मे 'विजयविनोद' वीरकाव्य की एक कडी यों है—

गाढ़ी हिय मन आली आठौं दिस गाढ़ी गाढ़ी
पाप पाँति चाढ़ी तब दाढ़ी भूमि बिकलान।
तब हरि जूने निज अंस प्रकटायौ भयौ
रणजीतसिंह नाम पायौ सो जहान भान।
ग्वाल कवि कहै बिप्र बेद गाय तुलसी प्रिय
छिप भयौ तिनकौ रक्षक प्रतक्ष आन।
तेजवान औ जवान ग्यानवान बुद्धिमान
दान और कृपान कौ बहादुर मिहरबान॥

इसके अतिरिक्त ऋषिकेश कुमायूँवी, गंगाराम, क्षेममिश्र आदि के ना उल्लेखनीय है।

(घ) वर्गीकरण—मध्यकाल के उपलब्ध साहित्य का वर्गीकरण कोई सुग कार्य नहीं है। कुछ शैलियाँ पंजाब की अपनी उद्भूत की हुई है, और कतिप शैलियाँ हिन्दी-जगत् की अमर देन के रूप मे आयी है। इन सबको निम्नाङ्कि

वर्ग तथा उपवर्ग में बाँट सकते है। यथा—

१. **दरबारी कवि**—(अ) आदिग्रन्थ के दरबारी कवि; (आ) दशम गुरु के दरबारी कवि, (इ) लाहौर के दरबारी कवि, (ई) पटियाला के दरबारी कवि, (उ) कपूरथला के दरबारी कवि, (ऊ) नाभा के दरबारी कवि, (ए) जीद के दरबारी कवि।

२. **रीति-साहित्य**—(अ) रीतिबद्ध, (आ) रीतिमुक्त।

३. **गुरुविलास**—(अ) गुरुविलास, (आ) जन्मसाखी।

४. **धार्मिक साहित्य**—(अ) रामभक्ति शाखा; (आ) कृष्ण-भक्ति शाखा; (इ) निर्गुण काव्यधारा; (ई) सिख भक्ति शाखा; (उ) सूफी काव्य।

५. **गेय काव्य**—(अ) मुक्तक गेय; (आ) प्रबन्ध गेय।

६. **वीर काव्य**—(अ) पौराणिक वीर काव्य; (आ) ऐतिहासिक वीर-काव्य।

७. **मंगलकाव्य**। ८. **चरित्रकाव्य**। ९. **बारामांह**।

१०. **काव्य-रूप**—(अ) मुक्तक; (आ) महाकाव्य; (इ) खण्ड-काव्य; (ई) कोशकाव्य।

११. **लोक कथा**—(अ) ऐतिहासिक लोक कथा; (आ) कल्पित लोक-कथा।

१२. **इतिहास**—(अ) सिख इतिहास; (आ) पौराणिक इतिहास।

१. **दरबारी कवि**—(अ) आदि-ग्रन्थ के दरबारी कवि : यह एक विस्मय का विषय है कि साहित्य-जैसी पुनीत सम्पदा भी परम्परा से चली आ रही आश्रम-संस्कृति से उठकर नगर-संस्कृति मे जा लिपटी है। नगर-सस्कृति में 'राजाश्रय' का स्थान सब से ऊँचा है। अतः रीतिकाल के कवि राजाश्रय पाने को सदा उत्सुक रहे है। चूँकि आदिकाल की ऐतिहासिक रस्साकशी में पंजाब मे राजसत्ताएँ विलुप्त हो गई थी, फलतः दरबारी कवियों के सभी अवसर समाप्त हो गए थे। अचानक गुरु अर्जुनदेव के समय उनके तेज तथा व्यक्तित्व से प्रभावित होकर पजाब के कई आश्रय-उत्सुक भाट कार्य-क्षेत्र में प्रकट हुए—कल्ह, जल्हण, नल, कलस, मथुरा, जालप, बल्ल, हरिवश, टल्ल, सल्ल, जल्प, भल्ल, दास, कीरत, गयन्द और भिक्खा ने गुरु-प्रशस्ति मे कतिपय कवित्त-सवैये रचे। गुरु नानकदेव की स्तुति में दस, गुरु अंगददेव की स्तुति मे दस, गुरु अमरदास की प्रशस्ति में बाईस, गुरु रामदास की प्रशस्ति में साठ तथा अर्जुनदेव जी की शंसा में इक्कीस (कुल मिलाकर[1] १२३) कवित्त-सवैयों का

१. द्रष्टव्य : इस पुस्तक का पृष्ठ १७६

सृष्टि को। भाषा ब्रज है। रचना—

जग और न याहि महातम है, अवतार उजागर आनि कियौ।
तिन के दुःख कोटिक दूरि गये; 'मथुरा' जिन अमृत नाम पियौ।
इह पद्धति ते मत चूकहि रे, मन भेद-विभेद न जान बियौ।
परतच्छ रिदै गुरु अर्जुन कै हरि पूरन ब्रह्मा निवास लियौ।

(मथुरा)

(आ) दशम गुरु के दरबारी कवि—पंचम नानक के बाद दशम नानक के दरबार में कविजन आने लगे। पंजाब तथा पंजाब से बाहर के अनेक कवियों ने गुरु-दरबार में आश्रय प्राप्त किया। उनके नाम ये हैं:—१ अणीराय, २ अमृतराय, ३ अल्लू, ४ आलम, ५ आत्मासिंह, ६ ईश्वरदास, ७ उदयराम, ८ कल्लू, ९ कुमरेश, १० खानचन्द, ११ गुणिया, १२ गुरुदास, १३ गोपाल, १४ चन्दन, १५ चन्दा, १६ जमाल, १७ टहकन, १८ धर्मसिंह, १९ धन्नासिंह, २० ध्यानसिंह, २१ नन्दसिंह, २२ नन्दलाल, २३ निश्चलदास, २४ निहालचन्द, २५ नानू, २६ पिण्डीदास, २७ बल्लू, २८ बुलन्द, २९ बृजलाल, ३० बृद्ध (वृन्द ?), ३१ मथुरा, ३२ सल्लू, ३३ मदनसिंह, ३४ मदनगिरि, ३५ मालासिंह, ३६ मानदास, ३७ मंगलकवि, ३८ रामसिंह, ३९ रौशनसिंह, ४० रावल, ४१ लक्खा, ४२ बल्लभ, ४३ श्याम, ४४ सुदामा, ४५ सुखिया, ४६ सुखदेव, ४७ सुखासिंह, ४८ सेनापति, ४९ हंसराय, ५० हीर, ५१ हुसैन अली और ५२ बृद्धिचन्द। इन कवियों की खोज करने वाले विद्वानों का कहना है कि ये ५२ संख्या कभी निश्चित नहीं रही। कवियों का आना-जाना बना रहता था। इस प्रकार एक समय ऐसा भी आया, जब अधिकतम अंक ५२ तक जा पहुँचा। यदि समस्त कवियों का नामांकन किया जाय तो ये नाम अधिक हो सकते हैं।[1]

---

१. (क) ठाकुर देसराज ने अपने 'सिख इतिहास' में मल्लू (२२), सुदामा (४४), सुखिया (४५), सुखदेव (४६) तथा स्याम (४३) के नाम न गिनाकर उनके स्थान पर अचलदास, दयासिंह, धर्मचन्द, मानचन्द, सम्भवतः चन्दा (१५) १७ के नाम अधिक गिनाये हैं। देखिये— सिख इतिहास।

(ख) लेखक की राय में काशीराम का नाम अधिक होना चाहिए। इसने हनुमन्नाटक का सुधार किया था।

(ग) भाई वीरसिंह जी के अनुसार सुखू, सुन्दर, सोहन, दयासिंह, मधु, मानचन्द, अचलदास अतिरिक्त नाम हैं।

(घ) ज्ञानी ज्ञानसिंह के अनुसार मधू, रामदास, सेना, सेखा, रामचन्द, मानी, सुन्दर,

इन दरबारी कवियो के विषय में दो बाते उल्लेखनीय हैं। एक तो यह कि गुरु जी महाराज ने अपने दरबारी कवियो से पौराणिक आख्यानों का अनुवाद कराया था। जब उनकी समस्त रचनाएँ इकट्ठी की गईं, तो उसका नाम 'विद्याधर' रखा गया। वह तौल में नौ मन के लगभग था। जब गुरुजी ने आनन्दपुर छोड़ा, तो विद्याधर को बचाया न जा सका। जो 'पन्ने' शेष बच रहे, उनका संकलन भाई संतोषसिंह जी ने किया था। दूसरी बात यह कि गुरुजी ने 'महाभारत' का अनुवाद कराया था, उसमें से कुछ प्रतियाँ उपलब्ध हैं—

१. कर्ण पर्व	हंसराय	१७५२	६०००० टके पुरस्कार
२. अश्वमेध पर्व	टहकन	१७५२	...
३. द्रोण पर्व	कुमरेश	१७५२	...
४. सभा पर्व	अमृतराय	१७५२	...
५. शल्य पर्व	मगलकवि	१७५२	...

अन्य कवियों की जो रचना प्राप्त हैं, उनका विवरण भाई संतोषसिंह की अमर कृति में संकलित है।[1]

रणजीतसिंह के दरबारी कवि : गुरुजी के बाद रणजीतसिंह के राज्य-स्थापन तक कवियों के लिए कोई आश्रय नहीं रहा। रणजीतसिंह के दरबार में हाशम, गणेशकवि, शिवदयाल, जयसिंह और बुधसिंह का होना सिद्ध हो चुका है। हाशम वस्तुतः पंजाबी का कवि था, और इसी नाते से उसकी खालसा-दरबार तक पहुँच गई थी। उसके हिन्दी के पद्य भी मिलते हैं, पर बहुत थोड़े-से। शिवदयाल तथा जयसिंह के उपलब्ध कवित्त देखकर, उनके खालसा-दरबार में होने का अनुमान लगाया जा सकता है।[2] गणेश कवि का खण्ड-काव्य 'फतहनामा श्रीगुरु खालसाजी का' प्रिंसिपल सीताराम कोहली को मिला है। जिसका पंजाबी-संस्करण भाषा-विभाग ने तथा नागरी-संस्करण विश्वेश्वरानन्द अनुसंधान संस्थान, होशियारपुर ने प्रकाशित किया है। बुधसिंह ने तो स्पष्ट ही उल्लेख किया है—'रणजीतसिंह महाराज की आज्ञा से पंचतन्त्र

जान, ठाकुर ये अतिरिक्त नाम है।

—[(ग-घ) स्रोत : गु० लि० उ० हिन्दी-काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन : डा० हरिभजनसिंह, पृष्ठ ६३० : पाण्डुलिपि]

१. गुरुप्रतापसूर्य : भाई संतोखसिंह : भाग १३वाँ, अध्याय ५१-५२-५३

२. द्रष्टव्य : गुरु-शब्द-रत्नाकर महानकोश, पृष्ठ ६०२ तथा ३०५२

का भाखा-अनुवाद किया।' इनके अतिरिक्त ग्वाल कवि की रचनाएँ भी मिलती है, जिनमें से 'विजयविनोद' पुस्तक छप चुकी है।[3]

(ई) पटियाला-दरबार के कवि : पटियाला-दरबार को भाषा-कवियों का संरक्षण तथा प्रोत्साहन देने का श्रेय असंदिग्ध शब्दों मे मिलना चाहिए। वहाँ निरन्तर चार पीढ़ियो तक महाराजाओ के यहाँ भाषा-कवियों का भीड़-भडका बना रहा। कुछ कवियों के नाम ये है :—केशोदास, धर्मसिंह, जातीदास, रामदास, वसन्तसिंह (ऋतुराज), भगवानसिंह, मूलासिंह, रामसिंह पंजाबी, चन्द्रशेखर वाजपेयी, फतैराम, देवीदित्ताराय, उमादास (भवानीदास) बनारसीदास, रूपचन्द, कृष्ण कवि, निहालचन्द, वंशी पण्डित, ईश्वरकवि, मैनकवि, चंदकवि स्वर्णकार। कुछ अन्य कवि भी पटियाला-दरबार मे आते रहते थे।

(उ) नाभा के दरबारी कवि : नाभा के महाराज हीरासिंह के पूर्व तथा उनके युग मे कतिपय प्रसिद्ध कवि विद्यमान थे। यथा—वंशी पण्डित, भाई प्रेमसिंह, ग्वाल कवि, लाल कवि तथा भाई सन्तोषसिंह। भाई हजूरासिंह नाभा-दरबार के मन्त्री भी रहे है, कवि भी। ग्वाल कवि ने नाभा मे रहकर गुरुपंचाशिका तथा गोपी-पच्चीसो की रचना की थी। वंशी पडित पटियाला दरबार से नाभा-दरबार मे गये तथा भाई सतोषसिंह कैथल से नाभा आये थे। कहते है कि कैथल-नरेश भाई सतोषसिंहजी को लेने नाभा आये थे। इनके वंशज कैथल मे अब भी विद्यमान हैं।

(ऊ) कपूरथला के दरबारी कवि : कपूरथला नरेश स्वयं कवि थे। उनके दरबार में कवि नही, आचार्यों का जमघट था। यथा—फतैराम, फतह सिंह, हरनाम, रामसुखराय आदि।

(ए) जीद के दरबारी कवि : जीद के दरबार मे मदनसिंह, साहबसिंह मृगेन्द्र के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

दरबारी कवियों के विषय मे कुछ-एक बाते लक्ष्य करने योग्य हैं। पहली बात यह कि दशम गुरु गोविन्दसिंह का अपूर्व व्यक्तित्व इन समस्त कवियों का कार्य-विषय रहा है। ऐसा लगता है कि जहाँ गुरु गोविन्दसिंह में अद्भुत काव्य-निर्माण की क्षमता थी, उससे कई गुना अधिक काव्य-नायकत्व की योग्यता थी। अतः मध्य युग के काव्य में दशम गुरु का व्यक्तित्व सर्वत्र व्याप्त है। दूसरी बात यह कि इसके अनन्तर महाराज नरेन्द्रसिंह का स्थान है।

२. द्रष्टव्य : प्राचीन जंगनामे, शमशेरसिंह अशोक

यदि महाराज नरेन्द्रसिंह कवियों को आश्रय न भी देते, तो भी उनके व्यक्तित्व की छाप पंजाब के सभी कवियों पर थी। अपने अनुमित कथन के समर्थन में उन कवियों को ले सकते हैं, जो पटियाला-दरबार में तो नही थे, पर उन्होंने महाराज नरेन्द्रसिंह पर कुछ-न-कुछ अवश्य लिखा है। सविस्मय लिखना पड़ रहा है कि पटियाला-दरबार के कवियों ने पटियाला-रनिवास पर कहीं कुछ नहीं लिखा, प्रत्युत सदा महाराज नरेन्द्रसिंह के विद्यानुराग, शौर्य, धर्म-प्रेम तथा वैदुष्य पर ही उनकी दृष्टि रही है। तीसरी यह कि प्रायः सभी दरबारी कवियों मे साम्प्रदायिक भेदभाव नही था। हिन्दू-सिख मिलकर साहित्य-सृजन कर रहे थे। सबका वर्ण्य विषय एक था—देवी-देवताओं की वन्दना, गुरु-शोभा, राजप्रशसा, इत्यादि। चौथा यह कि इन ५०-६० वर्षों में इन कवियों ने पंजाब के भाषा-साहित्य की इतनी अभिवृद्धि कर दी कि अब अभाव की शिकायत नही रही। पाँचवीं बात यह है कि पटियाला-दरबार ने महाभारत का अनुवाद-यज्ञ, जिसे स्वयं दशम गुरु ने आरम्भ किया था, स्थगित नही किया, उसे सतत क्रियमाण रखकर अपना कर्त्तव्य पालन किया। यथा—

स०	पर्व	प्रणेता	संवत्
१	आदिपर्व	रामनाथ	१८४०
२	स्त्रीपर्व	दित्तेराय	१९०५
३	व्यासपर्व	दित्तेराय	१९०८
४	स्वर्गारोहण	उमादास	१९०९
५	मौसलपर्व	उमादास	१९०९
६	प्रस्थानपर्व	उमादास	१९०९
७	वैराटपर्व	वशीपण्डित	१८८१
८	अश्वमेध	(भवानीदास)	१८९७
९	उद्योगपर्व	चंदस्वर्णकार	१९०८
१०	भीष्मपर्व	वसन्तसिंह	१९००
११	सौप्तिकपर्व	उमादास	१९०९
१२	शान्तिपर्व	मोहरसिंह	(?)
१३	दानपर्व	निहालकवि	(?)

हिन्दी-साहित्य के विकास मे राज-दरबारों के सहयोग की जितनी प्रशंसा की जाय, कम है।

२. **रीति-साहित्य—(अ) रीतिबद्ध रचना :** रीतिबद्ध रचना के अन्तर्गत

उन कृतियों की गणना होती है, जहाँ लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत करके किसी काव्यांग का (रस, अलंकार, ध्वनि, गुण-दोष तथा छन्द) का शास्त्रीय प्रतिपादन किया जाता है। इस प्रकार की रचनाएँ ये हैं—

	रचना	आचार्य	विषय	संवत्
१	रस तरंगिणी	कृपाराम	रस	(?)
२	रस तरंगिणी	हृदयराम भल्ला	रस	१९०७
३	कविरंजन	फतैराय (चंद)	सर्वांग	(?)
४	साहित्यशिरोमणि	निहालसिंह	सर्वांग	१८९१
५	रसशिरोमणि	मुकन्दकवि	रस	१९४९
६	अलंकार सुधासागर	टहलसिंह	अलंकार	१८९१
७	साहित्य शिरोमणि	निहालकश्मीरी	सर्वांग	१८९१
८	प्रस्तार प्रभाकर	रसपुंजकवि	छन्द	१८७१
९	रसमंजरी	हरिराम	रस	(?)
१०	छन्दबोधिनी	ज्ञानाराम	छन्द	(?)
११	रस तरंगिणी	हरनाम	रस	१९००
१२	ब्रजेशभूषण	काहनसिंह	अलंकार	१९२८

(आ) रीतियुक्त रचना : जो कवि लक्षण-परिपाटी का परित्याग करके परोक्ष रूप से उदाहरण-परिपाटी का पालन करने का व्यंग्य प्रस्तुत करते हैं, उनकी रचनाएँ इस कोटि में रखी जाती हैं। गुरु गोविन्दसिंह-कृत कृष्णकाव्य निःसन्देह इस श्रेणी में सहर्ष रखा जा सकता है। अमृतराय का चित्रविलास तो और भी अधिक अद्भुत रचना है। इनके अतिरिक्त वसन्त-सतसई (ऋतुराज कवि), आनन्द-सतसई (पंडरीक पत्र) तथा वृजबला बिबास-सतसई (ईश्वरदास) इस परम्परा की कड़ियाँ हैं।

रीति-साहित्य के विषय मे लक्ष्य करने योग्य बातें इस प्रकार से है : एक तो रीति शब्द अपने प्रयोग में व्यापक होता जा रहा है। पहले केवल शब्द-संघटन[1] को रीति कहते थे, अब हिन्दी में प्रत्येक लक्षणोदाहरण की परिपाटी से लिखी गई रचना को 'रीति' कहा जाने लगा है।[2] अतः पंजाब

१. रीतिरात्मा काव्यस्य।

२. (क) रीति सुभाषा कवित्त की, बरनत बुध अनुसार। चिन्तामणि
(ख) सो विश्रब्ध नवोढ सो बरनत कवि रस रीति। मतिराम
(ग) अपनी-अपनी रीति के काव्य और कवि रीति। (१) देव

के रीति-ग्रन्थों पर विचार करते समय इस मन्तव्य को मन मे रक्खा गया है। दूसरे पंजाब के आचार्यों ने लक्षण तो अपने दिये हैं, पर उदाहरण देने में उन्होंने उदारता बरती है। अन्य कवियों के उदाहरण सचय करने में अच्छे-अच्छे मोती हाथ लगते है। इस दृष्टि में पंजाब को उत्तम परम्परा प्रतिष्ठित करने का श्रेय मिलना चाहिए।

३. **गुर-विलास** : (अ) गुरु-विलास : गुरु विलास-परम्परा नयी नहीं है। जीवन-चरित्र के रूप में विलास-काव्यों की परम्परा[1] हिन्दी-जगत् की जानी-पहचानी है। पंजाब की गुरुविलास की शृंखला इस प्रकार है—

१ गुरविलास	सुक्खासिंह	१८६४ संवत्
२ गुरविलास	कोयरसिंह	,,
३ गुरविलास	दरबारासिंह	१८९० संवत्
४ गुरविलास	सोहनकवि	(?)

(आ) जन्मसाखी :

१ गुरुशोभा	सेनापति
२ महिमाप्रकाश	स्वरूपचन्द भल्ला
३ जन्मसाखी नानकशा	संतदास छिब्बर
४ नानकविजय	संतरेण
५ गुरुप्रतापसूर्य	संतोषसिंह
६ जन्मसाखी	गणेशसिंह

गुरविलास तथा जन्मसाखी के विषय में उल्लेखनीय केवल इतना है कि सिख सज्जनों ने इस दिशा में जैसी अभिरुचि प्रदर्शित की है, उतनी अन्य किसी श्रद्धालु ने नही की। इनमें कोइरसिंह ने अपनी वर्ण्य सामग्री अन्य लेखकों से प्राप्त की है। तथ्य-संग्रह की दृष्टि से भाई संतोषसिंह की रचना सर्वश्रेष्ठ है। भाषा का परिनिष्ठित रूप एवं स्वस्थ अभिव्यक्ति बाबा गणेश सिंह बेदी की कृति में देखने को मिलती है।

(ब) छन्द रीति समुझै नही, बिन पिंगल के ज्ञान। —सोमनाथ
(ज) काव्य की रीति सिखी सुकवी न सों। —दास
(च) कवित्त रीति कछु कहत हौं व्यंग अर्थ चित लाय। —प्रतापसाहि

स्रोत : हिन्दी-वाङ्मय का विकास, सत्यदेव चौधरी

३. राजविलास, जगविलास, विजयविलास, रतनविलास। अभयविलास, भीमविलास इत्यादि।
स्रोत : हिन्दी-साहित्य का आदिकाल : द्विवेदी, पृष्ठ १०१

४. **धार्मिक साहित्य**—मध्य युग में सनातन (हिन्दू) धर्म के स्वस्थ एव विकृत दोनो रूप मिलते है। एक नये सम्प्रदाय ने भी जन्म लिया है—सिख मत। सूफी मत को इस्लाम का प्रतिनिधित्व प्राप्त है ही। धार्मिक साहित्य का वर्गीकरण इस प्रकार से है—

(अ) रामभक्ति शाखा :

१	हनुमन्नाटक	हृदयराम	१६८० वि०सं०
२	रामावतार	गुरु गोविन्दसिंह	१७४५ वि०
३	वाल्मीकिरामायण	संतोषसिंह	१८९४ वि०
४	रामायण	सोढी मिहरबान	१७४० वि०
५	कीरत रामायण	कीरतसिंह	१९१७ वि०
६	रामचन्द्रोदय	निहाल कवि	१९०२ वि०
७	रामचरित्र	कृष्णलाल	१८८४ वि०
८	अध्यात्मरामायण	हरिसिंह	(?)
९	अध्यात्मरामायण	गुलाबसिंह	१८४६ वि०
१०	ललितललाम	रत्नहरि	१९१७ वि०
११	सुधासिंधुरामायण	वीरसिंह	१९०९ वि०

(आ) कृष्णभक्ति शाखा :

१	रुक्मणि मंगल	हृदयराम	१९०७ वि० सं०
२	राधामान कथनम	गुरु गोविन्दसिंह	१७५० ,,
३	भाव रत्नमाला	फतैसिंह	१८९१ ,,
४	ब्रजराजकुवर प्रेमषोडशी	वृन्दावनदास	(?)
५	ब्रजविलास सतसई	ईश्वरदास	१८४७ ,,
६	कृष्णचरित्र चन्द्रिका	बाग गणेशसिंह बेदी	१९२६ ,,
७	राधागोविन्द गीतसार	प्रतापसिंह	(?)
८	कृष्णकौतूहल	साहबसिंह 'मृगेन्द्र'	१९१० ,,
९	रुक्मणिमगल	वीरसिंह	१९०० ,,
१०	सुदामामंगल	जातीदास	१८९२ ,,
११	रुक्मिणिमंगल	निहाल कवि	१९२४ ,,
१२	गौरांगमंगल	निहाल कवि	१९२४ ,,

(इ) अध्यात्म काव्यधारा :

१	**आत्मबोध**	**अनेमानन्द सरस्वती**	**१७३२ ,,**

२	भावरसामृत	गुलाबसिंह	१८३४ वि० सं०
३	वैराग्यशतक	हरदयाल	१८९० ,,
४	अध्यात्मप्रश्नोत्तर	आत्मासिंह	(?)
५	फुटकर पद्य	बाबालाल	१६८० ,,
६	वृत्तिविचारप्रभाकर	निश्चलदास	१८०० ,,
७	हिंखरबोध	गरीबदास	१८२० ,,
८	फुटकर पद्य	किशोरीदास	१८५० ,,
९	अनभैप्रकाश	संतमाडूदास	१९०८ ,,
१०	वेदान्तसागर	बलीराम	१९१५ ,,
११	वेदान्तमहावाक्य	मनोहर निरजनी	(?)

(ई) सिखभक्ति शाखा :

१	सवैये	भाई गुरुदास	१६६० सं०
२	तैंती सवैये	गुरु गोविन्दसिंह	१७५० ,,
३	सिखी प्रभाकर	सत निहालसिंह	
४	गोविन्दसिंहविलास	अद्वैतानन्द ब्रह्म	
५	गुरुमतनिर्णयसागर	प० तारासिंह	(?)

(उ) सूफ़ी काव्यधारा :

१	सलोक	बाबा फरीद	
२	हीर-राँझा	गुरदास गुणी	१८४२ संवत्
३	कथा कामरूप	सभाचन्द सोंधी	१७९८ ,,
४	ससी-पुन्नू	अज्ञात	(?)

धार्मिक आन्दोलन मे दो बातों का उल्लेख किया जा चुका है : एक तो वैष्णव साहित्य का सस्पर्श पंजाब को कम-से-कम मिला है; दूसरे सिख धर्म का अभ्युदय। सगुण भक्ति का प्रादुर्भाव दक्षिण भारत मे हुआ, उसका पुनर्जागरण भी वहीं हुआ। मुस्लिम-आक्रमणों के आतंकपूर्ण युग मे दक्षिण ने भारत का सास्कृतिक नेतृत्व अधिगत कर लिया था। उसमें उसे सफलता भी मिली। भक्ति का मलयपवन वहाँ से चला तो वह राम-कृष्ण के प्रदेश मे रमकर रह गया। उत्तर-प्रदेश से छुट्टी पाकर भक्ति की लहर ने दूसरे प्रदेशों में प्रवेश लिया। पंजाब की बारी सबसे बाद में आयी। अतः जहाँ हिन्दी-जगत् ने भक्ति के सुखद वातावरण से निकल रीतिकाल मे पदश्रेय किया, वहाँ पंजाब में भक्ति का श्रीगणेश हुआ। निसन्देह, इस कथन का अभिप्राय

गुरु गोविन्दसिंह की उस वृत्ति का स्मरण कराना है, जिससे भक्ति-शाखा का आरम्भ एवं विकास होता है। दूसरे, पंजाब में सिख धर्म का अभ्युदय एक अलौकिक घटना समझा जा रहा है। सिख धर्म ने सभी काव्य-विशेषताओं को आत्मसात कर लिया था। निर्गुण उपासना, भक्ति, गुरुवाद, प्रणयवाद तथा नवीन कर्मकाण्ड (अरदास, गुरुभक्ति, गुरुतीर्थ, गुरुवन्दना आदि-आदि) का समन्वय कर लिया था। यथा—

भक्ति :

आदि अनादि अगाध अबाध अलेख, अभेद अरेख अनामै
जो सम रूप परे सभमें सभमें सब रूप नहीं कछु वामें।
सो गुरु नानक लै दस रूप सुधारि उधारि करी वसुधा में
ता पद मंजुल पै करि अंजलि दण्ड समान करौ परनामें।

आनन्द कौ घर है कि अमृत कौ सर है
कि देवन कौ तर है कि ग्यान कौ समाज है।
काल हू कौ काल है कि रीति हू कौ पाल है
कि भारती कौ भाल है कि भव कौ जहाज है।
वेद कौ सिद्धान्त है कि धर्यौ रूप शान्त है
कि मोख हू कौ कान्त है कि ब्रह्म हो बिराज है।
रागन कौ बाग है कि जीवन कौ भाग है
कि धरा कौ सुहाग है कि ग्रंथ महाराज है॥

उपासना :

गुरु कर्ता गुरु करणं जोगू। गुरु परमेश्वर है भी होगू।

गुरुवाद :

गुरु सरणि न आइये, ब्रह्म न पाइये।

प्रणयवाद :

सजण मेरे रंगले जाइ सुते जीराणि।
हंडी वजा डूंमणि रोवां झीणी वाणि।

इस प्रकार समन्वयवादी धर्म के विकास से जहाँ भक्ति, अर्थात् वैष्णव काव्यधारा मंदगति से पंजाब में आयी, वहाँ सूफी काव्यधारा को भी कम आघष्त नहीं पहुँचा। माना, पंजाबी में मुसलमान कवि सूफ़ी काव्य-परम्परा को यथावत् रखने में भगीरथ परिश्रम कर रहे थे, पर हिन्दुओं में सूफ़ी काव्यधारा उन्नीसवीं शताब्दी में विकसित हुई। संतमत भी, जिसे सिखधर्म

उदरस्थ कर चुका था, फ़ीका पड़ गया था। अतः पंजाब के धार्मिक साहित्य के चिन्तन करने वाले पाठक और आलोचक को सिख-साहित्य के अतिरिक्त धार्मिक साहित्य बहुत कम मात्रा में उपलब्ध होता है। सिख साहित्य के बल पर पंजाब 'हिन्दी जगत्' में अपना स्थान सुरक्षित रख सकता है।

५ गेयकाव्य : (अ) मुक्तक गेय :

१ स्फुट पद्य	गुरु नानकदेव	१५६० वि० सं०
२ स्फुट पद्य	गुरु अंगददेव	१५८० ,,
३ स्फुट पद्य	गुरु अमरदास	१६०० ,,
४ मुक्तक पद	गुरु रामदास	१६३० ,,
५ मुक्तक पद	गुरु अर्जुनदेव	१६५० ,,
६ मुक्तक पद	गुरु तेगबहादुर	१७०० ,,
७ मुक्तक पद	गुरु गोविन्दसिंह	१७४० ,,
८ मुक्तक पद	गुरदास भाई	१६५० ,,

(आ) प्रबन्ध कथ :

१ ललितललाम	रत्नहरि	१९१७ वि० सं०
२ श्रीमद्भागवत	रुलियाराम	१९०० ,,

(इ) शास्त्रीय गेय :

१ विशनपदे	लछीराम	(?)
२ विशनपदे	खेमराज	(?)

गीतिकाव्य के पितामह जयदेव महाप्रभु पजाब में हुए थे, अतः पंजाब में गीतिकाव्य के प्रसंग में किसी वितर्क अथवा विचिकित्सा की रत्ती-भर गुंजायश नही है। पंजाब का समस्त साहित्य गीतिमय है। वर्णिक छन्द तो गुरु गोविन्दसिंह को छोड़कर, शायद ही किसी अन्य महानुभाव ने लिखे हों, अतः गीतिकाव्य की सभी रूढ़ियाँ पंजाब में सुरक्षित हैं।

६—वीरकाव्य : (अ) पौराणिक वीरकाव्य :

१. चंडीचरित्र (१)	गुरु गोविन्दसिंह	१७५० विक्रमी
२. चंडीचरित्र (२)	गुरु गोविन्दसिंह	१७५० विक्रमी

(आ) ऐतिहासिक वीरकाव्य :

१. जंगनामा	अणीराय	१७६० संवत्
२. जंगनामा	केशोदास	१८४८ संवत्
३. फतहनामा गुरु खालसे के	गणेशकवि	१८७६ संवत्

वीर-साहित्य का युग तो आदिकाल में था, जबकि मुसलमानों के निरन्तर आक्रमण हो रहे थे। मुग़लों की रोक-थाम की नीति ने भक्ति-साहित्य तथा रीति-साहित्य को जन्म दिया। इस काल मे भी छोटी-मोटी लड़ाइयों पर लिखे गए काव्य केवल 'वीर साहित्य' की खानापूरी करते है। इन काव्यों से वीरगाथा-जैसी शैली तथा कथावस्तु की आशा रखना बेतुकी बात है।

७. **मंगलकाव्य** : ८. **चरित्रकाव्य**—इसका उल्लेख पीछे हो चुका है।

९. **बारामाँह**—पंजाब के प्रसिद्ध बारामाँह ये हैं:—

१. बारामाँह	गुरु गोविन्दसिंह	१७५० संवत्
२. बारामाँह	उमादास	१९०७ ,,
३. बारामाँह	देवीदास	
४. बारामाँह	साहबसिंह	१९१२ ,,
५. बारामाँह	टहलसिंह	१९१५ ,,
६. बारामाँह	स्वामी रामदास	१९१६ ,,
७. बारामाँह	केशोदास	१९४८ ,,
८. बारामाँह	श्रद्धाराम स्वामी	(?)

काव्य मे प्रकृति-वर्णन में षट्-ऋतु-वर्णन को बड़ी रुचि से पढा जाता है पंजाब मे इस षट्-ऋतु वर्णन को 'बारामाँह' के अन्तर्गत रखा गया है। यद्यपि अन्यत्र इन्हे काव्यरूप नहीं माना गया, पर पंजाब के हिंदी-साहित्य में इन्हे वा महत्त्व भी अधिगत हो गया है।

१०—**काव्यरूप** : (अ) मुक्तक :

१. कुण्डलिया	गिरधरदास	१७४५ संव
२. सतसई	वसन्तसिंह	१९३५ ,,
३. सतसई	दलसिंह	१९०५ ,,
४. सतसई	कीरतसिंह	१९१५ ,

(आ) महाकाव्य :

१. गुरुप्रतापसूर्योदय	भाई संतोषसिंह	१९०१ सं
२. गुरुविलास	सुखासिंह	१९०१
३. नानकविजय	संतरेण (**प्रथम**)	१९०५
४. जन्मसाखी	संतरेण (**द्वितीय**)	१९००

(इ) खण्ड-काव्य :

१. फतहनामामा	गणेश कवि	१८७६ सं

२. नल दमयन्ती	रामचन्द्र	१७२० संवत्
३. कथा कामरूप	सभाचन्द सोंधी	१७९८ ,,
४. हीर राँझा	गुरदास गुणी	१८४२ ,,
५. सूररंभावत	दुग्गल	१७३४ ,,

(ई) कोश काव्य :

१. दशम ग्रन्थ	गुरु गोविन्दसिंह	१७५० ,,

हिंदी के 'काव्य-रूप' प्राय: वही हैं, जो संस्कृत में मान्य हैं। उनकी पारिभाषिक मान्यताएँ संस्कृत-लक्षणों से भिन्न नही हैं। 'कोश काव्य' की परिभाषा यद्यपि किसी ग्रन्थ में नही है, तथापि संस्कृत के 'महाभारत' तथा गुरुमुखीय हिंदी-साहित्य के 'दशम ग्रन्थ' को देखकर उसकी परिभाषा लगाना कठिन नहीं रह गया है।

११—**लोक-कथा** : (अ) ऐतिहासिक लोक-कथा :

१. नलदमयन्ती	रामचन्द्र	१७०० संवत्
२. हीर-राँझा	गुरदास गुणी	१८४२ ,,

(आ) कल्पित लोक-कथा :

१. पख्यान चरित्र	गुरु गोविन्दसिंह	१७४५ ,,
२. कथा कामरूप	सभाचन्द सोंधी	१७९८ ,,

१२—**इतिहास** : (अ) पौराणिक इतिहास :

१. दशम ग्रन्थ (अवतार भाग)	गुरु गोविन्दसिंह	१७४५ ,,

(आ) सिख इतिहास :

१. गुरु प्रताप सूर्य	सन्तोषसिंह	१९०१ ,,
२. पंथ प्रकाश	ज्ञानी ज्ञानसिंह	१९०० ,,

इस प्रकार पंजाब के समूचे हिन्दी-साहित्य को (यद्यपि कई रचनाओं का उल्लेख नहीं किया जा सका) तथोक्त बारह वर्गों में विभक्त करके विकासक्रम द्वारा अथवा तुलनात्मक पद्धति द्वारा समझा, परखा तथा उसका रसास्वादन किया जा सकता है।[1]

मिश्रित काल

हिंदी-जगत् मे आदिकाल के बाद भक्ति-काल आता है, भक्ति-काल के बाद रीतिकाल। आदिकाल में दो वर्ग स्वतन्त्र डगर पर अपनी-अपनी इच्छा से चल रहे थे, पण्डित और

१. स्रोत : ब्रजभारती, वर्ष १४ अंक १, पृष्ठ ४१-५५

पण्डितेतर। पण्डितों को राजाश्रय मिला, फलतः पाण्डित्यपूर्ण साहित्य प्रकाश में आया। राजाश्रय के टूटते ही पण्डित-मंडल भी छिन्न-भिन्न हो गया। पण्डितों के अस्त होने के बाद पण्डितेतरों (कबीर-दादू-नानक-मलूक-दरिया-धर्मदास) का युग उभर आया। आगे चल कर इसी से भक्ति-मार्ग प्रशस्त हुआ; पर पंजाब की स्थिति इससे भिन्न थी। वहाँ भक्ति के साथ ही अन्य काव्यशिल्प भी हतप्रभ नहीं हुए थे। अतः मिश्रित काल का चिन्तन करते समय इस तथ्य को हृदयंगम रखना होगा।

मिश्रित काल की कालावधि सवा चार सौ वर्ष की निश्चित की गई है; अर्थात् विक्रम-संवत् १५०० से १९२५ तक का समय 'मिश्रित काल' है। इस समय-निर्धारण की मुख्य प्रवृत्तियाँ यों हैं:—

इतिहास : सवा चार सौ वर्षों की ऐतिहासिक घटनाएँ 'मिश्रित काल' की इकाई का आधार हैं। इस समय को इतिहास में मुग़ल-काल नाम से स्मरण किया जाता है। इतिहासकारों ने इस समय को 'स्थिरता' का प्रतीक माना है, और राजनीतिक स्थिरता ने साहित्य-विकास के लिए अवकाश पैदा किया है।

भाषा : इस इकाई का मूलभूत कारण है 'ब्रजभाषा'। इससे पूर्व प्राकृत, अपभ्रंश, अर्ध अपभ्रंश तथा देश्य (मुल्तानी) भाषा का मिश्रण था। इस काल में मुल्तानी (देश्य) भाषा का लोप होना और उसके स्थान पर काव्यभाषा (ब्रजभाषा) का उदय होना विगत पृष्ठों में देख चुके हैं। इस भाषा की लिपि देवनागरी न होकर गुरुमुखी है।

शैली : मात्रिक छन्दों के विविध रूप, काव्यरूप तथा अभिव्यक्ति-रूप के नानात्व के आधार पर इस युग-साहित्य को कई वर्गों में विभक्त देख चुके हैं। यह शैली-वैविध्य ही 'मिश्रित काल' का दूसरा ठोस तथ्य है।

संस्कृति : मुस्लिम संस्कृति के समागम से जिस नयी संस्कृति का प्रकाश हुआ, वह थी—सिख संस्कृति। इसके सामने सनातन हिंदू संस्कृति तथा मुस्लिम संस्कृति स्वयं मंद पड़ गई। इस समूचे युग को सिख संस्कृति का काल मानना अनुचित न होगा।

इकाई—हिंदी-युग का पूर्वार्ध भाषा, शैली तथा मुस्लिम संस्कृति के कारण आदिकाल कहलाया, तो हिंदी-युग का उत्तरार्ध मुग़ल-नीति, ब्रजभाषा, गुरु-मुखी लिपि, सिख संस्कृति तथा काव्य-रूपों के आधार पर संघटित इकाई 'मिश्रित काल' के नाम से सम्बोधित किया जाना चाहिए।

विगत पृष्ठों में भाषा के दो तत्त्वों पर विचार कर आये हैं—व्याकरण

और इतिहास। परन्तु पंजाब में इसके साथ एक अन्य प्रश्न भी सम्बद्ध समझना चाहिए कि पंजाब में पंजाबी के स्थान पर ब्रजभाषा का चलन कैसे सम्भव हो सका? यह प्रश्न घूम-फिर कर भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में चला जाता है। यद्यपि नवीन काल में भाषा-विज्ञान पर अलग-से लिखा जा रहा है; तथापि प्रसंगवश इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि पंजाब भाषायी दृष्टि से पाँच विभागों में विभक्त है; यथा—

भाषायी चिन्तन

१. **मुल्तानी-भाषी प्रदेश** : बहावलपुर, मुल्तान, मुज़फ़्फ़रगढ़, डेरागाज़ीखाँ मिंटगोमरी, मियाँवाली, झंग और लायलपुर।

२. **पंजाबी-भाषी प्रदेश** : गुजराँवाला, झेलम, लाहौर, अमृतसर, जालन्धर, फिरोज़पुर, लुधियाना और अम्बाला।

३. **हरियानवी-भाषी प्रदेश** : करनाल, रोहतक, हिसार और जींद।

४. **ब्रजभाषी प्रदेष** : गुड़गाँवा।

५. **ब्रज-पंजाबी-भाषी मिश्रित प्रदेश** : पटियाला।

हमारे आलोच्य काल से बहुत पहले केवल दो भाषाएँ, मुल्तानी और ब्रज, विद्वज्जनों में लोकप्रिय हो चली थी और साहित्यक्षेत्र में स्थान भी पाने लगी थीं। मुल्तानी तो केवल दो-तीन पीढ़ी ही चल सकी, अधिक नहीं; 'पृथ्वीराज रासो' तथा कतिपय अन्य संत-वचनों में अपने संकेत छोड़कर वह लोक-गीतों में ही सिमट गई। मुल्तानी को पंजाबी नहीं कहा जा सकता। अवधी और ब्रज की तरह या पिंगल और डिंगल की तरह मुल्तानी और पंजाबी पृथक् रूप से दो भाषाएँ है। उधर मुल्तानी साहित्य मे स्थान न बना सकी, इधर पंजाबी को सारा पंजाब 'जटकी' भाषा मानता था[1] और उसमें कविता करना श्रेयस्कर नहीं मानता था—हालांकि मुसलमानों ने पंजाबी को माँज कर साहित्य-क्षम बना दिया था--परिणामत: पंजाबी भी मुल्तानी की तरह पीछे जा पड़ी। हरियानवी केवल बोली ही रही, भाषा न बन सकी। रह गया प्रश्न ब्रज भाषा का; सो समय ने उसे उभार कर साहित्य-क्षेत्र में अधिष्ठित कर दिया। यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि सिख-रियासतों की स्थापना से सारे साहित्य-सेवी इधर एकत्र होते रहे और मालवा में चली आ रही मिश्रित भाषा में से (ब्रज + पंजाबी = पटियालवी[2]) केवल ब्रज को अपना कर साहित्य-साधना में

१. पंजाबी साहित्य दा इतिहास : (गुरुमुखी) : डा दरदी, पृष्ठ २६०

२. देखिये परिशिष्ट १५

इष्टलाभ कर सके। पंजाब ब्रज में भाषा को 'ब्रजी' कहते है।

साहित्य-क्षेत्र से अपभ्रंश के हट जाने के बाद देश्य भाषाओं का युग आरम्भ होता है। देश्य भाषाओं में से खड़ी बोली, ब्रज, पंजाबी, राजस्थानी तथा अवधी ने एक ही समय में अपने-अपने क्षेत्र में अपनी-अपनी आभा दिखायी। कालक्रम से इन्हें एक-दूसरे से पूर्वापर क्रम पर नहीं रखा जा सकता। अलबत्ता मुस्लिम संस्कृति का करावलम्बन लेने से खड़ी बोली वर्ग-विशेष की भाषा बन गई और पंजाबी ग्राम्य (जटकी) भाषा होने से पिछड़ गई। राजस्थानी और अवधी ने अपना-अपना घर सँभाला। ब्रजभाषा इनसे बाज़ी मार ले गई। कहना न होगा कि ब्रजभाषा अपनी सहज मधुरिमा एवं संगीतक्षमता के बल पर इतस्ततः फैलने लगी। वह राजस्थान में गयी तो पिंगल बन कर रह गई और पंजाब में उसने ब्रजी नाम लिया। पंजाब में न केवल उसका भाखापन सुरक्षित है, बल्कि अखण्ड साम्राज्य भी स्थापित है।

पंजाब में ब्रजभाषा के चलन का रहस्य इतिहास के पृष्ठों पर तो इतना ही अंकित है। शेष व्याकरण के साथ भाषा-विज्ञान का विषय है जिस पर नवीन काल में विशेष रूप से लिखा जायगा।

कवि-परिचय

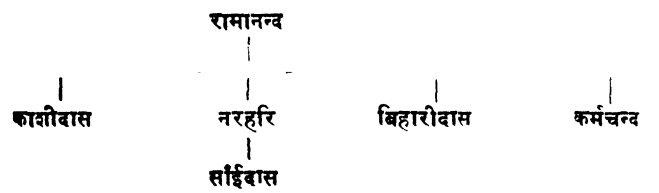
१. **साईंदास**—गुजराँवाला जिला के अन्तर्गत बद्दोकी के प्रसिद्ध भास्कर-वंशीय ब्राह्मण संत साँईदास के विषय में पंजाब-निवासी बहुत कम जानते हैं। इनके विषय में या तो इनके सगोत्र बन्धु (भास्कर, प्रभाकर, भाणोत आदि ब्राह्मण) अथवा इनके गद्दी-सेवक ही अधिकतर जान-पहचान रखते थे—हिन्दी-जगत् को इनका परिचय नाम-मात्र को भी न था। आदिग्रंथ की चर्चा करते हुए उस महाग्रंथ में हम दो प्रकार की वाणियाँ देख आए हैं : एक तो उसमें गुरुजनों की वाणी है, दूसरी भक्तों की वाणी। भाई काहनसिंह ने भक्तों की नामावली में साँईदास और मीरा के नाम नहीं गिनाये।[1] जबकि डा० कृपालसिंह नारंग ने इन दो नामों की सूचना दी है।[2] अपने विश्वास में, आदिग्रन्थ में साँई या साँईदास का नाम अवश्य होना चाहिए; कारण, साँईदास गुरु नानक के समकालिक हैं एवं पंजाब के उस समय के ख्यातनामा संत रहे हैं। अतः उनकी उपेक्षा हो सकना सम्भव नहीं है।

साँईदास का जन्म वैक्रम संवत् १५२५ में बद्दोकी में हुआ। आप प्रसिद्ध सारस्वत ब्राह्मण भास्कर वंश के रत्न थे। साँईदास की जन्मतिथि उनके अन्तःसाक्ष्य से ही सिद्ध है। इसके अनुसार ये संत गुरु नानकदेव से एक वर्ष वयस्क ठहरते हैं। साँईदास ने अपने-आप को रामानन्द का मतावलम्बी बताया।[3] तदनुसार—

१. गुरुशब्दरत्नाकर महानकोश : काहनसिंह, नया संस्करण पृष्ठ ३२७

२. पंजाब का इतिहास : कृपालसिंह नारंग, पृष्ठ १०७

३. बाबा रामानन्द जिस सिमरे होत अनन्दि। जिह सिमरन ते पाइये लछमी परमानन्दि।
गुरु नरहरि पूर्न सकल करणा बुद्धि विवेक। और नहि कोई आसरा एक तुम्हारी टेक।
गुरु काँशीदास के दर्श कौ सुरि नरि धरै ध्यान। मन की देत है वांछना पूर्न पुर्ष निधान।
बिहारीदास केवल गुरि मेटआ मिटि गए सकल बिकार।
कर्मचन्द गुरि चर्न लगि भौजल तरै पार॥



हो सकता है कि कुछ विद्वान् रामानन्द, नरहरि, काशीराम, बिहारीदास, कर्मचन्द, साँईदास इस प्रकार गुरुशिष्य-परम्परा सिद्ध करें; अपनी राय में ऐसा नहीं है। 'प्रसंग-पारिजात' में (रचनाकाल माघकृष्ण सप्तमी, भृगुवार, संवत् १५१७) रामानन्द के शिष्यों मे नरहर्यानन्द का उल्लेख है।[1] अर्थात् कबीर तथा नरहरि को समकालिक मान लेने पर ही साँईदास को उसका शिष्य सिद्ध किया जा सकता है। दूसरी बात, जिसे उठा सकना आसान न होगा, यह है कि साँईदास ने नरहरि को अनेक स्थानों पर स्मरण किया है।[2] जबकि शेष गुरु-सम व्यक्तियो को केवल मंगलाचरण में ही प्रणाम किया है। यदि इन्हें गुरु-शिष्य-परम्परा मे मानकर सामान्यतया बीस वर्ष का व्यवधान ठहरा दें, तो रामानन्द तथा साँईदास में १०० वर्ष का अन्तराल पड़ जाता है, जो साँईदास की जन्मतिथि के बहुत दूर जा पड़ता है। अतः रामानन्द को पंजाब में स्थित चार गद्दियों में से केवल एक गद्दी का उत्तराधिकार मिला था। साँईदास के वंशधर एवं गद्दीधारी गोसाँई-परम्परा आज भी पंजाब में विद्यमान है।

साँईदास की रचना का नाम 'ज्ञानरत्न' है। यद्यपि इसकी उपलब्ध प्रति वै० संवत् १८३२ की है, तथापि आदिग्रथ मे साँईदास का उल्लेख बड़ा महत्त्वपूर्ण है एव उसको प्राचीन सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। अन्तःसाक्ष्य में साँईदास-नानक भेंट की चर्चा है।[4] साँईदास का निधन अनुमानतः १६०० वैक्रम संवत् का माना जाता है।

साँईदास की विचारधारा सगुणोपासनामूलक है या निर्गुणोपासनामूलक, —इसका निर्णय कर सकना कठिन है। इसका कारण स्पष्ट है; रामानन्द की शिष्य-परम्परा में होने से इनका सगुणोपासक होना सहज-सिद्ध था ही,

१. शकरदयाल श्रीवास्तव : 'स्वामी रामानन्द और प्रसंग-पारिजात' : 'हिन्दुस्तानी' अक्टूबर १९३२; पृष्ठ ४०३ : २०
(उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ १५८)

२. (क) कहु नरहरि गुरि कृपा ते पसरी किरण अनन्त।
(ख) नरहरि नाम न बीसरै सदा साध के संग।

परन्तु इनके लिए पंजाब में व्यापक नाथमत के प्रभाव से निर्गुणोपासना का निरादर भी कुछ कठिन-सा था। अतः उभय-उपासना का आग्रह इनकी वाणी की विशेषता है। यथा—साँईदास एक ओर कबीर-नानक आदि की तरह नाम के उपासक हैं :

जपि तपि संजय कर्म ग्यान। सभ ते ऊँचा तेरा नाम।
नाम जपत गज गनका तार्‌यौ। नाम जपत प्रह्लाद उधार्‌यौ।
सुत हित नाम अजामिल लीना। नाम जपत कूं निहचल कीना।
नाम जपत नृप-कन्या तारी। बकी देत बिष प्रकट पुकारी॥

तो दूसरी ओर सूरदास की दर्शन-रस के परम-प्यासे भी हैं :

दर्सन तैं उपजै मन बुद्धि। दर्सन तैं तनि होवै सुद्धि।
दर्सन ते मैल मने ते जाई। दर्सन चोटा बहुड़ न पाई।
दर्सन सिद्ध साध बैरागी। दर्सन तें दुरमत उठ भागी।
दर्सन पर्सन प्रेम रस जि पूरन बड़ि भागि।

साँईदास ठेठ निर्गुणवादियों की तरह योगमार्ग की सभी प्रक्रियाओं का परिचय देते हैं :

साँईदास प्यास मिल रहित दोष अनिरागि।
जोग जुगति ते मेल गुरि तैं पाई। मिटि गयो भर्म दूसरा भाई।
रोक भा मूल बिछ्यं का पेटु। दो दल ऊपरि राचे षेल।
नाड़ी तत्त मूल जबि जान्या। चतुर्दल छीन षटिदलि ठहिरान्या।
अष्ट कविल दल पौना जाई। सूषम कुंडिली रह्‌यौ समाई।
रोक्या सूर सोम गृह आइआ। साँईदास पढि गुरते पाइआ।

फिर भी इनकी गणना निर्गुणवादियों में नहीं है ; वे शास्त्र-सम्मत विधि-निषेध एवं कर्मकाण्ड में आस्था रखते हैं तथा सगुण लीला में पूरी तरह से रमे हुए हैं। वे अच्छी तरह जानते है कि "मानव जब तक, किसी भी प्रकार के रस में रमा हुआ है, तब तक वह व्याधियों से घिरा हुआ है ; सुख-दशा उसे मल जाती है, उसे केवल दुःख-ही-दुःख ही नजर आता है। उसकी परिस्थिति ऐसी नहीं, जो समझ में न आये।"

भाषा की दृष्टि से 'ज्ञानरत्न' एक अनोखा ग्रथ है। पृष्ठभूमि के रूप में ग्रन्थ-व्याप्त भाषा तो ब्रज है ही, पर उसमें 'मुलतानी' का स्पर्श भी है। परन्तु लिपि-काल को ध्यान में रखकर यह मानना पड़ता है कि भाषा का मौलिक रूप रह नहीं गया है। उसे भ्रष्ट लिखने में लिपिकार ने कोई कसर उठा

नहीं रखी। जैसे—चर्न, कर्न, निर्भौ, जनिम, उरिझ, सुर्ति, तवि, मलि—इत्यादि। सोलहवीं शती के आरम्भ मे ब्रज भाषा का प्रयोग एवं मुलतानीपन का अत्यल्प स्पर्श पर्याप्त उत्साहवर्धक है।

रचना :—

(१) धर्न उलटि मन गगनि चढ़ायौ। भर्म मिर्ग तवि ही हत आयौ।
भूल गयौ जौ कुछ था बकिता। जोगि जुगंतर जोग सो जुगता।
भइ की भीति सुर्त बिसरानी। अनभय पुर की परी निशानी।
चित्र रूपु कहत नहीं आवै। जो मुष कहौ कहा नहीं जावै।
अविगति गति कछु लषी नि जावै। बिसम होय मुष नाँउ चिरावै।
अतिभुति लील्हा नैन निहारी। साँई दास जबि मिलै मुरारी।

(२) जो कछु कीयौ सु हरि ही कीयौ। जो सुषु दीयौ सु हरि ही दीयौ।
बिन भगवानि और को नाहीं। गुरि मिल समझि देष मनि माहीं।
बिनु रघुनाथ सूझति को नाहीं। समृति वेद सभ भाषि सुनाहीं।
बिनु रघुनंदिन कुंज बिहारी। सूझति नाह जो सूषि दिषारी।
बिनु श्री कृस्न मुक्ति को पावै। रवि सुति फांसी तेउ मिटावै।
बिनु त्रिभवन नागिर सुषि आगिर। कौन दिषावै सुषि बिनु आगर।
बिनु धरिनी धरि कौन उबारै। संसा मनि का कौन उतारै।
बिनु मनिमोहनि को नही दाता। माति पिता बनिता सुनि भ्राता।
बिनु जगिदीस कौनु जगि पारै। भौजल बिसम जो पार उतारै।
बिनु गिरधारी को सुषदायक। जैसा और न सूझति लायक।
बिनु मुकन्दि परिमा ँदि स्वामी। बिरिथा कोई अन्तिरजामी।
विनु कौल पति प्रान-उधारन। ऐसा और नहीं दुषि टारन।
साँईदास तौ सरनि आयौ। गुरि परसादि जसु भाष सुनायौ।

देषो नैन निहार के, चलि आ जाति जगवीरि।
साँईदास विलम छाड़ हरि, सिमर ले मानो गुरि अरि पीरि॥

२. **गुरु नानकदेव**—जिस प्रकार भारत के विविध सम्प्रदाय किसी-न-किसी महापुरुषों के उपदेशों, आदर्शों तथा जीवन-यात्रा से आरम्भ होते हैं, उसी प्रकार सिख-सम्प्रदाय को जन्म एव स्फूर्ति देने का श्रेय आदि नानक को दिया जाता है; अतः इनकी गणना भारत के कतिपय प्रसिद्ध महापुरुषों—वल्लभाचार्य, रामानन्द, सन्त कबीर आदि—के साथ की जाती है। गुरु नानकदेव का जन्म कालूराम बेदी (क्षत्रिय) के घर तलवंडी ग्राम में वैक्रम

संवत १५२६ की कार्तिक सुदी पूर्णिमा को हुआ था।[1] कुछ अन्य विद्वानों ने अक्षय-तृतीया को उनकी जन्म-तिथि माना है,[2] परन्तु प्राणसंगली में प्राप्त गुरुजी की जन्म-कुण्डली से पहले पक्ष की पुष्टि होती है। उस समय तक दिल्ली-तख्त पर बहलोलखाँ लोधी विद्यमान था। बालक नानक के जन्म-काल से लेकर उनकी प्रसिद्ध यात्राओं तक किंवदन्तियों का जाल इतना विस्तार पकड़ चुका है, यदि उनका संग्रह और उन पर विचार किया जाये, तो गुरुजी के सदुपदेश एवं आदर्श पीछे रह जाते हैं।

बालक नानक किशोरावस्था में ही ज्ञान-चर्चा करने लगा था। प० ब्रजनाथ शर्मा तथा मौलाना कुतुबुद्दीन के यहाँ बालक नानक को अध्ययनार्थ बैठाया गया, दोनों अध्यापक इनकी तर्क-पूर्ण उक्तियों से न केवल हतप्रभ हो गए, बल्कि उन्होंने इसके महान् भविष्यत् की घोषणा भी कर दी।[3] वह तो पहुँचे हुए संस्कारी पुरुष थे। अतः राय कालूराम बेदी की कल्पना के अनुरूप बालक नानक की शिक्षा-दीक्षा न हो सकी। वह तो लौकिक शिक्षा से ऊपर उठ चुका था। बालक नानक जब भी अपने साथियों के साथ खेलता होता, तब भी अपने साथियों को भक्तिरस के मधुर गीत सुना कर वशीभूत रखता। ऐसी थी नानक की बाल-लीला।

नानक युवा हुए तो अठारह वर्ष की आयु में पक्खो-निवासी चीना जातीय (क्षत्रिय) कन्या सुलक्षणा से इनका विवाह सम्पन्न हुआ।[4] विक्रमी संवत् १५५१ में श्रीचन्द ने जन्म लेकर गुरु नानकदेव जी को 'पितृपद' दिया और 'लक्ष्मीचन्द' ने श्रीचन्द के साथ बाल-लीला कर गुरु नानक की घर-गृहस्थी को स्वर्ग बना दिया। गुरु नानक का विश्वास था कि सच्चा गृहस्थ वही है, जिस में हरिभजन चलता रहे।

गुरु नानकदेव ने गृहस्थाश्रम का परित्याग कर नहीं, बल्कि उसमें कमल-पत्र की तरह निर्लेप रह कर जगत्-उद्धार के आदर्श कार्य आरम्भ किये।

१. सिख इतिहास : ठाकुर देशराज

२. गुरुशब्दरत्नाकर महान कोश : भाई काहन सिंह, पृष्ठ २०७३

(ख) पंजाब का इतिहास : कृपालसिंह नारंग : (१४९९ ई० + ५७ = १५२६ वि०) : पृष्ठ ४९।

३. उपर्युक्त, पृष्ठ ४९

४. कुछ विद्वानों के मत में पन्द्रह वर्ष

एतदर्थ सद्गुरु ने देश-विदेश की पाँच बार यात्रा की। यथा—

(क) गुरुजी की पहली यात्रा केवल भारत तक सीमित रही। गुरुजी लाहौर, एमनाबाद, स्यालकोट, दिल्ली, काशी, पटना, गया, बंगाल, आसाम, जगन्नाथ, मध्यप्रान्त और राजपूताना से होते हुए सुल्तानपुर पधारे।[१] यात्रा-काल संवत् १५५६ से १५६६ तक रहा।

(ख) गुरुजी की दूसरी यात्रा दक्षिण के लिए अर्थात् रामेश्वर, सबूर, भकेर, शिवकाँची तथा लका तक हुई। गुरुजी वहाँ से लौट कर तलवंडी पधारे।[२]

(ग) तीसरी यात्रा में गुरुजी उत्तर में गये। कश्मीर, कैलाश, मानसरोवर, जम्मू, स्यालकोट से यात्रा करते हुए पुनः तलवंडी पधारे।[३] यात्रा-काल १५७५ से १५७७ तक रहा।

(घ) गुरुजी की चौथी यात्रा देशान्तर के लिए हुई। गुरुजी पिंडदादनखाँ, डेरा गाजीखाँ, जामपुर, राजनपुर, कोटमिट्ठन, शिकारपुर, लरकाना, हैदराबाद, कराची से चलकर बलोचस्तान, कलात, मक्का, मदीना से चलते हुए बग़दाद, रोम, ईरान, अफ़ग़ानिस्तान, बलख-बुखारा, पेशावर और मुलतान होकर अपने जन्मस्थान पधारे।[४] यात्रा-काल सम्वत् १५७७ से १५८० तक।

(ङ) पाँचवी यात्रा में गुरुजी केवल पाकपटन तक गये। कुछ विद्वान् इस पाँचवीं यात्रा के लिए अधिक आश्वस्त नही है।[५] यात्रा-काल वैक्रम संवत् १५८०-१५८१ के मध्य में है। गुरुजी जहाँ पाकपटन गये, वहाँ कंगनपुर, कसूर, पट्टी और नारोवाल भी गये।[६] गुरुजी नारोवाल से सैयदपुर गये, जहाँ बाबर ने उन्हें बन्दी बना लिया।[७]

इस प्रकार जीवन के ३० वर्ष यात्रा करके गुरुजी जीवन के अन्तिम दस वर्ष कर्तारपुर रहे और शिष्यों को उपदेशामृत से तृप्त करते रहे। वैक्रम संवत् १५९६, आश्विन-शुक्ल दशमी को गुरुजी गुरु-लोक सिधारे।

इन यात्रा-वृत्तान्तों के कतिपय सस्मरणों पर विचार करना समुचित होगा।

---

१. सिख इतिहास : ठाकुर देसराज, पृष्ठ ४७
२. पंजाब का इतिहास : नारंग, पृष्ठ ५६
३. सिख इतिहास : ठाकुर देसराज, पृष्ठ ६३
४. (क) वही, पृष्ठ ६३, (ख) पंजाब का इतिहास : नारंग, पृष्ठ ५८
५. सिख इतिहास : ठाकुर देसराज, पृष्ठ ६८
६. परिशिष्ट देखिये १६
७. पंजाब का इतिहास : नारंग, पृ० ५९

पहली यात्रा में गुरुजी को बंदी बना लिया गया था।[१] गुरुजी कबीर, वासुदेव शास्त्री तथा अन्य संतों से काशी में मिले थे—यह भी कहा जाता है।[२] गुरुजी की पाकपटन की यात्रा भी विवाद का विषय बनी हुई है। बाबर के यहाँ बन्दी होनी वाली बात भी पाँचवीं यात्रा से सम्बद्ध है।[३] वैसे तो यात्रा-संस्मरणों का कोई अन्त नही, तथापि साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले लोक-प्रसिद्ध संस्मरण यही हैं। जहाँ तक गुरुजी के बन्दी जीवन का प्रश्न है, यहाँ अनुमान लगाने के आधार विद्यमान हैं कि सम्भवत: उच्च व्यक्तित्व वाले गुरुजी को लोधी तथा बाबर ने बन्दी न बनाया हो। सैयदपुर की घटना के विषय में बाबरनामा में इसका कोई सकेत नहीं।[४] इसी प्रकार कबीर से हुई भेंट भी तथ्यों पर सही नहीं उतर रही; यद्यपि धर्मदास के अनुसार कबीर का निधन १५७१ वैक्रम संवत् है, तथापि गुरुजी के यात्रा-काल (१५६३-१५६९) में कबीर का काशी मे रहना संदिग्ध है। इसी प्रकार पाकपटन की घटना भी सवत्-गणना के अनुसार मेल नही खाती। गुरुजी वैक्रम-संवत् १५८०-८१ में पाकपटन गये थे, हमारी गणना के अनुसार उस समय फ़रीद का १२वाँ गद्दी-धारी शेख मुहम्मद (विक्रमी सवत् १५७९-१६१०) विद्यमान था। तथाकथित फ़रीदसानी तो उस समय तक विद्यमान नहीं था। इस प्रसंग में एक पक्ष और भी है। तदनुसार[५] शेख़ मुहम्मद (वैक्रम संवत् १५६९-१५९०) ही गद्दी पर विराजमान था। अपने पिताके देहावसान[६] के बाद गुरुजी निरन्तर दस वर्ष तक कर्तारपुर में रहकर उपदेश देते रहे थे, कोई अतिरिक्त यात्रा नहीं की, इस पर पर्याप्त लिखा जा चुका है। यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि भाई बाला-रचित जिस जन्म-साखी के बल पर फ़रीदसानी-नानक भेंट की बात उठायी जाती है, वह अपना खण्डन स्वयं करती है। उसका रचना-काल कलि संवत् ४७३५ है जो कि वैक्रम संवत् १६९१, तदनुसार १६३४ ई० पड़ता है. जो कि छठे गुरु का युग है। अत: इसपर कितना विश्वास किया जा सकता है, विद्वान् स्वयं विचार कर सकते है।[७]

१. सिख इतिहास : ठाकुर दसरान, पृ० ५०
२. वही, पृ० ५१
३. पंजाब का इतिहास : नारंग, पृ० ५९
४. वही, पृ० १२०
५. पंजाबी दुनिया : फ़रीद अंक, पृ० ४२ (हिजरी ९१८-९४० ई० १५१२-१५३३)
६. सिख इतिहास : ठाकुर देसराज
७. गुरमतिप्रकाश, अमृतसर : दिसम्बर १९५८ : २-११, पृ० ६६

कबीर, दादू तथा मलूकदास की खण्डन-प्रणाली को देखकर ऐसा लगता है कि सन्तों ने खण्डनवाद को धर्म का अंग ही समझ लिया है। गुरु नानकदेवजी भी इस दिशा में बड़े सफल हुए दीख पड़ते है। गुरुजी ने बचपन में ही संस्कारवाद पर प्रहार कर दिया था।[1] अपनी पहली यात्रा में कुरुक्षेत्र पहुँच कर ग्रहणकाल में मांस पकाया था। जगन्नाथ पहुँचकर भगवान् की आरती का रूप बदल दिया। इस आरती में मूर्ति में स्थित देवता का खण्डन नहीं, बल्कि सर्वव्यापक प्रभु की आरती का विधान है।[2] गुरुजी ने 'सत्य-व्यवहार' पर बडा जोर दिया है। पग-पग पर सचाई का लोप देखकर गुरुजी ने 'सच्च' को जीवन में अपनाने की प्रेरणा दी है।[3] गुरुजी ने 'ऊँच-नीच' का खण्डन भी बड़े जोरों से किया है।[4] कुछ सन्तों ने ऊँच-नीच के व्याज से वर्ग-व्यवस्था का खण्डन भी किया है। वास्तव में 'ऊँच-नीच' अहंभाव का ऐसा घिनौना पहलू है, जिसकी जितनी निन्दा की जाय, कम है; परन्तु जहाँ तक वैदिक समाज का प्रश्न है, वह एक ऐसी मर्यादा है, जो धर्म, समाज, अर्थ तथा अनुशासन को जीवित-जागृत रखती है।

इस प्रकार गुरुजी ने एक नया दृष्टिकोण जगत् के सामने रखा है। यद्यपि आर्ष एवं पौराणिक ग्रन्थो में इन्ही सत्यों का प्रतिपादन है, तथापि जनता की भाषा में जनता तक इन विचारों के पहुँचाने का प्रश्न है, वहाँ गुरु नानकदेव जी को अक्षय श्रेय मिलेगा। गुरुजी की रचना में जितना उनका धार्मिक पक्ष सहज-मधुर एवं सर्वजन-ग्राह्य है, वहाँ उनका 'काव्य-पक्ष' भी अत्यन्त सुदृढ एव प्रभावशाली है। पंजाब के महाप्रभु जयदेव के पीयूष-वर्षी

१. दया कपाह संतोष सूत गंढा सतु वटु।
ए जनेऊ जीअ दा हथी दे पांडे घतु॥

२. गगन में थाल रवि चंद्र दीपक बने तारक मणुला जनक मोती।
धूप मलयानिला पवन चंवरो करै सगल बनराय फूलंत जोती।
कैसी आरती होय भवखण्डना तेरी आरती अनहदा शब्द बाजंत भेरी।
सहस तव तैन जन नैन हयी तोहकौ सहस मरत नैन एक मोही।

३. सच्चता पर जाणिये, जे रवि सच्चा होय।
कूड़ की मल उतरै, तर करै हिच्छा धोय॥

४. ऊँचे ते ऊंचा बड़ा, सभ संगी वर नेह।
दास दास कौ दासरा, नानक करि लेह॥

कण्ठ से गीतिकाव्यधारा का सुमधुर स्वर प्रस्फुटित हुआ कि वह एक साथ पंजाब (गुरु-परिवार), उत्तरप्रदेश (कबीर), राजस्थान (मीरा), बिहार (विद्यापति,) बंगाल (चंडीदास) तथा गुजरात-महाराष्ट्र में गूंज उठा। इन तथाकथित पीयूषवर्षी संतों तथा भक्तों के गीतिकाव्य को देखकर ही विद्वानों ने भक्तिकाल को 'स्वर्णकाल' कहने का निश्चय किया है। यही गीति-साधना गुरु-उपासना का मुख्य अंग है।

यहाँ स्वभावतः एक प्रश्न उठता है कि क्या कबीर की तरह गुरुजी को भी रहस्यवादी माना जा सकता है ? इस प्रश्न का अत्यन्त स्पष्ट उत्तर है—'नहीं'। इधर आलोचकों ने 'रहस्यवाद' को एक मापदण्ड ही मान लिया है कि जिस पर सभी सन्तों तथा भक्तों को परखा जा रहा है। पर रहस्यवाद की कतिपय आवश्यक शर्तें हैं, जिनका विधिविधानतः पालन करने पर ही 'रहस्यवाद' की गाँठ खुलती है, अन्यथा नहीं। लौकिक पक्ष में अलौकिक पक्ष की भावनात्मक उद्भावना पर रहस्यवाद का भवन बनाया गया है—ऐसा सभी का स्पष्ट मत है। ऐसी जटिल साधना कबीर, जायसी, कुतुबन, मंझन आदि भाषा-कवियों में तथा बुल्लेशाह, वारिस और कादरयार जैसे पंजाबी कवियों में तो है, यह विवाद एवं सन्देह से परे है। पर, लौकिक पक्ष का सर्वथा त्याग न करने वाले महात्मा नानक एवं अलौकिक पक्ष का अत्यन्त तिरस्कार करने वाली अभिनव गोपिका मीरा को रहस्यवादी नहीं माना जा सकता। जहाँ तक ज्ञान के माध्यम से ईश्वरासक्त होकर माधुर्यानुभूति का प्रश्न है, वहाँ कबीर, नानक, सूरदास तथा मीरा ही क्यों, सारे-का-सारा भारतीय समाज रहस्यवादी है। यहाँ का छोटे-से-छोटा व्यापारी भी अपनी गोलक को शिवजी की गोलक समझता है; फिर ये तो महात्मा थे! यह और बात है कि गुरु नानक के कुछ-एक पद्यों में रहस्यवादी प्रेरणा देने वाले तत्त्व विद्यमान हों, पर समूची नानक-पद्धति 'रहस्यवाद' से परे की वस्तु है। जब तक परिभाषा-निबद्ध रहस्यवाद पोथियों में विद्यमान है, तब तक कबीर-जायसी को प्रेम का प्रतीकोपासक माना जाता रहेगा। कबीर एक सीमित क्षेत्र के कवि रह गए हैं। गुरु नानक रहस्यवाद के आलवाल में नहीं पले; बल्कि वे उन्मुक्त गगन में नक्षत्र की तरह उदय हुए। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने नानक की रचनागत विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए लिखा है : इनके भक्तों की त्याग-भावना, कष्ट-सहन करने की शक्ति और अपार धैर्य को देखा जाय, तो यह मानना पड़ेगा कि जैसी अद्भुत प्रेरणादायिनी शक्ति इनकी

वाणियों ने दी है, वैसी मध्ययुग के किसी अन्य सन्त की वाणियों ने नहीं दी है। इतिहास साक्षी है कि सिख भक्तों को दीवार में चिन दिया गया है, फाँसी पर लटका दिया गया है और भी जितनी प्रकार की अमानुषिक पीड़ाएँ दी जा सकती हैं सब दी गई हैं—फिर भी इन भक्तों ने निराशा या पराजय का भाव नहीं दिखाया। जिन वाणियों से मनुष्य के अन्दर इतना बड़ा अपराजेय आत्मबल और कभी न समाप्त होने वाला साहस प्राप्त हो सकता है, उनकी महिमा निस्सन्देह अतुलनीय है। सच्चे हृदय से निकले हुए भक्त के अत्यन्त सरल उद्गार और सत्य के प्रति दृढ़ रहने के उपदेश कितने शक्तिशाली हो सकते हैं, यह नानक की वाणियों ने स्पष्ट कर दिया है। इस प्रकार स्वतःस्फूर्त वाणी को रहस्यवादी नहीं बताया जा सकता।

कबीर तथा गुरु नानक की तुलना करने वाले आचार्यों ने कुछ इधर-उधर के तर्क संग्रह किये हैं। हमारी समझ में किन्हीं दो सन्तों की तुलना करना एक प्रकार की बौद्धिक दुर्बलता है। सब की परिस्थितियाँ एक-सी नहीं होतीं, सब का विकास-क्रम भी भिन्न-भिन्न होता है; अतः परिस्थिति से अनुभूति, अनुभूति से अभिव्यक्ति और अभिव्यक्ति से जिस दिशा-निर्देश का ज्ञान होता है, वह एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से पृथक् रखता है। फिर कहाँ रहा तुलना का प्रश्न और वह भी सन्तों में! जिन विद्वानों ने इस दिशा में जो-जो तर्क उपस्थित किये हैं, संक्षेप मे उनका परीक्षण भी कर लिया जाय। यथा—

(क) यह ठीक है, हिन्दू-मुस्लिम एकता कबीर-नानक दोनों को इष्ट थी, पर कबीर उभय पक्षों के खण्डन में इतने आगे बढ़ गए कि उन्हें इस बात का ध्यान भी न रहा कि दोनों के लिए साँझी उपासना-पद्धति की भी आवश्यकता है? जहाँ कबीर ध्वंसात्मक प्रक्रिया अपनाकर हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए कार्यक्षेत्र में उतरे, वहाँ नानक रचनात्मक प्रक्रिया अपना कर चले।

(ख) गृहस्थ जीवन में दोनों सन्त उतरे। पर कबीर वहाँ से कटु अनुभूति लेकर जगत् में आये और नानक मधुर संस्मरण लेकर। कबीर अपने पुत्र कमाल पर इस बात पर रुष्ट हैं कि वह ईश्वरभजन न करके अर्थ-संचय में जुट गया है और नानकजी श्रीचंद पर इसलिए रुष्ट हैं कि उसने गृहस्थ त्याग कर संन्यास मार्ग अपना लिया है। इसलिए उत्तरकालीन सभी गुरुजन सद्-गृहस्थ थे और उनके शिष्य भी। अतः जहाँ कबीर के उपदेश सच्चे हृदय की अनुभूति न होकर कोरी बातें-ही-बातें हैं; वहाँ नानकवाणी अनुभूति-पूर्ण तथ्य सामने रखती है।

(ग) कबीर ने अपनी बात जनता के समक्ष उपस्थित रखते-रखते कहीं जटिल अलंकारवाद (जैसे कि उलटबाँसियों) को गले लगा लिया है; इसके विपरीत नानक की मार्मिक वाणी स्वाभाविक एवं निर्बन्ध अभिव्यक्ति लिये हुए है।

(घ) कबीर और नानक दोनों सत्संगी थे। बड़े-बड़े महात्माओं, सन्तों, सूफ़ियों तथा राजपुरुषों से मिलते रहते थे। परन्तु संग्राहक कबीर ने यत्र-तत्र सर्वत्र कुछ-न-कुछ लिया है और ज्ञान-गूदडी को समृद्ध किया है; और प्रभावशाली नानक ने यात्रा में सब पर यत्-किंचित् अपना प्रभाव ही डाला है।

(ङ) कबीर के विकास में गुरु रामानन्द एवं मीर तकी के विचारों को 'पृष्ठभूमि' बताया जा रहा है, जबकि नानक अपने निर्माता स्वयं हैं।

(च) कबीर निम्न वर्ग से आये थे, उन्हें मूर्धन्यता प्राप्त करने के लिए बहुत कड़ा संघर्ष करना पड़ा था; पर नानक के संघर्ष-निरपेक्ष विकास में लचकीलापन है, जो कबीर में नहीं।

यह तुलना, मात्र उनकी परिस्थितियों को प्रकाश मे लाने के लिए है, यथावश्यक उनके व्यक्तित्व को समझने में सहायता भी दे सकती है; पर सैद्धान्तिक तुलना करना न तो हमें इष्ट है और न ही ऐसी तुलना से सन्तों का गौरव बढ़ता है। सामान्यतया निष्काम भक्ति, प्रेम, दया, सन्तोष, सत्य और गुरुनिष्ठा—ये सब दोनों में विद्यमान अखण्ड समानता के परिचायक हैं ही।

नानकवाणी शान्त रस से परिपूर्ण है। सांसारिक दुःखों का एकमेव कारण ईश्वरभक्ति का अभाव है। नामस्मरण-मात्र से दुःखों से मुक्ति मिल सकना सम्भव है। संसार से व्यावहारिक निवृत्ति और ज्ञान-सम्मत ईश्वराभिमुख प्रवृत्ति—ये शान्त रस के मुख्य लक्षण हैं। इसके अतिरिक्त शृंगार (आध्यात्मिक), हास्य, करुणा, वीभत्स तथा रौद्ररस के उदाहरण भी कम संख्या में नहीं हैं।

गुरु नानकदेव की भाषा के विषय में हमारा अभिमत अन्य विज्ञ आलोचकों से पृथक् है। वास्तव में नानकावाणी में दो उल्लेखनीय बातें हैं। पहली बात तो यह है कि गुरुजी की वाणी में विकास है; जैसे शैशव यौवन में और यौवन प्रौढ़ता में परिणत हो जाता है, वैसे ही इनकी भाषा में यह परिणति देखी जा सकती है। दूसरी बात—जिसे सिख-सिद्धान्तों के प्रकाण्ड पण्डित एवं इतिहास में विशिष्ट रुचि रखने वाले साहित्यकार स्यात् ही स्वीकार करें कि नानक की वाणी में मुलतानी और ब्रजभाषा का मधुर मिश्रण है। भारत के

उत्तरीय अंचल में ज्यों ही अपभ्रंश भाषा पदच्युत होने लगी, त्योंही सर्वप्रथम 'मुलतानी' ने साहित्य में अपना स्थान बनाया और बाद में अन्य भाषाओं ने। अब्दुलरहमान, फरीदुद्दीन शकरगंज तथा गुरु नानकदेव इस भाषा के सर्वश्रेठ तथा सर्वप्रथम कड़ी-से-कड़ी मिलाने वाले महात्मा हुए है। कतिपय पंजाबी समर्थक हमारे कथन से सहमत न हो सकेंगे; उनकी सेवा मे विचारार्थ कुछ तथ्य प्रस्तुत करते हैं। यथा—

आख=कह—आखणवाले जेतड़े सभि आखि रहे लिव लाइ।

भावै=चाहे—वडे हथि वडिआईआ जै भावै ते देइ।

कांढीए=बुलाइये—प्रिअ की चेरी कांढिए लाली मानै नाउ।

धन=स्त्री—जा धन कंत न राविआ।

निवड=निपट जाय—पतिसिउ लेखा निबड़ै रामु नामु परगासि।

कीतो=किया—अति सिआणी सोहणी किउ की तो बेसाहु।

अपड़ै=पहुँचे—तिथै कालु न अपड़े जिथे गुरु का सबद अपारु।

थीए=होवे—नानक जो तिसु भावै सो थीए।

हीणी=हीन—मुंधे गुण हीणी सुखु होहि।

नालि=साथ—पिरु सालाही आपणा, सखी सहेली नालि।

डाखड़ा=कठिन—आवण वञण डाखड़ा छोड़ि कंत विसारी।

राधे=बोया—जेहा राधे तेहा लुणै, बिनुगुण जनमु बिणासु।

बखर=परिवार—विणु बखर दुख अगला, कूड़ि मुठी कूड़ियारि।

जाइ=जगह—तू होरु मैलु भरी सभ जाइ।

सुञे=पुत्र-धन-हीन—आइ गइआ पछतावणा जिउ सुञे घर काउ।

कलर=रेतली मिट्टी—बिनु नावै दुःख देहरी जिउ कलर की भीति।

मिलावड़ा=मिलाप—सहजे होइ मिलावड़ा साचे साचि मिलाउ।

वडेरी=बड़ी—सभ मालाहै आपकउ बड़हु बड़ेरी होइ।

माणे=शोभायमान—ना माणे सुखसेजड़ी बिनु पिर बादि सिंगारु।

सिआणिए=पहचानिये—गुरुमुख जाणि सिआणिऐ, गुरि मेलि गुण चारु।

कंधी=किनारा—भवजल विषमु डरावणो, ना कंधी ना पारु।

डोहागणी—विधवा—भरमि भुलि डोहागणी, ना पिर अंक समाइ।[1]

इस प्रकार शब्द-माला को देखकर अनायास इस निर्णय तक पहुँचना

१. राग गजरी : महला नं० १, पद्य संख्या १ से ११, पृष्ठ ५३-६०

पड़ता है कि नानक-प्राक् काल में 'मुलतानी' साहित्य में स्थान पा चुकी थी और उसका प्रभाव-क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत था।

गुरु नानकदेव जी ने रागों में वाणियाँ लिखी है। वैसे तो समस्त आदिग्रन्थ में २२ राग-रागिनियाँ है; पर नानकदेवजी की रचना मे १९ ही राग विद्यमान हैं। कतिपय रचनाओं का आस्वादनानन्द लीजिये —

(१)

ज घरि कीरति आखीऐ करते का होइ वीचारो।
तितु घरि गावहु सोहला सिरजण हारो।
तुम गावहु मेरे निरभऊ का सोहिला।
हउ वारी जितु सोहलै सदा सुख होइ। रहाउ।
नित नित जिंग्रड़े समालीयनि देखैगा देवणहारु।
तेरे दानै कीमति ना पावै तिसु दातै कवणु सुमारु।
संवति साहा लिखिआ मिलिकरि पावहु तेलु।
देहु सजण असीसड़िया जिउ होवै साहिब सिउ मेलु।
धरि धरि एहो पाहुचा सदड़े नित पवनि।
सदनहारा समरिए नानक से दिह आवनि॥

—सोहिला रागु गौड़ी दीपकी : महला १-१

(२)

चिते दिसहि धउलहर बगे बंक दुआर।
करि मन खुसी उसारिआ दूजै हेति पिआरि।
अंदरु खाली प्रेम बिनु ढहि ढेरी तनु छारु।
भाई रे धनु साथि न होइ।
राम नामु धनु निरमलो गुरु दाति करै प्रभु सोइ॥ रहाउ।
राम नामु धनु निरमलो जे देवै देवणहारु।
आगै पूछ न होवई जिसु बेली गुरु करतारु।
आपि छडाए छूटिऐ आपे बखसणहारु॥
मनमुखु जाणै आपणै धोआ पूत संजोगु।
नारी देखि बिगासी अहि नाले हरखि सु सोगु।
गुरमुखि सबदि रँगावले, अहिनिसि हरि रसु भोगु।
बिनु चले बिनु जावणो, साकत डोलि डोलाइ।
बाहरि ढूंढि बिगुचीऐ, घर महि वसतु सुथाइ।

मनमुखि हउमै करि मुखो गुरमुखो पलै पाइ ॥
साकत निरगुणि आरिआ आपण मूल पछाणु ।
रकतु विंदु का इहु तनो अगनी पासि पिराणु ।
पवणै कै बसि देहुरी ससतकि सचु नीसाणु ॥
बहुता जीवणु मंगीऐ मुआ न लोड़ै कोइ ।
सुख जीवणु तिसु आखीऐ जिसु गुरमुखि बसिआ सोइ ।
नाम बिहूणै किआ गणी जिसु हरि गुर दरसु न होइ ॥
जिउ सुपनै निसि भूलिऐ जब लगि निद्रा होइ ।
इउ सरपनि कै बसि जीअड़ा अंतहिउमै बोइ ।
गुरमति होइ विचारीऐ सुपना इह जगु लोइ ॥
अगनि मरै जलु पाइऐ जिउ बारक दूधै माइ ।
बिनु जल कमल न थीऐ बिन जल मीन मराइ ।
नानक गुरमुखि हरि रसि मिलै जीवा हरि गुण गाइ ।

—श्री राग : महला १-१५

(३)

सुणि बडा आखै सभ कोई, केवडु बडा डिठा होई ।
कीमति पाइ न कहिआ जाइ, कहणै वालै तेरे रहे समाइ ।
बडे तेरे साहिबा गहिर गंभीरा गुणी गहीरा ।
कोई न जाणै तेरा केता केवडु चीरा ॥ रहाउ ।
सभि सुरती मिलि सुरति कमाई सभ कीमती मिलि कीमति पाई ।
गिआनी धिआनी गुर गर हाइ । कहणु न जाई तेरी तिलु वडिआइ ॥
सभि सत सभि तप सभिचंगि आईआं सिधा पुरखा कीआ वडिआईआं ॥
तुधु बिणु सिधी किनै न पाईआ । करमि मिलै नाही ठाकि रहाईआ ॥
आखणवाला किआ बेचारा सिफली भरै तेरे भंडारा ।
जिसु तूं देहि तिसै किआ चारा । नानक सचु सवारणहारा ॥

—राग आसा : महला १ चउपदे, पद ३

३. **गुरु अंगददेव**—गुरु नानकदेव के उत्तराधिकारी गुरु अंगददेव जी क सिख संगत में बड़ा सम्मानित स्थान है। कारण, श्रीचंद जैसे महाराज ं रहते गुरु नानकदेव जी ने अपने शिष्यों को रसामृत पिलाने का सच्चा अधिकार इन्हें समझा। गुरु अंगददेव जी ने 'मत्ते की सराय' गाँव के निवासी भा फेरूमल चीना (क्षत्रिय) के घर १५६१ विक्रमी संवत् में जन्म लिया। इनव

जन्मनाम 'लहना' था। फेरूमल खत्री की पत्नी 'हरीके' गाँव की थी। उसके नाम के प्रसंग में अभी मतैक्य स्थापित नहीं हो सका है, 'दयाकौर' अथवा 'निहालकौर' अथवा 'सुभराई देवी'—ये नाम भी बताये जा रहे हैं।[1] खीबी नामक देवी से इनका विवाह सम्पन्न हुआ। इनके दो सुपुत्र तथा दो कन्याएँ हुईं, जिनके क्रमशः नाम ये हैं—(१) दातू, (२) दासू और (१) अमरकौर, (२) अनोखीबाई। गुरु अंगददेव जी खंडूर (जिला तरनतारन)में रहे।

लहना-नानक भेंट का विवरण बहुत रोचक है। कहते है, एक बार भाई जोधा के मधुर कण्ठ से 'आसा दी वार' सुन भाई लहना मन-ही-मन गुरुजी के हो चुके थे। इधर गाँव के चौधरी तख्तमल ने भाई फेरूमल को बन्दी बना लिया; बालक लहना अपने पिता को छुड़वाने तख्तमल की पुत्री सुभराई (जो खंडूर मे ब्याही गई थी) के पास खंडूर पहुँचे। इन्हे पता चला कि गुरुजी यहाँ पधारे हुए हैं। बालक लहना ने सुभराई से प्रार्थना की कि आप जब गुरु जी के दर्शनार्थ जायँ, मुझे साथ लेती जायँ। सुभराई ने ऐसा किया; परन्तु गुरु के स्थान पहुँचने पर सुभराई ने लहना को तो बाहर खड़ा कर दिया, स्वयं अकेली अन्दर चली गयी। इस पर गुरुजी ने सुभराई से पूछा—"तुम जिसे साथ लायी हो, उसे बाहर क्यों छोड़ दिया है ?"

गुरुजी के पूर्वज्ञात वृत्तान्त से बीबी सुभराई बड़ी लज्जित हुई। युवक लहना गुरुजी के दर्शनार्थ अन्दर गए। गुरुजी ने पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है ?"

उत्तर मिला—लहना !

गुरुजी ने बालक पर कृपा करते हुए कहा—"ठीक है, तुम्हारा लहना (पावना) हम से है और हमारा देना तुम से।"

भाई लहना शक्ति के उपासक थे। एक बार जब वे वैष्णवदेवी के दर्शनार्थ यात्रा पर थे, तब उन्हे पता चला कि कर्तारपुर में गुरुजी सत्संग कर रहे हैं। भाई लहना कर्तारपुर पहुँचे और गुरु-कीर्तन से ऐसे प्रभावित हुए कि सदा के लिए गुरुजी के हो गए और यात्रा स्थगित कर गुरुजी की सेवा में तत्पर हो गए।

गुरु नानकदेव जी ने कई बार भाई लहना की परीक्षा ली; लक्ष्मीचंद तथा अन्य कई शिष्यों की तुलना में भाई लहना को कहीं अधिक सच्चा और

---

१. सिख इतिहास : ठाकुर देसराज, पृष्ठ ८१

निष्ठावान् पाया। गुरु नानकदेवजी ने परमधाम की यात्रा से पूर्व भाई बुद्धा द्वारा भाई लहना का तिलक कराया तथा 'अंगददेव' नाम देकर द्वितीय नानक प्रतिष्ठित किया। इनकी वाणी महला नं० २ के अन्तर्गत आदि-ग्रन्थ में संगृहीत है। वाणियों की संख्या ६९ के लगभग है। कहा जाता है, गुरुजी की ज्योति-ज्योति-विलीनता के बाद गुरु अंगददेव को अपने इष्ट का विरह इतना असह्य हुआ कि आप किसी जाट से कमरा किराये पर लेकर अन्दर विराजमान हुए तथा बाहर से ताला लगवा दिया। भाई बुद्धा समस्त सिख-संगत के साथ अनुनय-विनय करके गुरु जी को बाहर लाने मे कृतकार्य हुआ।

गुरु अगददेव अपने नित्य-नियम के प्रति निरालस निष्ठा रखते थे और कड़ाई से उस पर आचरण करते थे। प्रातः तीन बजे उठना और गुरुचिंतन योग में समाधिस्थ हो जाना, रागियों से आसा की वार सुनना सन्तो, फकीरों तथा सूफ़ियो से ज्ञान-चर्चा करना; सिख-संगत को उपदेश देना—यह उनका निरवधान कार्यक्रम था। गुरु अगद दयालु भी इतने थे कि बच्चों से खेलकर बड़े प्रसन्न होते थे। कोढ़ी-रोगियों की परिचर्या भी पूरे आत्म-समर्पण भाव से करते।

श्री अंगददेव के गुरुत्व-काल में बाबर की मृत्यु हुई तथा हुमायूँ को दिल्ली-शासन मिला। कहते है शेरशाह से परास्त हुमायूँ मानसिक शान्ति-लाभ के लिए कुछ भेट लेकर गुरु अंगददेव जी की सेवा में उपस्थित हुआ। पर गुरुजी चिंतन-समाधि मे ऐसे लीन थे कि उन्हे हुमायूँ के आने का पता ही नहीं चला। बड़ी प्रतीक्षा के बाद भी जब गुरुजी की चिंतन-समाधि समाप्त नही हुई, तो हुमायूँ ने गुरुजी को मारने के लिए तलवार निकालनी चाही, पर तलवार म्यान से बाहर नही निकली। इतने में ही गुरु जी ने कहा—"शेरशाह से परास्त हो कर एक साधु पर तलवार उठाने आए हो ?" हुमायूँ के बार-बार अनुनय-विनय करने पर गुरुजी ने कहा—"एक बार परास्त होने पर पुनः राज्य की प्राप्ति होगी'—यह कथन आगे चल सत्य सिद्ध हुआ।

गुरु अंगददेव जी अपने शिष्यों में से भल्लावंशीय अमरदास को बहुत चाहते थे। जब आपने देखा कि अब 'तृतीय नानक' की स्थापना का समय आ गया है, तब आपने अमरदास के सम्मुख नारियल रख कर गुरुगद्दी हस्तान्तरित कर दी। भाई बुद्धा ने विधिवत् तिलक लगा कर उन्हें पदासीन किया। चैत्र-सुदी ३, विक्रमी संवत् १६०९ में द्वितीय नानक ने अपनी गुरु-

जीला समेट ली।

गुरु अंगददेव जी की रचनाओं में भगवत्-प्राप्ति की अदम्य उत्कण्ठा, सदाचार, व्यावहारिक उपदेश,सन्तोष, सत्य, न्याय, धैर्य एवं गुरु (प्रभु) भक्ति का सदुपदेश आदिनानक जैसा ही है। हिन्दी और पंजाबी साहित्य के प्रति गुरु अंगददेव जी की देन निम्नलिखित है—

१. गुरुजी ने भाई बाला से आदि गुरु नानक की जन्मसाखी लिखवायी। जीवनी-साहित्य के रूप में इस का महान् मूल्य है। १६०० संवत् की यह पहली गद्य-रचना है। दूसरे, यह परम्परा आगे चल कर इतनी समृद्ध हुई कि कई महत्त्वपूर्ण रचनाएँ इस कडी मे जोड दी गईं।

२. शारदा तथा देवनागरी लिपि का समन्वय करके 'गुरुमुखी' लिपि का आविष्कार किया। संवत् १५८९ मे इस लिपि का विधिवत् प्रचार किया गया। इस लिपि के कारण लोक-भाषा तथा साहित्य भाषा (संस्कृत-अपभ्रंश आदि) में अन्तर पैदा हो गया। यह लिपि सिखों को हिन्दुत्व से दूरी का कारण बन गई।[1] ब्रजभाषा की सैकड़ो पुस्तकें इस लिपि में आबद्ध है। इस लिपि के कुछ ही समय के बाद लडे (मुंडी) लिपि का आविष्कार भी हुआ।[2]

३. गुरु अगददेव जी के द्वारा गुरु-वाणी का सकलन हुआ—जिन्हे आज कल 'संचिकाएँ' कहा जाता है। आगे चलकर गुरु अर्जुनदेव की आज्ञा पाकर भाई गुरदास ने इन्ही संचिकाओ के आधार पर गुरु-ग्रथसाहिब का संकलन किया।

रचना :—

सोई पुरख धनु करता कारण करतारु करण समरथो।
सतिगुरु धंनि नानकु मसतकि तुम धरियो जिति हथो।
त धरिय मसतकि हथुसहजि अमिड वुठड छजि सुरनर गण मुनि बहिय अगाजि
मरियो कंटक कानु गरजि धावतु लिओ बरजि पचभूत एक धरि राखिलै समजि
जग जीतहु गुर दुआरि खेलहि समत सारि रथु उनमनि लिवराखो निरंकारी।
कहु कीरति कल सहार सपत दीप मझार 'लहणा' जगत्र गुरु परसि मुरार।

---

१. सिख इतिहास : ठाकुर देशराज ; पृष्ठ ६१

२. देवनागरी अति कठिन स्वर व्यंजन व्योहार।
तातें जग के हित सुगम मुंडा कियो प्रचार॥ राजा टोडरमल (अकबरी दरबार के हिन्दी कवि : ५४३)

२

जा की हसरी अंमृतधार कालुख खानि उतार तिभिर अज्ञान जाहि वरस दुआर।
ओई नुसेवहि सखदु सार गाखड़ी बिखम कारते नर भव उतारि किए निरभार।
सतसंगति सहज सार जागी लै गुर विचार निमरीभूत सदीव परमपि आर।
कहु कीरति कल सहार सपत दीप मझार 'लहणा' जगत्र गुरु परसि मुरार।

३

तै तड दृढ़ियौ नाम अपार बिमल जासु विथारु साधिक सिध सुजन जिआ को अधारु।
तू ताँ जनिक राजा अडतारु सबदु संसारि सारु रहहि जगत्र जल पदम बीचार।
कलिपतरु रोग-बिदारु संसार ताप निवारु आतमा त्रिविध तेरे एक लिवतार।
कहु कीरति कल सहार सपत दीप मझार 'लहणा' जगत्र गुरु परसि मुरार।
—सवैये।

४. **सलेमशाह**—हमायूँ को परास्त कर शेरशाह दिल्ली-तख्त पर आसीन हुआ। पाँच वर्ष दिल्ली-शासन पर रह कर शेरशाह ने जलाल खाँ के लिए सिंहासन रिक्त कर दिया। यद्यपि वह ज्येष्ठ उत्तराधिकारी आदिल शाह को दिल्ली-तख्त पर बैठाने की आज्ञा दे गया था, पर सरदारों की सहायता 'सलेमशाह' की पदवी धारण करण जलाल खाँ १६०२ विक्रमी संवत् में दिल्ली-सम्राट् बन सका। सलेम के दरबार में कई हिन्दी-कवि सम्मानित थे। वह स्वयं हिन्दी का रसिक था। सलेमशाह १६१० वि० संवत् मे मर गया।

रचना :—

ए जे ते दिन मन मिल गए तिय पिय बिनमो को तेते दिन मेरे आन लेखे।
और जो तपत वाके तम के तिनके सुख को अंक भुज भर चाहत नैन कहे कब देखे।
न पीय पाती पठाई न आवन कीनो मेरी एक न भई होहि है रखे मेखे।
सलेमशाह पिय जी की ना ससझत जोवन जात परेखे[1]।

५. **गुरु अमरदास**—आयु की दृष्टि से गुरु अमरदास जी गुरु अंगददेव जी से २५ वर्ष बड़े थे। पर गुरुगद्दी पर 'तृतीय नानक' की पदवी पाकर ही आसीन हुए। इनका रचनाकाल अंगददेव जी के शिष्यत्व ग्रहण करने के बाद आरम्भ होता है।

बासरके गाँव के प्रतिष्ठित ज़मीदार भाई तेजभान भल्ला और बख्तकौर के घर, वैशाख शुक्ल १४, १५३९ विक्रमी संवत् में अमरदास का जन्म हुआ।

१. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि : सरयूप्रसाद अग्रवाल, पृष्ठ ५९

बड़े होकर अमरदास अपनी पैतृक वृत्ति करते थे और पक्के वैष्णव होने के कारण नित्यप्रति शालिग्राम की पूजा किया करते थे। २३ वर्ष की आयु में इनका मनसादेवी से विवाह सम्पन्न हुआ। कई इतिहासकारो ने इनकी पत्नी का नाम 'रामकौर' भी बताया है।[1] इनके घर मोहरी और मोहन नाम से दो पुत्र तथा रानी और भानी नाम की दो कन्याएँ हुई। अमरदास भल्ला तीर्थयात्रा में बड़ा विश्वास रखते थे। कहते है कि एक बार इन्होने नंगे पाँव हरद्वार की यात्रा की थी।

नानक-अंगद भेंट की तरह अंगद-अमरदास भेंट भी कम मनोरंजक नही है। इनके भतीजे का विवाह गुरु अगददेव की पुत्री बीबी अमरकौर से हुआ था। एक बार अमरदास जी ने अपने भतीजे की पत्नी से 'गुरु नानक' का पद सुना। एक तो स्त्रीसुलभ कलकंठ, दूसरे भाव-भक्ति की गहराई—सुनकर अमरदास इतने प्रभावित हुए कि वही गीत कई बार गाने के लिए उसे कहा और स्वयं गीत स्मरण कर लिया। गुरु अमरदास खंडूर का पता पूछकर गुरु अगददेव जी से मिलने गए। अमरदास जी घोडे पर सवार थे। रास्ते में अमरदास जी ने किसी अज्ञात व्यक्ति से गुरुघर का पता पूछा, उस व्यक्ति ने घोडे की लगाम थाम कर गुरुघर पहुँचा दिया। गुरु अमरदास जी को देखकर बड़ा विस्मय हुआ कि लगाम थामने वाला व्यक्ति स्वयं गुरु अंगददेव जी थे।

इसमें कोई सन्देह नही कि गुरु अंगददेवजी अपने इष्ट गुरु की सेवा प्राण-प्रण से किया करते थे; पर अपने इष्ट गुरु की सेवा करने मे गुरु अमरदासजा ने भी पराकाष्ठा कर दी। इस प्रसग मे जितनी किंवदन्तियाँ प्रचलित है, उनके ज्ञान से इतना अवश्य पता चलता है कि तृतीय नानक का सीमातीत निष्ठा, अपूर्व पौरुष, निरीह कार्यव्यस्तता एवं लोकोत्तर भक्ति का उदाहरण अन्यत्र कहीं नहीं है। सवत् १६०९ मे (७३ वर्ष की आयु मे) आपको गुरुगद्दी मिली।

यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि गुरु अगददेवजी शाक्त सम्प्रदाय से आये थे, गुरु अमरदासजी वैष्णव परम्परा छोड इधर आये थे। ज्ञान-प्रधान एव सहज समाधि की जो साधना गुरु नानकदेवजी चला गए थे, इन दो गुरुओं ने उसे न केवल अक्षुण्ण रखा, बल्कि उसे किसी सीमा तक संपुष्ट भी किया। परन्तु निर्गुण भक्ति के प्रचार की जिस प्रगति से अपेक्षा की जानी चाहिए, वह नहीं हुई। उसके लिए वंशानुगत गुणों तथा पैतृक परम्परा की अनिवार्यता

---

१. सिख इतिहास : ठाकुर देशराज, पृष्ठ ६७

अपेक्षित रहती है। दूसरे, गुरु अमरदासजी को गुरुपद मिलने पर गुरु अंगददेव जी के पुत्र संघर्ष-विरत हो गए थे—यह बात न थी। भाई दातू ने खंडूर के गुरुद्वारे पर हठात् अधिकार प्राप्त कर लिया और अपने को तीसरा गुरु घोषित किया। इतना ही नहीं, भाई दातू ने गोइन्दवाल जाकर न केवल गुरु अमरदास जी को गालियाँ दी, बल्कि उन्हें लात मारने की धृष्टता भी की। लात सहन कर गुरु अमरदास ने करुणा प्रदर्शित करते हुए कहा—"मेरे कठोर शरीर से कहीं आपके मृदु पाँव को चोट तो नही लगी ?" गुरु अमरदासजी विरोध शान्त करने के हेतु बासरके जाकर बसे। पर भाई बुद्धा के तथा सिखसगत के अनुनय पर गुरु अमरदासजी पुनः सदुपदेश देने लगे। इससे आन्तरिक संघर्ष समाप्त हो गया हो, ऐसा इतिहास पढने से ज्ञात नहीं होता। "पिताजी, गुरुआई घर में ही रहे"—ऐसा वर माँग कर बीबी भानी ने पारिवारिक सघर्ष को नया मोड़ दिया।

कहते है, हुमायूँ के संकेतानुसार अकबर बराबर गुरु-गृह से सम्बन्ध बनाये रहा। अकबर ने तृतीय नानक के संकेत पर हरद्वार-यात्रा से कर उठा लिया था।

गुरु अमरदासजी ने १६३१ विक्रमी संवत् में अपने जामाता जेठाजी को 'रामदास' नाम देकर गुरुपद पर अभिषिक्त किया और स्वयं लीला-सवरण कर गुरुलोक सिधारे।

गुरु अमरदासजी की वाणी मे कान्त भाव की मधुर उपासना विद्यमान है। कही इन्हे रहस्यवादी न ठहराया जया, अतः यह समझ लेने की आवश्यकता है कि गुरु-भक्ति मे निष्प्रतीक निर्गुणवाद है। भाषा भी पूर्ववर्ती दोनो गुरुओं की अपेक्षा निखार लिये हुए है। अनुभव मे आया है कि गुरु नानकजी की अपेक्षा गुरु अंगददेवजी की वाणी में 'मुलतानीपन' कम है और इनकी अपेक्षा गुरु अमरदास की वाणी मे 'मुलतानीपन' और भी कम है। सत्य, प्रेम, परोपकार, एकोपासना, गुरुभक्ति आदि प्रवृत्तियां यथावत् है। भाषा तथा भावों मे अनूठा सादापन है। रचना—

(१)

हरि दरसनु पावै बड़भागी। गुरु कै सबदि सचै वैरागी।
षटु दरदन बरतै बरतारा। गुरु का दरसन अगम अपारा।
गुरु कै दरसनि मुकति गति होइ। साँचा आपि बसै मनि सोइ॥ रहाउ॥
गुरदरसनि उधरै संसारा। जे कउ लाए भाउ पिआरा।
भाउ पिआरा लाए बिरला कोइ। गुर के दरसनि सदा सुख होइ।

गुर के बरसनि मोख दुआरु । सतिगुरु सेवै परिवार साधारु ।
निगुरै कौ गति काइ नाहीं । अवगुणी मुठे चोटां खाई ।
गुरु के सबद सुख सांति सरीरा । गुरमुखी ताकौ लगै न पीरा ।
जम कालु तिसु नेडिन आवै । नानक गुरमुखि साचै समावै ।

—राग आसा : महला नं० ३

(२)

सुख सागरु हरि नाम है गुरमुखि पाइया जाहि ।
अनदिनु नाम धिआइऐ सहज नामि समाइ ।
अंदरु रचै हरि सच सौं रसना हरिगुन गाई ।
भाइ रे जगु दुखिया दूजै भाई ।
गुर सरनाइ सुख लहहि अनुदिन नाम धिआई ॥ रहाउ ॥
साचे मेल न लागै ही मनु निरमल हरि धियाई ।
गुरुमुख सबद पछानिए हरि अमृत नाम समाइ ।
गुरु ग्यान प्रचंड बलाइया अगियाणु अँधेरा जाइ ।
मन मुख मैलै मलुभरै हउं मै तृसना बिकारु ।
बिनु सबदै मैलु न उतरै मरि जंमहि होइ खुआरु ।
धातुरबाजी पलचि रहे ना डर वारु न पारु ।
गुरमुखी जप तप संजमी हरि कै नाम पियारु ।
गुरमुख सदा धिआइऐ एक नाम करतार ।
नानक नाम धिआइऐ सभ जिआं का आधार ।

—सिरी राग : महला नं० ३, छन्द

६. **भक्त सूरदास** —ब्रजभाषा के अमृतकंठ महात्मा सूरदासजी के प्रसंग में पर्याप्त शोध-कार्य हो चुका है । आचार्य शुक्ल, आचार्य द्विवेदी, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पं० मुंशीराम शर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा आदि विचारकों ने इस दिशा में वैज्ञानिक, तर्कपूर्ण तथा तुलनात्मक शोध-कार्य किया है । भक्तवर सूरदासजी के सम-नाम तीन व्यक्तियों की चर्चा की जाती है ।

१. 'सूरसागर' के रचयिता प्रसिद्ध निर्द्वन्द्व गीतकार सूरदासजी ;

२. रामदास के आत्मज सूरदास, जिनका आइने-अकबरी में उल्लेख है और जो ग्वालियर के निवासी बताए जा रहे है ;

३. सूरदास मदनमोहन; नाभादास ने इनका परचिय **श्रीमदनमोहन सूरदास की नाम शृंखला जुरि अटल** कहकर दिया है ।

विचारणीय विषय यह है कि पंजाब से किस महात्मा का सम्बन्ध स्थापित किया जाय ? सूरसागर में आए कई पद्यों में 'सूरदास' नाम देखकर अनुमान लगाने को अवकाश मिल जाता है कि स्यात् कोई चौथा व्यक्ति भी आलोच्य सूची में आ रहा है—इस पर सबसे अन्त में विचार करना उचित रहेगा।

प्रथम सूरदास को जन्मान्ध बताया जाता है। इसके विषय में अन्तःसाक्ष्यों तथा बहिःसाक्ष्यों की कमी नही है ; यथा—

(क) सूर की बिरियाँ निठुर होइ बैठे जन्म अंध कर्‌यौ।
(ख) रह्यौ जात एक पतित जन्म को आंधरौ सूर सदा कौ।
(ग) करमहीन जनम कौ अन्धौ मों तें कौन नकारौ।

—अन्तःसाक्ष्य

(क) सो सूरदास कौ जनम ही सो नेत्र नाहि। (गो० हरिराय)
(ख) जन्मान्धो सूरदासोऽभूत्। (श्रीनाथ भट्ट)
(ग) बाहर नैन बिहीन सो भीतर नैन विशाल।
जिन्हें न जग कछु देखिबौ लखि हरि रूप निहाल। (प्राणनाथ कवि)

—बाह्य साक्ष्य

सूरदास की अन्य बातें जानने के हेतु उनके ग्रन्थों का पर्यालोचन करना श्रेयस्कर हो सकता है। 'सूरदास' नाम की छाप से तीन रचनाओं का उल्लेख किया जाता है। यथा—१. सूरसागर, २. सूरसारावली, तथा ३. साहित्य लहरी। सूरसारावली मे एक तुक लिखी मिलती है—

गुर परसाद होत यह दरसन सरसठ दरस प्रवीन।

इसके अनुसार सूरदासजी की आयु सड़सठ (६७) वर्ष बताई जा सकती है। परन्तु इस पक्ष में एक अन्य तर्क भी लगाया जाता है। कहते हैं कि श्रीमद् वल्लभाचार्य केवल बावनवें वर्ष मे ही अपनी लीला संवरण कर गोलोक सिधारे थे।[1] यह बात बड़ी प्रसिद्ध है कि सूरदासजी ने पुष्टि मार्ग में दीक्षा ली थी—**सूर है कै काहे कौ छिछियात हौ, कछुक सगुण लीला पद गावौ।** आचार्य श्रीचरण के इस मधुर आक्षेप से प्रेरित सूरदासजी ने श्रीमद् भागवत के दशम स्कन्ध का अनुवाद भी किया था—यह भी उक्त प्रसंग की एक बात है। अनुमानतः, सूरदास ने संवत् १५८० विक्रमी के लगभग वल्लभ-कुल में दीक्षा ली होगी ; यदि यह अनुमान निराधार नहीं है तो सूरदासजी

१. जन्म—वैशाख-कृष्ण ११, संवत् १५३५। मरण—आषाढ़-शुक्ल ३, संवत् १५८७

का जन्म संवत् १५३५ और १५४० के मध्य कूता जा सकता है। ऊर्ध्व-लिखित अन्तःसाक्ष्य के अनुसार 'सूरसागर' संवत् १६०२ विक्रमी में समाप्त होना चाहिए। उक्त अन्तःसाक्ष्य एवं वल्लभाचार्य जी की अनुश्रुति—दोनों मिलकर जिस परिणाम तक पहुँचते हैं, वह सर्वथा आपत्तिरहित नही है। कारण, जिस 'सूरसारावली' की चर्चा की जाती है, वह सूरदास की कृति है—यह अभी संदेहास्पद है। निश्चयपूर्वक, सूरदास जैसे सतों को अपनी रचना की सूची कभी इष्ट नहीं हो सकती। गोस्वामी ने भी ऐसा नही किया। दूसरे, सरदास जन्मान्ध थे—इसके हेतु अधिक-से-अधिक प्रमाण जुटाने का प्रयास हो रहा है। वे तो केवल गाकर श्रीनाथ जी के मन्दिर में कीर्तन करते रहे होगे; किसी मंदिर द्वारा नियुक्त लिपिकार ने उनकी रचना को लेखनी-बद्ध किया होगा—ये दोनों बातें अनुमेय हो सकती हैं; अतः लिपिकार के किसी निर्णय को सूरदास के लिए क्योंकर प्रमाण माना जा सकता है—यह जिज्ञासा अभी शेष है। जो हो, ग्रंथकर्त्ता का न सही, लिपिकार का मत यदि समस्या के सुलझाव में योग दे सकता है तो क्या बुरा है? आखिर 'बाह्य साक्ष्य' फूंक मारकर तो नही उड़ा दिये जाते। इस पर पुनः विचार करने की आवश्यकता है। 'साहित्यलहरी' नाम की पुस्तक भी सूरदास की बताई जा रही है। उसका एक पद है—

"मुनि सुनि रसना के रस लेत (१६१७ अथवा १६०७)
दसन गौरी नन्द कौ लिखि सुबल संवत् पेख।"

इस पद्य मे मुनि=सात (७), रसना=एक (१), रस=छह (६) तथा गणेशदन्त=एक (१) अर्थात् संवत् १६१७ का स्पष्ट उल्लेख है। कुछ आचार्यो ने 'रसना' पर काफी ले-दे की है; किसी ने रसना=शून्य (०) और अन्य ने रसना=दो (२) का अर्थ लगाने का प्रयत्न किया है (संवत् १६०७ अथवा १६२७) जो कि हमारी नम्र सम्मति में यह केवल बुद्धि-विलास मात्र है। अधिक-से-अधिक मुनि=(सात), सुनि—(शून्य) रसना के रस—(छह) [अर्थात् साहित्य के रस छोडकर] और गणेशदन्त—(एक) मिलकर संवत् १६०७ ठहरता है। इसके अनुसार ६७ या ७७ अथवा ७२ या ८२—इनमें से किसी 'वर्ष' को सूरदास की आयु के निर्धारणार्थ चुना जा सकता है; पर इस निर्णय को संगत कह सकना कठिन हो सकता है। कारण—

जिन मधुकर अम्बुज रस चाख्यौ क्यों करीरफल खावै

इस तुक में सूरदास की अनन्य कृष्ण-भक्ति की ध्वनि निकलती है,

अतः परम कृष्णभक्त सूरदासजी ने 'साहित्यलहरी' जैसी रचना लिखी होगी —यह आशा कम ही है। इस स्थिति मे स्वयं अप्रमाणित रचना को बहुत बड़े भरोसे के साथ जुटाया नहीं जा सकता। अतः इस प्रसंग में और अधिक अनुसन्धान की अपेक्षा है।

सूरदासजी को सारस्वत ब्राह्मण तथा सीही का निवासी बताया जाता है। सीही जिला गुडगाँव के अन्तर्गत है।

सूरदास के विषय मे फैलायी जा रही सभी किवदन्तियाँ भ्रान्त हैं। भक्तवर नाभीदास ने सूरदास का परिचय इन पंक्तियों में दिया है—

उक्ति चौज अनुप्रास वरन अस्थिति अति भारी
बचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्‌भुत तुक धारी।
प्रतिबिंबित दिवि दृष्टि हृदय हरि लीला भासी
जनम करम गुनरूप सबै रसना परकासी।
विमल बुद्धि गुन और की जो यह गुन स्रवननि धरै।
सूर कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै॥

निष्कर्ष यह कि—

१. सूरदास जी जन्मना नेत्रहीन थे।
२. सूरदास का जन्म १५३५-४० विक्रम सवत् के मध्य माना जा सकता है।
३. सूरदास पुष्टिमार्ग मे दीक्षित परम वैष्णव पुष्टि-पुष्ट जीव थे।
४. 'सूरसागर' इनकी रचनाओं का संग्रह है।
५ सूरदास सारस्वत ब्राह्मण तथा सीही-निवासी थे।

इन अधिक-जन-सम्मत निर्णयो के आधार पर यह निश्चय करना होगा कि अन्य दो सूरदासो मे इन्हे कैसे पृथक् रखा जा सकेगा ?

(क) सूरदास—सूरदास-रामपुत्र—अन्य रामदास के पुत्र सूरदास का नाम लिया जाता है और उसकी रचनाओं के विषय में यह सन्देह किया जा रहा है कि ये रचनाएँ किस सूरदास की हैं ? साहित्यलहरी में एक पद्य आया है—

प्रथम ही प्रभु जागते मे प्रगट अद्‌भुत रूप।
ब्रह्मराव विचारि ब्रह्मा राखु नाम अनूप॥
.....
तासु वंस प्रसंस में भौ चन्द चारु नवीन॥

भूप पृथ्वीराज दीनौ तिन्हैं ज्वाला देश।
तनय ताकें चार कीन्हौ प्रथम आप नरेश॥
दूसरे गनचंद तासुत सील चंद सरूप।
वीरचन्द प्रताप पूरन भयौ अद्भुत रूप॥ इत्यादि[1]

इस पद्य को देखकर यह मत देने मे क्या कठिनाई रह जाती है कि 'साहित्यलहरी' का कर्ता सीही-निवासी सूरदास से सर्वथा भिन्न है। इसमें सूरदास को आत्मघोषित 'ब्रह्मराव' तथा 'चन्द का वंशधर' स्पष्ट देख सकते हैं। अतः "मुनि सुनि रसना के रस लेत" की तुक के अनुसार १६०७ सवत् में सूरदास (रामदास-पुत्र) का युवक होना एवं शृगारपरक रचना लिखना असंगत नही ठहराया जा सकता। वैसे तो सूरदास तथा रामदासपुत्र सूरदास को पृथक् ठहराया जा सकता है; पर इस सर्वथा स्पष्ट निर्णय के समर्थन में दो अन्य तर्क भी सुनने मे आते है; यथा—

(क) आईने-अकबरी मे रामदास गायक का उल्लेख है। उसके साथ सूरदास (उसके पुत्र अथवा शिष्य के रूप मे) का आना-जाना भी था। यदि सूरदास ने सवत् १६०७ मे साहित्यलहरी की रचना की हो तो संवत् १६४० विक्रमी मे सम्भाव्य सूरदास-अकबर भेट सत्य हो सकती है, जिसकी चर्चा आईने-अकबरी मे है: **हजरत बादशाह इलाहाबाद में तशरीफ़ लायेंगे, उम्मीद है कि आप भी शर्फ मुलाज़मत से मुशर्रफ होकर मुरीद हकीकी होंगे और खुदा का शुक्र है कि हजरत भी आपको हक-शिनास जानकर दोस्त रखते हैं।** इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि इलाहाबाद मे सम्राट् अकबर का दर्शनार्थी सरदास, महात्मा सूरदास नही हो सकता। उस समय तक यह महात्मा गोलोक-वास कर चुके थे।

(ख) अकबर-युग में संगीत के दो प्रसिद्ध स्कूल थे; यथा—१. ध्रुपद स्कूल और ख़याल-स्कूल। ध्रुपद स्कूल का क्षेत्र ग्वालियर है और इसके प्रसिद्ध कलाकार हैं मियाँ तानसेन; ख़याल स्कूल का क्षेत्र पंजाब है और इसके प्रसिद्ध कलाकार हैं स्वामी हरिदास। हरिदास के निकट वंशधर होने के नाते अथवा उनके शिष्य होने के नाते सूरदास की रचना में ध्रुपद की अपेक्षा खयाल के पद अधिक और सफल है। अतः संगीत-विशारद ध्रुपद-खयाल का तुलनात्मक विश्लेषण करके महात्मा सूरदास के पद तथा सूरदास के पद न्यारे-न्यारे कर सकते हैं।

---

१. द्रष्टव्य परिशिष्ट ८

निष्कर्ष यह कि—

(क) अकबर की हकशिनास दोस्ती से दो सूरदासों के व्यक्तित्व कं अलग रखा जा सकता है।

(ख) ध्रुपद-ख्याल के विश्लेषण से दोनों के पद छाँटकर अलग किर जा सकते है।

(ख) सूरदास—सूरदास मदनमोहन—सूरदास मदनमोहन का नाम भी इनके साथ रखा जा रहा है। स्पष्ट है कि सूरदास मदनमोहन जन्मन कायस्थ और अकबरी दरबार से नियुक्त संडीले के अमीन थे। सरकारी वृत्ति पर रहने पर भी इनका मन अत्यन्त विरक्त एवं भगवदर्पित ही रहा। इनके पास जो निजी आय का धन था, वह सब भक्तों में वितरित हो जात था। इन्होंने भी भगवद् भक्ति के पद गाये हैं; पर उनमें 'सूरदास मदनमोहन'[1] का नामोल्लेख स्पष्ट है; यथा—

१. सूरदास मदनमोहन को ये ही भाँत रिझावं।

२. सूरदास मदनमोहन सकल कलागुन प्रवीन आपुन रीझ रिझावं।

३. सूरदास मदनमोहन पिय पाछे चले जात। इत्यादि।

अतः इनमे रत्ती-भर भ्रान्ति की गुंजायश नही है।

भक्तवर सूरदास का परिचय जान लेने के बाद उनका साहित्यिक पक्ष भी देख लिया जाय। विद्वज्जनों ने सहज भक्त सूरदास की अकृत्रिम अभि व्यक्ति को भी आवश्यकता से अधिक उलझा दिया है। सूरदास को राष्ट्रकवि सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया गया है। न जाने, ये लोग राष्ट्र की परिभाष क्या लगाते हैं। लोकपक्ष-निरपेक्ष, परलोकपक्ष-निबद्ध भावना भी राष्ट्रीयत को मुखर करती है, यह एक नयी उपज है। सूरदास के नायक 'राष्ट्रनायक हो सकते थे, यदि उनकी समस्त अभिभावनाएँ बालकृष्ण तक सीमित न होतीं 'बालकृष्ण' राष्ट्र-शिशु हो सकते थे, यदि भक्त सूरदास की भावनाओं प पुष्टिवाद की छाप न होती। अतः 'पुष्टिवाद' राष्ट्रीयता के विशाल प्रांगर में मनोमुग्धकारी उद्यान तो हो सकता है, एकमात्र राष्ट्रीयता नहीं।

सूरदास के शिशुलीला वाले पद शिशु मनोविज्ञान के अक्षय कोश हैं इस दृष्टि से वे न केवल सार्वभौम हैं, बल्कि कई अंशों में लोकोत्तर भी हैं। सू पूर्ववर्ती साहित्य में तथा सूर-परवर्ती साहित्य में ऐसा शिशु-मनोविज्ञान कहाँ है

सूर 'कवियों में शिरोमणि महाकवि' बताये जाते हैं। शास्त्रियों व

---

१. द्रष्टव्य : अकबरी दरबार के हिन्दी कवि : सरयूप्रसाद अग्रवाल, पृष्ठ ४४६-४७

कहना है कि जो महाकाव्य लिखे, सो महाकवि। यदि महाकाव्य लिखना ही महाकवि की अपरिहार्य शर्त है तो सूरदास महाकवियों के भी महाकवि हैं। उनका एक-एक पद पूरा महाकाव्य है। मुक्तक होने पर भी वह कहीं अधिक प्रसंगबद्ध है; सूर के प्रत्येक पद में मंगल, वस्तुनिर्वाह तथा रस-परिपाक का अपूर्व सामंजस्य है। लगता है, श्रीकृष्ण कोटि-कोटि नायकों की भूमिका निबाहने में एकाकी ही पर्याप्त हैं। कहीं श्रीकृष्ण अपराधी (धीरोद्धत) बनकर खड़े हैं तो कहीं कलाकार (धीरललित) बनकर; वह कहीं समरपूर्व गम्भीर मुद्रा धारण किये हैं (धीर प्रशान्त) और कहीं अपूर्व पुरुष (धीरोदात्त) बनकर आये हैं। यदि क्षण-क्षण नव नायकरूप धारण करने की क्षमता श्रीकृष्ण में है तो उसे समझने और निरूपण करने की योग्यता सूरदास में है—तू डाल डाल, मैं पात पात। महाकाव्य के प्रेमियों को सूरदास का एक पद ही पर्याप्त है—"किधौं सूर कौ पद लग्यौ"।

इधर सूर का भावपक्ष जितना महान् है, उससे कहीं अधिक उन का कलापक्ष लोकोत्तर है। एक-एक पद में अलंकार, व्यंजना, ध्वनि, लक्षण, रीति और गुण—जो चाहो ले लो। भाषा का अपना महत्त्व है। भाषा वह कूल-किनारा है, जो भाव की नदी को नियंत्रित रखता है। सूरदास के भाव जितने उच्छल, गतिमय और ओजपूर्ण है तो भाषा उतनी अचल, संगीतमय और मिष्ट है। भाषा भाव से ऊँची है और भाव भाषा से।

सूरदास की भाषा ब्रज है, परिनिष्ठित, उच्चस्तरीय और भाव-संकुल। जहाँ सूर भावों के धनी हैं वहाँ शब्द-अर्थ के कुबेर। क्या कमी है? सूर शब्दार्थ पाकर कृतार्थ नहीं हुए, बल्कि सूर को पाकर शब्दार्थ चरितार्थ हुए हैं।

रचना का आस्वादन—

(१)

महराने तें पाँडे आयौ।
ब्रज घर-घर बूझत राउर पुत्र भयौ सुनिकै उठि धायौ।
पाँय धोइ भीतर बैठार्‌यौ भोजन कौ निज भवन लिपायौ।
जो भावै सो भोजन कीजै विप्र मनहिं अति हर्ष बढ़ायौ।
धेनु दुहाइ दूध लै आई पाँडे रुचि करि खीर बनायौ।
घृत मिष्टान्न खीर मिश्रित करि परसि कृष्णहित ध्यान लगायौ।
नैन उघारि बिप्र जौ देखै खात कन्हैया देखत पायौ।
देखौ आइ जसोदा सुत कृति सिद्ध पाक इहिं आपि जुठायौ।

महरि विनय करि दुहुँ कर जोरें घृत मधुपय फिरि बहुत मँगायौ।
सूरस्याम कल करत अचगरी बार-बार बाम्हनहि खिझायौ।

(१)

देखौ देखौ जू हरि कौ एक सुभाइ।
अति गम्भीर उदार उदधि हरि जान सिरोमनि राइ॥
तिनका सौं अपने जन कौ गुन मानत मेरु समान।
सकुचि गनत अपराध समुद्रहि बूंद तुल्य भगवान॥
बदन प्रसन्न कमल सम्मुख ह्वै देखत हौं हरि जैसे।
विमुख भए अकृपा न निमिष हूँ फिरि चितयौ तौ तैसे॥
भक्त विरह कातर करुनामय डोलत पाछे लागें।
सूरदास ऐसे स्वामी की देहिं पीठि सो अभागें।

(२)

बलि बलि बलि हौं कुंवरि राधिका नंद सुवन जासों रति मानी।
वे अति चतुर तुम चतुर-सिरोमनि प्रीति करी कैसे होत है छानी।
वे जु धरत तन कनक पीत पट सो तो सब तेरी गति ठानी।
ते पुनि स्याम सहज वे सोभा अंबर मिस अपने उर आनी।
पुलकित अंग अबहि है आयौ निरखि देख निज देह सयानी।
सूर सुजान स्याम कं बूझैं प्रेम प्रकास भयौ बिहँसानी।

(४)

स्याम सुखरासि रसरासि भारी।
रूप की रासि गुनरासि जोवनरासि थकित भई निरखि नव तरुन नारी।
सील की रासि जस रासि आनन्द रासि नील नव जलद छवि बरन कारी।
दया की रासि विद्यारासि बल रासि निर्दयता रासि दनुज कुल प्रहारी।
चतुराइ रासि छलरासि कलरासि हरि भजै जिहिं हेत तिह देन हारी।
सूर प्रभु स्याम सुखधाम पूरन काम बसन कटि पीत मुख मुरली धारी।

(५)

सँदेसनि मधुबन कूप भरें।
जो कछु पथिक गए हैं हाँ तें फिरि नहिं अवन करें॥
कं वै स्याम सिखाय समोधें कं वै बीच धरें।
अपने नहिं पठवत नंदनंदन हमरेउ फेरि धरें॥

मसि खूँटी कागर जल भींजे सर दव लागि जरै।
पाती लिखैं कहौ क्यों करि जो पलक-कपाट अरे॥
और सकल अगन तैं ऊधौ अँखियाँ बहुत दुखारी।
अतिहि पिराति सिराति न कबहूँ बहुत जतन करि हारी॥
एक टक रहति निमेष न लावति बिथा विकल भइ भारी।
भरि गईं विरह बाइ बिनु दरसन चितवत रहत उघारी॥
रे रे अलि गुरु ग्यान सलाकहिं क्यों सह सकति तुम्हारी।
सूर सुअंजन आँजि रूप रस आरति हरन हमारी॥

७. **स्वामी हरिदास**—पजाब पर भयानक मुस्लिम आक्रमण-काल में कई क्षत्रियवंश और कई अरोड़ वश पजाब से हटकर उत्तर-प्रदेश मे आ वसे थे, और उनके सारस्वत पुरोहित भी उनके साथ थे। पजाब छोड कर बसने वाले क्षत्रियों मे संत मलूकदास (सेठ कक्कड़) प्रसिद्ध हुए है और सारस्वत वंश में से स्वामी हरिदास जी। आज जाति-व्यवस्था को हीन दृष्टि से देखने वालों की कमी नहीं है। अब जनता जाति रक्षा को अपना धर्म भी नहीं मान रही है। जातिवाद के इस घृणित उपेक्षा भाव से अब इतिहास-विनाश के लक्षण तथा साधन पैदा हो गए हैं। यदि आज जाति-व्यवस्था की छान-बीन की जाए तो अनेक रहस्य प्रकाश में आ सकते हैं। खोज की जाय तो कहीं स्वामी हरिदास, भक्त सूरदास, महाप्रभु जयदेव तथा श्रीधर पाठक के सम्बन्ध-सूत्र भी मिल सकते हैं; क्योंकि ये सभी क्षत्रिय वंश पुरोहित सारस्वत वंश के महारत्न हैं। अस्तु।

स्वामी हरिदास के विषय में बड़े तर्क-वितर्क प्रकाश में आये है। कुछ लोगों ने स्वामीजी को सनाढ्यवंशीय सिद्ध करने का पक्ष प्रस्तुत किया है, दूसरे पक्ष ने उन्हें उच्चशरीफ़ (वर्तमान बहावलपुर रियासत) के सारस्वत-जन्मा ब्राह्मण बताया है। यद्यपि संत-जगत् मे हरिदास के अनेक नाम बताये जा रहे हैं; पर सनाढ्यवशीय हरिदास तथा सारस्वतवंशीय हरिदास को न्यारा-न्यारा बूझने के लिए निम्न तथ्य विचारणीय हैं। यथा—

(१) सनढ्य हरिदास 'भक्त' हैं, सारस्वत हरिदास 'स्वामी'।

(२) स्वामी हरिदास के आत्मज हे—आशुधीर। भक्त हरिदास आशुधीर के शिष्य है।

(३) स्वामी हरिदासजी केवल गायनाचार्य है, वैष्णव विचारधारा के पोषक होने पर भी किसी सम्प्रदाय के स्थापक नहीं हैं; भक्त हरिदासजी मात्र

टट्टी-सम्प्रदाय के संस्थापक हैं।

(४) नाभादास ने जिस हरिदासजी के विषय में लिखा है, वे भक्त हरिदास स्वामी हरिदास नहीं।

(५) स्वामी हरिदास अकबर-पूर्ववर्ती युग में केवल (खयाल) गायक थे, तानसेन तथा बैजू बावरा को शिष्य बनाकर प्रसिद्ध हुए और स्वामी कहलाये। अकबर ने इनसे भेट की थी। भक्त हरिदासजी इस व्यवहार से पृथक् थे।

इस प्रकार दो-दो हरिदासों का स्पष्ट पृथक्करण नाभादासजी के पद से ज्ञात हो जाता है; आसधीर का परिचय नाभादास के शब्दों में इस प्रकार है—

जुगल नाम सों नेम जपत नित कुंज बिहारी।
अवलोकत नित रहें केलि सुख कै अधिकारी॥
गानकला गंधर्व स्याम स्यामा कौ तोषें।
उत्तम भोग लगाय मोर मरकट तिमि पोषें॥
नित नृपति द्वार ढाढ़े रहैं दरसन आसा जासु की।
अस आसधीर उद्योतकर रसिक छाप हरिदास की॥

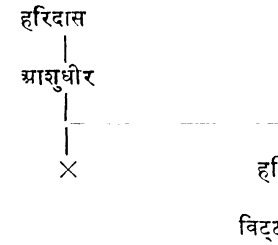
यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि नाभादास के समय (१६०० से १६८० वि० संवत्) आशुधीर विद्यमान थे, स्वामी हरिदासजी नहीं। अनुमानतः स्वामीजी १५६०-१६२० विक्रम संवत् में विद्यमान थे। नाभादास ने एक पद्य में दोनों का परिचय दे दिया है—आभ्रश्च सिक्तः पितरश्च तृप्ताः। 'रसिक छाप हरिदास की' इस एक ही पंक्ति में हरिदास-आशुधीर में पितृ-पुत्र सम्बन्ध की ध्वनि मिल जाती है, जिसकी पुष्टि सहचरीशरण के 'ललित-प्रकाश' से भी हो जाती है। संस्कृत 'भक्तमाल' में "**आशुधीरतनय**" पाठ मिलता है, जिसका अर्थ "आशुधीरः तनयः यस्य स आशुधीरतनयः" ऐसा विग्रह और अर्थ ग्रहण करें तो "रसिक छाप हरिदास की" की तुक जुड़ती है; अन्यथा "आशुधीरस्य तनयः" इस विग्रह-ग्रहण से निम्न तुक विपरीत पड़ती है; यथा—

आसधीर गंभीर विप्र सारस्वत श्रुति पर।
जनम अलीगढ़ मध्य मधुर बानी प्रमोद कर॥
गुरु अनुकूल अतूल कूल बन निधि बन माँहीं।
सत्तर लौं तनु राखि साखि जसकी मिति नाहीं॥

और—

श्री स्वामी हरिदास रसिक सिरमौर अनीहा।
द्विज सनाढ्य सिरताज सुजसु कहि सकत न जीहा॥
गुरु अनुकंपा मिल्यौ ललित विधिवन तमाल के।
सत्तर लौं तरु बैठि गनै गुन प्रिया लाल के॥

'ललितप्रकाश' में आशुधीर को सारस्वत तथा हरिदासजी को सनाढ्य विप्र लिखा है। जिसका (शिष्य) वंश-क्रम इस प्रकार होना चाहिए; यथा—



निष्कर्ष यह कि 'हरिदास' नामक दो व्यक्तियों को ठहराने से सारस्वत सनाढ्य वंश का निर्धारण सुगम हो सकता है, अन्यथा नहीं। यदि हरिदास का जन्म १५४० विक्रमी मान लिया जाय तो १६१७ तक उनकी विद्यमानता सिद्ध होती है; और यदि १५७० विक्रमी मे आशुधीर का जन्म मान लिया जाय तो १६४० विक्रमी संवत् तक उनका जीवन अन्तःसाक्ष्य द्वारा सिद्ध है ही। नाभादास की 'भक्तमाल' भी लगभग इन्ही वर्षों मे लिखी गई थी। इस समय द्वितीय हरिदास की विद्यमानता सम्भाव्य हो सकती है, स्वामी हरिदास की नहीं। हमारी नम्र सम्मति मे सूरदास-हरिदास समकालीन हैं, पश्चिमी उत्तरप्रदेश के निवासी और सारस्वत-जन्मा हैं। गीतो में ख़याल-प्रणाली के आविष्कारक स्वामी हरिदासजी बताये जाते हैं। 'बैजू' के गुरु भी वही है। बैजू से परास्त तानसेन यदि स्वामीजी को गुरु मान ले तथा अकबर इनकी दर्शन-लालसा रखे, तो कुछ असम्भव नहीं लगता। अनुमानतः 'कहि हरिदास' के पद स्वामीजी की रचना हैं, 'श्रीहरिदास' छाप वाले पद्य नहीं। स्वामीजी का निधन संवत् १६३० में बताया जाता है। रचना :

(१)

गहौ मन सब रस को रस सार!
लोक वेद कुल कर मैं तजिये भजिये नित्य विहार॥

गृह कामिनि कंचन धन त्यागौ सुमिरौ स्याम उदार।
कहि हरिदास रीति संतन की गादी कौ अधिकार॥

(२)

ज्योंहि ज्योंहि तुम राखत हौ त्योंहि त्योंहि रहियतु हौं हरि।
और अचरजै पाइ धरौ सु तौ कहौ कौन कै पैंड भरि।
जदपि हौं अपनौ भायौ कियौ चाहौं सुतौ करि सकौं, जौ तुम राखौ पकरि।
कह हरिदास पिंजरा के जनावर लौं तरफराइ रहौं उड़िबै कौ कितोउ करि।

८. **अकबर**—मुगल सम्राट् अकबर अपनी सांस्कृतिक अभिरुचियों के कारण अपने समय मे जितना लोकप्रिय रहा होगा, उससे कही अधिक आज वह आकर्षण का केन्द्र बना है। यद्यपि मुगल-राजवश से पूर्व पठान-राजवंश अपनी सीमित अभिरुचियों के साथ साहित्य-सेवियों को प्रश्रय दे रहे थे; पर मुगल-बादशाहों ने अपनी साहित्यिक अभिरुचियों को विस्तृत किया और इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप हिन्दी-साहित्य की (उस युग में अन्य भाषाओं की भी) यथेष्ट प्रगति हुई। निस्संदेह मुगल राजवंश में अकबर का स्थान सर्वश्रेष्ठ है।

अकबर का जन्म १६०० विक्रमी संवत् अमरकोट (राजस्थान के सीमान्त) में हुआ। उस समय हुमायूँ प्रवासकाल में था। १३ वर्ष की अवस्था में अकबर कलानौर में पिता का उत्तराधिकारी बन सिंहासन पर बैठा। प्रसिद्ध राजभक्त बैरमखाँ खानखाना ने उसके राज्य-उपलाभ में अपूर्व सहयोग दिया।

अकबर के दिल्ली-दरबार में हिन्दी कवियों का अच्छा-खासा जमाव हो चला था। उसके यहाँ तीन प्रकार के हिन्दी-कवियों की चर्चा की जाती है। यथा—

(क) कुछ कवि विशुद्ध साहित्यकार के रूप में अकबर के दरबार में आदृत थे; यथा—नरहरि, ब्रह्मकवि (बीरबल), तानसेन, गंग और रहीम।

(ख) कुछ व्यक्ति राज-दरबार मे अन्य पदों पर आसीन थे, पर साहित्यिक अभिरुचि के कारण गोष्ठी मे भाग लेते थे और अपनी कवित्व-शक्ति का परिचय देते थे। यथा—चतुर्भुजदास, राजा पृथ्वीराज, राजा आसकरण, सूरदास मदन मोहन, मनोहर कवि और राजा टोडरमल। हमारे विचार में रहीम कवि को भी इसी वर्ग मे गिनना उचित होगा।

(ग) कुछ महात्मा या कवियों को सम्मानित करके अकबर ने सुष्ठु अभिरुचि का परिचय दिया। यथा—करनेस, दुरसा, होलराय, कुंभनदास, सूरदास,

व्यास और चन्द्रभान।[1]

अकबर ने यथासम्भव सभी कलाकारों को प्रश्रय दिया—क्या संगीतज्ञ, क्या चित्रकार और क्या अन्य कला-प्रेमी। अकबर स्वयं ब्रजभाषा का सिद्धहस्त कवि था। वीरबल के निधन पर कही गई अकबर-उक्ति कितनी मर्मस्पर्शी है :

दीन जानि सब दीन, एक न दीनौ दुःसह दुख।
सो अब हमकहँ दीन, कछु नहीं राख्यौ बीरबर॥

अकबर ने ६२ वर्ष कुछ मास जीकर स० १६६२ विक्रमी में शरीर छोड़ा। अकबर की अब तक स्फुट रचनाएँ ही मिली है; पर जितनी मिली है, उनकी भाषा परिनिष्ठित ब्रजभाषा है—इस पर किसी को कोई विकल्प नही।

रचना—

साहि अकब्बर एक समै चले कान्ह बिनोद बिलोकन बालहिं।
आहट लै अबला निरख्यौ चकि चौंकि करि आतुर चालहिं।
त्यों बलि बेनि सुधारी धरी सुभई छबि यों ललना अरु लालहिं।
चंपक चारु कमान चढ़ावत काम ज्यों हाथ लिये अहि बालहिं॥

२

सुन्दर रूप अनूप तोय भंजन अंग सबै सुचिताई।
कंचन खंभ नगन खरी सब जोवन संगतिये रुसनाई।
सीस कौ अंभ करै मौतियन जुलटी कुच से लपटाई।
देखि रह्यौ बिंब साह अकबर सिभुकूं पूजण नागण आई॥

३

साह अकब्बर बाल की बाँह अचिंत गही चलि भीतर भौनै।
सुन्दर द्वार ही दृष्टि लगाय कै भागिबै कौ भ्रम पावत गौनै।
चौंकत सी सब ओर बिलोकत संक सकोच रही मुख मौनै।
यों छबि नैन छबीली की छाजत मानो बिछोह परै मृग छौनै॥

९. **गुरु रामदास**—चूनियाँ मण्डी (ज़िला लाहौर) निवासी श्री हरिदास सोढ़ी के घर विक्रमी सम्वत् १५९१ की कार्तिक-कृष्ण मगलवार को बालक जेठा का जन्म हुआ। दयाकौर आपकी माता का नाम था। आप स्वभावतः साधु, मिलनसार, हँसमुख, सुन्दर तथा प्रभावशाली थे। आपका मन संगीत एवं

१. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि : सरयूप्रसाद अग्रवाल, पृष्ठ २५-५३

साधुसेवा में रमा रहता था। परन्तु घर की विपरीत परिस्थितियों के कारण बालक जेठा को निरन्तर निर्धनता से युद्ध भी करना पड़ता था। उबले चने बेच कर जीवन-निर्वाह भी करना पड़ता था।

भाई जेठा का विवाह गुरु अमरदास की पुत्री बीबी भानी से हुआ था। यह सम्बन्ध भी बड़े नाटकीय ढग से हुआ बताया जाता है। कहते है कि जिस रास्ते मे खड़े भाई जेठा उबले चने बेच रहे थे, उसी रास्ते में बीबी भानी के विवाह की मन्त्रणा करते हुए सपत्नीक गुरु अमरदास जी आ रहे थे। गुरु-पत्नी माता मनसादेवी ने भाई जेठा की ओर इशारा करते हुए कहा : "इस बालक जैसा सुन्दर, डील-डौल वाला तथा इतनी ही आयुवाला वर बीबी भानी के अनुरूप हो सकता है।" बस, गुरु अमरदासजी ने इसे दैवी प्रेरणा समझा और भाई जेठा की आयु आदि पूछकर उसके पिता हरिदास को पत्र लिख दिया और भाई जेठा से अपनी सुपुत्री का सम्बन्ध करने की सूचना दी। भविष्य में चलकर यही भाई जेठा 'गुरु रामदास' के नाम से चतुर्थ नानक प्रसिद्ध हुए।

गुरु-गद्दी पर बैठते ही गुरु रामदास अपने महान् चरित्र एव दयालु स्वभाव के कारण शीघ्र ही सिख-सगत के दिलों में घर बना बैठे। गुरु नानकदेव के आत्मज एवं उदासीन सम्प्रदाय के आदि आचार्य श्रीचन्द जी गुरु-गद्दी पर विराजमान गुरु अगददेव जी तथा अमरदासजी को मिलने नही गए थे; पर गुरु रामदासजी से मिलने गये। इसी से गुरु रामदास जी के मृदु एवं मिष्ट स्वभाव का पता चलता है। इस भेंट का एक रोचक संस्मरण भी बताया जाता है। श्रीचन्द ने गुरुजी से कहा : "आपकी दाढ़ी बहुत बढ़ी हुई है।" गुरुजी ने उत्तर दिया : "आपकी चरण-भूमि को बुहारने के लिए बढ़ा रखी हैं।" इस उत्तर से सारी सिख-संगत गद्‌गद् हो उठी। ऐसे थे गुरु रामदास जी। ऐसा ही एक संस्मरण इनकी पत्नी का बताया जाता है। एक बार जिस चौकी पर बैठे तृतीय गुरु समाधि लगाये हुए थे, उसका एक पाया चरमरा गया। गुरु जी का ध्यान भंग न हो, इस सकल्प से बीबी भानी ने अपना एक पाँव पाए के स्थान पर लगा दिया। ध्याननिवृत्त गुरु जी ने जब पुत्री का जख्मी पाँव देखा तो उसे वर माँगने के लिए कहा। बीबी भानी ने कहा : "पिताजी, यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो यही वर दीजिए कि 'गुरुआई' घर में ही बनी रहे।" गुरुजी ने खिन्न होकर कहा : "गुरु-परम्परा तो तेरे सात पीढ़ी बनी रहेगी, पर चूँकि तूने गुरु-परम्परा जैसी बहती नदी को बाँधने का यत्न किया है, अतः भावी गुरु संकट-ग्रस्त रहेंगे।" गुरु जी का यह कथन सत्य

सिद्ध हुआ।[1]

गुरु रामदास जी के तीन पुत्र हुए— पृथ्वीचन्द, महादेव और अर्जुनदेव। कहते है, गुरुजी ने किसी निजी कार्यवश पृथ्वीचद को कही भेजना चाहा। उसने इन्कार कर दिया, महादेव ने भी वैसा किया, पर अर्जुनदेव जाने को तैयार हो गए। इस पर गुरुजी ने उत्तराधिकारी की घोषणा कर दी। भादों सुदी ३, संवत् १६३८ विक्रमी को जब गुरुजी निरंकार ज्योति में लीन हुए, तो पृथ्वीचन्द ने अर्जुनदेव को चुनौती दी। पर भाई गुरदास, भाई बुद्धा, भाई लालो, भाई जेठा तथा भाई पेड़ा—सबने मिलकर समस्या सुलझायी और गुरु अर्जुनदेव 'पंचम नानक' प्रख्यात हुए।

गुरु रामदास जी के जीवन की प्रधान घटना अमृतसर की नींव रखना और अमृत-सरोवर की खुदाई कराना है।

पृथिया की रचना भी मिलती है, जो कच्ची वाणी के अन्तर्गत मानी जाती है। गुरु रामदासजी की वाणी मुल्तानी-मिश्रित हिंदी है, अतः उसे 'सधुक्कड़ी' भाषा कहना कही अधिक युक्तियुक्त है। आदि नानक ने उपासना-पक्ष और लोक-पक्ष को सर्वथा संतुलित रखा, परन्तु गुरु अंगददेव जी की वाणी में तथा गुरु अमरदासजी की वाणी में उपासना-पक्ष अधिक पुष्ट है और गुरु रामदास जी की वाणी मे लोकपक्ष अधिक सुन्दर है। अतः गुरुवाणी को एकांगी नहीं कहा जा सकता। रचना—

मधुसूदन मेरे तन मन प्राना।
हौं हरि बिनु दूजा अवरु न जाना॥
कोई सजण संतु मिलै बड़भागी मैं हरिप्रभु प्यारा दसे जीउ।
हौं मनु तनु खोजी भाल भलाई, क्यों प्यारा प्रीतम मिलै मेरी माई॥
मेरा प्यारा प्रीतम सतगुरु रखवाला हम बारिक दीन करहु प्रतिपाला।
मेरा मात पिता गुरु सतगुर पूरा गुर जल मिलि कमल विगसै जीउ॥

---

१. (क) सात पीढ़ी के गुरु—१ रामदासजी, २ गुरु अर्जुनदेव जी, ३ गुरु हरिकिशन जी, ४ गुरु हरिगोविन्द जी, ५ गुरु हरराय जी, ६ गुरु तेगबहादुर जी और ७ गुरु गोविन्द-सिह जी।

(ख) गुरु अर्जुनदेवजी, गुरु तेगबहादुर तथा गुरु गोविंदसिहजी को एक जैसे राजनीतिक संकटो का सामना करना पड़ा था।

मैं बिन गुरु देखै नींद न आवै, मेरा मन तनि वेदन गुरु विरह लगावै।
हरि हरि दइआ करहु गुरु मेलहु जब नानक गुरु मिलि रहसै जिउ ॥

—राग माझा : महला ४, राग २

पंडितु सासत सिमृति पड़िया। जोगी गोरख गोरखु करिया।
मै मूरख हरि हरि जपु पड़िया।
ना जाना किआ गति राम हमारी। हरि भज मन मेरे तरु भवजल तू तारी।
संन्यासी विभूत लाइ देह सँवारी। परत्रिय त्यागु करी ब्रह्मचारी।
मै मूरख हरि आस तुमारी।
खत्री करम करै सुरतनु पावै। सूद बैसु पर किरति कमावै।
मै मूरख हरि नाम छुड़ावै।
सभ तेरी सृष्टि तूँ आपि रहिया समाई। गुरमुख नानक दे वडियाई
मैं अँधुले हरि टेक टिकाई।

राग गउड़ी : महला ४, पद ३६

१०. **भाई गुरुदास**—सिख-इतिहास में भाई गुरुदास का नाम बड़े गर्व और सम्मान के साथ लिया जाता है। इसके अनेक कारण है। पहला यह कि भाई गुरुदास गुरु-परिवार के निकटतम संबन्धी है। भल्लावंश होने से आप गुरु अमरदास के कुलबन्धु थे, तथा गुरु अंगद की पुत्री बीबी अमरकौर आपकी भाभी थी। इसी के कलकण्ठ से—

करणी कागद मन मसवाणी बुरा भला दुइ लेख पए।
ज्यों ज्यों किरतु चलाये त्यों चलिए तौ गुण नाहीं अंततरे।

यह गीत सुनकर गुरु अमरदास मंत्र-मुग्ध हो गए तथा गुरु अंगददेव जी के दर्शनार्थ विवश हो गए।

दूसरा कारण यह है कि भाई गुरुदास ने सिख-सम्प्रदाय के गुरु-स्थानीय 'आदि ग्रन्थ' के संकलन की सूझ दी और यह कार्य सम्पन्न कराया।

तीसरा यह कि गुरुदास गुरु-सिद्धान्तों के प्रथम प्रवक्ता, व्याख्याता एवं प्रचारक हुए। इनकी रचना आदिग्रन्थ की कुंजी बतायी जाती है।

चौथा और अन्तिम कारण यह है कि वे लम्बी उम्र तक चार गुरुओं (अंगददेव जी, अमरदास जी, रामदास जी, अर्जुनदेव जी) के कृपापात्र रहे। सच बात तो यह है कि गुरु-परिवार दो प्रकार के संघर्षों से गुजर रहा था—एक तो विचारात्मक संघर्ष था, सगुण और निर्गुण भक्ति का के मध्य; दूसरा संघर्ष था। गुरु-गद्दी पाने के लिए ज्येष्ठ पुत्रों का भाई दातु, भाई

मोहरी तथा भाई पृथ्वीचन्द इसके हेतु मैदान में उतर चुके थे; इन दोनों संघर्षों में से गुरु-गद्दी तथा गुरु-सिद्धान्तों की रक्षा का सारा दायित्व गुरुदास भाई ने उठा लिया था। अन्त में अपने त्याग तपस्या और सेवा से यह गुरुओ के कृपापात्र बन सके थे। बस, गुरुओं का कृपापात्र होना ही था कि समस्त सिख समाज के कृपापात्र हो गए।

इनका जन्म १५५१ विक्रमी सम्वत् में गोइन्दवाल मे हुआ था। इनकी जन्म-तिथि के विषय मे बडा विवाद खड़ा हो गया है—

(क) डा० गोपालसिंह दर्दी, एम० ए० ने इनका जन्म का सम्वत् १६१६ (१५५९ ई०) माना है।[1]

(ख) भाई प्यारासिंह 'पद्म' ने इनका जन्म-काल सम्वत् १६१० (१५५३ ई०) ठहराया है।[2]

(ग) मौलाबक्श कुश्ता ने सम्वत् १५५१ ही बताया है।[3]

यह तो सर्वसम्मत बात है कि भाई गुरुदास गुरु अमरदास जी के भतीजे थे।[4] यदि गुरुदास की आयु-निर्धारण में २-४ वर्ष का अन्तर पड़ता, तो कोई बात नही थी; पर पूरे ६५ वर्ष का अन्तर कैसे पाटा जाय—विद्वानों को इस पर सोचना होगा। गुरु अमरदास जी का जन्म १५६९ विक्रमी वर्ष है तो क्या चाचा-भतीजे की आयु में ७४ वर्ष का अन्तर मान्य हो सकता है? इस पार्श्व में गुरुदास का कालनिर्णय करते हुए कुश्ता-मत ही अधिक ठीक लगता है। इस प्रसंग मे एक दूसरे तर्क की उपेक्षा करनी कठिन हो जायेगी कि गुरु अर्जुनदेव के गुरुत्व-काल (१६३८-१६६२ विक्रमी) से पहले-पहले भाई गुरुदास आगरा, पटना, बनारस, बुरहानपुर तक घूम-घामकर तथा सिखी का प्रचार कर आ गए थे। क्या यह सम्भव है कि (विक्रमी वर्ष को जन्म-वर्ष मान लेने पर) २०-२२ वर्ष की किशोर वय में इतनी लम्बी यात्रा करके लौट आये? इसे महज एक तीर्थ-यात्रा नही बताया जा सकता।[5] वे सिख धर्म का प्रचार करने गए थे। अतः मौलाबक्श कुश्ता द्वारा कथित काल-निर्णय मानना अतिशयोक्ति पूर्ण नही हो सकता।

---

१. पंजाबी साहित्य दा इतिहास : गोपालसिंह
२. पंजाबी दुनिया : भाई गुरुदास अंक
३. पंजाबी हीरे : मौलाबक्श कुश्ता
४. द्रष्टव्य परिशिष्ट १७
५. महान कोश: भाई काहनसिंह, नया संस्करण, पृष्ठ ३११

भाई गुरुदास जन्मजात कवि हैं। पंजाबी, पारसी तथा संस्कृत के अतिरिक्त आपने ब्रज भाषा में भी पर्याप्त कविता की है। गुरु अमरदास जी आपकी रचना सुन झूम उठते थे। निर्गुण उपासना तथा सिख मतों के विषय में आप अधिक कट्टर बताये जा सकते है।

कहते है कि गुरु हरगोविन्द जी महाराज ने भाई गुरुदास की बड़ी कड़ी परीक्षा ली थी। परीक्षा मे व्यग्र भाई गुरुदास को षष्ठ गुरु ने कहा—

जो गुरु सांग सँवारदा सिख सिदक न हारे।

उत्तर में भाई गुरदास ने कहा :—

जौ गुरु भरमाए सांग करं क्या सिख विचारा।

इस प्रकार भाई गुरुदास ने अपने वे शब्द, जो बड़ी कड़ी परीक्षा में सफल होने पर कहे गए थे, कहे : **कच्चे सिख ही डांवाडोल हो सकते हैं, पक्के नहीं; कच्चा चना ही अंकुरित होता है, भुना हुआ नहीं; अपूर्ण पात्र ही छलकता है, पूर्ण पात्र नहीं।** भाई गुरुदास गोस्वामी तुलसीदास तथा महाकवि केशवदास के समकालीन ठहरते है। सम्वत् १६५०-१७०० तक का अर्धशताब्द एक तरह से परिवर्तनकारी समय है। इस समय भक्तिधारा उत्तरोत्तर मन्द हो चली थी और रीतिकाल की कलिका उत्तरोत्तर विकसित हो चली थी। अब तक 'माखन मिश्री' की सस्कृति से बँधी चली आ रही ब्रज भाषा सहसा 'कड़ाह परसाद' की संस्कृति से आ मिली थी; इसे ब्रज-माधुरी की दिग्विजय का प्रतीक मानें या सिख-संस्कृति की उदारता का प्रथम प्रकाश ? सम्भवतः दोनों ही बातें ठीक हैं।

भाई गुरुदास के भाव-पक्ष में सगुण भक्ति की निर्मल धारा बह रही है, जहाँ नानक-परम्परा को अवतार-परम्परा मानकर भावनाएँ केन्द्रित की जाती है। अब सिख-संस्कृति में ईश्वरोपासना निर्गुण भक्ति मानी जाती है और गुरुपासना सगुण भक्ति। यहाँ एक बात और लक्ष्य करने योग्य है, वह यह कि सगुण-निर्गुण ब्रह्म को बूझने वाले भक्त या संत संसार से क्यों विरक्त रहें ? इसका रहस्य अब तक किसी ने नहीं बताया। इधर सभी सिख गुरुओं ने विवाह किया है और गृहस्थ में रहकर ही साधना की है। सधुक्कड़ी भाषा में इसे सहज समाधि कहते है। भाई गुरुदास के काव्य में इन्हीं सिद्धान्तों का विशद व्याख्यान है।

भाई गुरुदास का कला-पक्ष भी समृद्ध और परिमार्जित है। भाई गुरुदास की दो प्रकार की वाणियाँ है—पंजाबी में और ब्रजभाषा में; पंजाबी की

रचनाओं में कहीं-कहीं ब्रज का मिश्रण है, पर ब्रज कविता विशुद्ध ब्रज मे है। छन्द तो आपने केवल कवित्त-सवैये ही अपनाये है। अलंकारों में दृष्टान्त आपको अधिक प्रिय है। यह एक कटु सत्य है कि इनकी रचनाओं में बुद्धिवाद और भाव का द्वन्द्व है, प्रायः भाव पर बुद्धिवाद की विजय देखी गयी है।

रचना—

सफल बिरछ फल देत ज्यों परवान मारै
सिर करवत सहि तरु पार पार है।
सागर तें काढ़ि मुख फेरियत सीप के ज्यों
देत मुक्ताफल अवग्या न विचार है।
जैसे खनवारा खनि खानत रतन धन
मानक अमोल हीरा पर उपकार है।
ऊख मैं पियूख ज्यौं प्रकाश हो कोल्हू परै
अवगुन किये गुन साधुन के द्वार है॥

२

जैसे सर सरिता सकल में समुंद बड़ै
मेरु में सुमेरु बड़ै जगत बखान है।
तरवर विषै जैसे चंदन बिरख बड़े
धातु में कनक अति उत्तम कै मान है।
पंछिन में हंस मृगराजन में सारदूल
रागन में सिरी राग पारस पखान है।
ग्यानन में ग्यान अरु ध्यानन में ध्यान गुरु
सकल धरम माँहि त्यों गृहस्थ परधान है॥

३

विरहु बियोग सेत रूप होइ कृतास टूक
टूक भए पाती लिखिए बिदेस तें।
बिरहु अगनि सेस बानी मास कृस होइ
विरहनी भेख लेख विषम संदेस तें।
बिरहु वियोग रोग लखन की छाती फटी
रुदन करत लिख आतम अवेश तें।
विरहु उसासन प्रगासन दुखित गति
बिरहनी कैसे जिए बिरहु प्रवेस तें॥

११. रहीम कवि—जिसे भारतीय संस्कृति का विस्तृत व्याख्यान केवल कुछ-एक दिनों में जानने की अभिलाषा हो, वह रहिमन की रचनाएँ पढ़े, उसकी इच्छा पूरी होगी। एक साथ योधा, नीतिनिपुण, कृष्ण-भक्त, दानवीर, परम-रसिक और विद्वान् रहीम का पूरा नाम है – खानखाना नवाब अब्दुर्रहमान। रहीम का जन्म अकबर के सेनापति बैरमखाँ के घर सम्वत् १६१० विक्रमी सम्वत् लाहौर मे हुआ था। बचपन मे ही रहीम ने सम्राट् अकबर को अपने व्यक्तित्व और कवित्व—दोनों से प्रभावित कर लिया था। अकबर वयस्क होने पर उसे न केवल सेनापति, सखा और सचिव बना कर संतुष्ट हुआ, बल्कि उसे नवरत्नों में प्रमुख स्थान देकर कृतार्थ हुआ। रहीम की अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित है। कहते हैं, अकबर का दरबार लग रहा था कि गग कवि ने रहीम की प्रशंसा में एक छप्पय सुनाया—

चकित भँवर रहि गयौ गमन नहीं करत कमलबन,
अहिफन मनि नहिं लेत तेज नहिं बहत पवन घन।
हँस मानसर तज्यौ चक्क चक्की न मिलै अति,
बहु सुदरि पद्मनी पुरुष न चहै न करै रति।
खल भलित सेस कवि गंग भनि श्रमित तेज रवि रथ थक्यौ।
खानानखान बैरमसुवन जिदिन क्रोध करि तंग कस्यौ॥

बताया जाता है कि रहीम ने प्रसन्न होकर गंग को ३६ लाख रुपये पुरस्कार में दे दिए। तुलसी रहीम की मित्रता की बात साहित्य-जगत् में प्रसिद्ध है।[1] रहीम की दयालुता की एक दन्तगाथा और भी बतायी जाती है। कहते है, इनका सेवक छुट्टी पर घर गया हुआ था, पत्नी के अनुरोध करने पर भी नौकरी छूटने के भय से वह यथासमय उपस्थित हो गया। पर उस की पत्नी ने एक बरवै लिखकर भेज दिया जो रहीम तक जा पहुँचा : **प्रेम प्रीति कौ विरवा चल्यौ लगाय। सींचन की सुधि लीज्यौ मुरझि न जाय॥**

रहीम ने इसे पढ़ कर सेवक को लम्बी छुट्टी दे दी।[2]

रहीम की रचनाएँ—रहिमन सतसई, बरवै नायिका-भेद, रास पंचाध्यायी, शृंगार-सोरठा, मदनाष्टक, दीवान फ़ारसी, खेटकौतुक और वाक़यातेबाबरी।

---

१. तुलसी : नरतिय सुरतिय नागतिय अस चाहत सब कोय।
रहीम : गोद लिये हुलसी फिरै, तुलसी सौ सुत होय॥

२. स्रोत : कविता-कौमुदी (प्रथम भाग) । रामनरेश त्रिपाठी

धार्मिक दृष्टि से गोस्वामीजी की चौपाइयाँ, दोहे, छन्द आदि प्रसिद्ध हैं, सही है; पर रहीम के नीतियों और अनुभूतियों से परिपूर्ण दोहे जितने लोकप्रिय हुए हैं, उतने अन्य किसी दृष्टान्तवादी कवि के दोहे लोकप्रिय नही हो सके। रहीम-रचना ने अपने स्रष्टा की जीवन-गाथा को जितना स्वर दिया है, उससे कहीं अधिक लोक-जीवन को मुखर किया है। आज नौकरी चाहने वालों की कमी नहीं है, नौकरी में अपने अधिष्ठाताओं की कितनी लताड-झाड़ मिलती है, यह भी किसी से छिपा हुआ नही है; पर इस अप्रिय एवं विपरीत स्थिति का किसने रहीम जैसा सशक्त चित्रण—

रहिमन भैया भेंट सों, बहुत कह्यौ समझाइ।
जौ तू अनखाये रहे, कत कोऊ अनखाइ॥

इससे मिलता-जुलता एक पद्य और भी है, जिसमे कोटि-कोटि मानवों का दुःखभरा इतिहास सिमटा पड़ा है—

भलौ भयौ घर तें छुट्यौ, हँस्यौ सीस परि खेत।
काके काके नवत हम, अधम पेट के हेत॥

रहीम जन्म से मुसलमान थे, अगर वह इस्लाम पर निष्ठा व्यक्त करते हैं, तो इसमें क्या नवीनता होती? नवीनता तो इसमें है कि रहीम ने कृष्ण-भक्ति को इस्लाम से अधिक तरजीह दी है :

वाअ्ज़ का कहना है इस्लाम को देख।
यह ज़ुल्फ़ कहती है कि "इस लाम को देख॥"

रहीम के एक-एक दोहे में अनूठापन है, सरलता है, जीवन की व्यापक अनुभूति है और है रचयिता के व्यक्तित्व की पूरी छाप। संसारिक वृत्ति कवि ने जितनी उथल-पुथल देखी है, उसकी पूरी कहानी उसकी रची प्रति पंक्ति सुना रही है। रहीम के दोहों में व्योम-कुंजों में उड़ान वाली कल्पना नहीं है, पर मर्म में गहरी चुभने वाली व्यथा है; उनमे बुद्धिवाद का अखण्ड और व्यापक राज्य है, पर कोरी उपदेशजन्य रूक्षता नही है। दोहों में जितनी गहराई और व्यापकता है, उससे कहीं अधिक मसृणता और सुन्दरता है।

रहीम पर लक्ष्मी और सरस्वती की पूरी कृपादृष्टि रही है। भारतीय संस्कृति का इतना अच्छा प्रवक्ता हिन्दुओं ने भी पैदा नहीं किया। रहीम की भाषा अत्यन्त सुन्दर, सरल और मिष्ट है। उसकी कसावट मे भी शैथिल्य नहीं है। रचना—

जौ रहीम मन हाथ है मन साकित कहूँ जाहि।
जल में ज्यौं छाया परी, काया भीजति नाहि॥

तब ही लगि जीबो भलो दीबो परै न धीम।
बिन दीबो जीबो जगत हमहिं न रुचै रहीम॥
रहिमन दानि दरिद्रतर तऊ जाँचिबै जोगु।
ज्यों सरितन सूखा परै, कुवाँ खनावत लोगु॥
हरि रहीम ऐसी करी ज्यों कमान सर पूर।
खैंची अपनी ओर को डार दियो पुनि दूर॥
कहु रहीम कैसे निभै, बेर-केर को संग।
वे डोलत रस आपने, उनके फाटत अंग॥
नैन सलोनै अधर मधु कह रहीम घटि कौन।
मीठी भावै नौन पर, अरु मीठे पर नौन॥
जो रहीम ओछो बढ़ै, तौ तितही इतराय।
प्यादे तें फरज़ी भयो, टेढ़ो टेढ़ो जाय॥
ज्यों रहीम सुख होत है, बढ़त देख निज गोत।
बड़री आँखिन को निरखि आँखिन को सुख होत॥
रहिमन मन महाराज कै दृग सों नहीं दिवान।
जाहि देखि रीझै नयन मन तेहि हाथ बिकान॥

१२. **गुरु अर्जुनदेव**—'पंचम नानक' पद पर आसीन गुरु अर्जुनदेवजी धार्मिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक दृष्टि से क्रान्तिकारी गुरु सिद्ध हुए। आप गुरु अमरदास के दौहित्र एवं गुरु रामदास के आत्मज थे। आपका जन्म संवत् १६२०, मंगलवार, वैशाख-कृष्ण सप्तमी को हुआ। १८ वर्ष की आयु में आप गुरु-पद पर आसीन हुए और २५ वर्षों मे कई महत्त्वपूर्ण कार्य किये; यथा—

(१) आपने 'आदिग्रन्थ' का संकलन कर उसे अपने 'धर्म-ग्रन्थ' के रूप में प्रतिष्ठित किया। इसका धार्मिक महत्त्व इस बात से है कि आदि-ग्रन्थ के बाद कच्ची और सच्ची वाणी का अन्तर स्पष्ट हो चला और सिख-संगत के सामने निर्विकल्प निर्णय रखा गया। इसका राजनीतिक महत्त्व भी असाधारण सिद्ध हुआ। इससे पूर्वकालिक एवं समकालिक वैष्णवों, संतों तथा सूफ़ियों की रचना लेकर राष्ट्र-संग्रह की भावना का सूत्रपात भी हुआ। इसी एक नाते से ग्रन्थ-साहिब सार्वजनी न बन गया।

(२) अमृतसर का स्वर्णमन्दिर (हरमण्डल) भी आपने पूरा किया। यह मन्दिर (सिखतीर्थ) सिख-संगत की एकता का केन्द्र बन गया। पंजाब में उदय हो रही नयी संस्कृति को जिस स्फूर्तिप्रद केन्द्र की अपेक्षा थी, कहना न होगा

कि वह अपेक्षा इस स्वर्णमन्दिर से पूरी हुई। इससे बढ़कर एक बात और हुई। स्वयं गुरु अर्जुनदेव धर्म और राजनीति के संधिस्थल बन गए। गुरु अर्जुनदेव से पूर्ववर्ती चार गुरु विशुद्ध धर्मात्मा और ईश्वर-मूर्ति थे; और परवर्ती चार गुरु (गुरु हरगोविन्दजी, गुरु हररायजी, गुरु तेग़बहादुर तथा गुरु गोविन्दसिंह) धर्मात्मा तो थे ही, साथ राजनीतिज्ञ भी थे। गुरु-परिवार में राजशक्ति का अभ्युदय गुरु अर्जुनदेव से मानना चाहिए। यहाँ एक बात पर विचार करना अप्रासंगिक न होगा। अब तक गुरु-परिवार चार क्षत्रिय-परिवारों पर निर्भर था।[1] क्षत्रियों के सहज तेज पर 'भक्ति' का अस्वाभाविक आवरण चढ़ चुका था, जो शनैः-शनैः 'शक्ति' मे परिणत होता चला गया। इस भक्ति-जन्मा शक्ति का पूर्ण प्रभाव गुरु गोविन्दसिंह के जीवन में देखा जा सकता है। इस पूर्ण परिणत शक्ति का युगारम्भ गुरु अर्जुनदेव के तपस्वी जीवन से सम्बद्ध है—यह देखकर संतोष होता है।

अकबर के बाद जहाँगीर मुगल सम्राट् बना। उसका विद्रोही पुत्र खुसरो पंजाब में आकर स्वतन्त्रता के लिए यत्न करने लगा। यद्यपि जहाँगीर खुसरो को वश करने में कृतकार्य हो गया, तथापि उसका 'क्रोध' गुरु अर्जुनदेव पर आकर गिरा। पंजाब में आकर जहाँगीर ने गुरु अर्जुनदेव जी को बुला भेजा और दो लाख रुपया दण्ड भरने की आज्ञा दी तथा ग्रंथसाहिब से एक पंक्ति हटाने का निर्देश भी किया[2]। पर गुरुजी ने दोनों बाते अस्वीकार कर दीं। इसका परिणाम राजकोप के रूप मे प्रकट हुआ। पहले तो गुरुजी को बन्दी बना कर पाँच दिन तक निरंतर यातनाएँ दी गईं और जेट-सुदी चतुर्थी, सवत् १६६३ विक्रमी को यह शरीर छोड़ने के लिए विवश किया गया। आज भी इस तिथि को, जोड़-दा मेला, पर्व मनाया जाता है।

साहित्यकार के रूप में गुरु अर्जुनदेवजी का अपूर्व योगदान स्वर्ण-अक्षरों में अंकित किया जायेगा। गुरु-ग्रन्थ साहिब में पंचम नानक के पद सवा दो हज़ार से ऊपर हैं। आप पद-संख्या की दृष्टि से भक्तवर सूरदासजी से दूसरे स्थान पर आते है, उनके पद पाँच हजार से ऊपर हैं। बावन अखरी, बारहमासा, सुखमनी साहब—आदि आपकी कृतियाँ है। रचना में वही जानी-पहचानी राग-रागिनियाँ हैं—राग गउड़ी, सिरी राग, आसावरी, माँझ, गूजरी, देवगन्धार,

---

१. बेदी, चीना, भल्ला और सोढ़ी।

२. मिट्टी मुसलमान दी पैड़े पई कुँभार।

विहागड़ा, वडहंस सोरठा, धनासिरी, टोडी, बैराड़ी, तिलंग, सूही, बिलावल, गौड, रामवली, नटनारायण, मारु, तुखारी, केदार, भैरों, बसन्त, सारंग, मलार, कानड़ा, कल्यान, प्रभाती और जै जै वन्ती। गुरुजी की भाषा विशुद्ध ब्रज है।

विषय-विन्यास की दृष्टि से गुरु अर्जुनदेव के पद पढ़कर सामान्य पाठक भ्रम में पड़ सकता है। 'हरि', 'गोविन्द', नारायण' आदि शब्द देखकर इनकी वाणी में सगुण भक्ति की आशका की जा सकती है। तात्कालिक धार्मिक पृष्ठ-भूमि को देखकर इस आशका को निर्मूल भी नही बताया जा सकता ; कारण सूरदास, मीरा, नन्ददास तथा रसखान की सगुण वाणी के अमित तेज के सामने कबीर, दादू, मलूकदास और सन्त दरिया की वाणी मलिन पड़ने लगी थी। पर यह विचार पंजाब पर लागू न समझा जाए। कारण, सिखसंगत अबतक (गुरु नानकदेव से लेकर गुरु अर्जुनदेव तक) निर्गुण विचारधारा में परिपक्व हो चुकी थी। उसने बडे सघर्ष के बाद निर्गुण-पंथ का निर्वाचन किया था। अतः इस प्रसंग में सगुण-भक्ति सम्बन्धी आशंका निर्मूल ही समझनी चाहिए। ये सगुण भक्तिसूचक शब्द अनायास वैसे आ गये हैं, जैसे कि कबीर-वाणी में। अलबत्ता, कहीं-कहीं मधुर-भावना से स्फूर्त कई पद देखे जा सकते हैं; परन्तु वे पद निर्गुण भक्ति का अतिक्रमण तो नहीं करते, सूफियाना प्रेम-भक्ति की भी आंशिक झलक दिखा पाते हैं।

गुरुजी के जीवन से एक नयी परम्परा का सूत्रपात होता है। अर्थात् राज-सत्ता का आश्रय न मिलने से इधर-उधर निराश्रय घूमने वाले भाट प्रथम बार नव उदीयमान गुरुसत्ता के आश्रय में आये थे। गुरु गोविन्दसिंह के दरबार में तो दरबारी कवियों का तगड़ा जमाव हो चला था। इन भाटों की चर्चा पहले की जा चुकी है। इन भाटों में से 'कल्ल' की रचनाएँ अधिक हैं। उसने गुरु नानकदेव की प्रशस्ति में १०, गुरु अंगददेव की प्रशस्ति में ५, गुरु अमरदास की स्तुति में ९, गुरु रामदास के लिए १२ तथा गुरु अर्जुनदेव की प्रशंसा में ११ कवित कहे है।

रचना—

जाकी राम नाम लिव लागी।
सजनु सुहृद सुहेला सहजे सो कहिये बड़भागी॥
रहित विकार अलिप माया तै अहं बुद्धि विषु त्यागी।
दरस प्यास आस एक ही की टेक लिए प्रिय पागी॥

अंचित सोइ जागनु उठि बंठनु अंचित हसत बैरागी ।
कहु नानक जिनि जगतु ठगाना सु माया हरिजन ठागी ।।

(२)

माई री मन मेरो मतवारो ।
पेखि दयाल अनँद सुख पूरन हरि रासि पियौ खुमारो ।।
निरमल भयउ उजल जस गावत बहुरि न होवत कारो ।
चरन कमल सों डोरी राँचो भेटियौ पुरुष अपारो ।'
करु गहि लीने सरबसु दीने दीपक भयउ उजारो ।
नानक नामि रसिक बैरागी कुलहा समूह तारो ।।

(३)

राम राम राम राम जाप ।
कलिकलेस लोभ मोह बिनसि जाइ अहं ताप ।।
आयु त्यागी संत चरन लागी मन पवितु नहि पाप ।
नानक बारक कछु नहिं जानै राखन कौ प्रभु माइ बाप ।।

(४)

गावहु राम के गुण-गीत ।
राम जपत परम सुख पाइये आवागमनु मिटै मेरे मीत ।।
गुण गावत होवत परगासु चरन कमल महिं होय निवास ।
संत संगति मह होय उधारु नानक मौजल उतरसि पारु ।।

(५)

मेरे मन जप जप हरि नारायण ।
कबहु न बिसरहु मन मेरे ते आठ पहर गुन गायण ।।
साधू धूरि करौ नित मज्जन सभ किल्विष पाप गवाइण ।
पूरन पूरि रहे किरपानिध घटि-घटि दिसटि समाइण ।।
जाप ताप कोटि लख पूजा हरि सिमरण तूलि न लाइण ।
दुइकर जोरि नानक दान माँगै तेरे दासनिदास दासाइण ।।

१३. **हृदयराम भल्ला**—जो प्रसिद्धि उत्तरभारत में तुलसीकृत रामचरित-मानस को प्राप्त है, वही प्रसिद्धि हृदयराम भल्ला और उसकी कृति 'हनुमन्नाटक' को पंजाब में प्राप्त है। इसका अर्थ दो महाकवियों की तुलना इष्ट नहीं, अपितु पंजाब में व्याप्त हिन्दी-अनुराग या सगुण भावना अथवा साहित्य-अभिरुचि की सूचनामात्र है। 'हनुमन्नाटक' हिन्दू-सिख एकता का प्रतीक है; कारण, जनश्रुति

के अनुसार गुरु गोविन्दसिंहजी इस रचना को सदा अपने पास रखते थे। इसीसे आलोचको को अनुमान लगाने की प्रेरणा मिली कि कही हनुमन्नाटक[1] 'दशम ग्रन्थ' में उपलब्ध सगुण भक्ति-साहित्य का प्रेरणा-स्रोत तो नहीं रहा। इस अनुमान का एक आधार और भी है। वह यह कि गुरु अर्जुनदेवजी के दो विवाह हुए थे; उनका पहला विवाह वैक्रम संवत् १६३२ मे चन्दनदास खत्री की कन्या से सम्पन्न हुआ और दूसरा विवाह कृष्णचन्द भल्ला की कन्या गंगादेवी से संवत् १६४५ विक्रमी में हुआ[2]; हृदयराम ने भी अपने पिता का नाम कृष्ण-दास बताया है :

कृष्णदास तनुकुल प्रकाश जस दीपक रच्छन।

और इस विवाह मे मुख्य कार्य भाई गुरुदास (जो भल्लावंशीय होने से कृष्णदास के निकट सगोत्र थे) ने किया; अतः यह सम्भावना विचारणीय है कि हृदयराम की रचना को 'मातुलकृति' के नाते दशम गुरु गोविन्दसिंह अपने पास रखते होगे। पर जब तक ठोस तथ्य सामने न आ जाए तबतक इसे मात्र अनुमान ही मान सकते हैं। परन्तु हमारी इस स्थापना पर कि यह नाटक हिन्दू-सिख एकता का प्रतीक रहा है, उक्त अनुमान का कोई प्रभाव नही। संवत् १९७०-७५ तक पंजाब के अधिकाश गुरुद्वारों में इसकी कथा होती थी। आज भी हनुमन्नाटक के व्याख्याता सिख अधिक सख्या में है।

हृदयराम भल्ला ने अपना परिचय विशेष नही दिया; रचना के अन्त में इतना लिखा है कि संवत् सोलह सौ अस्सी (१६८०) मे, जहाँगीर के युग में, रचना समाप्त की। यथा—

संवत् विक्रम नृपति सहस खट सत असीह पर।
चैत्र चाँदनी दूज छत्र जहाँगीर सुभट पर।
शुभ लच्छन वच्छन सुदेस कविराय विचच्छन।
कृस्नदास तनुकुल प्रकाश जस दीपक रच्छन।
रघुपति चरित्र तिन यथामति प्रगट कह्यौ शुभ लगन गण।
वै भगति दान निर्भय करहु जै रघुपति रघुवंशमण॥

कहीं लिखित संकेत न मिलने पर भी जनश्रुति में इनका 'भल्ला' वंश प्रसिद्ध है ही। इसकी मात्र एक रचना बतायी जाती है—'रामगीत'।

---

१. (क) सिख इतिहास : ठाकुर देसराज, पृष्ठ ११२
(ख) गुरुशब्दरत्नाकर महान कोश : भाई कान्हसिंह, पृष्ठ १२९५

इस रामगीत के बारे में य अनुश्रुतियाँ चली आ रही हैं कि जहाँगीर ने खुसरो-विद्रोह के विपक्ष मे हृदयराम भल्ला को भी पकड़ लिया था। यह हनुमान के उपासक थे। कहते है कि हनुमान ने इन्हे रामगीत लिखने की प्रेरणा दी और जेल में लिखने की सामग्री भी जुटा दी। रामगीत समाप्त होते ही जेल के द्वार खुल गए और हृदयराम सकुशल घर पहुँचे। इस अनुश्रुति के साथ यह बात भी जुड़ी हुई है कि जहाँगीर ने इस 'रामगीत' को फारसी लिपि में लिखवाकर अपने पोथीखाने में रखवा दिया और शाहजहाँ ने यह प्रति गुरु हरगोविन्द महाराज को भेंट की। परम्परा से पोथी दशम गुरु के पास पहुँची और उन्होंने हंसराम नामक कवि द्वारा इसका संशोधन कराया। इसमे कुछ पद काशीराम के नाम से भी मिलते हैं।[1] इस प्रसंग में कवि 'कंकण' का नाम भी लिया जा रहा है। ये काशीराम और कंकण कवि कौन हैं, यह अभी तक ज्ञात नहीं हो सका। इस प्रसग मे पजाब के प्रसिद्ध हिन्दीसेवी योगी शिवनाथ पण्डित ने काशीराम को हृदयराम का वशधर बताया[2] है, जो असंभव प्रतीत नही होता। कुछ विद्वानों ने काशीराम को दशम गुरुजी के ५२ कवियो में गिनाया है, परन्तु प्रामाणिक ग्रंथों में उसका नामोल्लेख नही है। जो हो, काशीराम के विषय में अभी तक कुछ ज्ञात नही हो सका। कही अस्पष्ट शब्दों में 'मकरन्द' कवि का नाम भी आया है।[3] यद्यपि अत:साक्ष्य या बाह्य साक्ष्य से पुष्टि न मिलने पर भी रचना से यह सकेत अवश्य मिल जाता है कि रचना लिखवाने में कोई दैवी प्रेरणा अवश्य रही है।[4]

रचना का मौलिक नाम 'रामगीत' या 'रामचन्द्रगीत' है। पर चूँकि इस रचना का आधार संस्कृत का 'हनुमन्नाटक' है अत: अब यही नाम रूढ़ हो गया है, जबकि इसकी तुलना में रामचद्रिका पर भी उक्त संस्कृत नाटक की छाप है, पर उसे हनुमन्नाटक[5] नही कहा जा रहा। अस्तु; यह ठीक है कि 'हनुमन्नाटक' नामक संस्कृत-रचना की 'रूपरेखा' ही रामगीत की रूपरेखा है,

---

१. द्रष्टव्य हनुमन्नाटक : खेमराज श्रीकृष्णदास : अंक १, पद्य ८३ से ९४ तक

२. असली ते वडा हनुमान नाटक (गुरमुखी) : योगी शिवनाथ, भूमिका-पृष्ठ १

३. मकरन्द इहै जिय जानि मन साथ की है जाते कपिनाथ बूझबे की मन साथ की।

४. रामचन्द्रगीत तुम्है हैं सुनाइबो।

५. द्रष्टव्य आचार्य केशवदास : डा० हीरालाल दीक्षित, पृष्ठ १०८-१२०

कहि कंकन नैक भए दृग शीतल मंथन देख रघोथन को। —अंक ५, सवैया १६

पर वह सम्पूर्णतः उस पर आधृत नहीं है। दोनों रचनाओं की समान रूपरेखा इस प्रकार है—

अंक	हिन्दीछन्द-संख्या	गुरुमुखी[1] संस्करण	संस्कृत-छंद सं०	विषयवस्तु
पहला अंक	११५	११६	५८	जानकी स्वयंवर : सीताविवाह
दूसरा अंक	८६	८६	३०	रामचन्द्रवियोग : रामजानकीविलास
तीसरा अंक	१११	१०८	२७	कपटमृगागमन : मारीचागमन
चौथा अंक	१२	१२	१६	सीताहरण
पाँचवां अंक	६४	६३	६७	बालिवधोनाम
छठा अंक	११६	११६	४६	लंका-दहन : हनुमद्विजय
सातवाँ अंक	३४	५७	२०	सेतुबंध
आठवाँ अंक	११६	६४	५८	रावणांगद-संवाद : अंगदाधिक्षेप
नवाँ अंक	१२६	१२६	४१	मन्त्र्युपदेश : मन्त्रीवाक्यम्
दसवाँ अंक	६२	६२	२४	रावणप्रपंच
ग्यारहवाँ अंक	६६	६६	४१	कुंभकर्ण-वध
बारहवाँ अंक	५८	५८	१६	इंद्रजीत (मेघनाद)-वध
तेरहवाँ अंक	२७१	२७१	३८	लक्ष्मणजीवन : लक्ष्मण-शक्तिभेद
चौदहवाँ अंक	१४३	१६०	६६	रघुनाथराज्याभिषेक : श्रीरामविजय

दोनों नाटकों में प्रक्षिप्त पाठों की न्यूनता नहीं, अतः युक्तियुक्त तुलनात्मक अध्ययन कठिन हो गया है, पर फिर भी कतिपय उदाहरण निवेदित हैं, यथा—

संस्कृत :

यद्वा तद्वा भवतु न वयं ब्राह्मणेषु प्रवीराः। —संस्कृत हनु० १।४४

हिन्दी :

बैरी सर नाय और सुनो मुनिराय गाय बामन से लरिए तो पांय काके परिए। —पहला अंक कवित्त ८१

संस्कृत :

मातस्तातः क्व यातः, सुरपतिभवनम्, हा कुतः ? पुत्रशोकात् ।
कोऽसौ पुत्रः चतुर्णां त्वमवरजतया यस्य जातः किमस्य ।
प्राप्तोऽसौ काननान्तं किमिति नृपगिरा किं तथाऽसौ बभाषे ।
मद् वाग्बद्धः, फलं ते किमिह, तव धराधीशता, हा हतोऽस्मि ॥

---

[1] स्वर्गीय योगी शिवनाथ के अपने ग्रन्थ में क्षेपक पद्यों सहित छन्द-संख्या कुछ भिन्न है।

हिन्दी :

माता तात कहाँ ? पूत हैं सुरेश जहाँ,
तहाँ कौन काज ? गयो देह छूटी पूत पीर तैं।
कौनसो सपूत ? तुम सब हूँ तौ बड़ो भाई,
राम है सु कहाँ ? बन गए नृपतीर तैं।
भूपति पठायो ? नहीं माँगे वर पायो मैं तो,
राज तुम्हैं राखो छीन लीनो रघुवीर तैं।
कहा होई मोते, अब हौं ही गयो तो तैं,
तू जो पेट आश बौरी पाल्यो पूत डारी छीर तैं।

संस्कृत :

सार्धं हरेण हरवल्लभया च देव्या हेरम्ब-षण्मुख-वृषप्रमथावकीर्णम्।
कैलासमुद्धृतवतो दशकंधरस्य, केयं च ते धनुषि दुर्मद ! दोः परीक्षा ॥ १-१७

हिन्दी :

इन्द्र उमा दुरनानन और षडानन सों गनवृन्दन जेते।
वारनसिंह महीरुह ताल तमाल सरोवर और न केते ?
सो गिरिराज कलास उठाय लियो कर वाम डरो नहिं लेते।
जो भुज को बल तू नहिं जानत बूझते मूढ़ जुरे नृप एते।

संस्कृत :

मुग्धे ! सन्ति सलक्ष्मणाः कुशलिनः श्रीरामपादाः सुखम्,
सन्ति स्वामिनि ! मा विधेहि विधुरं चेतोऽनया चिन्तया।
एनां व्याहर मैथिलाधिपसुते नामान्तरेणाधुना,
रामस्त्वद् विरहेण कंकणपदं ह्यस्यै चिरं वर्त्तवान्॥

हिन्दी :

बूझत है ताहीसों संदेसो सिय बार-बार, मेरे प्रभु प्राणनाथ सुखसों रहत हैं।
लछिमन नीकै कहाँ छाड़ि कहा कह्यौ तोसों, मेरी सुध लेइबे को कहूँ रमहत हैं।

---

१. इसकी तुलना में केशवदेव का पद देखिये—

मातु कहाँ नृप ? तात गये सुरलोकहिं, क्यों ? सुतसोक लये।
सुत कौन सु ? राम, कहाँ है अबै बन लच्छन सीय समेत गये।
बन काज कहा कहि ? केवल मो मुख, तोको कहा सुख वामै भये ?
तुमको प्रभुता, धिक् ! तोको कहा अपराध बिना सिगरेइ हये॥

किधौं मेरे औगन विचारे है बिसार दीन्हीं, किधौं मेरे नाम ते उसानन भरत है।
बोले हनुमान इसे मुँदरि न कहैं मात, तेरे पाछे यासों राम कंकन कहत हैं ॥

संस्कृत :

युक्तमेव हि कैकेय्या यदहं प्रेषितो वनम्।
ईदशी यस्य मे बुद्धिः मृगः क्वाप हिरण्मयः ॥

हिन्दी :

कंचन कौ मृग बेद पुरान लिख्यौ न कहूँ न विरची न सँवार्‌यो।
ताहि के हेत चल्यौ तज नारि सु मैं मतिहीन कछू न बिचार्‌यो।
याही तें कैकयी मात करी सब नीत सुहै घर तें बन डार्‌यो।
राज के लायक है न महाजड़ यों कहिके रघुनाथ पुकार्‌यो ॥

इस प्रकार संस्कृत तथा हिन्दी हनुमन्नाटकों के पद्य पढ़कर निम्न निर्णय देने में कोई कठिनाई नहीं रह जाती कि—

(क) कहीं-कहीं पद्य का सीधा अनुवाद है।
(ख) कुछ पद्यों के अनुवाद में कवि ने छायामात्र ग्रहण की है।
(ग) कहीं एक श्लोक के पीछे ३-४ कवित्त-सवैये रचे गए हैं।
(घ) कहीं केवल एक पंक्ति लेकर समस्त श्लोक छोड़ दिया गया है।

इन सब बातों के अतिरिक्त कवि हृदयराम ने अपनी मौलिक भावना की कहीं भी क्षति नहीं होने दी। कथावस्तु, प्रबन्ध, छन्द, रस तथा कविदृष्टि—सबमें कवि का अपना व्यक्तित्व स्पष्ट है।

चरित्र-चित्रण में कवि ने अपनी शिल्पविधि का पूरा उपयोग किया है। उद्दण्ड स्वभाव में रावण, स्थित-प्रज्ञता में कैकेयी, सुतस्नेह में दशरथ, वीर-रस मे राम और मेघनाद सब-के-सब पात्रों के चरित्र-चित्र सफलतापूर्वक उरेहे गए हैं। उदाहरणार्थ सुतस्नेह में दशरथ का मनोविज्ञान-सम्मत क्षुब्ध स्वभावांकन अन्यत्र कहाँ मिलेगा ? यथा—

१. पौन चले रवि ज्यों जल में नृप कैकेयी के वर यों तरफायौ।
२. री सुन कैकेयी, हे सुन पापिनि हे सुन चण्डि डस्यौ सुख भारी।
खाय तँवार पर्‌यौ घर हा रवि, हा ससि हा सिव ! हा मुखचारी।
३. तेरोई पूत सुने यह बात पिशाचिनि गाउँ मैं पाऊँ न दै है।
४. नैन चुचात रहे निसिवासर जैसे रिसात रहै घट फूट्यौ। इत्यादि

कथावस्तु का निर्वाह अत्यन्त संयत और उपयोगी हुआ है। यद्यपि

हीं-कहीं (जैसे कि लक्ष्मण-परशुराम संवाद, अंगद-रावण संवाद) कथा-वस्तु को प्रवाहहीन देखकर आलोचक अँगुली उठा सकता है, पर हमें युग के रूढ़िवाद को सामने रखकर न्यायपूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। कथा का आरम्भ विश्वामित्र के आगमन के साथ हो जाता है। कवि ने गोस्वामी तुलसीदास की तरह 'कविजनोचित व्यावहारिकता' का प्रदर्शन कम ही किया है। सम्भवतः रचना के 'काव्यरूप' की विवशता हृदयराम के समक्ष रही है।

इस रचना को क्या कहा जाय? कौन-सा काव्यरूप दिया जाय?—यह प्रश्न भी कम उलझा हुआ नहीं है। यदि 'रामगीत' अथवा 'रामचन्द गीत' नाम पर विचार किया जाय तो ऊहापोह का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। पर कथावस्तु का 'अंक-विभाजन' तथा 'कथोपकथन' देखकर इसे 'गीतकाव्य' की अपेक्षा 'नाट्यगीत' कहना कहीं अधिक युक्त होगा। 'नाट्य कला' के साथ गद्य-पद्य की जो शर्त सुनायी पड़ती है, उसमें कोई अधिक वजन नहीं है; कारण, 'नाटक' अभिनय-सापेक्ष होते हैं, कोई गद्य-पद्य-सापेक्ष नहीं। इसी विचार को समक्ष रखकर 'विचित्र नाटक' तथा अन्य गीतिनाटकों पर विचार करना युक्त होगा। यही कारण है कि इसमें प्रकृति-चित्रण का अभाव है।

रस की दृष्टि से यह नाटक अति उत्तम है। अपने 'भक्तिभाव' की पूर्ण रक्षा करते हुए हृदयराम ने सभी रसों को उठाया और निभाया है। कतिपय उदाहरण—

हास्यरस :

श्री रघुवंश शिरोमणि को यह कीरति है किधौं दूती बखानौ।
आन दई कमला हरि को यहि बात सुनैं सुरलोक डरानौ।
जान यहै मुख चार किये बिधि शंभु रहे अजहू लपटानौ।
शक्र सहस्र किये चौंकि छहूमुख ब्याह कियौ न सयानौ॥

शान्तरस :

मैं घर कै सब सीस लई बतियां तुमरी अपने मन में।
अब देहु बिदा तुमहू तज मोह धरौं पग सीस चल्यौ छिन मैं।
घर बैठ रहौं सब लोक कहें—"अजहूँ मन राजसिंहासन में"।
सुन सोच कहौं तुमसों जननी तनु तो ठिग है, मन है वन में॥

शृंगार (विरहपक्ष) :

बाह करैं नभ मैं प्रजरैं न टरैं जिय सोच यही मुख देखैं।
और चकोर अँगार चुगै जिस सीतल जानसु कौन के लेखैं।

मानहु मौर पिया विष कंजन बूड़त है जलमाँहि परेखै।
नाउँ सुधाकर लोग कहैं कवि राम कहै तुम कौन के लेखै॥

हनुमन्नाटक का मूल्यांकन करते हुए डाक्टर हरिभजनसिंह ने लिखा है : "हनुमन्नाटक बड़े ऐतिहासिक महत्त्व का ग्रन्थ है। विषम-वस्तु (रामकथा), दृष्टिकोण (सगुण भक्ति), काव्यरूप (प्रबन्ध ?), भाषा (परिनिष्ठित ब्रज), छन्द (कवित्त-सवैया) आदि में यह दशम ग्रन्थ का अग्रणी है।'''दशम ग्रन्थ से पूर्व उसकी विषयवस्तु और शैली से सम्बन्धित परम्परा की स्थापना हो चुकी थी। हनुमन्नाटक उसका प्रमाण है[1]।"

रचना—

(१)

मो विनती अहिनाथ कहै विधि ! हौं बिन कानन काहे तैं कीनौ।
हौं तौ डस्यौ सुनि बात फनिन्दै डगं सिर नेकु फुटै पुर तीनौ।
है कहु कौन सुने यश राम कौ सीस कँपाय के श्वास न लीनौ।
हौं श्रम कै त्रय लोक रचै तुहि ऐसे ही जान तुही सिर दीनौ॥

(२)

काढ़ी कसीस लगी करकी करकी छिटकी कमठी करकी।
अरि की छतियाँ दरकी फरकी छुटी जोग जुटी अखियाँ हर की।
पल की खटकी हरि की विधिनीर धराधर की अहि ऊपर की।
भई चाप धुनी सुमहा डर की भरकी भटभीर स्वयंबर की॥

(३)

सातों सिन्धु सातों लोक सातों ऋषि हैं सशोक
सातों रवि घोर जोरे देख्यौ न डरात मैं।
सातों द्वीप सातों ईत कांप्यौई करत और
सातों मत 'राम' दिन आन है न गात मैं।
सातों चिरंजीव उठे बरराइ बार-बार
सातों सुर हाय-हाय होत दिनरात मैं।
सातहु पताल काल सबद कराल राम
मेटे सात ताल चाल परी सात-सात मैं॥

---

१. 'गुरमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी-काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन' हरिभजनसिंह, पृष्ठ २६८

१४. **कृपाराम**—पंजाब के साहित्य की चर्चा करते हुए मुहम्मद अकबर ने अपने ग्रन्थ 'दी पंजाब अण्डर दी मुगल्स' में इस बात की ओर संकेत किया है कि कृपाराम पंजाबी है।[1] पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा अन्य इतिहासकारों ने इस पर प्रकाश नहीं डाला। डा० रामकुमार वर्मा ने उसके विषय में लिखा है—"हिन्दी साहित्य में रीतिशास्त्र पर यह पहला सफल ग्रंथ उपलब्ध है। है। इसीलिए 'हिततरंगिणी' के साथ कृपाराम का विशेष महत्त्व है। भाषा भी बहुत सुथरी और मँजी हुई है। इनके दोहे बिहारी के दोहों से किसी प्रकार भी भाव-व्यंजना में कम नहीं है। 'हिततरंगिणी' हिन्दी साहित्य का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है।[2] अभी तक 'आचार्यत्व' का अनुसंधान करने वाले प्रत्याशियों का ध्यान इधर आकर्षित नहीं हुआ। इनका मूल्यांकन करना अभी शेष है। कृपाराम का रचनाकाल १५९८ वै० सं० बताया जा रहा है।

रचना।

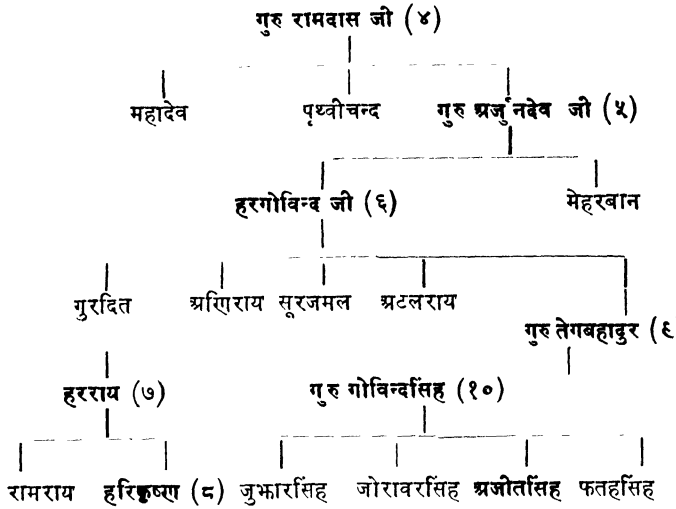
लोचन चपल कटाच्छ-सर अनियारे विषपूरि।
मनमृग बेधे मुनि न के जगजन सहत बिसूरि॥
आजु सबाटे हौं गई नन्दलाल हित ताल।
कुमुद कुमुदिनी के भटू निरखे औरे हाल॥
पति आयो परदेस तें ऋतु बसंत के मानि।
झमकि-झमकि निज महल मैं टहलै करैं सुरानि॥
सिधि निधि सिव मुख चन्द्र लखि माघ सुदी तृतियासु
हित तरंगिणी हौं रची कवि हित परम प्रकासु॥

१५. **गुरु तेगबहादुर**—अपने दादा गुरु अर्जुनदेव जी के गुणों में से भक्ति, शक्ति, विद्या, धैर्य तथा बलिदान का प्रतिनिधित्व करने वाले, गुरु हरगोविन्द जी के आत्मज गुरु तेगबहादुर जी का जन्म विक्रमी सं० १६७८ की माघ-सुदी द्वितीया को हुआ। इनकी माता का नाम नानकी था। सोढ़ी वंश-क्रम इस प्रकार है। यथा—

---

१. उसने अपनी पुस्तक के पृष्ठ २७८ में लिखा है—
"हिततरंगिणी नाम की उसकी रचना एक अद्वितीय ग्रन्थ है। इसकी शैली बहुत ही शोभायुक्त और इसकी शब्दावली बहुत ही मनमोहक है।
—(पंजाब का इतिहास : कृपालसिंह नारंग, पृष्ठ २१५)

२. हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डा० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ ५८९



सोढ़ी वंश की शाखाएँ आज तक विद्यमान हैं। इसे ऐतिहासिक आश्चर्य ही समझना चाहिए कि जो बातें या विशेषताएँ हम गुरु अर्जुनदेव में पाते हैं, वही बातें वा विशेषताएँ गुरु तेगबहादुर जी में हैं; यथा—

(क) जहाँगीर ने गुरु अर्जुनदेव जी को बलिदान के लिए विवश किया; जहाँगीर के पोते (औरंगजेब) ने गुरुजी के पोते को बलिदान के लिए विवश किया।

(ख) पंचम गुरुजी द्वारा आदिग्रन्थ का सम्पादन उनके ही पोते द्वारा सम्पन्न हुआ।

(ग) दोनों ही गुरु अपने भाइयों में सबसे छोटे थे और योग्यता के बल पर गुरु-पद पर आसीन हुए थे।

(घ) दोनों गुरुओं का साहित्य-पक्ष असाधारण था।

(ङ) पारिवारिक संघर्ष दोनों के सामने आये। इत्यादि।

गुरु तेगबहादुर बचपन से ही शान्त स्वभाव के थे और ईश्वर के भजन में लीन रहा करते थे। गुरुजी अपने भतीजे (गुरु हररायजी) तथा भाई के पौत्र (हरिकृष्ण गुरु) के बाद संवत् १७१८ विक्रमी में गुरु-पद पर शोभायमान हुए। अपने पारिवारिक कुचक्रों से बचकर अपनी प्रकृति के अनुरूप आप

आनन्दपुर जा बसे थे। आपने तीर्थ-यात्राएँ भी की। कहते है अपका कोट तथा जूता अभी तक बनारस में सुरक्षित रखा है।

जयपुर के मिर्जा जयसिंह ने गुरुजी से प्रस्ताव किया कि कामरूप के राजा के विरुद्ध सम्राट् औरंगजेब की सहायता कीजिए; गुरु महाराज ने यह प्रार्थना स्वीकार की और कामरूप की तरफ चल पड़े।[1] कामरूप के राजा से सम्मान-पूर्वक समझौता कराने के बाद जब गुरु जी पटना आये तो उन्हें बालक गोविन्दराय के जन्म का समाचार मिला। दुर्भाग्य की बात है जिस औरंगजेब की सहायतार्थ नवम नानक कामरूप तक गये थे, उसी क्रूर औरंगजेब ने गुरु जी का बलिदान ले लिया। फलतः संवत् १७३२ को गुरु जी ने नश्वर शरीर छोड़कर मुगल सम्राट् की जड़ें खोखली कर दीं।

गुरु जी की रचनाएँ आदि ग्रंथ मे महला सं० ९ के अतरग संगृहीत हैं। आपकी भाषा साहित्यिक परिनिष्ठित ब्रज है। गुरु अर्जुनदेव जैसी कोमल भावुक वृत्ति के भण्डारी नवम नानक की रचनाएँ भी उच्च कोटि की हैं। गुरु जी का उपदेश है कि संसार को अनित्य मानकर स्वयं निरभिमान, सत्य-परायण रहकर सेवक-जैसा जीवन बिताया जाय। संसार की आशा-निराशा की लड़ाई में बराबर परास्त होते हुए मानव को गुरु जी ने ललकारा है और कहा है--"ना हरि भजे न तीरथ सेए, चोटी काल गही"। दुःख को दुःख मानने में वह अधिक कष्टदायक सिद्ध होता है, अतः मनोविज्ञान का अवलम्बन लेकर उपदेष्टा गुरु जी ने ठीक कहा है—"जो नर दुख को दुख नही मानता, उसकी सभी कठिनाइयाँ सहल हो सकती है।"

गुरु तेग़बहादुर मे नानक-जैसी निरंकारी मस्ती, दादा-जैसी सहनशीलता, त्याग, पिता-जैसी तेजस्विता—सब मिलकर अद्भुत व्यक्तित्व का विकास हुआ। आपकी रचनाएँ अलौकिक अनुभूतियों का महान् कोश है, भक्ति का उच्छल स्रोत है, ज्ञान का विमल प्रकाश हैं और है वाक्शक्ति का मधुर प्रयोग। यद्यपि गुरुजी की वाणी पंजाबीपन से सर्वथा मुक्त ब्रजभाषा है, पर उसमें खड़ी बोली की झाँकी देखी जा सकती है।

रचनाएँ :—

संग सखा सब तजि गए, कोउ न निभयो साथ,
कहु नानक या विपद में, टेक एक रघुनाथ।

---

१. इसका आंशिक समर्थन कृपालसिंह नारंग-कृत 'पंजाब का इतिहास' (पृष्ठ १४८) से हो जाता है।

गुन गोविन्द गायो नहीं, जनम अकारथ कीन,
कहु नानक हरि भजुमना जिह बिधि जल कौ मीन।
बिरध भयौ सूझै नहीं काल पहुँचिओ आन,
कहु नानक नर बावरे क्यौं न भजै भगवान।
सभ सुख दाता राम है, दूसर नाहिन कोइ,
कहु नानक सुन रे मना तिह सिमरत गति होइ।
सुख दुख जिह परसै नहीं लोभ मोह अभिमान,
कहु नानक सुन रे मना सो मूरत भगवान।

(२)

जो नरु दुःख में दुःख नहिं मानै।
सुख सनेह अरु भय नहिं जाकै कंचन माटी जानै॥
नहिं निन्द्या नहिं अस्तुति जाकै लोभ मोह अभिमाना।
हरख सोग से रहै नियारऊ नाहिं मान अपमाना॥
आसा मनसा सगली तिआगे जग ते रहै निरासा।
काम क्रोध जिह परसे नाहिन तिह घट ब्रह्म निवासा॥
गुर किरपा जिह नर कौ कीनी तिह इह जुगती पिछानी।
नानक लीन भयौ गोविंद सौं ज्यों पानी संग पानी॥

(३)

हरि के नाम बिना दुख पावै।
भगति बिना सहसा नहिं चूकै गुर इह भेद बतावै॥
कहा भयउ तीरथ व्रत कीए राम सरनि नहिं आवै।
जोग जाप निहफल तिह मानौ जौ प्रभुजसु बिसरावै॥
मान मोह दोनों कऊ परिहरि गोविन्द के गुन गावै।
कहु नानक इह बिध कौ प्रानी जीवन मुक्त कहावै॥

१६. **रामचन्द्र**—सेतपाल-ज्ञातीय मुल्तान निवासी रामचन्द्र की केवल एक रचना उपलब्ध हुई है—'नलदमयन्ती'। कवि ने अपनी कृति में अपना परिचय विशेष नहीं दिया, पर इतना बता दिया है कि वह वैक्रम संवत् १७२१

---

१. रामचन्दद्विज कथा सुनि बहि संस्कृत। करि भाषा तिनि बँधि ताकी शुद्ध मत।
सितृपाल तिहि जाति (सेतपात) बसे मुलतान में···।

में रचना समाप्त कर रहा है ; यथा—

सत्तरह सै इकीसवें भाद्रव मास पुनीत ।
कथा सफल पूरन भई हर्ष भयो सुनि चीत ।।

यद्यपि रचना की वस्तु प्राचीन एवं पुराणगत है, तथापि इसे पंजाब के प्रेमाख्यानों में प्रमुख स्थान दिया जा सकता है। यह और बात है कि उस पर सूफ़ियाना रंग-ढंग न लादा जा सके, परन्तु हीर-राँझा, शुकरंभा-संवाद, सस्सी-पुन्नू तथा कथा-कामरूप आदि हिन्दी (ब्रज-भाषा) प्रेमाख्यानों में प्रथम स्थान दिया जाना चाहिए।[1] भाषा मँजी हुई एव उच्छल है। रचना का नमूना देखिये—

प्रथम सिमर गजवंत, चंदजुतसुत सुख कारन ।
लंबोदर अहिकंठ सकल सुख शोक निवारन ।
नाम प्रताप अनंत गवर सुत बुद्ध प्रकासन ।
परशु हाथ अतिविमल ठउर शुचि ताहि निवासन ।।

इनका एक चिकित्सा-ग्रन्थ भी बताया जाता है । शेष सब अज्ञात है ।

१७ गुरु गोविन्दसिंह—सोढी वश-भूषण, गुरु-परम्परा की दशम ज्योति गुरु गोविन्दसिंहजी का जन्म गुरु तेगबहादुर के घर १७ पौष, संवत् १७२३ विक्रमी में, पटना में हुआ । उस समय गुरु तेगबहादुर आसाम की यात्रा पर गये हुए थे और माताजी आपने भाई कृपालचन्द के पास ठहरी हुई थीं। गुरुजी का बाल्याकाल पटना में ही बीता। आठ वर्ष की आयु में आप पंजाब पधारे एवं एक वर्ष के अन्दर-अन्दर पिता के बलिदान के उपरान्त गुरु-गद्दी पर आसीन हुए। शीघ्र ही गुरुजी ने अपना धार्मिक एवं राजनीतिक गठन आरम्भ कर दिया। पड़ौसी पहाड़ी हिन्दू राजाओं के साथ छोटे-मोटे युद्धों के अतिरिक्त मुग़लों से दो-तीन बड़े पैमाने पर युद्ध किये। जिसमें आनन्दपुर-युद्ध और चमकौर के युद्ध प्रसिद्ध हैं। गुरुजी के चार पुत्ररत्नों में से दो युद्ध मे और दो बलिदान मे अमर हो गए। इस प्रकार धार्मिक तथा राजनीतिक संकटों में देश का नेतृत्व करते हुए गुरु गोविन्दसिंहजी संवत् १७६५ विक्रमी में गुरुधाम सिधार गए। गुरुधाम जाने से पूर्व गुरुजी ने दो महान् कार्य किये—

(क) खालसा पंथ की (संवत् १७५६ विक्रमी) स्थापना।

(ख) ग्रन्थसाहिब को गुरुपद पर आसीन करना।

---

१. रचना लेखक के पास सुरक्षित है।

गुरुजी का युग क्रान्ति-युग था और उनका जीवन स्वयं क्रान्तिकारी था। उस समय सभी प्रकार से साहित्यिक-धार्मिक प्रवृत्तियों में शिथिलता आ रही थी और रीतिकालीन विलासिता का श्रीगणेश हो चला था। इस सन्धिकाल में गुरुजी का आगमन स्वयं एक चमत्कार था। पंजाब में जिन भक्तों, राजाओं तथा साहित्य-सेवियों का अविर्भाव हुआ, उन सब में से विलक्षण व्यक्तित्व लेकर आनेवाले दशम गुरु साहब अपने उदाहरण आप ही है। जो भावुक सूर्य की तेजस्विता और चन्द्रमा की शीतलता को एक साथ देखना चाहे, और जो अग्नि-वरुण को गलबहियाँ डाले देखना चाहे, तो गुरुजी का जीवन-चरित पढ़े और दशम ग्रन्थ का पाठ करे। गोस्वामीजी ज्ञानी व महात्मा अवश्य थे, पर वे योद्धा नही थे; चन्द बरदायी कवि और योद्धा तो थे, पर वह सन्त नही थे; ऊँचे दर्जे के योद्धा और नीतिज्ञ, उपमा-विहीन ज्ञानी व सन्त तथा सर्व श्रेष्ठ कवि और साहित्यकार श्रीगुरु गोविन्द के समान अन्य कौन है?

गुरुजी का जीवन स्वयं एक महाकाव्य है; कोई भी अल्पमति उसे लेखनी-बद्ध करले तो उसे महाकवि की पदवी अनायास मिल सकती है।

गुरुजी की साहित्य-चर्चा में दो बातें बतायी जाती है। पहली यह कि उन्होंने अपने दरबारी कवियों से भारतीय संस्कृति पर अनेक ग्रन्थरत्नों की रचना करायी, जो सघीभूत रूप मे नौ मन से ऊपर थी और उसका नाम रखा गया—'विद्याधर'। दूसरी यह कि उन्होने स्वयं भी लिखा; और जो लिखा वह एक संग्रह मे है एवं उसका नाम है 'दशम ग्रन्थ'। दशम ग्रन्थ मे निम्नलिखित रचनाएँ सम्मिलित है—

१. **जाप साहब**—इसमे स्तोत्र-शैली पर ईश्वर के नाना गुणवाचक नाम दिये गए हैं। 'विष्णुसहस्र नाम' के ढंग की यह रचना ईश्वर के निर्गुण रूप को ही अधिक स्पष्ट करती है।

२. **अकाल-स्तुति**—यह भी एक तरह से निर्गुण ईश्वर का स्तुतिग्रंथ है।

३. **विचित्र नाटक**—दशम गुरुजी ने इसमें एक तो अपने पूर्वजन्म की कथा बतायी है और अपने वर्तमान जीवन का उद्देश स्पष्ट किया है।[1]

४. **चौबीस अवतार**—इसमे विष्णु भगवान् के चौबीस अवतारों का निरूपण है। ब्रह्मावतार तथा रुद्रावतार के कथानक इनसे पृथक् है और उन्हें

१. मूल रचना को देखने से पता चलता है कि चौबीस अवतारों की वार्ता भी 'विचित्रनाटक' के अन्तर्गत है। प्रत्येक प्रसंग के अन्त में लिखा है "इतिश्री विचित्रनाटक" इत्यादि; पर हम उसे यहाँ पृथक् ही लिख रहे हैं।

भी विचित्र नाटक के अन्तर्गत रखा गया है।

५. **चण्डीचरित्र**—यह 'दुर्गासप्तशती' का ओजस्वी भाषा में अनुवाद है।

६. **चंडी दी वार**—यह दुर्गासप्तशती का पुनरनुवाद है। इसे मात्र धार्मिक रचना न मानकर, वीरकाव्य की एक कड़ी मान सकते हैं।

७. **ज्ञान-प्रबोध**—इसमें फोटक धर्म की कटु आलोचना के साथ-साथ ईश्वर की व्यापकता, निराकारता, संसार की नश्वरता, देवतावाद का उपहास तथा व्रत-तीर्थ आदि का खण्डन है।

८. **शब्द हज़ारे**—इसमें भी ज्ञान-प्रबोध की तरह सत्यधर्म का प्रतिपादन है।

९. **तेती सवैये**—इसमे वैदिक धर्म तथा इस्लाम की आलोचना है।

१०. **शस्त्र नाममाला**—इस ग्रन्थ को एक तरह से हिन्दी का 'संक्षिप्त धनुर्वेद' कह सकते है। गुरुजी ने इसमे अपने समय के शस्त्रों की सूची एवं उनके पर्याय दिये है।

११. **पख्यान चरित्र**—इसमें ४०४ प्रेमाख्यान अथवा स्त्री-चरित्र-विश्लेषक कथाएँ है। इसकी एक-एक कथा स्वतन्त्र काव्य है।

१२. **ज़फ़रनामा**—औरंगजेब को लिखा गया पारसी भाषा में एक पत्र।

१३. **हिकायत नामा**—एक पारसी कविता।

दशम गुरुजी की इन रचनाओं के अतिरिक्त एक अन्य रचना भी चर्चा का विषय बनी हुई है, जिसका नाम है—सरब लोह प्रकाश। परन्तु अभी तक वह प्रकाश में नही आयी। सिख-रिफ़ैन्स लाइब्रेरी, अमृतसर में दशम पातशाह के के नाम से अंकित 'श्रीमद्भगवद्गीता' भी विद्यमान है। अमृतसर की प्रति देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि वह किसी गोविन्दसिंह उदासी की रचना है; दशम गुरु की नही।

इस महाग्रन्थ का अथवा ग्रन्थसमूह का नाम क्या हो, इस पर काफी विवाद हैं। कुछ विद्वानों ने अन्तःसाक्ष्य के बल पर इसका नाम 'दशम ग्रन्थ' स्थापित किया है। यह वास्तव में "उतार खासे दस्तखत का। पातिशाही १०।" के आधार पर अनुमान है और दशम गुरु के नाम पर 'दशम ग्रन्थ' रखा प्रतीत होता है। अपनी राय में इस समूचे ग्रन्थ का नाम 'विचित्र नाटक' होना चाहिए और इसे गेयरूपकों में महत्त्वपूर्ण स्थान देना चाहिए।

'दशम ग्रन्थ' का कर्ता कौन है—इस प्रश्न पर अभी तक मतभेद बना हुआ है। एक पक्ष का कहना है कि समस्त रचना दशम गुरुजी की कृति है। इस पक्ष में

डॉ० धर्मपाल आष्टा, डॉ० हरिभजनसिंह तथा अन्य विद्वान् हैं ; दूसरे पक्ष का कथन है कि रचना का कुछ अंश गुरुजी की कृति है और शेष ग्रन्थ उनके दरबारियों की समर्पित-रचना है। इस पक्ष में हैं—कनिंघम, मैकालिफ, डॉ० मोहनसिंह, डॉ० गोकुलचन्द नारंग, शमशेरसिंह अशोक तथा ज्ञानी हरनामसिंह 'वल्लभ'। दोनों पक्षों की तर्क-पद्धति देखकर कोई भी इतिहासकार ऐकान्तिक निर्णय मे अपने-आपको विवश ही पायेगा; पर वह अपने निर्मम इतिहास-धर्म के अनुसार दोनों पक्षों का—दोनों के बलाबल की परीक्षा किये बिना—दिग्दर्शन अवश्य करायेगा।

दशन गुरुजी की रचना नहीं—

कनिंघम ने इस पुस्तक के अधिकतम अंश को उनके चार दरबारी कवियों की कृति माना है। उसने 'राम' और 'श्याम' का उल्लेख स्पष्ट शब्दों में किया। हमारा अनुमान है कि कनिंघम को परयान-चरित्र तथा हिकायतनामा पर अधिक आपत्ति है।[1]

मैकालिफ़ ने यद्यपि इस रचना को दशम गुरु की कृति नही माना, पर उसने जो तर्क दिया है वह अपने-आप में इतना बलिष्ठ नहीं है कि उसके बल पर कोई आधारबद्ध निर्णय दिया जा सके। उसके अनुसार, भाई मनीसिंह के देहान्त के बाद सिख समाज तलवण्डी या दमदमा में सम्मिलित हुआ और इस आधार पर कि दशम गुरु की जो रचना आदिग्रन्थ जैसी अध्यात्मिक रचना नही है, निर्णय दिया कि उसे पृथक् लिखा जाय। इसमें पहली आपत्तियोग्य बात यह है कि भाई मनीसिंह जी के जीते-जी यह प्रश्न क्यों न उठाया गया ? दूसरा यह कि ये जिनकी रचनाएँ थीं, इन्हें उन्हीं के नाम से अंकित क्यों न किया गया ? खैर, मैकालिफ ने जिस घटना का उल्लेख किया है, उसका ऐतिहासिक मूल्य तो है, वह निर्णयद्योतक ठोस आधार नहीं है।

डाक्टर मोहनसिंह ने भी परयान चरित्र को राम और श्याम की रचना बताया है।

ज्ञानी हरनामसिंह वल्लभ ने 'पजाबी दुनिया' के जुलाई १९६० के अंक में जो तर्क देकर गुरु जी के कर्तृत्व से इनकार किया है, वह अपने-आप में बड़ा सशक्त है। उन्होंने लिखा है : "दशम ग्रन्थ में इन चरित्रों का जो क्रम चलता है,

---

१. कनिंघम : सिख इतिहास, पृष्ठ ३५१

उससे भाई मनीसिंह वाली उपर्युक्त चरित्रावली की पोथी या किसी अन्य ३०३ चरित्रावली पोथी का सूत्र मिलता है। उसको इस प्रकार समझा जा सकता है— दशम ग्रन्थ में इन चरित्रों को उतारने वाले लेखक के सामने चरित्रों की कोई ऐसी हस्तलिपि रखी है, जिसमें भगवती का पहला चरित्र नहीं है; पर लेखक के पास यह अलग से लिखा है, जिसे वह इन चरित्रों की लड़ी में सबसे प्रथम शामिल करना चाहता है। सो वह इसी तरह करता है। अन्त में इसे 'इतिश्री' के गद्य में 'प्रथम चरित्र' करके लिखता है। अब वह अपने सामने रखी चरित्रों की हस्तलिपि से उतारना आरम्भ करता है, तथा इस पोथी से जब पहले चरित्र उतार लेता है तो ज़रूरी हो जाता है कि इस हस्तलिपि के पहले चरित्र को अपने उतारे हुए 'इतिश्री' में दूसरा चरित्र करके लिखे, सो वह ऐसे ही करता है। इसी क्रम से वह हस्तलिपि का दूसरा चरित्र 'दशम ग्रन्थ' में तीसरा चरित्र कर के लिखा जाता है। ऐसे ही तीसरे को चौथा, चौथे को पाँचवाँ और पाँचवें को छठा करके लिखते। जब लेखक इस हस्तलिपि के दसवें चरित्र को 'ग्यारहवाँ चरित्र' करके लिखता है तो यह भेद खोलने के लिए यह पुस्तक अपने इस दसवें चरित्र के आरम्भ में इस प्रकार बोल पड़ती है—

बहुरि मन्त्रिवर राय मैं भेद कह्यौ समझाइ।
सभा बिखै भाखत भयौ दसमी कथा बनाइ॥
(दशम ग्रन्थ : चरित्र ११)

सारांश यह कि इस प्रकार उपर्युक्त दोहे के अनुसार असली हस्तलिपि के दसवें चरित्र को 'दशम ग्रन्थ' की 'इतिश्री' के साथ ग्यारहवाँ चरित्र करके लिखा है।

इसी तरह जब हम दशम ग्रन्थ के ३७वें चरित्र पर पहुँचते हैं, तो उसके आरम्भ में यह दोहा पढ़ते हैं—

नर चरित्र नृप के निकट मन्त्री कहा बिहार।
तबै कथा छत्तीसवीं इह बिधि करी सुधार॥
(दशम ग्रन्थ : चरित्र ३७)

अर्थात् यह चरित्र तो अपने-आप को असली हस्तलिपि के अनुसार चरित्रों की छत्तीसवी कथा कह रहा है. पर 'दशम ग्रन्थ' का लिखारी अपनी 'इतिश्री' में इसे भी 'सैंतीसमो चरित्र' करके लिखता है। इससे सिद्ध हुआ कि 'भगवती' वाला पहिला चरित्र असली पोथी में नहीं था, बाद में दशम ग्रन्थ में इसे

शामिल किया गया है।"

इस प्रकार अन्य अनेक तर्क तथा प्रमाण जुटाये जा रहे हैं।

दशम गुरु जी की रचना है

इसके विपरीत गुरुजी के कर्तृत्व को सिद्ध करने वाले 'तथ्य भी कम नहीं हैं। दशम ग्रन्थ पर आपत्ति का मुख्य कारण 'पख्यान चरित' है, परन्तु उसके बारे में एक आध्यात्मिक निर्णय उल्लेखनीय है। भाई कान्हसिंह ने तथाकथित घटना को स्मरण किया है। तदनुसार दमदमा साहब में सिखों की सभा में विचार हो रहा था कि 'दशम ग्रन्थ' में पख्यान चरित शामिल किया जाय या नहीं। इतने में सरदार महताबसिंह सेना सजाकर अमृतसर जाते हुए दमदमा साहब रुके, और उन्हें ज्ञात हुआ कि 'दशम ग्रन्थ' रचना के विषय में विवाद चल रहा है। तभी सरदार जी ने एक आध्यात्मिक निर्णय दिया कि यदि मैं अमृतसर मस्ता रांगरा को विजय करके वापस आया तो इस रचना को यथावत् रहने दिया जाय, अन्यथा नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सरदार जी की अपूर्व विजय से साध-संगत ने श्री दशम गुरु के विषय में सुखद निर्णय कर डाला।[1] यद्यपि इस घटना को इतिहासकार कुछ भी महत्त्व देना पसन्द न करेगा, परन्तु इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि आज से दो सौ बीस वर्ष पूर्व (१७९७ वै० सं०) इस पर चर्चा चल चुकी है। और सिख समाज में श्रद्धा के बल पर ऐसे प्रश्न हल किये जाते थे।

दूसरे, आष्टा महाशय ने सरदार केसरसिंह छिब्बर की 'बंसावली नामा दसा पातसाहियाँ को' उल्लेख करते हुए उसका एक उद्धरण दिया है : "छोटा ग्रन्थ जी जनमे साहिब दसवें पातसाह के धाम। समत सतरां सै पचवंजा बहुत खिडावे लिखादे नाम।" इत्यादि। केसरसिंह छिब्बर का महत्त्व इस बात से है कि आप गुरु तेगबहादुर के साथ बलिदान होने वाले भाई मतिदास के वंश में से है। और छिब्बरवंशावली सदा से गुरु-परिवार के दरोगा-पद पर आसीन रही। भाई गुरुबक्शसिंह अमृतसर में दरबार साहिब के दरोगा थे और केसरसिंह आरम्भिक जीवन में गुरुपत्नी माता सुन्दरी जी के आश्रय में था।[2] केसरसिंह के वंशावलीनामा को प्रमाणित करने के लिए उसमें सम्वत् का उल्लेख महत्त्वपूर्ण हो सकता है।

तीसरे, भाई हरनामसिंह जी वल्लभ के पास भाई मनीसिंह का वह ऐति-

---

१. गुरुमतसुधाकर : भाई कान्हसिंह, पृष्ठ ३५

२. द्रष्टव्य : परिशिष्ट १८

हासिक पत्र है, जिसमें लिखा है : "पोथियाँ जो भंडारसिंह दे हत्थीं भेजी थीं उन्हां विच साहिबां दे ३०३ चरित्र पाख्यान दी पोथी जो है सो सोहांसिंह नूँ महल विच देवणी जी। नाममाला पोथी दी खबर अभी मिली नहीं।" इत्यादि[1]।

चौथा 'सोधक कमेटी दशम पातशाही श्री गुरु ग्रन्थसाहिब जी' की वह रिपोर्ट[2] है, जो बड़े अनुसंधान के बाद इस निर्णय को प्रकाशित करती है कि "वचित्र नाटक, चण्डीचरित्र, वड्डा छोटा बार, ग्यानप्रबोध आदि सब वाणियों का उच्चारण आनन्दपुर मे हुआ।...यदि ये वाणियाँ मुखवाक् न होतीं तो दस सवैये (स्रावक सिद्र समूह आदि), चौपाई (हमरी करौ हाथ दे रच्छा आद) वाणी का पाठ अमृतसंस्कार के समय तथा रामावतार का पाठ दशहरे के दिनों में तथा चण्डीचरित्रों के पाठ नवरात्रों के दिनों में तथा कृष्णावतार के सवैये होली-पर्व पर हरिमन्दिर श्री दरबार साहिब अमृतसर (मे) न होता। इससे प्रकट है कि यह श्री मुखवाक् है।

डॉ० हरिभजनसिंह ने पख्यानचरित्र में से—जिस पर सिख सस्कृति के प्रकाण्ड पण्डितों को अधिक आपत्ति है—उद्धरण देकर सिद्ध किया है कि "चरित्रोपाख्यान के कर्तृत्व के विषय मे स्वयं इसी रचना मे कुछ ऐसे संकेत मिलते है, जिनके आधार पर गुरु गोविन्दसिंह के अतिरिक्त किसी और को इस ग्रन्थ का कर्ता नही ठहराया जा सकता। इनमे निम्नलिखित सकेत विशेष रूप से विचारणीय है—

१. उनचासवें उपाख्यान में गुरुजी ने आनन्दपुर की एक दुश्चरित्र नाइन की चर्चा की है। उस नाइन का सम्बन्ध कई पुरुषों से है। बेचारा नाई उसे रोक नही सकता।

२. इकहत्तरवें उपाख्यान में पाँवटे की एक लीला का वर्णन है। पाँवटे में यमुना-तट पर कपालमोचन नामक एक तीर्थ-स्थान है। तीर्थ-स्थान के निकट ही लोग मल-मूत्र कर देते थे। गुरु जी ने अपने सिखों को आज्ञा दी कि ऐसे लोगों की पगड़ियाँ उतार ली जायँ जो तीर्थस्थान की पवित्रता की अवहेलना करते है। इस उपाख्यान का वर्णन लेखक ने उत्तम पुरुष में किया है।

३. इक्कीसवें, बाईसवें तथा तेईसवें उपाख्यान मे एक ही कथा है जिसमें एक कामातुर स्त्री द्वारा 'राय' नामक सच्चरित्र पुरुष को असफल काम-निमन्त्रण देने का वर्णन है। 'राय' की बातचीत से स्पष्ट है वह गुरु गोविन्द

---

१. द्रष्टव्य, परिशिष्ट १९

२. द्रष्टव्य, परिशिष्ट २०

सिंह ही हैं।[1]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि चरित्र के नायक स्वयं गुरु गोविन्दसिंह ही है।···संक्षेप में, भाई मनीसिंह के साक्ष्य और गुरु गोविन्दसिंह के जीवन से सम्बद्ध उत्तम पुरुष की शैली में लिखे गए उपाख्यानों के आधार पर इस ग्रंथ को गुरु गोविन्दसिंह की रचना मानना ही उपयुक्त प्रतीत होता है।[2]

योगी शिवनाथ पण्डित की राय इस प्र ंग में कुछ भिन्न है। उसका कहना है—"जहाँ गुरुजी की वाणी है वहाँ 'श्रीमुखवाक्' लिखा है और जहाँ कवि की वाणी है, वहाँ 'कवि उवाच' लिखा है। पर ग्रंथ के पर्यालोचन से यह कथन खरा नहीं उतर रहा।[3]

दोनों पक्षों के बलाबल पर विचार करते हुए इतिहासकार के सामने उपस्थित समस्या का अनुमान लगाना कोई कठिन नहीं रहा। इस ग्रंथ के कर्त्तव्य के प्रसंग में 'राम', 'श्याम' 'राय' तथा 'काल' का उल्लेख किया जाता जाता है; इस प्रसंग मे पर्याप्त सदेह विद्यमान है। दरबारी कवियों मे 'काल' नामक कवि का उल्लेख किसी भी विद्वान् ने नही किया।[4] 'कल्लू' और 'काछ' को एक कवि नही माना जा सकता। कई विद्वानों ने 'श्याम' की गिनती तक नही की। 'राम' के प्रसंग में हंसराम अथवा काशीराम का नाम लेना भी विवादरहित नही है। रामसिंह की अन्य कोई कृति सामने नहीं है, जिससे भाषा-शैली की तुलना की जा सके।

हमारी नम्र सम्मति में समस्त दशम ग्रंथ के कर्त्तव्य के लिए दशम गुरु गोविन्दसिंहजी का नाम लेना कई दृष्टियों से तर्कसंगत है, यथा—

१. प्रत्येक रचना का कालक्रम के अनुसार निर्माण-निर्देश विद्यमान है।[5]

---

१. एकाधिक प्रमाणों द्वारा यह बताया जा रहा है कि खालसा सजाने से पूर्व समय तक गुरु जी का नाम 'गोविन्दराय' था।

२. 'गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी-काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन': डाक्टर हरिभजनसिंह; पायडुलिपि; पृष्ठ ५४१-५४७

३. योगी शिवनाथ राय: हनुमान्नाटक की भूमिका, पृष्ठ १

४. द्रष्टव्य: दरबारी कवि

५. (क) कृष्णावतार: १७४५ विक्रमी: सत्रह सै पैंतालमहि सावन सुदि थिति दीप।
(ख) परयान चरित्र: १७५३ विक्रमी: संमत सत्रह सहस भणिज्जै।
अर्ध सहस पुनि तीन कहिज्जै।
(ग) चौबीस अवतार: १७५५ विक्रमी: समत सत्रह सहस पचावन।

यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि दशम ग्रन्थ में पुस्तक-संचयन विषयानुसार है, काल-क्रमानुसार नहीं—विषयानुसार संग्रंथन तो किसी अन्य लिपिकार की योजना है। अन्यथा कृष्णावतार के बाद पख्यान चरित्र और उसके बाद चौबीस अवतार का निर्देश दशम ग्रन्थ द्वारा सिद्ध है। मजे की बात यह है कि जिस 'विचित्र नाटक' के उपरान्त कृष्णावतार का निर्माण हुआ है, उसे भी विचित्र नाटक का अंग मान लिया गया है; यथा : **इतिश्री विचित्र नाटक ग्रंथे कृष्णावतारे**···। चौबीस अवतार लिखने से पूर्व पख्यान चरित्र लिखा गया था।

२. दशम ग्रंथ में एक पाठ आया है (वैसे तो उसमें मुद्रालंकार है) उसी के द्वारा दशम गुरु ने अपने ग्रंथ का नामकरण कर दिया है।[1] इस तर्क को चार-चार कवियों की रचना मान लेने पर किस प्रकार अर्थ-संगत बैठाया जायगा ?

३. (क) इसमें अलंकार-शैली सर्वत्र एक-सी है[2]; (ख) छन्दों का विविध चुनाव गुरुजी की परिपक्व रुचि का परिचायक है; (ग) शब्दकोश समस्त रचना में एक-सा है; (घ) पख्यान चरित्र का उद्देश्य बड़ा पवित्र और ऊँचा है।[3]

दशम ग्रन्थ के कर्त्तव्य से आगे बढ़कर जब हम उसके काव्य-सौन्दर्य पर विचार करते हैं तो अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आते हैं। गुरुजी भक्ति-काल एवं रीतिकाल के सन्धिकालिक महाकवि हैं। अतः उनकी अमर कृति में उभयरूपता का सुन्दर समन्वय देखा जा सकता है। दशम ग्रंथ का जितना धार्मिक पक्ष सबल है, उतना ही सबल काव्यपक्ष भी है—ऐसा निर्णय देना असंगत न होगा। इस दृष्टि से दशम ग्रंथ के काव्यरूपों पर पहले विचार कर लेना चाहिए।

(क) दशम ग्रंथ में सिख धर्म एवं हिन्दू धर्म का मिला-जुला रूप उपस्थित है; यथा—

१. सिख धर्म प्रतिपादक रचना—जाप साहिब, अकाल स्तुति और सबद हजारे।

---

१ जे जे कृशन चरित दिखाए। 'दसम' बीच सब भाख सुनाए।
ग्यारह सहस बानवै छन्दा। कहै 'दशम' पुर बैठि अनंदा।

२. दशम ग्रन्थ का कर्तृत्व : धर्मपाल आष्ठा

३. गु० हि० काव्य का आलो० अध्ययन : हरभजनसिंह, पाण्डुलिपि-पृष्ठ ५४०

२. हिन्दू धर्म प्रतिपादक रचना—चंडी चरित्र, रामावतार, कृष्णावतार आदि।

(ख) हिन्दू धर्म के अनुसार—

१. शाक्त सम्प्रदाय—चंडी चरित्र, चंडी दी वार।

२. वैष्णव सम्प्रदाय—रामावतार, कृष्णावतार।

३. शैव सम्प्रदाय—रुद्रावतार।

(ग) निर्गुण-सगुण पूजा के अनुसार—

१. निर्गुण उपासनामूलक रचना—जापसाहिब, अकास्लतुति, सबद-हजारे।

२. सगुण उपासनामूलक रचना—चौबीस अवतार, चंडी चरित्र आदि।

(घ) भक्तिकाल की प्रतिनिधि रचनाएँ—

१. चौबीस अवतार, अकालस्तुति, सबद हजारे आदि।

(ङ) रीतिकाल की प्रतिनिधि रचनाएँ—

१. पख्यान चरित्र, कृष्णावतार आदि।

(च) अन्य काव्यरूप इस प्रकार से है—

१. महाकाव्य—चौबीस अवतार।

२. खण्डकाव्य—चण्डीचरित्र, चण्डी दी वार।

३. एकार्थ काव्य—राधामानकथनम्।

४. प्रबन्ध काव्य—कृष्णावतार, चौबीस अवतार।

५. मुक्तक काव्य—सबद हजारे, तेतै सवैये।

६. कोषकाव्य—शास्त्रनाममाला।

७. गेय नाटक—विचित्र नाटक।

८. वीरगाथा काव्य—चण्डीचरित्र, चण्डी दी वार।

९. प्रेमाख्यान—पख्यानचरित्र, राधामानकथनम्।

१०. रीतिमुक्त काव्य—कृष्णावतार आदि।

अलंकार की दृष्टि से दशम ग्रंथ एक अपूर्व रचना है। वैसे ११० अलंकारों के भेदोपभेदों के सभी पुष्ट एवं सुन्दर उदाहरण दशम ग्रंथ में उपलब्ध हैं। कहीं-कहीं तो एक-एक पद में दस-बारह अलंकार हैं।

इस प्रतिपादन को समक्ष रखकर दशम ग्रंथ पर विचार करने वाला आलोचक वैसे ही विमुग्ध रह जायगा, जैसे रंक मणि-राशि देखकर। आश्चर्य यह है कि विरोधी कहे जाने वाले रस एक काव्य में इस तरह सिमट गए हैं

जैसे उनमें विरोध है ही नहीं। रौद्र रस तथा हास्य रस के जैसे विरोधी रसों का निर्वाह इस प्रकार हुआ है—

भोरहु तै गरजै लरजै बरजै सभ लोग रहैं नहि ठानी।
सासु के त्रास न आवत स्वास दुआरन तै फिरि जात जिठानी।
पास परोसिन बास गह्यौ बन लोग भए सभही नकबानी।
पानी कै मांगत पाथर मारत नारि किधौं घर नाहर आनी॥

छन्द की दृष्टि से दशम ग्रंथ एक कोश जैसा महत्त्व रखता है। इसमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, फारसी तथा पंजाबी के अति लोकप्रिय छन्दों का प्रयोग हुआ है। मात्रिक छन्द तथा वर्णिक छन्दों के भेदों का अन्त नहीं, और उस पर तुर्रा यह कि एक-एक छन्द के अनेक नाम विद्यमान हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से चन्दबरदायी का नाम बहु-छन्दवादियों में पहले स्थान पर आता है; पर केशव कवि ने उसे पीछे छोड़ दिया। इधर गुरु गोविन्दसिंह ने छन्दों के विविध प्रयोगों से पूर्व के दोनों छन्द-महारथियों को पीछे छोड़ दिया है। दशम ग्रन्थ में आये छन्दों की पूरी सूची इस प्रकार है—

(१) **मात्रिक छन्द**—

अलिमालती, अभीर (आभीर), अवतार, अड़िल्ल, अडिल दूजा, एला, कलस, कुंडलिया, गाहा, गाहादूजा, गीतमालती, छत्ता, चौबोला, चतुष्पदी, चरपट छीगा, चौपाई, छप्पय, छत्त (पंजाबी) छन्द वड्डा, तिलोकी, तोमर, त्रिभंगी, दोहा (दोहरा), नवपदी, पऊड़ी, पद, पदुमावती, पच्छरि, फुनहा 'पुनहा बहड़ा, बहोड़ा, बेत, मकरा, मधुभार, माधो, मोहिनी, मारह, विजय, श्रीखण्डी, सुखदा, सुप्रिया, सोरठा, हरिगीतिका, हीर तथा हंसा। (कुल ४५ नूतन छन्द)

(२) **वर्णिक छन्द**—

असतर, असता, अकरा, अकवा, अचकड़ा, अजा, अनाद, अतूपनराज, अपूरव, अलका, अड्डहौ, अनंततुका, भुजंगप्रयात, एक-अच्छरी, उगाथा, उछला, उगाध, उटंकण, उद्भुज, कवित्त, कुमारललित, कुलका, कंठाभूषण, कृपान क्रीत, चाचरी, चामर, चंचला, झूलना, तरनराज, दोधक, नागसुरूपिणी, नागसुरूपिणी-अर्ध, नाराच, नवनायक, विसपाल, पधिष्टका, पाधरी अर्ध, पंकजवाटिका, बहिरतबील पश्चिमी, बचित्रपाद, बनतुरंगम, बेलिविद्रुम, विशेषक, विराज, बिधुपनराज, भगौती, भड़थुआ, मथान, मनोहर, मालती, रावणवाद, रुआमल, रेख्ता, समानका, सवैया अनन्ततुका, सुखदावृद्ध, बहर-ए-मुतक़ारिब। लगभग ५९ छन्द।

(दशम ग्रंथ का कविस्व : डा० धर्मपाल आष्टा, पृष्ठ २६६-२७५)

पूरे दशम ग्रन्थ में प्रसाद गुण का अखण्ड राज्य है, पर उसके ओजगुण तथा माधुर्य गुण के चमत्कारपूर्ण प्रयोगों की भी कमी नहीं है। शृंगार रस के अतिरिक्त अनेक संगीत छन्दों में माधुर्य गुण है और वीर रस तथा अन्य संगीत छन्दों में ओजगुण भी पर्याप्त है।

भाषा के महानकोश दशम ग्रंथ में ब्रज-भाषा की विशाल पृष्ठभूमि पर अवधी, पंजाबी, राजस्थानी, मुल्तानी, संस्कृत और प्राकृत शब्दों के अतिरिक्त अनेक ऐसे नवीन शब्दों का चयन किया गया है जो नाद-सौन्दर्य के साथ-साथ संगीत एवं रस को भी स्फुटित करते हैं।

रचना—

(१)

नमस्तं अकालं, नमस्तं कृपालं। नमस्ते अरूपं, नमस्ते अनूपं।
नमो सर्वसोखं, नमो सर्व पोखम्। नमो सर्व कर्ता, नमो सर्वहरता।
गुनगनउदार, महिमा अपार, आसन अभंग, उपमा अनंग।
अनभउ प्रकाश, निसदिन अनास; आजानुबाहु, साहान साहु।

(जापसाहब)

(२)

कहूँ जच्छ गंधर्व उरग कहूँ बिद्याधर कहूँ भये किन्नर पिशाच कहूँ प्रेत हो।
कहूँ हुइकै हिन्दुआ गायत्री को गुप्त जप्यौ कहूँ होइकै तुरका पुकारे बांग देत हो।
कहूँ कोक काबके पुरान को पढ़त मत कतहूँ कुरान को निदान जान लेत हो।
कहूँ वेदरीत कहूँ तासिउ बिपरीत कहूँ त्रिगुन अतीत कहूँ सुनगत समेत हो॥

(अकाल-स्तुति)

(३)

दौर दई अरकै मुख मैं कट ओठ दियै जिम लोह की छैनी।
दंत गंगा जमुना तन स्याम सु लोहू बह्यौ तिंह मांह त्रिवैनी।
बाजत डंक परी धुनिकान सुसंक पुरन्दर मूंदत पौरैं।
सूर में नाहिं रही दुति देखि कै युद्ध कौ दैत्य भये इक ठौरैं॥

(चण्डी-चरित्र)

(४)

देहु शिवा वर मोहि इहौ शुभ करमन तें कबहूँ न टरौं।
न डरौं अरि सौं जब जाइ लरौं निसचै करि आपनी जीत करौं।

अरु सिख है आपने मन कौ इह लालच हौं गुन तऊ उचरौं।
जब आयु की औध निदान बनै अत ही रन में तब जूझ मरौं॥

(५)

दोऊ जऊ हंसि बातन संग ढरैं सु हुलास विलास बढै सगरे,
हँसि कंठ लगाइ लई ललना गहि गाढ़े अनंग के अंक भरे।
तरकी हैं तनी, दरकी अँगिया गर मालतें टूटि कै माल परे,
पिय के मिलिए तिय के हिय कै अँगरा विरहागिन के निकरे॥

(६)

रोगन तैं अर सोगन तैं जल जोगन तैं बहु भाँति बचावै।
सत्र अनेक चलावत घाव तऊ तन एक न लागन पावै।
राखत है अपनौ कर दै कर पाप सबूह न मेटन पावै।
और की बात कहा कहतौ सौ सुपेट ही के पट बीच बचावै॥

(७)

सिद्ध कौ सरूप है कि बुद्ध कौ बिभूत है कि
क्रुद्ध कौ अभूत है कि अछै अविनासी है।
काम कौ कुनिंदा है कि खूबी कौ विहंदा है
गनीमन गर्रिदा है कि तेज को प्रकासी है।
काल हू कौ काल है कि सत्रन को साल है कि
मित्रन को पोखत हैं कि वृद्धता की वासी है।
जोग हू कौ जंत्र है कि तेज हू कौ तन्त्र है कि
मोहनौ कौ मन्त्र है कि पूरन प्रकासी है॥

(८)

भानु तैं ज्यों तम पौन तैं ज्यों घन मोरतैं ज्यों फन त्यों सकुचाने।
सूर तैं कातरु कूर तैं चातरु सिंह तैं सागर ऐरण भजाने।
सूम तैं ज्यों जस वियोग ते ज्यों रस पूतकपूत तैं ज्यों बंस हाने।
धर्म ज्यों क्रुद्ध तैं भ्रम सुबद्ध तैं चंड के जुद्ध तैं बैत पताने॥

१८. **बाबालाल**—पंजाब की सन्त-परम्परा में जो ख्याति बाबालाल को प्राप्त है, उतनी ख्याति स्यात् ही किसी अन्य पंजाबी संत को मिली हो। पर इस विख्याति की आड़ में भक्तों को व्यर्थ की खींचतान का अवसर मिल गया है, और इस खींचतान में चार बाबालाल एक-दूसरे को चुनौती देते नज़र आते

हैं। यथा—

(क) एक पिंडदादनखाँ में टाहलीवाले संत बाबालाल बताये जाते हैं, जिन्होंने अपने चमत्कार से एक सूखी टहनी को शीशम के हरे-भरे वृक्ष में परिणत कर दिया था।

(ख) दूसरे बाबालाल भेरा-म्यानी निवासी बताये जा रहे हैं।

(ग) तीसरे स्थान पर गुरदासपुरी बाबालाल का नाम आता है। इनका मठ इस समय तक विद्यमान है।

(घ) चौथे कसूर-निवासी बाबालाल हैं।

यह कह सकना कठिन है कि चारों मूर्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं। अथवा, एक सन्त भिन्न-भिन्न स्थानों पर भ्रमण करने से भ्रान्ततः चार मूर्तियों में भास रहा है? जो हो, कसूर-निवासी सन्त बाबालाल के पक्ष में विद्वज्जनों का अधिकाधिक रुझान देखकर हम इन्हें ही चरितनायक मानकर चले हैं।

अन्य सन्तों की तरह बाबालाल की जन्म-मरण-सम्बन्धी तिथियाँ निर्भ्रान्त नहीं हैं। भक्त लोगों की एक-दूसरे के विपरीत पड़ने वाली, कहीं-कहीं 'दूर की कौड़ी' की उक्ति को फलीभूत करने वाली स्थापनाएँ स्वयं एक समस्या बन गई हैं। श्रुति-परम्परा को यदि विचार की कोटि में लाया जाय तो उनका जन्म संवत् १४१२ विक्रमी, माघ-शुक्ल द्वितीया मानना पड़ता है। सन्तजी का निधन संवत् १७२० विक्रमी में प्रायः सर्वसम्मत माना जाता है। इस प्रकार ३०८ वर्ष की आयु यदि एकदम असम्भव नहीं तो विश्वसनीय तथ्य भी नहीं हो सकता। मृत्यु-तिथि को इसलिए तर्कसंगत मानने की विवशता है कि इसके पीछे एक ऐतिहासिक घटना का बल निहित है—और वह घटना है बाबा-दारा मिलन। दाराशिकोह संवत् १६९७ विक्रमी में काश्मीर गया था और संवत् १७१६ विक्रमी में औरंगजेब ने उसका वध कर डाला था। अतः १६९७ संवत् से लेकर १७१६ संवत् के अन्तराल में, किसी भी समय बाबा-दारा मिलन का समय कूता जा सकता है। एच० एच० विल्सन ने इस भेंट का समय संवत् १७०६ विक्रमी ठहराया है, जो तर्कसंगत भी लगता है; क्योंकि उसी वर्ष दारा काश्मीर से लौटते हुए लाहौर रुका था। यदि मृत्यु-संवत् निराधार नहीं है तो इनका जन्म १६३६-१६४७ के मध्य किसी वर्ष माना जा सकता है। इसका एक प्रबल आधार यह है कि सन्त जी के विवेकी भक्तजन इनकी जन्म-तिथि १६३६ विक्रमी संवत् बता रहे हैं, यद्यपि परशुराम चतुर्वेदी इनसे सहमत नहीं; जबकि उनकी अपनी निर्धारित बाबालाल की जन्मतिथि

भी कुछ ठोस आधार नहीं रखती। सन्तजी की माता का नाम कृष्णदेवी तथा पिता का नाम भोलानाथ था। आपने अपने जन्म से किस वंश को अलंकृत किया था—यह अभी तक ज्ञात नहीं हो सका। सुना जाता है कि दस वर्ष की आयु में, विरक्त भाव की जागृति में आप घर से निकल पड़े तथा सन्त चेतनदास के शिष्य हुए। यद्यपि सन्त बाबालाल की विचारधारा सन्त साधकों से विशेष पृथक् नहीं है, तथापि उसकी संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार आँकी जा सकती है—

१. एक ईश्वर की उपासना इष्ट है; ईश्वर, हरि अथवा राम—ये सब नाम उस परम तत्त्व के परिचायक हैं। सभी सम्प्रदाय अन्ततोगत्वा एक ही गन्तव्य को पहुँचाते हैं।

२. परमात्मा स्वयं आनन्द-स्वरूप है।

३. जीव परमात्मा से भिन्न कोई तत्त्व नहीं, वह आनन्दसागर में एक बिन्दु के समान है।

४. 'अहंभाव' जीव और परमात्मा के मध्य सबसे बड़ी बाधा है। ज्यों-ज्यों यह अहंभाव क्षीण से क्षीणतर होता जायगा, त्यों-त्यों जीव-परमात्मा का अन्तर भी विलुप्त होता जायगा।

५. यह जीव का अहंभाव इन्द्रियासक्ति का जन्मदाता है।

६. प्रकृति भी उसी परमात्मा का अंश है। जैसे समुद्र एवं उसकी तरंगों को भिन्न मानना अयथार्थ है, वैसे ही परमात्मा और प्रकृति को भिन्न नही माना जा सकता।

७. अहंभाव का क्षय साधना-सापेक्ष है। शम, दम, दया, शौच, समता, सत्य तथा सहज समाधि अहंभाव को क्षीण करते है।

८. प्रेम तथा भक्ति से भी उस परम तत्त्व की उपलब्धि हो सकती है।

९. थोथे वैराग्य अथवा दिखावटी आत्मक्लेश (हठयोग ?) के द्वारा अहंभाव पर विजय पा सकना कठिन है। मोह-त्याग, अकारण विस्मृति ही अनासक्ति को जन्म देती है।

१०. परोपकार-भावना ही ईश्वरीय प्रेम को अनुभूतिगम्य बनाती है।

११. अवतारवाद और मूर्तिवाद—सब मिथ्या हैं।

इतिहास साक्षी है, राजकुमार दाराशिकोह भारतीय दर्शन-पद्धति में गहरी अभिरुचि रखते थे। काशी के पचास विद्वानों को बुलाकर उपनिषदों का

१. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा : ५० परशुराम चतुर्वेदी

पारसी-अनुवाद कराना उसका ज्वलन्त प्रमाण है। सन्त बाबालाल की दारा से भेंट उस समय हुई थी जब कि वह औपनिषदिक ज्ञान में परिपक्व हो चुका बताया जाता है। बाबा-दारा भेट लाहौर में हुई और उसने पाँच-छह दिन की सत्संगति का रूप ले लिया। इस सत्संग मे यदुनाथ खत्री, रामचन्द्र शर्मा तथा अनेक मीर-मुशी भी उपस्थित थे।

बाबालाल के अनुयायियों ने भी एक सम्प्रदाय का रूप ले लिया है। कभी इस सम्प्रदाय का प्रचार सीमा-प्रान्त में अधिक ज़ोरों पर था। श्रीध्यानपुर में इनका मठ (?) भी बताया जा रहा है। सन्त जी ने अपने शिष्यों के साथ पेशावर, गज़नी, काबुल, कन्धार, देहली, बड़ौदा तथा राजस्थान तक की यात्रा की थी। सन्तजी की रचनाओं का प्रामाणिक संग्रह अभी तक देखने को नही मिला। यत्र-तत्र कतिपय बिखरी रचनाएँ पायी जाती हैं। आपकी भाषा है तो ब्रज, पर उसमें खड़ी बोली तथा पंजाबी का आभास मिल जाता है। कुछ-एक राजस्थानी के शब्द भी है।

रचना—

(१) जाके अन्तर ब्रह्म प्रतीत, धरै मौन भावै गीत।
निसिदिन उनमत रहत खुमार, शब्द सुरत जुड़ एको तार।
न गृह रहे न बन को जाय, लाल दयाल सुख आतम पाय।

(२) आशा विषय विकार की, बान्ध्या जग संसार।
लख चौरासी फेर मैं, भरमत बारम्बार॥
जिह को आशा कछु नहीं, आतम राखै शून्य।
तिनको कछु नहिं भरमणा, लागै पाप न पुन्य॥
देहा भीतर स्वास है, स्वासे भीतर जीव।
जाके अन्तर वासना, किस विध पावै पीव॥
जाकै अन्तर वासना, बाहर धारै ध्यान।
तिह कौ गोबिन्द ना मिलै, अन्त होत है हान॥

१९. **राजाराम दुग्गल**—सूर-रंभावत[1] प्रेमाख्यान के लेखक राजाराम दुग्गल ने अपना जो संक्षिप्त-सा परिचय दिया है, वह इस प्रकार से है—

यह हरि पंथी गुर का दासू। भूपतनाम रतनपुर वासू।
जंगल देस जैसा सा पूगल। जामै वंस कहावै दूगल॥
नीचो नीच नीच पुनि होई। बिरसा राखौ कानुन गोई।

१. पाण्डुलिपि नं० १५६२, सिख रेफ्रेन्स लाइब्रेरी, अमृतसर

जिससे लेखन अंकन लेखी । सिधि आई आसन देखी ।
तिसमन भीतर ऐसी ठानी । सूर रंभावत करौं कहानी ।।

अर्थात् जंगल देश (ज़िला गुजरात या झेलम) के रत्नपुर-निवासी राजाराम दुग्गल ने सूर-रंभावत कथा रची । कथा का रचनाकाल विक्रमी संवत् १७३४ अन्तःसाक्ष्य से ज्ञात होता है; यथा—

संमत् षटदस एक सौ ऊपर तिनके चार ।

लेखक ने अपने-आप को हरिपंथी लिखा है । डॉ० हरिभजनसिंह ने 'हरिपंथी' शब्द देखकर इन्हें हरियाजी के पथ से भिड़ा दिया है । जबकि हरियाजी का रचनाकाल १७९२ विक्रमी संवत् कूता जा रहा है । दूसरा अकाट्य तर्क यह है कि हरियाजी स्वयं किसी अन्य धर्म में दीक्षित हैं, डॉ० जी ने स्वयं उसे नानक-पंथी और दूसरे स्थान पर उदासी और अन्यत्र उसे मिहरबान द्वारा दीक्षित बताया है । स्पष्ट हो कि पंजाब के हरिपंथी सम्प्रदाय की रूपरेखा स्पष्ट नहीं है । फिर सहसा हरियाजी को 'हरिपंथी' सम्प्रदाय का मुखिया, बिना किसी ठोस आधार के, कैसे मान लिया जाये ?

सूर-रम्भावत मात्र प्रेमाख्यान है अथवा रहस्यवादी प्रतीक-कहानी का सुष्ठु प्रयोग है—इस प्रश्न का उत्तर कुछ कठिन नहीं है । चूंकि राजाराम दुग्गल सूफी साधक नही है, अतः उसके प्रसंग में प्रतीकवादी प्रश्नों को उठाना ही निरर्थक है । वह तो दमोदर गुलाटी एवं गुरदास गुणी की कोटि के प्रमाख्यान का रचयिता मात्र है ।

'सूर रम्भावत' को मात्र जनकथा भी नहीं कहा जा सकता । इस कथा पर उषा-अनिरुद्ध की पौराणिक कहानी की स्पष्ट छाप है । यथा—

१. उषा की तरह रम्भा का सूरप्रताप से स्वप्नवत् मिलना;
२. चित्रलेखा के स्थान पर सुन्दरी का दौत्य कार्य निभाना;
३. बाणासुर की तरह गंधर्वपति द्वारा राजकुंवर का अपहरण, आदि ।

इस कथा के अन्तर्गत एक अन्य प्रेमाख्यान है—फूलमती की कथा । यद्यपि यह लेखन-प्रणाली नयी नहीं है, दशम गुरुजी के पख्यानचरित्र में इस शैली को देखा जा सकता है. पर राजाराम ने इसको जिस ढंग से निर्वाह किया है—बहुत सुन्दर है । इसमें 'प्रक्षिप्त कथा' मूल कथा का अंग बनकर आयी है । ये प्रेमाख्यान जन-जीवन की अतृप्त एवं उद्दाम वासनाओं की सुष्ठु अभिव्यंजना मात्र है । हीर-राँझा की लोक घटना ने समाज के एक ऐसे मार्मिक पक्ष की सूचना दे दी थी, जो सामाजिक मान-मर्यादाओं के बर्फानी चट्टानों से ढके

ज्वालामुखी की तरह अन्तर्दह्यमान रहता है। शिष्ट कहे जाने वाले समाज में वह मार्मिक पक्ष साहित्यिक अभिव्यक्ति के व्याज से एक दिशा में सक्रियता दिखाकर शान्त हो जाता है। गुरदास गुणी का प्रेमाख्यान भी इसी कोटि का समझना चाहिए।

यद्यपि रचना की भाषा ब्रज ही है, तथापि उसके अन्तर्वर्ती ज्वलन्त पंजाबी शब्दों का खुला प्रयोग देख पड़ता है। यथा—

होर—अन्य; तिस बिन होर न कोऊ दूजा।

हौमे—अहंकार; होमें कूर करे संसार। (**हौमें**=**अहं मम**)

कूछर—गोद; लेले कूछर मात नचावै।

कोल—समीप; आवै रंभा कोल सयानी।

कूर—झूठमूठ; गरी गरी महि कूर सुनाऊँ।

भैना—बहिन; सुन्दर पुन तू मेरी भैना।

उरले—इस पार; तो पुन उरले काठे आए।

धृग—धिक्कार; धृग जीवन, धृग जन्म। इत्यादि

सूर-रम्भावत में भाषा मधुर, जनजीवन की प्रतिध्वनि होने पर भी साहित्यिक, पंजाबी-मिश्रित होने पर भी ब्रज, द्रुतगति होने पर सालंकार है। अलंकारो मे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति, अत्युक्ति एवं अनुप्रासबहुल है। आश्चर्य है, जिस प्रतीकवाद को आज की भाषा का चमत्कार बताया जा रहा है, वह प्रतीकवाद राजाराम की भाषा में है। डॉ० हरिभजनसिंह के शब्दों में, "अदृश्य, सूक्ष्म मन-स्थिति को दृश्य, स्थूल उपमानों द्वारा स्पष्ट करने की ही उनकी रुचि है—प्रतीकवाद की स्पष्ट घोषणा है।" छन्दों में दोहा-सोरठा अलंकृत चौपाई अपनायी गई है।

रचना का नमूना—

(१) **तू रह पांव हाथ रंभावत। कबही तरफत कबही धावत।**
जल बिन कांपत मीन दुहेली। चाहे सूर कुँवर अलबेली।
घर पर कौड़े दुर-दुर हेरे। जनक अहेरी मृग अहेरे।
कबहीं मौन गहे मन मारे। जनक जुआरी गांठे हारे।
बिन से बदन सीत झनकारा। जनकर नाहु लेप का मारा।
लसक चले फुन लसक लसावै। जनकर नागन बिलहि न पावै।
कबही तरफ होय अबोला। जनकर भाए चिरी-गलोला।

२०. **गुरदास गुणी**—'गुरदास' नाम सुनते ही पंजाब के तीन कवियों का

प्रसंग सामने आता है। एक तो भाई गुरदास है, जिनका उल्लेख विगत पृष्ठों में देखा जा सकता है, दूसरा गुरदास दशम गुरुजी के दरबारी कवियों में सुना जाता है; तीसरा गुरदास 'हीर-रांझे' का प्रणेता है। भाई गुरदास के विषय में कोई वितर्क नहीं हैं। पर दूसरे और तीसरे गुरदास के विषय में शंका उठाया जाती है कि ये भिन्न व्यक्ति है या अभिन्न। समय का तकाजा है कि इन दोनों गुरदासों को 'एक' माना जाय। गुरदास ने अपना संवत्-निर्देश स्पष्ट न लिखकर पाठक के सामने एक पहेली रख दी है—

पातसाह के सन पञ्चासे। इयौ आइयौ हृदं गुरदासे।

पाठक इस पंक्ति का क्या अर्थ लगाते हैं? क्या इस विषय में किसी निर्णय की प्रतीक्षा करनी होगी? क्या औरंगजेब के पचासवें साल का ग्रहण उसके जन्म से माना जायेगा, या उसके राजसिंहासन से? यदि उक्त वर्ष उसके जन्म से मान लेते है तो औरगजेब का जन्म विक्रमी संवत् १६७५ का माना जाता है और उसके पचास वर्ष पश्चात्, अर्थात् १७२५ विक्रमी संवत् में, हीर-रांझा की कथा लिखी गई होगी; यदि राज्यारोहण से पचासवां साल मान लेते हैं तो तुक ठीक नहीं बैठती; कारण उसने कुल मिलाकर अड़तालीस वर्ष (१७१५ विक्रम सवत् से १७६४ वि० संवत् तक) राज्य किया है। इसे हिजरी सन् का वर्ष (१०५० हि०) भी नहीं मान सकते, क्योंकि मुगलसम्राट् औरंगजेब १०६८ हि० में राज्यासीन हुआ था। यदि १७२५ विक्रमी में हीर-रांझे की कथा लिखी गई होगी, तो इस अनुमान को एक आधार मिल जाता है कि गुरदास गुणी कथा लिखने के उपरान्त दशम पातशाह के हजूर में पहुँचे होंगे। बहरहाल, जबतक अन्य गुरदास की रचना या वृत्तान्त नही मिलता, तब तक के लिए यह तर्क अकाट्य रहेगा। पंजाब के सूफी कवियों के लिए सबसे बड़ा आकर्षण रहा है—हीर-रांझा की घटना। यह घटना कवि-कल्पित नहीं है, बल्कि ऐतिहासिक है। झंग-निवासी दमोदरदास गुलाटी ने निर्विकल्प शब्दों में लिखा है—

पंद्रह सौ अते उनत्री संवत् विक्रमराय।
हीरते रांझा होए इकथ्ठे झगड़े रब चुकाय॥

पंजाबी के प्रसिद्ध विद्वानों ने १५२९ संवत् को चालू विक्रम संवत् मानकर हीर-रांझा की घटना को बहलोलखां लोधी[1] (राज्यकाल १५०८-१५४६ विक्रमी)

---

१. गुरु शब्द रत्नाकर महान कोश : भाई कान्हसिंह, पृष्ठ ८२७

के राज्यकाल में घटित बताया है, हालाँकि यह सर्वथा अशुद्ध है। दामोदर ने यथास्थान अकबर को स्मरण किया है। अतः गुलाटी का उक्त १५५९ संवत् विक्रमी संवत् न होकर शालिवाहन विक्रम शाकाब्द है।[1] यह सब लिखकर हम अपने पाठक का ध्यान गुरदास गुणी से हटा नहीं रहे; बल्कि शनैः शनैः इस तथ्य की ओर बढ़ रहे हैं कि गुरदास ने भी दामोदर गुलाटी को स्मरण किया है:—

करौं कथा जो पाछे सुनी। ज्यों बरनी दामोदर गुनी।

और दोनों के मध्य संवत्-समस्या का विशाल व्यवधान है। यथा—

१. दामोदर गुलाटी : कथा हीर-राँझा : संवत् १६१९ विक्रमी (१५६२ ईसवी)।

२. गुरदास गुणी : कथा हीर-राँझे की : संवत् १७२५ विक्रमी (१६६८ ईसवी)।

इस १०६ वर्ष के व्यवधान को कैसे पाटा जाएगा? गुरदास ने कब कथा सुनी और कब कथा लिखी? यह प्रश्न अभी अनसुलझा पड़ा है; सम्भवतः यह ऐसा ही रहेगा।

लेखक की अन्य रचना अभी तक सुनने में नहीं आई। अतः अनुमानमूलक अथवा प्रमाणमूलक—किसी भी आधार पर यह नहीं बताया जा सकता कि गुरदास जब जन्मे, किस कुल में जन्मे, कब और कहाँ मरे; किसके सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इत्यादि।

पंजाब में, पंजाबी में हीर-राँझा काण्ड पर कई ग्रन्थ रचे गए हैं। दो-तीन रचनाएँ पारसी में भी पायी जाती हैं। पर हिन्दी में एकमात्र यही पहली रचना है—इसी बात से इसका महत्त्व प्रकट है। भाषा साधारण है। ब्रज होने पर भी पंजाबी से निर्मुक्त नहीं है। भावाभिव्यक्ति को भी इतना सक्षम नहीं बताया जा सकता, जितनी कि काव्य-ग्रन्थ से आशा की जाती है। लेखक ने प्रथानुसार औरंगजेब का गुणगान किया है, इससे यह अनुमान किया जाता है कि यह गुणी महाशय किसी सरकारी नौकरी में अवश्य रहा होगा।

रचना—

मुझ विवाह राँझे सँग कीना। पीरों आप धनी मुँह दीना।
राँझा मेरे सिर को ताजा। प्रकट कहूँ अब कैसी लाजा। २९३

---

१. द्रष्टव्य : परिशिष्ट ७

बोली हरी कह्यौ पुनि ताही । मुझ कबूल यही खेड़ा नाही ।
अवर न कोऊ मुझे हलाला । बिन राँझे जा दियौ दयाला । २९३
राँझा क्या मैं अवहि पायौ । जब ही तौ गृह भीतर आयौ ।
अरी दिवानी सोच न तोको । करतै पीरों दीनो मोको । ३२६
जा दिन जन्म दोऊ हम लीनो । हम संजोग आपनि प्रभ दीनो ।
प्रगटि भया तुझि गृह माँही । सही जान टूटन को नाहीं । ३२७

(२)

निमसकार ता पुरुषहि मेरी । माया जाकी दर पर चेरी ।
ताके रंग न रूप न रेखा । घट-घट बसै अभेद अलेखा ॥
घटि-घटि बसै सबहु प्रतिपालै । लख चौरासी आप संभालै ।
भाव भगति करि जौ तिस ध्यावै । मुकत होइ तिहि माँहि समावै ॥
भगतऊ हेत लीन अवतारा । सब संतन को दुक्ख निवारा ।
ऐसे ठाकुर सदा धियाइये । बार-बार जापर बलि जाइये ॥
नमो नमो गुरदेव दियाला । आन दियौ जिह निपट उजाला ।
जो किछु जा है था मन मेरौ । ग्यान संबन्ध तैं मिटै अँधेरो ॥
भक्तिभाव कौ राह बताइयौ । अति संतोष मेरे मन आइयौ ।
ऐसे गुर[1] के पद बलिहारी । कृपा दृष्टि दासन पै धारी ॥

२१. **सहजराम**—हिन्दू धर्म के अन्य विविध सम्प्रदायों की तरह सेवाधर्म भी एक सम्प्रदाय के रूप मे विकसित हुआ । इसके प्रथम आचार्य कन्हैया जी थे, उनके शिष्य सेवाराम और सेवाराम के शिष्य अडगशाह हुए । सम्प्रदाय सेवाराम के नाम से प्रसिद्ध है । सहजराम का सम्बन्ध इस सम्प्रदाय से है और उनकी रचना अपने गुरु से सम्बन्धित है ।

सहजराम कहाँ के रहने वाले है, किस कुल में जन्मे और किस वर्ष रचना की— इसका कोई पता नही । इनकी अभी तक एक रचना मिल सकी है । सेवापथ वाले अपनी कृतियाँ छपवाने में रूढिवादी नजर आते हैं । सहजराम की रचना साहित्यिक न होकर धार्मिक अधिक है । इनकी रचना का नाम है—'परचियाँ सेवाराम की ।' यह वास्तव में एक परिचय-काव्य है । 'परची' नामक काव्य-शैली पर अन्य रचनाएँ भी लिखी गई है; यथा परचियाँ कबीर जी की, परचियाँ भगतो की, इत्यादि । पंजाबी में तो एक काव्य-रूप में

१. क्या इसका सम्बन्ध गुरु गोविन्दसिंहजी से है ?

परिचय-शैली चल निकली थी, पर हिन्दी मे यही एक रचना 'परिचय' काव्य में गिनी जा रही है। डा० हरिभजनसिह ने इसका परिचय इन शब्दों में लिखा है : "परचियाँ बहुत मर्यादित स्वर मे लिखी गई रचना है और इसमें न चारित्रिक अतिरेक दिखाने का प्रयास है और न चारित्रिक वैविध्य के प्रदर्शन का। किसी को बुरा न कहने की प्रवृत्ति के कारण हमारे कवि मानव-स्वभाव के बहुमुखी दृश्य चित्रित नहीं कर पाये। उनके नायक भी इतने विजितेन्द्रिय एवं विजित-विकार है कि उनमे एक सीमित-सी एकाग्रता के लिए ही स्थान है। ये या तो भगवद्-स्मरण मे व्यस्त दिखाई देते है, या फिर निःस्वार्थ सेवा मे। सर्वत्र सेवाप्रिय श्रमप्रिय दयालु चरित्र का ही प्रभाव दिखाई देता है।" अनुमान है सहजराम संवत् १७३६ विक्रमी में विद्यमान थे।

भाषा साधारण एवं व्यावहारिक है। ब्रज होने पर भी पंजाब से प्रभावित है।

रचना—

संत सभा इक बारक आवत। सो अति सुन्दर मन को भावत।
संत वचन रसु तिनकौ आवै। इतकरि उह नित आवै जावै।
आगे संत सुभाव सु ऐसा। सबकौ आदर आवै जैसा।
निरधन सरधन देवहि कोई। सुन्दर अन सुन्दर होइ ढोई।
चार बरन तुरका अरु हिन्दू। षट् दरसन जो मानस जिदू।

२२. **सेनापति**—राष्ट्रकवि सेनापति से हिन्दी-साहित्य को एक नया मोड़ मिलता है। इससे पूर्व हमारा गुरु-परिवार स्वयं साहित्य का स्रष्टा था; पर सेनापति से लेकर चिरकाल तक हमारे गुरु काव्य के चरित्र-नायक बनकर उतरते हैं। दूसरी बात; काव्य-सृष्टि मात्र स्वान्तःसुखाय ही नही है, बल्कि इतिहास की प्रमाणित कड़ी भी है। सेनापति की तुलना पद्माकर तथा भूषण से दी जा सकती है। पद्माकर ने राजाओं के गुणगान को इसलिए चुना कि वहाँ से उसकी वित्तैषणा की पर्याप्त पूर्ति हो रही थी; भूषण ने अन्य राव-राजाओं को

१ गु० हिन्दी काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन (पाण्डुलिपि)] : डा० हरिभजनसिह पृष्ठ ६५०-६५३।

(क) जिन लाखन खरचि मोरे आखर खरीदे है। —पद्माकर
(ख) सिवा कौ सराहू या सराहूं छत्रसाल को। —भूषण
(ग) काहु के मात पिता सुत है, अर काहु के, भ्रात महा बलकारी।
होहु दयाल दया करि कै प्रभु गोविन्द सिह मुहि टेक तिहारी। —सेनापति

छोड़कर शिवाजी तथा छत्रसाल को इसलिए काव्य का विषय बनाया कि ऐसा करने से उसकी वित्तैषणा एवं स्वान्तःसुखैषणा की पूर्ति हो रही थी, पर सेनापति उनसे आगे है कि जिसने मात्र धर्ममूलक स्वान्तःसुखैषणा के लिए काव्य-नायक के रूप मे दशम गुरुजी को चुना।'

सेनापति गुरुजी के दरबारी कवियों में से एक था। जब गुरुजी ने आनदपुर छोड़ दिया तब दरबारी कवियों का ठाठ-बाठ स्वतः ध्वस्त हो गया। पर ऐसा लगता है कि आनन्दपुर छोडने के उपरान्त भी सेनापति गुरुजी की सेवा में डटा रहा। इससे एक तो उसकी रचनाएँ बच गई हैं; दूसरे, उसने गुरुजी के उस घटना-क्रम को अंकित किया है, जो आनन्दपुर-त्याग के बाद आरम्भ होता है। सेनापति गुरुजी का सच्चा सिख सिद्ध हुआ है।

सेनापति की दो रचनाएं मिलती है—१ गुरुशोभा और २ चाणक्यनीति का भाषानुवाद। सेनापति ने गुरुशोभा में अपना रचनाकाल यों दिया है—

संवत् सत्रह सै गए बरस अठावन बीत। (सं० १७५८)
भादव सुद पन्द्रस भई रची कथा करि प्रीत॥

अर्थात् खालसा-पंथ की स्थापना के दो वर्ष पश्चात् कवि अपने कवि-कर्म मे प्रवृत्त होता है। इसमें गुरुजी के युद्ध-वृत्तों का वृत्तान्त है। संवत् १७५८ विक्रमी को पुस्तक का आरम्भ मानना चाहिए, क्योंकि इसमे गुरु तेगबहादुर के बलिदान का उल्लेख नहीं है। 'गुरुशोभा' में दशम महाराज के यशोगान, युद्ध-वर्णन, यात्रा-वर्णन तथा महानिर्वाण का उल्लेख है।

सेनापति की रचना में एक बात विशेष उल्लेखनीय है, कि भाषा सर्वत्र समरस है, आदि से अन्त तक एक-सी खड़ी-बहुल ब्रजभाषा। सरलता उसका अतिरिक्त गुण है।

रचना—

(१) स्याम घटा उमड़ै चहुँ ओर तै यों उमड़ै दल दूत कै आही।
दामन ज्यों दमकै तरवार लिये करवार फिरावत ताही।
सूर की सुआबी तै धार परै घन में मनो तास कमान की न्याँई।
छूटत तीर मनौ रन मध्य जु सावन की बरखा बरखाहीं।

(२) बाजत सार सो सार तहाँ चमकै चिनगी सभ तारन जैसी।
ऐसी बनी रुत सावन की पटबीजनि ज्योति अनूप रलै सी।
इउ उपजै झुनकार तहाँ मनु सैल पै बाजत है चमकैसी।
मानौ महाघन में चमकै दमकै तलवार महा बिजलै-सी।

२३. **टहकन**—पंजाब के प्रसिद्ध हिन्दी कवियों मे टहकन का विशेष नाम है। ठाकुर शिवसिंह सेंगर 'कवि-परिचय' मे इसे स्मरण करते है। दशम गुरु के दरबारी कवियो मे टहकन का प्रमुख स्थान है। कवि ने अपनी कृति 'जैमिनीय अश्वमेध' मे रचना-काल इस प्रकार दिया है—

संमत् सरदस सप्तसत अधिक बरस षट बीस।
थित त्रयोदस आषाढ़ बदि बुधवासर सुभ बीस॥

अर्थात् १७२९ मे यह रचना आरम्भ हुई। इस समय तक गुरु गोविन्दसिंह जी ३ वर्ष के बालक थे। अतः यह कहना असंगत होगा कि गुरुजी की प्रेरणा से महाभारत का अनुवाद हुआ; यह कहना भी अनुपयुक्त न होगा कि जब कवि टहकन दशम गुरुजी के दरबार मे पहुँचा होगा और अपनी रचना का परिचय दिया होगा, तो इसी से उत्साहित होकर गुरुजी ने मंगलकवि, अमृतराय, सुन्दर कवि तथा हंसराय आदि को शेष पर्वो के अनुवाद करने की आज्ञा दी होगी।

रचना—१. जैमिनीय अश्वमेध, २. अमरकोश।

लेखक ने अपना परिचय भी दिया है, तदनुसार टहकन कवि गीलदास का पुत्र, चोपड़ावंशीय एवं जलालपुर का निवासी है। टहकन किसी राजा की सेना में सैनिक था, वही उसने महाभारत की कथा सुनी। वैराग्य-भाव की जागृति से अथवा आयु की परिपक्वता से टहकन ने सैनिक वृत्ति छोड़कर शान्त जीवन बिताना आरम्भ कर दिया था। रचना पढकर यह नहीं पता चलता कि लेखक दशम गुरुजी का राज-कवि, भक्त अथवा सिखमतानुयायी है। 'नन्दलाल-उपासी' से यही प्रतीत होता है कि वह पक्का वैष्णव था।

जैमिनीय अश्वमेध दोहा-चौपाइयो में लिखा गया है, पर कहीं-कहीं कवित, सवैये तथा छप्पय देखने को भी मिल जाते है। भाषा ब्रज और सरल है। उस मे पंजाबीपन की अपेक्षा खड़ी का मिश्रण कही अधिक स्पष्ट दीख पड़ता है। मंगलाचरण के लिए (रचना के आदि, मध्य तथा अन्त में) कृष्ण-गुणगान किया है। यज्ञ के नायक तो महाराज युधिष्ठिर है, पर चरित्र-विकास को देखने से ज्ञात हो जाता है कि भगवान् श्रीकृष्ण का महान् व्यक्तित्व सर्वत्र अतिव्याप्त है। इसे कृष्ण-भक्तिपरक साहित्य में स्थान दिया जाय तो अधिक उचित होगा।

अमरकोश की पाण्डुलिपि केवल पटियाला के पुरातत्त्व-विभाग में सुरक्षित

पड़ा है। अश्वमेध की पाण्डुलिपि पंजाब मे अनेक स्थानों पर प्राप्त है।

रचना—

(१) मोर किरीट सीस सुभ केसर तिलक माथे
बेसर बनी है नाक मोती ढरकत है।
नगन जड़त लोल कुंडल कपोलन पै
दसनि दमक छवि कोटिक धरत है।
बाँसुरी अधर राजै उर बनमाल छाजै
छुद्र घण्ट बाजै दुति कहि न परत है।
नूपर बिसाल पग 'टहकन' (प्रभु) नन्दलाल
ऐसो ध्यान धरै कोटि पातक टरत है॥

(२) दीनबन्धु दयासिंधु आरत हरत भारी
द्रौपदी उबारी तैसे मोहु को उबार लै।
गनका उधारी गजसंकट निवारी प्रह-
लाद हितकारी भवसागर उतार लै।
गौतम तिया तारी चरन जुग रज धारि
द्विज हितकारी दुख दारिद निवार लै।
टहकन प्रभु नन्दलाल दीनन अरु भक्त पाल
करुणा कृपाल लाल बिरद सँभार लै॥

(३) अश्वमेध कृत महावर कृष्णचन्द्र किय आप।
सुयश युधिष्ठिर कौ दियौ कीनौ भक्ति प्रताप॥

कल जुग आदि अन्त अब द्वापर, अश्वमेध कृत कियौ युधिष्ठिर।
करी सहाइ नन्द के लाला, भक्तवछल प्रभ दीन दयाला।
पुन ऐसौ मख करै न कोई, जद्पि तीन लोक पति होई।
जग्य युधिष्ठिर सफल भयौ तब, सावधान ठाढे गिरधारी जब।
तीन लोक सुर रिखि नृप आये, करुणाकरि श्री कृष्ण बुलाये।
नहिं तौ जाय कठिन इस अवसरि, पूरन कियौ कृपा धरि उरि।
प्रकट भयौ त्रैलोक महिं जग्य धर्म भुवपाल।
पूरन कीनौ कृपा करि, टहकन प्रभु नँदलाल॥

२४. **भाई मनीसिंह**—'गुरविलास' नामकी दो रचनाएँ छठे गुरु जी के जीवन-चरित के रूप में उपलब्ध है। इनके कर्तृत्व एवं रचनाकाल के विषय मे पर्याप्त विवाद उठ खडा हुआ है। भाई कान्हसिंह जी ने इसे जिस ढंग से उठाया

है, उसका ठीक-ठीक विशदीकरण डॉ० हरिभजन सिंह ने किया है। डाक्टर महोदय ने इस समस्या को सामाजिक प्रवृत्तियों के आधार पर हल करने का प्रयास किया है, पर इस प्रयास को सर्वथा वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता; परिणामतः डाक्टर महाशय ने अपने असमंजस को बड़ी स्पष्टता से सामने रख दिया है। इन रचनाओं के कर्तृत्व के प्रसंग में वक्ता-श्रोता-परम्परा की कड़ी-से-कड़ी इस प्रकार मिलायी जा रही है, यथा—

भाई मनीसिंह

तुर्क सिपाही	भगतसिंह
कुअर सिंह (संवत् १८०८ वि०)	धर्मसिंह
	सुखासिंह (संवत् १८४७ वि०)

भाई कान्हसिंह जी ने गुरविलास के कर्ता के स्थान पर दरबारासिंह का नाम सुझाया है और रचना-काल १९०० संवत् के बाद का निश्चित किया है।[1] भाई जी की कठिनता यह है कि वे प्राप्त प्रतिलिपियों में अंकित लिपि-काल मान रहे हैं और डाक्टर हरिभजनसिंह महाशय सिख-संगत की मनोवृत्तियों को आँक रहे है। बात वास्तव में यह है कि भाई मनीसिंह जी ने 'गुरुविलास' नामक वृत्तान्त मौखिक रूप से अपने शिष्यों को सुनाया होगा। हमारा अनुमान है कि वह वृत्तान्त लिखित एवं पद्यबद्ध भी रहा होगा। भाई मनीसिंह ने पहले (जेल से बाहर) उक्त रचना सरदार भगतसिंह को सुनाई होगी, भगतसिंह ने उसे अपने शिष्य धर्मसिंह को और धर्मसिंह ने अपने शिष्य सुखासिंह को सुनाया होगा। जेल के भीतर भाई मनीसिंह ने अपने शिष्यों को यह कथा नये सिरे से फिर सुनाई होगी। जिसे एक बार किसी तुर्क सिपाही ने सुना और उसी ने सरदार कोइरसिंह कलाल को सुनाया। यदि हमारे अनुमान को चुनौती नहीं दी जा रही तो 'गुरविलास' के मूल निर्माता भाई मनीसिंह ही हैं। यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि भाई मनीसिंह दशम गुरु

१. गुरमतसुधाकर : भाई कान्हसिंह, पृष्ठ ३५३
२. महान कोश : भाई कान्हसिंह (नया संस्करण), पृष्ठ ३१५

के स्वर्गारोहण के पश्चात् गुरु-पत्नी द्वारा संवत् १७७८ मे हरि-मन्दिर के ग्रन्थी स्थापित किये गए। और संवत् १७९४ में वह मुगल शासन द्वारा क़त्ल करा दिये गए।[1] जिस प्रकार वक्ता-श्रोता की कडियाँ जोडी जा रही हैं, उसके अनुसार प्रति व्यक्ति के पीछे २५ वर्ष और दूसरे पक्ष में १५ वर्ष जोड़ने पर—

२५ वर्ष : (क) भाई मनीसिंह १७७५, भगतसिंह १८००, धर्मसिंह १८२५ तथा सुखासिंह १८४७।

१५ वर्ष : (ख) (जेल में) भाई मनीसिंह १७९४, (तुर्क सिपाही १८००) कोइरसिंह १८०९ विक्रमी।

दोनों रचनाओं का समय निश्चयपूर्वक एक-सा नहीं है. अतः सुखासिंह का अपना नाम लिखना अर्थपूर्ण हो सकता है, और कोइरसिंह भी साहित्यिक चोरी के लाञ्छन से बच सकते हैं।[2] पंक्ति-की-पंक्तियाँ चुरा कर किसी निकृष्टतम साहित्यकार का भी मन नहीं भरता, ये तो भला सच्चे सिख हैं जो अपनी वक्ता-श्रोता की परम्परा स्पष्ट बता रहे है। यदि मात्र वक्ता-श्रोता-परम्परा की बात ही होती, तो कोइरसिंह को सम्भवतः पहला स्थान मिलना चाहिए; पर कोइरसिंह और मनीसिंह के मध्य 'तुर्क सिपाही' एक ऐसी कड़ी है जिसका सिख-इतिहास मे कोई मूल्य नही। अतः सुखासिंह तथा कोइरसिंह भाई मनीसिंह के प्रति सच्चे निष्ठावान् हैं—ऐसा मानने के लिए पर्याप्त सामग्री उपस्थित है।

निष्कर्ष यह कि—

(१) छठी बादशाही गुरविलास के निर्माता भाई मनीसिंह है।

(२) इसके दो संस्करण हैं : एक सुखासिंह-संस्करण, दूसरा कोइरसिंह-संस्करण।

(३) गुरविलास (छठे गुरुजी का) का निर्माण-काल सं० १७७५ सही हो सकता है।[3]

सत्रह सै बीते तबै, बरख पछत्तर जान।
सावन मास इक्कीस दिन, गयो सुखद पहिचान॥ (१७७५)
सुदी पक्ख दिन पंचमी, श्रीगुरु के परसाद।
पाइ भोग गुरुगाथ का, कर कविता अहिलाद॥

भाई सुखासिंह का जन्म सवत् १८०८ का है, अतः इस रचना के कर्तृत्व के लिए भाई जी का नाम चुनना स्वय उन्ही के पक्ष के विपरीत पड़ता है।

१. गुरुशब्दरत्नाकर महान कोश : कान्ह सिंह, पृष्ठ २८४
२. हिन्दी-काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन, हरिभजनसिंह, पृष्ठ ४७०

यहाँ लक्ष्य करने की बात है कि रचना-काल भाईसिंह के मुख्य ग्रन्थी बनने से पहले का है। इस समय न तो कोइरसिंह थे और न सुखासिंह जी। डाक्टर हरिभजन सिंह ने जिन दो संस्करणों का तुलना सारिणी बनायी है, वह इस प्रकार है—

(क) हाथ जोड़ तिन सीस नवायो सरबकथा गुरके मन भायो।
तुम दर्शन हित राजा आयो चाहत है वर दर्शन पायो।
सिखन कही भला चल आए मनसा पूर अधिक बिगसाये।
इतने में राजा तहिं आयो, सिखन तीर हजूर सुनायो।
[कोइरसिंह-संस्करण, पृ० ४८; सुखासिंह-संस्करण, पृ० १०५]

(ख) ऐसी बात मसंदन सुनी, माता तीर बेग जा मनी।
हे माता नाती समझावहु, राजन सो मत रार बढ़ावहु।
हम हैं जगत पूज निरबादी, हम कौ बनत न ऐसी सादी।
राजा रात कलूर सो आयो, ऐ सब भेदहि मै सुन पायो।
वहि जो सुनि है बजत नगारा, करै बिना नहि रहि है रारा।
[कोइरसिंह-संस्करण, पृ० ४२; सुखासिंह-संस्करण, पृ० १०२]

(ग) कोइरसिंह : मोर बचन सो करौ पियारा,
सरबकाल होइ रच्छ तुमारा॥
झूठे सरब उपाव तिआगौ,
श्री असधुज की करनी लागौ॥ पृ० ९५

सुखासिंह : मोर वचन सों करौ पियारा,
खड़गकेत है रच्छक थारा।
झूठे सरब उपाव तिआगौ।
श्री असधुज की चरनी लागौ॥ पृ० २३२

[गुरमुखी लिपि में हिंदी-काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन, पृष्ठ ४७१-४७४]

इन पंक्तियों को पढ़ कर दो निर्माताओं की मान्यता को तूल देना सिख मूल्यों के प्रति सुकर न होगा, और वास्तविकता से दूर भी होगा। हमारी नम्र सम्मति में इसका मूल रचयिता भाई मनीसिंह ही है और शेष दोनों सज्जन इसके उद्धर्ता है।

रचना—

फूट प्रहलाद हरनाम नरहरि हत्यो
फूट के बिभीषन लुटाइ लंक दई है।

फूट कुरु पांड गए सभै कुल नास किए
फूटी देखो ! केकई सु राम-सिय गई है ।
फूटे राजपूत जोई बड़े दुख पाए सोई
और हैं अनेक गाथ जोऊ पाछे भई है ।
मेल किये होत सुख, फूटन तें महा दुख
ताँतें मेल करे पाछे भई बीत गई है ॥[1]

२५. **अमृतराय**—गुरु गोविंदसिंहजी के दरबारी कवियो मे अमृतराय को असंदिग्ध शब्दो मे प्रमुख स्थान दिया जा सकता है । गुरुजी के दरबार मे पहुँचने से पूर्व राय निश्चयपूर्वक काव्य-सृष्टि के विधाता बन चुके थे और आपकी रचना रीतियुक्त पद्धति मे मूल्य प्राप्त कर चुकी थी । राय लाहौर-निवासी छैलराय के पुत्र है । यद्धपि आपकी जन्म-तिथि के विषय मे कुछ भी ज्ञात नही हो सका, पर आपका रचनाकाल अन्तःसाक्ष्य से संवत् १७३६ स्थिर किया जाता है—

संवत् सत्रह सै बरस, बीते अधिक छतीस ।
कातक नवमी सुद सुतिथ, बार चार दिन ईस ॥

अमृतराय ने भी अपने समय के शासक को स्मरण किया है—

चौगन्ता को राज, राजत देस न देस महँ ।
है तिन कौ सिरताज, औरँग साहि महाबली ॥

आचार्यवर कृपाराम तथा महाकवि हृदयराय जिस परम्परा का सूत्रपात कर चुके थे, रायजी ने उसे आगे बढाया । आपकी रीतिबद्ध रचनाएँ निम्न है—

१. नवरस—इसमें अनेक नव रसों का सोदाहरण निरूपण है ।

२. चित्रविलास—इसमे अनेक विषय है । यथा—लाहौर तथा रावी नदी का वर्णन, नख-शिख के साथ नायक-नायिकाओं का वर्णन; अन्तरालापिका, बहिरालपिका, मात्राच्युति के अतिरिक्त ककहरा आदि कवित्त है । नायक-नायिका वर्णन मे राधाकृष्ण के साथ-साथ राम-सीता का भी उल्लेख है ।

कवि अमृतराय जब गुरुजी के दरबार मे पहुँचे, तो आपको महाभारत के सभापर्व के अनुवाद का कार्य सौपा गया । आपने संवत् १७५३ में उसे पूर्ण किया । इस काव्य-निर्माण के कालान्तराल को देखकर आपका जन्म १७०० विक्रम संवत् मे बताया जा सकता है ।

१. इस पद्य की पृष्ठभूमि मे अर्जुनदेव, महादेव तथा पृथीचन्द—तीन भाइयो की गुरुगद्दी-संघर्ष की कथा अन्तर्हित है ।

साहित्यिक गतिविधि के अनुसार इस समय तक रीतिकाल अपने प्रौढ़ रूप में आ चुका था। पजाब पर भी उसकी छाया पड़ चुकी थी। राय-रचना को देखकर उसे पजाब के रीतिकाव्य का सही प्रतिनिधि माना जा सकता है। आपकी भाषा ब्रज होने पर भी भटन्त-प्रभाव से मुक्त नही हैं। यद्यपि इसमें पंजाबीपन बिल्कुल नही है, तथापि शब्दों का मनमाना प्रयोग अवश्य है। रचना—

सुडावंड-भुसुड-मंड संधूर-भूरवर,
केसगंड अलिझुंड लसे ससि खंड भाल पर।
मुकुट चंड प्रच्चंड गंडमद झरन चलत च्वै,
कुण्डल करन अखण्ड चढ़े जनु मारतंड ह्वै।
भुजदंड चतुर बलबंड अतन्यो खंड बंदत चरन।
कंटक विहंड सतखंड कर लंबोदर अमरन सरन॥

२६. **अणीराय**—रीतिकाल के अप्रिय प्रसंग में भी वीर-भावना को जागृत एवं शाश्वत रखने का श्रेय दो कवियों को दिया जा है—उत्तरप्रदेश में भूषण को और पजाब मे अणीराय को। दोनों की सम-कालीनता भी एक आनुषंगिक तथ्य है। इसका अर्थ दोनों की तुलना करना न समझ लिया जाय; कारण, दोनो की परिस्थितियों और शैलियों मे पार्थक्य को भुलाया न जा सकेगा; अलबत्ता दोनों का अभीष्ट रस और प्रवृत्ति एक है।

गुरु गोविन्दसिंह के दरबार मे अणीराय भी टहकन और अमृतराय के समान सम्मानित स्थान रखते थे। राय महोदय कौन है? इनके माता-पिता कौन हैं?—ये प्रश्न अभी तक अनसूझे पड़े हैं। अनुमान किया जा रहा है कि अणीराय गुरुजी के ताऊ थे।[1] सतिगुरु हरगोविन्दजी के द्वितीय पुत्र अणीराय का जन्म विक्रमी संवत् १६७५ मे हुआ था। यदि यह अनुमान सत्य में परिणत हो जाता है, तो ताऊजी अजीज़खाँ के साथ होने वाले गुरु गोविंदसिंह के युद्ध मे ८०-८१ वर्ष के रहे होंगे। दूसरे अनुमान के अनुसार अणीराय भाट थे। भाई शमशेरसिंह 'अशोक' का कहना है कि अणीराय-कृत रचना 'जंगनामा श्री गुरु गोविंदसिंहजी का' मे लिखित तथ्यों का ऐतिहासिक घटनाओं के साथ मेल नही बैठता।[2] यदि अशोकजी का निर्णय निराधार नहीं है, तो यह 'रचना' सुनी-सुनायी घटनाओं पर खड़ी की गई है। गुरुजी ने मुगल सेना से यह संग्राम वि० सं० १७५८ में लड़ा था; अतः संवत् १७६० के इतस्ततः रचना के लिखे जाने का

१. द्रष्टव्य—इसी ग्रंथ का पृष्ठ २३७
२. प्राचीन जंगनामे : 'अशोक', पृष्ठ १७-२४

अनुमान किया जा सकता है। दूसरी परिस्थिति में अणीराय को भाट कवि ही माना जा सकता है।

गुरुजी ने जिस प्रणाली से रायजी का सत्कार किया है एवं रायजी ने गुरुजी का जैसा ससम्मान उल्लेख किया है, उससे अणीराय और दशम गुरुजी के मध्य 'ताऊ-भतीजे' का नहीं, बल्कि 'आश्रित-आश्रय' का सम्बन्ध है ; यथा—

अनीराय गुरु से मिले, दीनी ताहि असीस।
आउ कह्यौ मुख आपनै, बहुरि करी आसीस॥
नग कंकन भूषन बहुर दीने सतिगुरु एह।
नामा हुकम लिखाय कै, दीनौ सरस सनेह॥

जंगनामा या 'वार' पंजाब की अपनी काव्यशैली है। इसे रासो की परम्परा में इसलिए नहीं रखा जा सकता कि इसमें गेय-गुण का अभाव है, जो रासो के लिए अपेक्षित तत्त्व है। इसे प्रचलित वीर-काव्यों (खण्डकाव्य या महाकाव्य) में भी नहीं गिना जाता, क्योंकि इसमें कथानक का सस्पर्श बहुत कम रहता है। कथानक एक शृंखला-बद्ध वस्तु है, जो अन्य विविध काव्य-रूढ़ियों की अपेक्षा रखती है। अतः 'वार' या 'जगनामा' एक स्वतन्त्र मुक्तक एवं आंशिक कथानक पर निबद्ध रचना होती है ; काव्यशास्त्रियों को इस पर ध्यान देना चाहिए।

जगनामा का संक्षिप्त-सा कथानक इस प्रकार है—"औरंगजेब के अन्याय-पूर्ण शासन की प्रतिक्रिया-स्वरूप 'खालसा-पंथ' का जन्म हुआ। औरंगजेब ने निन्दाजीवी सरदारों की बात कर अज़ीमखाँ की अध्यक्षता में मुगल सेना को गुरु गोविन्दसिंह पर चढ़ाई के लिए भेजा गया। आनन्दपुर के समीप ही सतलुज नदी के तट पर घमासान युद्ध हुआ। दोनों ओर के शूरवीरों ने खूब हाथ दिखाये। अन्त में गुरु गोविन्दसिंह और अज़ीमखाँ के बीच द्वन्द्व-युद्ध हुआ। अज़ीम खाँ मारा गया और विजय खालसा के हाथ रही।"

(गु० हिन्दी-काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन : पृष्ठ ६७३, पाण्डुलिपि)

रचना की भाषा ब्रज है। वीर रस का निर्वाह भली भाँति हुआ है। युद्ध-वर्णन बड़ी स्फूर्त भाषा में एवं ओजस्वी ढंग का है। अलंकारों के स्वाभाविक प्रयोग देखकर अणीराय के सहज कवित्व का पता चलता है :

आप छुटा अंकुस छुटा, बग दन्तन की पांति।
मद पानी बानी गरज, घन गज एकौ भाँति॥

वीर रस की उमंग में आक्रान्त गुरु गोविन्दसिंह का उत्प्रेक्षा-जन्य रूप-चित्र कितना खरा है :

बढ़ चलै जु सिंह गुविन्द, संग सेना प्रबल।
जनु पच्छम घन घोर, उठ्यो पावस प्रबल॥

रचना—

पाए जंत पत्र सत्र पत्र ज्यों पुराने भए
एक उड़ गए एक पवन उड़ात है।
चलै सुख फूल सूल उठै उर अरिन कै
चाहत अरिन सों अरिन बिललात है।
पायो फल प्रकट प्रताप पातसाही को सु
जोधा गुरविन्द रस कीरत चुकात है।
सूरन को लाज सुख पानप समाज आजु
तेरी तरनार रितुराज ज्यों विख्यात है॥

तुरंग फौज तोरकै मतंग मान मोर को
लरै करै अधीर सत्र जत्र पत्र पान को।
जितै समीप को गनै कृशान कोप ज्यों हनै
प्रचंड खंड कित्त मुंड तेज पुंज भान को।
घटा घटा बिदारनी धनी धरा प्रहारिणी
काल शाल काल क्रूर गूढ़ ब्यान चान को।
प्रसिद्ध दीप देस मै पुरी गनेस सेस में
गुरु गुविन्दसिंह की कृपान कै समान को॥

२७. **सन्तदास छिब्बर**—छिब्बर-परिवार की चर्चा पिछले कवि-परिचयों मे आ चुकी है। छिब्बर-परिवार का अपना ऐतिहासिक मूल्य है। एक तो इस परिवार ने गुरु-परिवार की बजारत की; दूसरे इस परिवार के एक महापुरुष ने गुरु तेगबहादुर के साथ सह-बलिदान दिया था; तीसरे, इस परिवार के दो बन्धुओं ने काव्य-रचना द्वारा गुरु-परिवार की सेवा की। भाई केसरदास छिब्बर ने 'वंशावली-नामा' लिखा था और भाई सन्तदास छिब्बर ने 'जन्मसाखी नानकशाह की' लिखी।

श्री रणधीरसिंह द्वारा एक टिप्पणी द्वारा सूचित है कि दगाहामल के पौत्र सन्तदास छिब्बर-परिवार से सम्बन्धित हैं। अतः साक्ष्य से ज्ञात है कि उसने यह रचना कश्मीर में तथा संवत् १८३४ विक्रमी मे लिखी। यथा—

रचना-काल :

चैत सुदिन थित सत्तमी, पुख नखत्र ससवार ।
सन्तदास छिब्बर लिखी, पोथी सुधा सवार ॥
संमत अठदस सै चडतीस । साका लिखते विक्रमजीत ॥[1]

रचना-स्थान—

कासमीर सुभ देस सुहायो । कसप रिसीसर के मन भायो ।
तहाँ सुदेवी का असथान । अठदस भुजा सारका जान ॥

हमारा अनुमान कुछ और है—इसमे १८३८ विक्रम-शाकाब्द का सकेत तो नही है ? तदनुसार इसका रचना-काल १७८८ विक्रमी-संवत् होना चाहिए । यदि यह निराधार नही तो इनके दादा धर्मचन्द छिब्बर भी गुरुजी के दरबारी कवियो मे से एक है ।[2] जो हो, यह विषय अवश्य अनुसन्धान के योग्य है ।

सन्तदास की रचना अभी तक एक ही मिल सकी है—"जनमसाखी सतिगुरु नानकशाह" । इस रचना का मूलस्रोत बाबा बाला की जन्मसाखी है। यही कारण है, रचना मे 'बाल-अगद संवाद' को स्थान मिल गया है । डा० हरिभजनसिंह इसे 'महिमाप्रकाश' के बाद का स्थान देते है[3]; हमारे अनुमान के अनुसार बाला की जन्मसाखी के बाद यह दूसरा सफल प्रयास है । इसका निर्णय सवत्-निर्णय होने पर किया जा सकेगा ।

रचना शृंखलाबद्ध काव्य न होकर वृत्त-संग्रह जैसी लगती है । इसमें पौराणिक प्रभाव की मात्रा अत्यधिक है । गुरु-परिवार ने अवतारवाद को अस्वीकार किया है; आश्चर्य है कि उनके अनुयायियों ने गुरु नानक को अवतार मान लिया है । बात यही समाप्त नही हो जाती, उनके अतिमानवीय चरित्रों के आधिक्य से रचना अतिरंजित हो गई है ।

भाषा सामान्यत: ब्रज है ।

रचना --

मरदाना देखें नैन पसार, इह पर्वत है अपर-अपार ।
तारे भी सब नीचे रहें, चद सूर अब दृष्ट न लहें ॥
फुन गुर तिनसो वचन बखाना, हे प्रभजी इह अति अस्थाना ।
इस गिर का कह दीजे नाम, इह सुमेर है सुण अभिराम ।
हे गुर, इस प्रसार किस आहि, चंद सूर किछु दृष्ट न पाहि ।
गुर कहि, भू के मण्डल जान, जो प्यारा है श्री भगवान ।
मरदाना बाला इत कहै, इस गिर की गति कछु न लहै ।

नीचे तुच्छ ऊपर विस्तार, इस गिर का अद्‌भुत है स्थाल।
गुरु नानक कहि सुन मरदाना, तो हित कथा पुरान बखाना।

२८. सन्तरेण—अन्तःसाक्ष्य के स्रोतों से पता चलता है कि संतरेण जी का जन्म संवत् १७९८ विक्रमी में श्रीनगर (कश्मीर) में हुआ है। आपकी माता का नाम सावित्रीदेवी एव पिता का नाम हरिवल्लभ है। जाति से गौड़ ब्राह्मण है। किन्हीं साहिबदास उदासी के प्रभाव में आकर आपने उदासी-सम्प्रदाय में दीक्षा ली। ये कुछ समय लाहौर तथा अमृतसर रहे तथा एक लम्बी यात्रा में बालापुर पीठ, मद्रास, नैपाल, उत्तरप्रदेश, सिन्ध और बलोचिस्तान तक घूम आए। मलेरकोटला रियासत के भूदन स्थान में आपने अपना एक आश्रम स्थापित किया और वहीं संवत् १९२८ में शरीर-त्याग किया।

संतरेण की रचनाएँ ये हैं—मनप्रबोध, नानकविजय, नानकबोध, वचन-सग्रह और उदासी-बोध। यथा—

मन प्रबोध ग्रंथ सो पृथक् जानिये।
दुतिय नानक विजय ग्रंथ पहिचानिये॥
तृतीय नानक बोध ग्रंथ पहचान रे।
हां वचन-संग्रह ग्रंथ सु चतुर्थ मान रे॥
पंचम इहो उदासी बोध मानियं।
जीवन तारन उपाय सुधासर जानियं॥ इत्यादि।

(संतरेण-ग्रन्थावली : पृष्ठ ग)

संतरेण की इतनी सुदीर्घ आयु में कौन-सी रचना कब लिखी गई, इसका समाधान न तो अन्तःसाक्ष्य से मिल रहा है, न बहिःसाक्ष्य से। इन सब ग्रन्थों में 'नानकविजय' एक विशालकाय ग्रंथ है। तदनुसार रचना में २० खण्ड, ३२४ अध्याय और २४३८२ पद हैं। डा० हरिभजनसिंह के अनुसार, "आदिग्रन्थ के अतिरिक्त इतने बृहत्-काय ग्रंथ की रचना इससे पूर्व नहीं हुई थी।" इस ग्रंथ को देखने से ऐसी धारणा होनी स्वाभाविक है कि 'सिख इतिहास' पर हिन्दुत्व का मुलम्मा चढ़ा हुआ है; अथवा इस पर ब्राह्मण धर्म की स्पष्ट छाप हैं। इस रचना में धार्मिकता कम और काव्यत्व अधिक है।

भाषा पृष्ठभूमि के रूप में ब्रजभाषा ही है, किन्तु उस पर पंजाबी और खड़ी बोली की छाप भी अस्वीकृत नहीं की जा सकती।

रचना—

(१)

अगन सँजोइ सजे दोहू ओर मारू बजं
सिंहन ज्यौं बीर गजै एजे नाहीं लरतं ।
दुंदभी बजै अपार गनती न बेशुमार
काहू की भई न हार कट कट मरतं ।
आमिष की मची धान चल न सकै जवान
लोथ पर लोथ पर भारी ताही धरतं ।
लरं बीर ह्वं अगारी लरने का चाउ भारी
बाँध बाँध कंजने सों आए बीर घरतं ।।

(२)

धरनी डमडोल उठी सगली, जब बीर बिरासन[1] आप चढ़े सो ।
अहि कासप और बराह वबं, दिग्गज रहे डमडोले खड़े सो ।
गिर सों गिर आप लगै भिरने गिरने सु लगे धरि माँहि जड़े सो ।
चतुरं विधि सैन मिलाइ भलै, भब बीर बिराहम आइ लड़े सो ।।

(३)

वर झूलत ताहि निसान चलै, असमान उड़ै तिनकं फररं ।
इक तै इक बीर चले बनकै, तिनि तोफन माँहि भरे छररं ।
दननाइ उठी सगली धरनी, जब तोफ लगी घहरं घर रं ।
अरराइ परं अर कै दल मैं, अपने दिल ताहि करं कर रं ।।

२९. **हरियाजी**—हरिया कवि है या भक्त, सिख है या गुरु, इसका विवेचन हरिया के कवित्व-विवेचन के साथ ही हो जाता है। हरियाजी का असली नाम हरिदास, हरिचन्द अथवा हरिमल हो सकता है। यह विचिकित्सा उनकी अपनी पैदा की हुई है :

विनवै 'हरिया' पावै सोइ ।
नरकते 'हरिदास' राखहु तऊ सरणि तुमारी जाण ।
'हरमल' ताकी पकी लंक भभीखणी पाई ।
ऐसी बोइ 'हरचन्दा' लगै नाहीं दूख ।। इत्यादि ।

डा० हरिभजनसिंह का विश्वास है : "बाला और हरिया दोनों सिन्धू जाट थे और उदासी सन्त थे ।" तदनुसार इनका निवास-स्थान बल्लूआणा (ज़िला

१. इब्राहीम लोदी

भटिन्डा) है। इसी गाँव में बाला की समाधि आज भी विद्यमान है।[1] स्पष्ट रहे, **बाला गुरु नानकजी के दो अनुचरों में से 'एक' हैं।**

हरियाजी के लिखे किसी ग्रन्थ का तो कोई पता नहीं चलता, पर एक सम्पादित पुस्तक मिलती है—'ग्रन्थ हरियाजी का। यह रचना उसके किसी शिष्य का संग्रह ज्ञात होता है। आदि-ग्रन्थ में जिस 'कच्ची वाणी' का संकेत मिलता है, उसका सम्बन्ध हरियाजी के पदों से जोड़ा जा सकता है। हरियाजी ने आदि ग्रन्थ के प्रश्न का भी उत्तर दे दिया है। यथा—

आदि ग्रंथ : कहै नानक सतिगुर बाझहु होर है कच्ची वाणी।

हरिया जी : एक लीक कहने मुग्ध अज्ञानी। मुख उचारहु सच्ची बानी।

यदि बाला और हरियाजी समकालिक है, तो मानना होगा कि बाला ने नानक का शिष्यत्व ग्रहण कर ख्याति अर्जित की और हरियाजी ने गुरुत्व को चुनौती देकर। यद्यपि हरियाजी का समय निश्चित नहीं है, तथापि समय-निर्धारण के आधार मिल जाते हैं। हरिया ने बाबर तथा हुमायूँ की चर्चा की है। यथा—

बाबर सरणं हमाऊ ए गए होई परासुणी।

संवत् १५८७ विक्रमी में बाबर का तथा संवत् १६१३ विक्रमी में हुमायूँ का शरीर-पात हुआ था। उक्त अन्तःसाक्ष्य से हरियाजी का समय संवत् १६२० विक्रमी अनुमेय नहीं हो सकता। दूसरी बात इससे भी अधिक रोचक है। आदि-ग्रन्थ का संकलन सं० १६६१ विक्रमी में हुआ था। तदनुकरण उसने भी राग-रागिनियों में रचना की। यह अनुकरण का उत्साह यौवन में सम्भव हो सकता है; अतः संवत् १६२० में हरियाजी का जन्म निश्चित करना निराधार नहीं हो सकता। हरियाजी के नामांकित ग्रन्थ पर संवत् १७९२ का निर्देश है। अतः पूर्व-कथित समय हरियाजी का रचनाकाल एवं १७९२ संवत् सम्पादन-काल किसी सीमा तक ठीक हो सकता है।

हरियाजी की रचना सभी शैलियों को आत्मसात् किये हुए है। यथा—सगुण भक्ति (रामभक्ति) तथा निर्गुण भक्ति; पद-शैली, अष्टपदी शैली तथा अन्य विविध शैलियाँ।

भाषा पर पंजाबीपन की पूरी छाप है।

---

१. हिन्दी-काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० १५३ (पाण्डुलिपि)

रचना :

(१)

प्रभ कै सिमरनि परमराइ न पूछै। प्रभ कै सिमरनि मग पंथ न सूझै।
प्रभ के सिमरनि चित्त गुपतु में हाही। हरि दरगाह सेवक हो जाही।
हरि प्रभ सिमरति संभु विष भावै। प्रभ सिमरतु सचि समावै।
प्रभ सिमरत का सभ कौ अधीनु। जाहरु दीखै महा प्रवीनु।
प्रभ सिमरण की महिमा मैं गणी न जाइ। हरिया प्रभ सिमरन बैकुठी पाइ।

(२)

बोली साधु सच बखाणु। गुर प्ररसादि एकौ जाणु।
नित उठि पढ़ता वेद पुराणु। रघुपति घटि महि रहिआ समाइ।
ढूँढई कतेब जाहि खुदाई। अलहु घटि घटि रहिआ समाइ।
गंगा जमना जाहि गुदारी। घटि महि रहिआ प्रभु मुरारी।
मकै मदीने जावहि हज्जि। रबु न पाइए कितहो भज्जि।
जोग अभिआस जती कहावै। करत गुमान फिरि-फिरि आवै।
सेख कहाइ बहै मसीति। हछी होइ न कच्ची भीति।
हडमैं दुलिए की गंठि मिटाई। ता तुहि दरगह रहे सजाई।
गुरपीरु मिलै उजिआरा होई। बिनवै हरिया पावै सोई।

३०. **सभाचन्द सोंधी**—'कथा कामरूप' के प्रणेता सभाचन्द सोधी जालन्धर-निवासी क्षत्रिय है। आपका जन्म अनुमानतः विक्रमी संवत् १७५० बताया जाता है। लेखक ने अपना रचना-काल १७९८ संवत् बताया है। रचना परिपक्व प्रतिभा का प्रसाद ज्ञात होती है, अतः जन्म-समय का अनुमान एकदम निराधार नहीं ठहराया जा सकता। रचना पर लिपि-काल १८५८ भी देखा है। लेखक प्रथानुसार 'सुल्तानशाह मुहम्मद' को स्मरण करता है। नादिरशाह की लूट का प्रसग भी यथास्थान संकेतित है। पजाब की सूफ़ी-परम्परा में 'कथा कामरूप', जो लेखक की अनन्य रचना है, असंदिग्ध शब्दो में प्रथम पद के योग्य है। कारण, इससे पूर्व-अंकित प्रेमाख्यान (हीर-राँझा, नल-दमयन्ती एवं पख्यानचरित्र) एवं रहस्यमय विपक्ष-विहीन होने से 'प्रेमाख्यान' तो ठीक है, पर सूफ़ी काव्य नहीं है—यह निश्चित बात है। 'कथा कामरूप' के दो-दो अर्थ लगाये जा रहे हैं। कथा का सारभाग इस प्रकार है—

अवधनरेश 'राजपति' संतान के अभाव से नित्य चिंताग्रस्त रहते थे। उन्होंने

पुत्र-प्राप्ति के हेतु चले आ रहे सभी शास्त्रसम्मत विधान, यथा—यज्ञ, देवार्चन, दान-दक्षिणा इत्यादि पूरे किये। सौभाग्यवश किसी महात्मा के अमोघ आशीर्वाद से उनके पुत्र हुआ, जिसका नाम रखा गया—'कामरूप'। कामरूप को राजोचित शिक्षा दी गई। फलतः देखते-ही-देखते वह कलाओं में पारंगत हो गया। वह चोटी का शिकारी भी सिद्ध हुआ। उसके जीवन-संगी—मित्रचन्द, विद्याचन्द, चतुरमणि, मानकचन्द तथा कलावन्त—उसके प्रत्येक क्रियाकलाप मे सहयोग देते।

कामरूप ने एक स्वप्न देखा—सिंहल द्वीप है, कोई छत्रपति उसका राजा है। राजधानी भव्य अद्वितीय है। मित्रचन्द के साथ कामरूप ने उद्यान में भ्रमण करती राजकन्या कामलता को देखा। कामलता की अनन्य सहचरी कामकला ने राजकुमार को देख लिया। कामकला पहले राजकुमार के पास आयी, समाचार जाना और राजकुमारी से निवेदन किया। जैसा कि सिंहल-नरेश की आज्ञा थी कि जो अज्ञात रूप से उद्यान में प्रवेश करेगा, उसे बन्दी बनाया जायगा। राजकन्या ने यथा-विधान राजपुत्र कामरूप को बन्दी बना लिया। राजपुत्री कामलता को देखते ही कामरूप मूर्च्छित हो गया। कामकला ने उपचार कर उसे सचेत किया। होश में आते ही उससे आँखें चार हुईं। बस, फिर क्या था, रतिरंग बरसने लगा। मित्रचन्द कामकला का हो रहा। इतने में स्वप्न टूट गया।

स्वप्न टूटते ही कामरूप विलाप करने लगा। पिता के बार-बार सान्त्वना देने पर राजकुमार का काम-ज्वर विलीन होने के स्थान पर अन्तर्लीन हो गया। मित्रों ने मित्र के लिए अनेक उपाय किये, पर परिणाम कुछ नहीं निकला। बड़ा प्रयत्न करने पर राजपुत्र ने स्वप्न कह सुनाया।

किसी भ्रमणशील ब्राह्मण ने अवध-नरेश के समक्ष सिंहलद्वीप का वर्णन किया, जैसा कि इससे पूर्व कामरूप सुना चुका था। ब्राह्मण द्वारा यह भी स्पष्ट हो गया कि 'कामलता' भी स्वप्न में राजकुमार से मिल चुकी है। पिता की अनुमति पाकर कामरूप अपने मित्रों के साथ सिंहल-द्वीप के लिए निकल पड़ा। मित्र-मण्डली अवध से चलकर बंगाल पहुँची और बंगाल से पोत द्वारा समुद्री मार्ग पर आगे बढ़ चली। दुर्भाग्यवश पोत भंग हो जाने से मित्र-मण्डली समुद्र में गिर गई और सभी मित्र दैवयोग से एक-दूसरे से अलग-अलग पड़ गए।

राजकुमार उत्ताल तरंगों पर तैरता हुआ मदनपुर जा पहुँचा। वहाँ की

शासिका इन्द्रावती उस पर मुग्ध हो गई। इन्द्रावती के घर से उसे तारावती ले उड़ी। तारावती की सपत्नी चन्द्रावती के सत्प्रयासों से राजकुमार की मुक्ति हुई।

राजकुमार के मित्र अलग-अलग विपत्ति में जा घिरे। मित्रचन्द दैत्यराज हुदुम के घर जा पहुँचा। विद्याचन्द किसी अज्ञात देश की राजकुमारी के कोप से शुक बन गया। धनन्तर तथा चतुरमणि किसी-न-किसी प्रकार से सिंहल द्वीप जा पहुँचे। सिंहलद्वीप के नरेश ने धनन्तर द्वारा कामलता की चिकित्सा करायी। चतुरमणि के प्रयत्न से शेष मित्र भी सिंहल द्वीप पहुँच गए। कामलता ने अपने स्वयंवर में साधु-वेश में कामरूप का वरण किया। छत्रपति से संक्षिप्त-सा युद्ध करके सफलता प्राप्त की और कामलता की डोली लेकर सकुशल अवध लौट आए।"

इस संक्षिप्त कथा के रहस्यवादी पक्ष को समझने में कुछ कठिनाई नहीं रही। साधक कामरूप की सिद्धि, कामलता की प्राप्ति में आने वाली कठिनाइयाँ साधना का प्रतीक मानी जाती है। कामरूप के मित्र मित्र न होकर साधक के प्रतीक-मात्र हैं; यथा—

कलावन्त—नाटक, नृत्य एवं रस-विद्या का आचार्य,

मानकचन्द—जौहरी (परीक्षा),

चतुरमणि—चित्रकार (कल्पना),

धनन्तर—चिकित्सक,

विद्याचन्द—न्याय-व्याकरण का पण्डित।

कला, परीक्षा, कल्पना, मनोविज्ञान तथा विद्या—ये साधक के सफलता तक पहुँचने में सहायक शक्तियाँ है। साधना मन का कार्य है। मन काम की रंगभूमि है। काम और कामना—क्या इसमें अद्वैतवाद की सुपस्ष्ट ध्वनि नही है?

प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि कथा मौलिक है अथवा श्रुति-परम्परागत? लेखक ने मौन भंग करते हुए स्वयं कहा है:

देखी हुती फारसी माहीं। भाषा में देखी कहुँ नाहीं।

आधारभूत रचना अवश्य पारसी में किसी मुसलमान सूफ़ी की कृति रही होगी। इसकी पुष्टि रणजीतसिंह के समकालीन अहमदयार खाँ (वि० संवत् १८८६) तथा काजमबेग (वि० संवत् १८९३) की लिखी 'क़िस्सा कामरूप व कामलता' से होती है, जो परम्परागत पारसी कथा की कड़ी की सूचक हैं।

अलबत्ता हिन्दी मे जबतक इस नाम की अन्य रचना नही मिल जाती, तब तक इसे प्रथम हिन्दी-रूपान्तर मानने में कोई दोष नहीं है।

'कथा काम रूप' दो सस्कृतियों का सगम-स्थल है; यथा—

भारतीय संस्कृति : १. स्वप्न में प्रथम मिलन, २. प्रेम का 'साधना' की पृष्ठभूमि पर परिपक्व होना, ३. प्रणय-साधना।

ईरानी संस्कृति : १. मानव-जीवन में शैतान का सहयोग, २. प्रणय, ३. स्त्रियों में पुरुषों की प्रेमासक्ति।

यद्यपि कथा के रहस्यवादी पक्ष का स्पष्ट सकेत रचना में ही मिल जाता है, तथा मित्र-मण्डली के नामकरण पर कुछ अन्य तुक भिडाने का अवकाश भी मिल जाता है; यथा— 'यदि 'कामलता' एक वैदिक ऋचा है तो ऋषि (काम-रूप) बिना निरुक्त, व्याकरण, कल्प, शिक्षा, ज्योतिष तथा छन्द के उसे पा नही सकता।"

सभाचन्द की रचना दोहा-चौपाई में अकित है। भाषा पंजाबी-प्रभावित ब्रज है।

रचना :

उपमा

सुन यह कथा कुँवर मुसकायौ। जिमि शशि बादर सों निकसायौ।
सुनकर कामलता वा पाही। लिपट पड़ी जैसे परिछाहीं:

संदेह

भौवें देख उठे मन शंका। मानौ परसराम को धनका।

(१)

वाह देखकर बेसुध भई। मानो वही शिकार हो गई।
जब यह भोर सुपन से जागी। वही वही पुकारन लागी।
वही वही कर अपन बिसारौ। पुनि अपन कौ कछु न सम्हारौ।
रैन दिना वाही सों जगै। वाह बिना कछु भला न लगै।
वही शिकारी जब चित आवै। यह विचार चितचेत हो जावै।

(२)

विरह न माने राम दुहाई। प्रेम विरह है अति दुःखदाई।
मैं सों साँची कोऊ न जानै। पेम कसु की कही न माने।
मैं जो बात बुध की कहूँ। पेम आय सुधबुध तज रहूँ।
पेम कहानी कठिन कहानी। क्या करै कामकला अर रानी।

पेमकला आगे सभकला। जैसे काम आग जस जला।
'सभा' जैसो अति सियानौ। पेमकला के हाथ बिकानौ।
और कसु की क्या बखानूँ। हौं तौ अपना आप न जानूँ।

३१. **निश्चलदास**—दादूपथ को अनेक भक्तों एवं सन्तों का संबल प्राप्त रहा है। पंजाब के साधु निश्चलदास दादूपंथ के मूर्धन्य रत्न हैं। हाँसी, जिला हिजार के कूँगड़-ग्रामनिवासी निश्चलदास जन्मना जाट थे। उनका वर्ण गौर तथा शरीर सुडौल था। जातिभेद के कारण उत्कट इच्छा रखने पर भी निश्चलदास कहीं से संस्कृत पढ़ने में कृतकार्य न हो सके। अन्ततोगत्वा काशी में जाकर संतजी ने अपने-आप को ब्राह्मण घोषित किया और सांख्य, न्याय, वेदान्त तथा व्याकरण पढने में सफल हो गए। इसकी पुष्टि अन्तःसाक्ष्य से भी हो जाती है :

सांख्य न्याय में श्रम कियौ, पढ़ि व्याकरण अशेष।
पढ़े ग्रंथ अद्वैत के, रह्यौ न एकहु शेष॥
कठिन जू और निबन्ध हैं, जिनमें मत के भेद।
श्रम तैं अवगाहन कियै, निश्चलदास सवेद॥

यह भी सुना जाता है कि इन्हें द्विजश्रेष्ठ जानकर कोई अपनी कन्या देना चाहता था, पर सत्यप्रेमी सतजी ने अपना वर्ण तथा जाति घोषित करके चिर मुद्रित रहस्य पर से पर्दा उठा दिया। निराश ब्राह्मण ने इन्हें शाप दिया कि तुम्हारे दो विवाह होंगे; आगे चलकर ऐसा ही हुआ। संतजी कब और किसके चरण पकड़ कर दादूपंथ में दीक्षित हुए, इसका कोई संतोषप्रद समाधान नहीं मिल रहा। अपने गाँव में रहकर ये वेदान्त का उपदेश देते रहे। बूँदी-नरेश महाराज रामसिंह इनके दीक्षित शिष्त हुए।

रचनाएँ—विचारसागर, वृत्तिप्रभाकर तथा मुक्तिप्रकाश है। 'विचार सागर' तो मराठी, बँगला तथा अंग्रेजी में अनूदित हो चुका है। निश्चलदास की कृतियों ने स्वामी विवेकानन्द को सर्वाधिक प्रभावित किया प्रतीत होता है। स्वामीजी ने 'विचारसागर' पर छोटी-सी टिप्पणी करते हुए लिखा : **यह भारत के अन्तर्गत गत तीन शताब्दियों में लिखे गए किसी भाषा के ग्रन्थों में सबसे अधिक प्रभावशाली है।** सुनते है, इन्होंने एक वैद्यक का ग्रन्थ भी लिखा था। एक दन्तकथा के अनुसार, संतजी गंगा मे खडे-खडे शरीर-त्याग की बात

१. स्रोत—'सप्तसिंधु', वर्ष २, अंक ८ : सं० महेन्द्र एम० ए०

सोच रहे थे कि 'रसपुंज' जी से छन्दशास्त्र पढकर संतजी ने उसमें दक्षता प्राप्त की।

निश्चलदास का जन्म-संवत् १७६० तथा निधन-संवत् १८२० लोक-विश्रुत है; इस विषय में प्रमाणित सूचना कोई नहीं। अलबत्ता यह निश्चित है कि निधन के समय संतजी किहडोली गाँव में थे।

रचना:

अन्दर बाहर एक रस, जो चेतन भरपूर।
विभु-नभ सम सो ब्रह्म है, नहिं नेरे नहिं दूर॥
ब्रह्मरूप अहि ब्रह्म चित, ताकी बानी बेद।
भाखा अथवा संसकृत, करत भेद-भ्रम छेद॥
सत्य बंध की ग्यान तैं, नहिं निवृत्ति संयुक्त।
नित्य कर्म संतत करै, भयौ चहै जो मुक्त॥
भ्रमन करत जँ पवत तैं, सूको पीपर पात।
सेश कर्न प्रारंब्ध तैं, क्रिया करत दरसात॥
चेतन मिथ्या स्वप्न कौ, अधिष्ठाता निरधार।
सोहं द्रष्टा भिन्न नहीं, तैसे जगत विचार॥
परमानन्द स्वरूप तू, नहिं तो में दुख लेश।
अज अविनाशी ब्रह्म चित, जिन आनै हिय क्लेश॥
दीनता कौ त्याग कर आपनो स्वरूप देख
तू तौ सुद्ध ब्रह्म अज दृस्य कौ प्रकासी है।
अपने अज्ञान तैं जगत सब तू ही रचै
सर्व कौ संहार करै आप अबिनासी है।
मिथ्या प्रपंच देख दुख जानि आनि हिय
देवन को देव तू तौ सब सुख रासी है।
जीव जग हंस होय माय के प्रभाव तू ही
जैसे रज्जु साँप सीप रूप ह्वै प्रभासी है॥

३२. **गरीबदास**—धार्मिक स्तर पर अनेक मत-मतान्तर पंजाब में अभी तक चल रहे है। जिनमें प्रसिद्ध है—लालपंथ, साधपंथ, सत्तनामी, नागी सम्प्रदाय, चरणदासी, बावरीपंथ इत्यादि। इनमें गरीबदासी पंथ भी विशेष उल्लेखनीय स्थान रखता है।

गरीबदासी पंथ के प्रवर्तक संत गरीबदास, रोहतक जिले की झज्जर

तहसील में जन्मे। आपका जन्म वैशाख सुदी १५, विक्रम संवत् १७७४ सर्व-सम्मत हो चुका है। आप भी जन्मना जाट थे। आपके पिता खेतिहर किसान थे। यह प्रसिद्धि है कि १२ वर्ष की आयु में भैंसें चराते हुए बालक गरीब ने कबीर के दर्शन किये। तार्किक विद्वानों का कहना है कि बालक गरीब ने स्वप्न में कबीर के दर्शन किये होंगे। जो हो, संतजी ने कबीर को अपना प्रेरक माना है :

दास गरीब कबीर का चेरा।
सत्त लोक अमरापुर डेरा।
ऐस सतगुर हम मिला, तेजपुंज के अंग।
झिलमिल नूर हजूर है, रूप रेखा नहिं रंग॥

संत गरीबदास आजीवन गृहस्थ रहे। परिव्राजक हो जाने की अपेक्षा आपको यह प्रवृत्ति अधिक रुचिकर हुई। आप जीवन-भर छुटानी गाँव में रहे। भादों सुदी २, विक्रम संवत् १८३५ में आपने अपना जीवन संवरण कर लिया। अबतक आपके उत्तराधिकारी भी गृहस्थ ही चले आ रहे है। कहते है—छुटानी में, गरीबदास के मठ में, जहाँ प्रतिवर्ष मेला भी लगता है, आपका जूता, लोटा, कटोरा तथा पलंग आदि सब यथावत् विद्यमान हैं।

गरीबदास की रचनाओं का संग्रह 'हिखर बोध' बताया जाता है। कहते है, संतजी ने कोई चौबीस हजार पद लिखे थे, पर अब सात हजार ही उपलब्ध हैं। बैलवेडियर प्रेस, प्रयाग ने 'गरीबदास की बानी' नानक संग्रह छापा था। रचना मे पदों के अतिरिक्त सवैया, रेख्ता, झूलना, अरिल्ल, बैत, रमैनी आरती आदि भी है। संत गरीबदास के विचारों को इस प्रकार वर्गीकृत देखा जा सकता है; यथा—

१. सद्गुरु मे ईश्वरीय सत्ता विद्यमान रहती है।

२. ईश्वर निराकार, निर्विशेष, निर्लेप, निर्गुण, आदिमध्यान्त-शून्य है।[1]

३. सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उससे भिन्न नही है।[2]

४. ईश्वर हमारे शरीर में भी विद्यमान है।

५. ईश्वर को प्राप्त करने के लिए सुरत, निरत, मन और पवन का समन्वय आवश्यक है।[3]

१ सबद अतीत अकास है, निरगुन सरगुन नाहिं।
२. एक ही फूल फल डार है रे।
३. चार पदारथ महल में, सुरत निरत मन पौन।

६. सिद्धावस्था मे इन्द्रियाँ और पदार्थ मन को प्रभावित नही करते।[1]

७. ईश्वरोपलब्धि का मुख्य साधन है—विश्वास।[2] इत्यादि

सत गरीबदास की वानी ब्रज तथा खड़ीबोली का सुन्दर समन्वय है। पंजाबी शब्दो ने उसे 'सधुक्कडी' बनाने में कोई कमी नही रहने दी है। रचना—

आदि सनातन पंथ हमारा। जानत नाहीं यह संसारा।
पंथो सेती पंथ अलैहदा। भेखों बीच पड़ा है वहदा।
षट् दरशन स ब खटपट होई। हमरा पंथ न पावै कोई।
हिंदू तुरक कदर नहीं जानै। रोजा ग्यारस करै धिक् तानै।
दोनों दीन यकीन न आसा। वे पूरब वे पच्छ निवासा।
दुहूँ दीन का छोड़ा लेखा। उत्तर दक्खिन में हम देखा।
गरीबदास हम निश्चय जाना। चारों खूंट दसौदिस ध्याना।
आदि समय चेता नहीं, अन्त समय अँधियार।
मध्य समय माया रते, का कर लिए गँवार॥

३३. गुलाबसिंह—पंजाब के वेदान्तवादी साधु-संतों मे संत गुलाबसिंह को अमदिग्ध शब्दों मे मूर्धन्य स्थान दिया जा सकता है। इनका जन्मस्थान कहाँ है, इस विषय मे अभी तक अनुमान ही लगाये जा रहे हैं। अन्तःसाक्ष्य से केवल इतना सकेत मिलता है कि यह मालवा के रहने वाले थे। भाई कादरसिंह ने इनका जन्मस्थान 'सेखव' गाँव माना है, जो पत्तीको के पास, चार मील दूर कच्ची सडक पर है।[3] इनका स्मारक कुँआ भी वहाँ बताया जाता है। वैसे सामान्यतः नाभा, भठिण्डा, मिटगोमरी तथा फिरोजपुर जिलो को मालवा कहा जाता है। सतजी ने अपने माता-पिता का नाम (गौरी तथा रायचन्द) अनेक स्थानो पर अकित कर दिया है। इस नामोल्लेख के विषय में भी एक किंवदन्ती है। तदनुसार गुलाबराय या गुलाबदास अभी अविवाहित ही थे कि वैराग्य-प्रेरित घर से निकल पडे। कुरुक्षेत्र के प्रसिद्ध सरोवर पर संत मानसिंह की शरण ली और उन्हीं से दीक्षा ली। इधर माता-पिता भी ढूँढ़ते-खोजते कुरुक्षेत्र आ पहुँचे। यद्यपि अपनी सहज दयालुता के वश संत मानसिंह तो अपने शिष्य को माता-पिता के साथ वापस भेजने को प्रस्तुत थे, पर गुलाबसिंह इसके लिए तैयार न हुए। जब पिता रायचन्द तथा माता गौरी ने अपने इकलौते पुत्र द्वारा

१. एकौ मन एकै दिसा, सोई के दरबार।
२ साहब साहब क्या करै, साहब है परतीत।
३. महान कोश : भाई काहनसिंह, पृष्ठ १२६५

संभाव्य वंश-वल्लरी के विस्तार की दुहाई दी, तो गुलाबसिंह ने अपनी रचनाओं में ही माता-पिता के अमरत्व की इच्छा प्रकट कर 'संतभाव' छोड़ने से इन्कार कर दिया। सतजी ने अपना वचन पूरा किया; यथा—

माता-पिता : **गौरी जननी लोक में, राइया जनक महान।**
गुलाबसिंह सुत ताहि कं, नाटक कीन बखान॥

—**प्रबोधचन्द्र नाटक**

गुरुदेव : **जिह अज्ञान निवारियो, दीनी मोख अपार।**
मानसिंह गुरु चरण को, बंदौ बारंबार॥

अनुमान है कि गुलाबसिंहजी का जन्म-काल संवत् १७८६ है।

संतजी की रचनाओं की संख्या यद्यपि २०-२५ तक बतायी जाती है, पर इस समय कुल चार ही रचनाएँ उपलब्ध है। यथा—

१. **भावरसामृत**—वैराग्य एवं ज्ञान-उद्‌बोधक कवित्त-सवैयों का संग्रहात्मक ग्रन्थ है। यह वैराग्यशतक का अनुवाद है। इसकी पद-सख्या १३० है। रचना १८३४ विक्रमी मे समाप्त हुई। खालसा कालिज, अमृतसर के प्रोफेसर ज्ञानी विशनसिंह ने इसपर एक टीका भी लिखी है।

२. **अध्यात्मरामायण**—रचना संस्कृत के इसी नाम से विख्यात धर्मग्रन्थ पर लिखी गई है। रचना सात काण्डों में और काण्ड कई अध्यायों में विभक्त हैं। रचना मे कवित्त-सवैयों के अतिरिक्त मालती, नाराच, दोहा-चौपाई, तोमर तथा गियामालती आदि विविध छन्द भी है। पुस्तक सवत् १८३६ मे समाप्त हुई है।

३. **प्रबोधचन्द्र नाटक**—यह सस्कृत के 'प्रबोधचन्द्रोदय' का अनुवाद है। इससे पूर्व महाकवि केशवदास[1] तथा महाराज जसवन्तसिंह[2] इसके अनुवाद प्रस्तुत कर चुके थे।

४. **मोक्षपंथप्रकाश**—संस्कृत के वेदान्त-ग्रन्थ 'स्वराज्यसिद्धि' का अनुवाद है।

इन रचनाओं में काव्य की शिथिलता एव भाषायी कसावट की कमी दृष्टिगोचर होती है। शायद ही कोई कविता पाद-पूरक शब्दों से बच सकी हो। कहीं-कही तो पूरक शब्दांशों की अति हो गई है। भाषा ब्रज है। पंजाब के अधिकतर कवियों की भाषा पंजाबी पुट से अछूती नहीं है, पर सन्त गुलाब-

१. विज्ञानगीता, संवत् १६७४
२. प्रबोधचन्द्रोदय, संवत् १७७५

सिंह को इस दृष्टि से अपवाद मानना होगा। रचना में भाषा का प्रवाह और भावों की मिठास है। अलंकार भी स्वाभाविक हैं, उनमें व्यर्थ का आडम्बर या ठूंस-ठाँस नही है। अनूदित रचनाओं में भी मौलिकता के दर्शन हो ही जाते है। सन्त गुलाबसिंह पजाब के सन्त-साहित्य में प्रतिनिधि-स्थान रखते है—इसमें कोई अविशयोक्ति नही।

रचना :

(१) हेमगले अरु सीस उतंग उठाइ सु: पाद महा हिनकाते।
कोटि तुरंग कुरंग से कूदत दौर प्रभंजन कौ जिन जाते।
दिग्गज से गज भौन दुवार सु झूलत है मदरा मदमाते।
यों विधि याहि भए तौ कहा जब जानकी नाथ के रंग न राते॥

(२) धन ईश दियौ जग भीतर जे बिन बुद्धि गए न कछू फल पाये।
सुभ सतन की नहिं सेवाकरी अरु विप्रन तै नहिं जाप कराये।
नहिं कूप खनौ जल हेत कभी घर भीतर ना जलताल बनाये।
बलहीनन कौ सुख दान दियौ नहिं दीनन के दुख दूर मिटाये॥

(३) दृगजोत घटी कटि हूं लटकी पलटी सब देह न राम सँभारे।
कर में न उठी लकुटी कर तै घर मांहि लटी सु महा अब हारे।
जब बालक थे तब खेलमते तरुनापन में सब काज बिगारे।
अब और न ओट निहारत हैं शरनागत हौ जल भूधर तारे॥

(४) कहिं कोविद बैठि विचार करैं कहिं मूढ़ भयानक रार मचायी।
कहिं रोग महातन ताप बहैं कहिं सौरभ सुंदर देह दिखायी।
विधि मेल सुधारस संग किधौ विध माइक ने यह खेल रचागी।
नहिं जान परैं जग माहि सुधारस कै विध नं बिसबेफ बनायी।

३३. **हरिराम**—पंजाब के हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि मे निरंजनी सम्प्रदाय का भी बहुत बडा सहयोग रहा है। इसी सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य हरिराम ने एक छन्दोलक्षण-ग्रन्थ लिखा है—'छन्दरत्नावली'। पुस्तक परोक्ष रूप से कृष्ण-भक्ति का प्रतिपादन भी करती है। कवि ने अन्त मे लिखा है :

ग्रन्थ छन्द रत्नावली, सारथ याको नाम।
भूषण भारती तै भयौ, यहं दास हरिराम॥

वाच्यार्थ से रचना के नामकरण की यथार्थता तो व्यक्त है ही, व्यंग्यार्थ के रूप में यह भी पता चल जाता है कि कवि ने 'भारती-भूषण' नामक कोई

अलंकार ग्रन्थ लिखा था, यह उसका पूरक ग्रन्थ है। आशा है, रचना कहीं-न-कहीं अवश्य मिलेगी।

रत्नावली मे ऐसी कोई उल्लेखनीय बात नहीं है, जो इसे अन्य लक्षण-ग्रन्थों से अतिरिक्त सिद्ध करे। छन्दों के लक्षण सुविधानुसार दोहों या चौपाइयों में दिये गए हैं, परन्तु उदाहरणों पर कृष्ण-भक्ति का रंग स्पष्ट है। यह अनुमान निराधार न होगा कि कभी इस ग्रन्थ की बडी धूम रही होगी। रचना की सफलता या सुन्दरता न केवल रीति-परक रचनाओं की कडी की पूर्ति करती है, बल्कि हरिराम को आचार्य सिद्ध करने मे भी पर्याप्त सहायता करती नजर आती है। कुछ विद्वानों ने छन्दोरचना को बहुत बड़ा काव्यकौशल नही माना, हम उन्हे 'छन्दरत्नावली' पढने का अनुरोध करेंगे और वे अनुभव करेंगे कि लक्षण-ग्रन्थ पर भी काव्यत्व का मुलम्मा कितना सुन्दर लगता है।

रचनाकार ने अपना परिचय विशेष नही दिया, फिर भी अन्तःसाक्ष्य से इतना अवश्य पता चल जाता है कि विक्रम सवत् १७९५ मे, डिडवाना में 'छन्दरत्नावली' रची गई थी। रचना की भाषा विशुद्ध व्रज है।

रचना :

तोटक : पिक बैन मृगी दृग कीरन की
मन मार तिया बन को निकसी।
लख वै थिरती जिनके मन हैं
हरिराम कहे जग में धन्य हैं।

कुण्डलिया : बार न लाई कृशन तुम, द्रुपदसुता की बार।
पार दुशासन ना लह्यौ, बढ़ गए बास अपार।
बढ़ गए बास अपार, इन्द्र तब तुम्है अराधं।
अनुज रूपधरि ताहि, काज ताकं तुम साधं।
अब हरिराम सुबार, बार कीनौ इक बारन।
तुम तारे सो हम सुने नर अंतज कपि बारन।

३५. **गिरिधर कविराय**—इनका पूरा नाम गोस्वामी गिरिधर कविराय है। इनके पिता गोस्वामी धर्मचन्द जो लाहौर के निवासी थे। 'कविराय' शब्द देखकर कई विद्वान् भ्रान्त हो गए और इन्हे ब्रह्मभाट तक लिखने लगे हैं। ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने इनका जन्म-काल संवत् १७७० विक्रमी माना है। हमारा विश्वास है कि ठाकुरजी ने ठीक नहीं लिखा। जनश्रुति के अनुसार इन्हें १७३० संवत् में जन्मा बताया जा सकता है; अलबत्ता १८०० विक्रम-संवत्

इनका रचना-काल निर्विवाद है। इधर कई वर्षों से विवाद चल रहा है कि गिरिधर कविराय कहाँ के हैं ? हम इन्हें पंजाब-निवासी सिद्ध करने के लिए दो तर्क दे सकते है, एक तो इनकी रचनाएँ हिन्दी (भाषा) के अतिरिक्त पंजाबी मे भी मिलती है ; यथा—

फकीरी करणी कठिण ए, छडणी सत्त प्रवित्त।
जीणा मरणा जगत दा, बाजंतण होण निवित्त।
बाजंतण होण निवित्त, नर खारी रंच मुताजी।
जो जैसी है आवणी, तिसु मैं रहणा राजी।
कह गिरिधर कविराय, भ्रान्त की फारो चीरी।
इक आलम में मगन, तिसी का नाम लकीरी॥

दूसरे, भाई काहनसिंह ने अपने महान्कोश में इन्हे पंजाब-निवासी ही सिद्ध किया है।[1]

अब तक इन्हे मुकन्द कवि ही माना जाता रहा है। पर इनकी प्रेमाख्यान रचना 'नल-दमयन्ती' ने पहली धारणा को बदल दिया है। रचना खण्डित है, पर उसमें दिया रचना-काल स्पष्ट है :

दस अवर सत लौ कहैं संवत् एक पचास।
मधर मास रविवार में, तिथ षट् हैं पंचास॥[2]

अर्थात् सवत् १७५१ मे 'नल-दमयन्ती' खण्डकाव्य लिखा गया। उसमें भाषा आरम्भिक, भाव सरल तथा अभिव्यक्ति सहज है। उसमें अलंकार-बहुलता न होने पर भी आकर्षण है; व्यंजना न होने पर भी सशक्त भावपक्ष है। कुंडलियों के जिन पदों में 'साँई' शब्द देखा जाता है वह 'गोस्वामी' पद का परिचायक है और 'पति' शब्द का भी ; जनश्रुति में इन कुंडलियों को गिरिधर कविराय की पत्नी की रचना कहा जाता है। गोस्वामी जी निस्सन्तान थे। वैराग्य भाव से प्रेरित गोस्वामी जी आजीवन तीर्थाटन में रहे। कुंडलियाँ यात्रा मे ही लिखी गई है। उन पर खड़ी बोली की स्पष्ट छाप है। 'नल-दमयन्ती' की भाषा साधारण है।

रचना :

दासी पूछै सुन पुरुष, कहौ वृतान्त सभ मोइ।
कन्या बालक नरिय कै, कित तैं दीनो रोइ॥

१. महान् कोश : भाई काहनसिंह, पृष्ठ १२२१
२. पंचक

इसी रूप सुत कन्या मेरे। कहौं सत भाइ आगे तेरे।
उनका रूप चित माहीं कीना। तिस बिन मेरा सभ तन छीना।
दासी सुन सो चित्त ठहरायौ। सो रानी कौ जाय सुनायौ।
सुन रानी तब यह बिधि कीनी। जैसी थी तैसी कह दीनी।
अचरज मोहि न लखियौ जावै। दमयन्ती मन उकत बनावै।
सुन दासी तुम यहि बिध लीजौ। कल जावौ तौ ऐसे कीजौ।
जल माँगै भर कुंभ न देवौ। कहा करै नर सुध सभ लेवौ।
रानी कहा नार सोई कीना। उन माँग्यौ जल तिसहि न दीना।

—'नल-दमयन्ती' (संवत् १७५१)

पुत्र प्रानतें अधिक है, चारिउ जुग परमान,
सो दसरथ नृप परिहर्‌यौ, वचन न दीनो जान।
वचन न दीनो जान, बड़न की बूझ बढ़ाई,
बात रहे सो काज, और बरु सरबस जाई।
कह गिरिधर कविराय, भये नृप दसरथ ऐसे,
पुत्र प्रान परिहरे, वचन परिहरे न ऐसे॥

(२)

रहिये लटपट काटि दिन, बरु घामहि में सोय।
छाँह न बाकी बैठिये, जो तरु पतरौ होय।
जो तरु पतरो होय, एक दिन धोका दै है।
जा दिन बहै बयार टूटि तब जर से है।
कह गिरिधर कविराय, छाँह मोटे की गहिए।
पाता सब झरि जाय, तऊ छाया में रहिए॥

३६. **मूसा**—यद्यपि उर्दू-इतिहासकार मुसलमान होने से इन्हें उर्दू-कवियों में गिनने का प्रयास कर रहे हैं, परन्तु ये हिन्दी-उर्दू-पंजाबी के कवि हैं और उसमें भी हिन्दी का पलड़ा भारी है। इनके परिचय के विषय में अभी तक कुछ ज्ञात नहीं हो सका। कुछ पद्य बताये जाते है, जो हमारी धारणा को पुष्ट करते हैं।

रचना :

हम चरनी आन लगे तेरे। जो पावें दरशन दान तेरे।
दो जग पर एहसान तेरे। सब बन्दा है सुल्तान तेरे।

१. ईरान

तुझ नाम का ले आधार खड़ा । करता हूँ सहनिस्तान खड़ा ।
तुम धीरज देत अधीरन जी । क्या हिन्दी दक्कन ईरन[1] जी ।
मैं भूखा तेरे वसाल का हूँ । दीवाना इसी खयाल का हूँ ।
तू हादी राह हवायत का । तू मानी फंज की आयत का ।
हामी है रोज अनायत का । काफ़ी है करम क़फ़ायत का ।
सर पोट औगण की भारी है । मुझ लागी आस तुमारी है ।
तुझ नाम पर पोट उतारी है । देख ऐसी शकल हमारी है ।

३७. **शेख़ नसीरुल हक़**—इनका कुछ भी परिचय प्राप्त नहीं है । समय, रचना तथा स्थान का विवरण—सब अभी तक अज्ञात हैं । इनकी रचनाएँ भी हिन्दी में है; मुसलमानों की हिन्दी-सेवा में शेख साहब अवश्य सहभागी रहे हैं—ऐसा कहना सर्वथा निर्विकल्प है ।

रचना :

(१)

ए रे नसीरा वक़्त-ए, ये वक़्त फिर न पाइये ।
सिर काट लेकर हाथ पं, आगे पिया के जाइये ।

(२)

जोगन भई मैं ऐ पिया, हो-हो पई पुकारती ।

(३)

राकस बिरहा जब थीं आया, उस मास सभ चुन खाया ।
अब हाड़ खौन थीं आया .....इत्यादि ।

३८. **सुखासिंह**—सरदार सुखासिंह की चर्चा पहले हो चुकी है । 'गुरविलास छठी पातशाही' का, जिसके मूल प्रणेता भाई मनीसिंह है, भ्रम-वश विद्वानों ने इसका कर्तृत्व दरबारासिंह पर[1], अथवा सुखासिंह[2] पर, अथवा भगतसिंह पर[3], अथवा कोइरसिंह[4] पर आरोपित करने का असफल

१. गुरमतसुधाकर : काहनसिंह
२. हिन्दी-काव्य में आलोचनात्मक अध्ययन (पाण्डुलिपि) : हरिभजनसिंह, पृष्ठ ४७१
३. महान् कोश : काइनसिंह, पृष्ठ १२५८
४. डॉ० हरिभजनसिंह महाशय ने अपने शोध-प्रबन्ध में (पृष्ठ ४७१ पर) कोइरसिंह का रचनाकाल १८०८ संवत् दिया है और यह भी लिख दिया है कि 'इन दोनों महानुभावों में से किसी एक को साहित्यिक चोरी का लांछन अपने ऊपर लेना ही होगा । यह कहाँ तक संगत है, इस पर विद्वानों को विचार करना चाहिए ।

प्रयत्न किया है। वह सुखासिंह द्वारा सम्पादित-मात्र है, इससे अधिक नही। दूसरी बात, जो सबके लिए स्वीकार्य हो सकती है, यह है कि 'गुरविलास छठी पातशाही का' से प्रेरणा पाकर भाई सुखासिंह ने 'गुरविलास दशम पातशाही' लिखा। रचना के कतिपय अन्तःसाक्ष्य सुखासिंह के जीवन पर प्रकाश डालते हैं।

सुखासिंह का जन्म विक्रम-संवत् १८२५ में हुआ। ये चार भाई थे। इनके माता-पिता बाल्यावस्था में इन्हे त्याग कर गुरु-लोक सिधार गए। इनके अग्रज ने इन्हें पाला और शिक्षा की व्यवस्था की। उन्ही के संबल पर भाई सुखासिंह हिन्दी-प्रदेश के गुरु-धामों की यात्रा कर सकते थे। एक तो उनका सम्पादित गुरविलास है, दूसरा गुरविलास उनकी कृति है। यहाँ दूसरी रचना पर विचार करना ही अभीष्ट है।

डाक्टर हरिभजनसिंह रचना के मूल्यांकन की पृष्ठभूमि सोचते-सोचते तीन आधार बतलाते हैं—(१) इतिहास, (२) पुराण तथा (३) जनश्रुति। उनकी दृष्टि में इसका 'ऐतिहासिक मूल्य' कम है। हम यदि डाक्टर महोदय से अन्याय करना नही चाहते तो इतना जरूर कहना चाहिए कि प्रत्येक रचना में इतिहास खोजना उसके प्रति निष्ठा को काम करना है; दूसरे शब्दों में उसके काव्यत्व को अप्रिय चुनौती देना है। और वे स्वय काव्य के पौराणिक प्रभाव या शैली को स्वीकार करते हुए भी उसके प्रति निष्ठावान् नही है। स्पष्ट हो कि काव्यत्व को और पौराणिक विश्वासों को—जो सदियों से कदम-क़दम मिलाते हुए चले आ रहे हैं—एकदम अलग नहीं किया जा सकता। डाक्टर महोदय चाहे या न चाहें, उक्त गुरविलास सिख दृष्टिकोण के साथ गुँथे हुए पौराणिक दृष्टिकोण का संसूचक या निर्देशक स्तम्भ है, जो सदियों तक प्रकाशमान रहेगा; अवश्य रहेगा। अलबत्ता जनश्रुतियों के विषय में मौन ही अधिक श्रेयस्कर है।

सखासिंह कवि के रूप में अवश्य सफल कहे जा सकते हैं। गुरविलास मे, उसके चरितनायक के अनुरूप वीर रस है। युद्ध-वर्णनों में रौद्र रस तथा भयानक रस का सहभाग है। यह युद्ध-वर्णन मात्र खानापूरी नही है; बल्कि ऐतिहासिक संस्पर्श-प्राप्त काव्यत्व का भरपूर विकास है। इसके अतिरिक्त इसमें प्रकृति-चित्रण बडा सुन्दर बन पड़ा है। सूर्योदय, नदी, नगर, वर्षा आदि का वर्णन उल्लेखनीय है। अलंकारों के प्रति न्यून अभिरुचि रखने वाले भाई सुखासिंह ने अड़िल्ल, पाधड़ी, झूलना, भुजगप्रयात, रुआल, रसावल, संख नारी, मधुभार, बिजै, नाराच, तोटक, सोरठा, तिलक जैसे मात्रिक छन्दों के

अतिरिक्त कवित्त-सवैया आदि वार्णिक छन्द अपनाकर इस शास्त्र में अपनी दक्षता प्रकट की है। ब्रजभाषा की पृष्ठ-भूमि पर सधुक्कडी (पंजाबी और खडी बोली का मिश्रण) भाषा है।

भाई सुखासिंह श्री गुरुद्वारा केसरगढ साहिब के ग्रन्थी थे। इनकी एक पंजाबी रचना 'बारामाँह' भी उपलब्ध है। 'गुरविलास' का रचना-काल उन्होंने इस प्रकार दिया है—

संमत सहस पुराण कहत तब। अरध सहित पुन गनस सब।
क्वार बदी पंचम रविवारा। गुरु विलास लीनो अवतारा।

रचना—

सुन्दर धाम अनूप विचच्छन लच्छन कौ ध्वजधाम सुहासी।
ऊंच अवास निवास गुनीजन वेद पढ़ै दुजि आनँद भासी।
गूढ़ गिरा जु सुरा जिमि बोलत देखि जिनै छविपुंज प्रकासी।
ऐस महानगरी सुखदा नर नारि सबै जन देव-सभा सी॥

सूर्योदय

दिस पूरब आन प्रकास भयौ। कुलटा कुमदी चुर नास गयौ।
उत अंध भयौ निज आलह का। लख तेज किधौं मुनि बालह का।

नदी-वर्णन

एक दिसा नदि गंग विराजति दूज विषै जदुनाथ की दारा।
सारसुती तिनके मध भागह लाल असेत चले सित धारा।
मनो सु कच्छप चक्र फिरै जल कौतुक होत अनेक प्रकारा।
देखन हार कहै नरनार सु तीरथराज कि पापहि आरा॥

वर्षा

मूसलधार सुनीर बहै नभ है अपनी सगरी जल छायो।
केतकी कंज कदंब प्रफुल्लत नीरभरी सरता जल आयो।
राग मलार अलापत हैं नर-नारि सुनै मन आनंद पायो।
या विध सों बरसात सु काटत दीनदयाल प्रभू सुखदायो॥

३९. सरूपचन्द भल्ला—जन्म-चरित्र-सम्बन्धी साहित्य मे, जिसमें जन्म-साखी, गुरविलास तथा अन्य रचनाओ का गिनना युक्त है, 'महिमाप्रकाश' एक विशेष स्थान रखती है। इसी नाते से स्वरूपचन्द भल्ला 'इतिहास' में विशेष स्थान रखते हैं। 'महिमाप्रकाश' में निम्न बातें उल्लेखनीय है, यथा—

१. एक साथ दस गुरुओं का चरित्र-कथन, सम्भवतः इसी से प्रेरणा पाकर भाई संतोषसिंह ने 'गुरुप्रतापसूर्य' नामक ग्रन्थ की रचना की।

२. दस गुरुओं के अतिरिक्त इसमें बन्दा वैरागी का चरित्र भी है। यह पहला अवसर है कि किसी गुरु-इतर व्यक्ति को काव्य का चरित्रनायक चुना गया है।

३. इसमें गद्य और पद्य दोनों हैं।

'महिमाप्रकाश' के रचयिता स्वरूपचन्द भल्ला मोहरी के वंशधर है[1], जो महाराज अमरदास के आत्मज थे। इसका समर्थन अन्तःसाक्ष्य से हो जाता है, यथा—

तब श्री अमरदास कुलवारी। मोहरी सुत सन मुत परवारी।
दसौ स्वरूप की महिमा कीना। सरूपचन्द गुर चरन अधीना।

रचना का समय विक्रम सम्वत् १८३३ है, यथा—

दस अष्ट सहस संमत् विक्रम, अपर अधिक तैतीस।
सरूपदास सत गुर करी, महिमा प्रकास बखसीस॥

एक प्रति पर ससिजमृगेन्द्र (बुधसिंह) का नाम भी अंकित है। केवल लिपिकार होने का श्रेय उसे नहीं दिया जा सकता; या तो वह स्वरूपचन्द का शिष्य है, अथवा उसका आत्मज। इस की चर्चा फिर की जायगी। 'महिमाप्रकाश' लिखते समय भल्ला जी न केवल चली आ रही जन्म-साखियों से लाभान्वित हुए होंगे, बल्कि अपनी पारिवारिक दन्त-कथाओं का भी उन्होंने पूरा लाभ उठाया होगा। इसमें एक बात विशेष उल्लेखनीय है कि गुरुवाणी के प्राकट्य के साथ सम्बद्ध अनेक छोटी-मोटी घटनाएँ सोत्साह अंकित की गई हैं। ये पारिवारिक विभूति हैं—यह असंदिग्ध शब्दों में घोषित किया जा सकता है। इस रचना पर भी अन्यों की तरह पौराणिक प्रभाव स्पष्ट है।

रचना की भाषा स्पष्ट खड़ी बोली तो नहीं, पर अविकसित खड़ी बोली अवश्य है। उसमें चले आ रहे ब्रज के प्रभाव से भी इन्कार नहीं किया जा सकता।

रचना—

कर रीस दान दीना।
पुन आल भजन कीना
सिर पाग वस्त्र धारा भूखन सभी पहराया।
करतार मुकुट धारा

१. देखिये परिशिष्ट ७

तिलक उनमनी सुधारा
जस रामनाम कुंकुम घसि रागरंगि बनाया।
छिटकाय सरब वस्त्र
कर ज्ञान खडग शस्त्र
सेहरा सहस्रनामं प्रभु मुकुट सो लगाया।

शेष विवरण गद्य-प्रसंग में आगे किया गया है।

४०. **दत्तकवि**—जम्मू-नरेश महाराजा रणजीतसिंह के पुरोहित दत्तू या दत्तकवि का नाम महाभारत के अनुवादकों में अनायास आ गया है। इधर महाराजा नरेन्द्रसिंह अपने दरबारी कवियों से अनुवाद-कार्य के लिए कृतसंकल्प हो चुके थे। सम्भव है, जम्मू में इस परम्परा के विशाल रूप के सूत्र मिल जायँ, पर इस समय तक दत्त कवि के अतिरिक्त अन्य किसी की रचना नहीं मिली। यदि जम्मू-नरेश के आश्रित अन्य कवियों का पता चल जाए, तो पर्याप्त सामग्री मिल सकती है।

दत्तकवि राजवंश के राज-पुरोहित हैं, ऐसा अन्तःसाक्ष्य से स्वतःसिद्ध है। यह केवल कुतूहलजनक समाचार है कि द्रोणाचार्य भारद्वाज-गोत्रीय ब्राह्मण थे। द्रोणाचार्य के नाम से जुड़े 'द्रोणपर्व' के पहले अनुवादक कुमरेश कवि तथा दूसरे अनुवादक दत्तकवि—दोनों भारद्वाज-गोत्रीय ब्राह्मण थे।

द्रोणपर्व की भाषा सामान्यतः ब्रज है, क्वचित् डोगरी भाषा के शब्द भी हैं। कर्ता ने अपना रचना-काल इस प्रकार बताया है :

सम्वत् वसु ससि वसु ससि, सुकल पक्ष मधुमास। (१८१८)
वीरवार तिथ पंचमी, बरन्यौ बीर-बिलास॥

द्रोणपर्व का दूसरा नाम 'वीरविलास' भी है। पुस्तक दोहा-चौपाई में लिखी गई है। यत्रतत्र कवित्त, सवैये और सोरठे भी विद्यमान हैं। इनकी अन्य रचनाएँ ये हैं—बारहमाह, ब्रजराजपंचाशिका। दूसरी पुस्तक में जम्बू के राजकुमार ब्रजराज की कटोच पर जय-प्राप्ति का ओजस्विनी भाषा में वर्णन है।

रचना—

पिंगल में पंगु अंग भाखा कौ न जानत है,
बड़े गूढ़ ग्रन्थन के पंथ में थकत हौं।
बैठ्यौ न समाज कविराजन की सभा माँहि
सुनी है न मीठी बानी ऐसो मदमत्त हौं।

एक है आधार गुरु सूरज नरायन के
चरन की धूर पूर सीस में धरत हों।
देव देवमानी ऐसी तीन लोक रानी जू की
कृपा हू तें भारत कहानी उचरत हों ॥१॥

(२)

राखे अपकारी अपकारी से निकार डारे,
जो तौ हितकारी तासों राखी रीत प्रीत की।
मीतन को दीनी थिर संपदा अनेक भाँत
संपा के समान कीनी सम्पदा अगीत की।
डूँगर जलधर कै भूत नत कन्धर है
मानस निदेश जाकी प्रभुता परीत की।
बल्लभ किशोरी जन बल्लभ दया तें 'दत्त'
देस देस दौरी चहूँ द्रोही रनजीत की ॥

४१. **अमीरदास**—उदासीन-सम्प्रदाय के संत अमीरदास का नामोल्लेख भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी 'भक्तमाल' में इन शब्दों में किया है :

श्रीरामानुज वृद्ध हरिचरन बिनु सब त्यागी,
भाई सिंह दयाल भजन में अति अनुरागी,
कविवर दास अमीर कृष्ण पद में प्रतिपागी,
मैयाराम रसरास ललित प्रेमी बैरागी,
श्रीहरि कै प्रेम प्रचार हित, जिन उपदेश बहुत दिये।
ये चार भक्त पंजाब में, चार वेद पावन भये ॥

अर्थात् दयालसिंह, अमीरदास, रामानुज तथा मैयाराम—इन चारों में 'कविवर' केवल अमीरदास हैं। पर यहाँ हम उनका आचार्यत्व के नाते उल्लेख करने जा रहे हैं। इनसे पूर्व हिन्दी के आचार्यों ने स्व-स्व लक्षण-ग्रन्थों में रसों, अलंकारों तथा अन्याय काव्यांगों पर लक्षण स्थापित कर स्व-रचित उदाहरणों से उन्हें पुष्ट किया है। इन आचार्यों में भिखारीदास, सोमनाथ, चिन्तामणि, तोषनिधि के नाम उल्लेखनीय हैं। परन्तु आचार्य-श्रेष्ठ अमीरदास ने 'सभा-मण्डन' ग्रन्थ रचकर एक नयी पद्धति का सूत्रपात किया। वह यह कि रसादि काव्यांगों पर लक्षण तो स्वरचित ही दिये हैं, परन्तु उदाहरण स्वरचित न देकर अन्य आचार्यों के रचे प्रस्तुत कर उन्हे पुष्ट ही किया है। जिनके रचे पद उदाहरण-रूप प्रस्तुत किये गए हैं, उनके नाम ये हैं—रसरत्नावली, रसरत्नाकर,

सभाप्रकाश, भाषा-भूषण तथा फ़जलअली-प्रकाश के अतिरिक्त लाल, मतिराम बिहारी तथा चंदकवि आदि।

'सभामण्डन' में रस, अलंकार तथा काव्य-लक्षण आदि सभी तत्त्वों पर बड़ा सुन्दर लिखा गया है। संस्कृत एवं हिन्दी के लक्षण-ग्रंथ सामने रखकर उसमें नवीनता एवं स्पष्टता का निर्वाह करना अमीरदास का उल्लेखनीय गुण है। ग्रंथ-प्रयोजन लिखते हुए आचार्य ने लिखा है :

ग्रंथ सभा मण्डन रच्यौ, कवियन के हित लागि।
सकल काव्य की रीति जौ, जामें करी विभागि॥

यह ग्रंथ केवल उछाल लगाकर पन्ने रँगने वाली उद्दाम वासना का केलि-कलाप नहीं है, अपितु त्रिवर्ग की साधिका सनातन कला का प्रकाश-पुंज है :

जस संपत नृपयोग गुन, देत पाप हर लेत।
जगनायक कौ सुबस करि, काव्य मुरत कर देत॥

ये काव्य के प्रयोजन नवीनता के नहीं, सद्भावना के द्योतक हैं। और काव्य-लक्षण देखिये—

दोस रहित रसगुन सहित, अलंकार संयुक्त।
ऐसौ जो सब्दार्थ है, ताहि काव्य कह उक्त॥

यह दोहा मम्मट के "तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणौ अनलकृती पुनः क्वापि" वाले लक्षण पर आधारित बताया जा सकता है, पर उस पर होने वाली आपत्तियों का निराकरण जो कर दिया गया है। 'रस' शब्द की अधिकता ने अपनी मुहर भी उसपर लगा ही दी है। 'सभामंडन' देखकर अनायास यह निश्चय करना पड़ता है कि इसमें 'काव्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण' का सुन्दर समन्वय है। काव्य-प्रयोजनों का उल्लेख करते हुए आचार्य ने "कान्तासम्मितोपदेशयुजे" के सिद्धान्त को समाप्त कर यह प्रतिपादित कर दिया है। 'सभामंडन' मात्र अनुकरण नहीं है, भले ही यह किसी को पसन्द न हो। पंजाब की आचार्य-परम्परा पर आचार्य अमीरदास की छाप स्पष्ट है। आवश्यकता पड़ने पर लक्षणों की व्याख्या गद्य में भी है; यथा—

"दृष्टान्त॥ जहाँ साधारण धर्मादि कौ उपमान-उपमेय बिम्बभाव होइ, सो दृष्टान्त॥ सो द्विधा॥ एक साधर्म्य दृष्टान्त॥ वृति वैधर्म्य दृष्टान्त॥ जहाँ उपमान-उपमेय कौ एक धर्म कौ बिंब-प्रतिबिंब होइ सो साधर्म्य दृष्टान्त॥"

इसमें एक बात उल्लेखनीय है कि दृष्टान्त में साधारण धर्म ही बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है। इस तथ्य को आज के किस हिन्दी-आचार्य ने स्वीकार

किया है ? और-तो-और, संस्कृत में भी उक्त सिद्धान्त क्वचित् ही दीख पड़ता है। इस ग्रन्थ पर केवल एक आपत्ति उठायी जा सकती है कि इसमें अलंकारों का क्रम वैज्ञानिक नहीं है।[1] आचार्य की लेखन-शैली इस प्रकार है :

अथ मीलित अलंकार लच्छन ॥ जहाँ काहु पदारथ में कोऊ पदारथ मिलै, भिन्न न जानौ जाय, सो मीलित ॥ यथा बिहारी ॥ बरण बास सुकुमारता, सब विधि रही समाइ। पँखुरी लगी गुलाब की, गात न जानो जाइ ॥ इहाँ गात में गुलाब की पंखुरी मिली ॥

जो हो, परिपुष्ट लाक्षणिकता, सुन्दर उदाहरणों का चयन, सफल समन्वय, तथा नूतन शैली के कारण अमीरदास को पंजाब के आचार्य-वर्ग का प्रतिनिधि अनायास कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त इनकी दो अन्य रचनाएँ भी प्राप्त है, यथा—'कृष्ण-साहित्यसिंधु' तथा 'वैद्यकल्पतरु'। आपने अपना परिचय विशेष नहीं दिया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अमीरदास को पंजाब-निवासी बताया है, पर अन्तःसाक्ष्य के आधार पर इन्हें अमृतसर-निवासी सिद्ध किया जा सकता है; यथा—

खारे जानि उदधि उतंग कै तरंग तुग,
द्वारकावर सुधासर में निवास कीन।

जहाँ भक्त रहेगा, भगवान् का निवास भी तो वहीं होना चाहिए। आचार्यवर का रचना-काल विक्रम सम्वत् १८३० कूता जा सकता है, क्योंकि इन्हीं के शिष्य (अथवा उत्तराधिकारी) सन्त ईश्वरदास ने अपना रचना-काल १८४७ विक्रम सम्वत् दिया है। सभी रचनाओं में भाषा समरस एवं ब्रज है।

रचना—

जानि कै अबदानी दरकी, चितचाइन सों तितही करके रुख।
ठाढ़ी भई सिगरी तिय गाय की नीके बरात कौ देखन को मुख ॥

---

१. उपमा, अवन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, संदेह, रूपक, उल्लेख, परिणाम, अपन्हुति, अर्थश्लेष, समासोक्ति, निदर्शना, अप्रस्तुत प्रशंसा, अतिशयोक्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, दीपक, तुल्ययोगिता, व्यतिरेक, आक्षेप, विभावना, विशेषोक्ति, यथासंख्य, अर्थान्तरन्यास, विरोधाभास, स्वभावोक्ति व्याजस्तुति (समासोक्ति ?) विनोक्ति, भाविक, काव्यलिंग, पर्यायोक्ति, उदात्त, समुच्चय, पर्याय, अनुमान, परिकर, परिकरांकुर, व्याजोक्ति, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सूक्ष्म, सार, असंगति, समाधि, सम, विषम, अधिक, प्रत्यनीक, मीलित एकावली, स्मरण, भ्रांति, प्रतीप, सामान्य, विशेष, तद्गुण, अतद्गुण, व्याघात, संकर और संसृष्टि—कुल मिलाकर ६३ अलंकार हैं।

बैल पै नंग भुजंग के भूखन भच्छत भंग बिसारत है दुख।
ऐसे निहारत ही हर कौ हरराई हँसी सब अंचल दै मुख।।

(२)

तरनि तनूजा तीर सुखद समीर धीर
खगन की भीर हियौ हेरि हरखत है।
मंजुल निकुंजनि में गूंजनि दुरैफन की
आनन्द के पुंजनि पराग परखत है।
बाँकी बल्लरीनि कौ बितान सों बिलोकियत
परम पुनीत अहि मन करखत है।
मौन मन भाइ (तहँ) अमीर सुखदाई जहाँ
स्याम घन चपला से रस बरसत है।।

(३)

झीनी झीनी रचित खचित मनि मानकनि
जालीदार जागत जलूस जाकी जो रहै।
कुंदन किनारी भारी सरस सँवारी सारी
सौध सनि सुखद सुगंध की झकोर है।
भनत 'अमीर' चीर रुचिर चिनौटिये की
वीर धरी देखत तगीर भई कोर है।
मेरौ मन मोहि बरजोर चोरि चोरि उन
आँगी केरी कोरी बर दीनी झकझोर है।।

४२. **मुकुन्द कवि**—पटियाला-नरेश कर्मसिंह के दरबार मे मुकुन्द कवि भी समादृत थे—यह अन्तःसाक्ष्य तथा बहिःसाक्ष्य से सिद्ध है। महाराजा कर्मसिंह साहित्य के बड़े मर्मज्ञ विद्वान् एवं साहित्यकारों के महान् संबल थे। उनकी सेवा में चन्द्रशेखर वाजपेयी तथा केशोदास तो थे ही, अन्य कवि भी उनके आश्रय में थे। कवि मुकुन्द ने अपने अस्पष्ट परिचय में अपने को मुद्गल-गोत्रीय आदि गौड़ ब्राह्मण तथा बाबलिनगर-निवासी बताया है। आपकी दो रचनाएँ अभी तक उपलब्ध हो सकी हैं—'रसिकशिरोमणि' और 'सर्वसंग्रह'। 'रसिकशिरोमणि' ग्रन्थ में बड़ी लम्बी-चौड़ी भूमिका बाँध कर लिखने का उपक्रम किया है। तदनुसार—महाराजा कर्मसिंह ने दरबार में मुझे बुलाकर सिंहासन (सम्भवतः कुर्सी) देकर आज्ञा दी कि रसग्रन्थ बनाइये। आरम्भ में लिखा है :

संवत्सर दस वसु अधिक, वेद संख सुनि मीत।
माघ मास सित सप्तमी, रच्यौ ग्रन्थ करि प्रीत॥
कवि मुकन्द मथ ग्रन्थ बहु, करि है अधिक बिचार।
कीनौ रसिकशिरोमणी, सब ग्रन्थन महि सार॥

इतना सब कुछ ज्ञान होने पर भी रचना देखने से निराशा ही अधिक पल्ले पड़ती है। पहली बात तो यह है कि रसों के लक्षण स्पष्ट तथा पुष्ट नहीं हैं; दूसरी बात यह कि उदाहरण अनावश्यकता की सीमा तक पहुँच गए हैं। ऋतुवर्णन में दस-दस उदाहरणों की आवश्यकता भी समझ नहीं पड़ी। इन उदाहरणों में चमत्कार-विशेष है, ऐसा भी नहीं है। विषय-विवेचन पर कवित्व दर्शन की भावना छा-सी गई है। छन्दों मे यतिभंग तथा अप्रसिद्ध शब्दों की भरती के दोषारोपण से मुकुन्द कवि बच न सकेंगे। यह देखकर संतोष होता है कि भाषा पंजाबीपन से मुक्त ब्रज है।

रचना—

अपर महीपन कं बिपत बढ़ावै घनी,
सूमन कं सिर पं चढ़ावै कम्प ताप की।
छाती छेदि डारै सत्रु कुल कौ संहारै बड़ो,
अधिक बिचारै बिथा सकल संताप की।
भनत मुकुन्द सूरबीरन कं दिल कौ
बढ़ावै चोप चंग लै चलावै धरि धाप की।
करमसिंह भूप, तेरे भाल की झलक ऐसी
आँगन में झलकै यों झलक प्रताप की॥

हंसचढ़ी मनि माल बड़ी उर हाथ लियै बन-बीन-बिसारद।
सेस महेस दिनेस सदा तुव सेव करैं सनकादिक नारद।
राजी रहौ रसना पं मुकुन्द कं बेग करौ परिपूरन हारद।
जानि अधीन बिनै सुन लेहु सु देहु सदा सुभ अच्छर सारद॥

४३. **गणेश कवि**—प्रिंसिपल सीताराम कोहली के प्रयत्न से गणेशकवि की एक नयी रचना प्रकाश में आयी है। कभी पंजाब-सरकार ने प्रिंसिपल कोहली को सिख-शासन के रिकार्ड देखने को नियुक्त किया था। कोहली महाशय ऐतिहासिक अनुसंधान में रत थे कि उन्हें एक पाण्डुलिपि मिली, जिससे गणेश कवि पुनः चर्चा के विषय बन गए। इससे पूर्व नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी

की खोज-रिपोर्ट में इसकी चर्चा चल ही रही थी।[1]

'फतहनामा श्रीगुरु खालसा जी का' वास्तव में एक रचना नहीं, इसमें दो रचनाएँ संगृहीत हैं—'मुल्तान-विजय' और 'काश्मीर-विजय'। महाराजा रणजीतसिंह ने सम्वत् १८७४ में ये प्रदेश जीते थे।

यद्यपि इस रचना में कवि ने अपना परिचय विशेष नहीं दिया, फिर भी पूर्वरचित ग्रन्थ में जो थोड़ा-बहुत परिचय दिया है, वह इस प्रकार है—

लवपुर तैं जोजन त्रै जान। कान्हा ग्राम नाम इक मान।
तामें कवि गणेश इक होई। ब्राह्मण वैद्य कहैं सब कोई।
मद्रदेश में पुरी लाहौर। नृप रनजीतसिंह तिंह ठौर।
बल सों जिन जीते सब देश। रच्यौ ग्रन्थ तिंहि राज प्रवेश।
रच्यौ ग्रंथ तिंहि (लाहौर) बाहरा कोस। कान्हा नाम ग्राम निरदोस।
जो लाहौर तैं कुशपुर जाइ। मारग में तिंहि दो सुख पाइ।

अर्थात् मद्रप्रदेश के अन्तर्गत लाहौर से तीन कोस (सम्भवतः १२ मील) अमृतसर रोड पर काहनी (काछा) ग्राम मे कवि गणेश 'ब्राह्मणवैद्य' नाम से प्रसिद्ध था। ग्रन्थ में पिता का नाम रामसहाय भी दिया है।

मुल्तान-समर तथा कश्मीर-समर सम्वत् १८७४-७५ मे लड़े गए, अनुमानतः 'फलहनामा' को सम्वत् १८७६ की रचना मानना निर्दोष हो सकता है। ग्रन्थ की भूमिका मे लिखा है कि रचना में लहन्दा (मुल्तानी) भाषा के प्रमुख प्रभाव से अनुमान किया जा सकता है कि गणेशकवि जिला झंग, अथवा जिला मुल्तान का रहने वाला है। परन्तु अब इस अनुमान की आवश्यकता नहीं रह गई। प्रथम तो खोज-रिपोर्ट से यह अनुमान निरस्त हो जाता है; दूसरे, पट्टी में गणेशकवि के वंशधर आज भी मिलते हैं। गणेशकवि के पौत्र ने पं० श्रद्धाराम फिल्लौरी का उपनयन-संस्कार कराया था। मुल्तानी भाषा के विषय में हमारी स्पष्ट धारणा है कि वह पंजाबी भाषा से पूर्व युग में ब्रजभाषा के समकक्ष साहित्य का माध्यम रही थी। मुल्तानी के इतिहास में संदेशरासक, पृथ्वीराज रासो तथा आदिग्रन्थ के अनन्तर 'फतहनामा' को गिनना एक अखण्डनीय वास्तविकता होगी।

'फतहनामा' पढ़ने पर पाठक के मन पर यह प्रभाव पड़े बिना न रहेगा

१. खोज-रिपोर्ट : तेरहवाँ भाग। उस पर अंकित है : वैद्यप्रकाश—गणेशदास (लवपुर) नागरीलिपि, रचनाकाल सं० १८७४ : १८१७ ई०, लाला सीताराम वैश्य, ग्राम सदरपुर जिला सीतापुर, अवध (उत्तरप्रदेश)।

कि कवि में जितना उत्साह है उसके पास उतना अभिव्यंजक शब्दकोष नहीं है। लगता है, न तो उसने संस्कृत का ज्ञान ही पूर्ण किया है और न साहित्य-शास्त्र का मनन ही किया है। यद्यपि रचना में वीररस की अधिकता है; वस्तु-वर्णन भी यथास्थान हैं, खोजने पर चरित्र विकास भी मिल सकता है, पर काव्यनिर्माण के लिए जिस चेतना की आवश्यकता रहती है; वह इसमें नही है—यह पक्की बात है। इतिहास काव्य पर छा गया प्रतीत होता है। इतिहासकार को उपस्थित रचना की भाषा पर जो आपत्ति हो सकती है, उससे प्रिंसिपल कोहली महाशय बच न सकेंगे। कारण यह है कि मूल रचना गुरुमुखी लिपि में थी, कोहली महाशय ने उसको पारसी लिपि में उतारा किया, फिर उसे देवनागरी-संस्करण में लाया गया, इस संस्करण-बाजी में मूल पाठ अधिकतः भ्रष्ट हो गया है।

रचना—

(१)

मुजफ्फर जो खान, तासों ऐसो ही बखान
कह देवो मुलतान नाहीं पाछे पछितायेगा।
करोगे जो जंग तब लूटेंगे निसंग, तोपां
मारेंगे निहंग जम धाम तू सिधायेगा।
अब लौं तुमारा कछु काज न बिगारा अरु
कोपेंगे जो सिंह तब बड़ी खता खायेगा।
सिंह लिख कै पठायौ तौ लड़ाई बन्द पायौ
(सभ) मनमें ये आयौ जो वकील आगे आयेगा॥

(२)

देख किला चित चौंकि रह्यौ यहि सिंहन के कर में किमि आवै।
पीर सहायक है इनकै पुनि और पठान जवान सुहावै।
तोप चढ़ी चहुँ ओर किले कै जम्बूरे जँजारे को अंत न पावै।
देख मुजफ्फर कै तन कौ मन कादर बक्स को जाय सुनावै॥

(३)

खान सुजान अजानपना तज मानि कह्यौ सुन यों मुहि पाही।
पाछल बात बखानि तुम्हें इस साँच सभै हमरे जिय आयी।
हौं तो समा वहि बीत गयौ अब साहिबसिंह न दीन बनायी।
हमरो तुमरो इन दीन भयो तहि तैं तुम जीवन बात बनायी॥

४४. सन्त ईश्वरदास—तलवंडी गाँव के निवासी तथा अमृतसर के भक्त अमीरदास के शिष्य स्वामी ईश्वरदास शृंगार रस के श्रेष्ठ कवियों में एक हैं। हिन्दी में कोश-काव्य लिखने की परिपाटी बडी समृद्ध रही है। इतिहास की दृष्टि से तुलसी-सतसई को असंदिग्ध शब्दों मे प्रथम स्थान दिया जाता है। साहित्यिक मूल्यों के आधार पर 'बिहारी-सतसई' मूर्धन्य स्थान पर है और मतिराम-सतसई दूसरे स्थान पर। विक्रम-सतसई, रामसतसई, वृन्दसतसई, आदि सात सतसइयाँ विश्रुत है। पंजाब में चार सतसइयों का नाम सुना जाता है, जिनमें ब्रजविलास-सतसई सर्वश्रेष्ठ है।

सतसई को दो दृष्टियों से आँका जा सकता है, विषय की दृष्टि से और क्रम की दृष्टि से। विषय को अधिगत कर विचारविमर्श से यह सिद्ध किया जा सकता है कि इसमे 'कृष्णभक्ति' प्रमुख विषय है। क्रम की दृष्टि से भी यह एक रीतिबद्ध रचना है। मंगलाचरण के बाद नखशिख, नायिका-भेद प्रभृति समस्त काव्याङ्गों के उदाहरण इसमे क्रमशः उपलब्ध है, कमी है तो केवल लक्षणों की।

ब्रजविलास-सतसई की दो विभिन्न प्रतियां मिलती है। उनमें पाठान्तर का कोई प्रश्न नही, प्रश्न है कर्तृत्व का। एक प्रति पर कर्ता का नाम 'अमीरदास' अंकित है, दूसरी प्रति पर उसके विपरीत ईश्वरदास का नाम अंकित है। हमारा अनुमान है कि रचना के लेखक सन्त ईश्वरदास है, जैसा कि अन्तःसाक्ष्य से ज्ञात हो रहा है :

श्री ब्रजराज विलास यह रच्यो 'अनुग अमीर'।

पर यह भी सम्भव है कि शिष्य ने समर्पण-भावना से ग्रन्थ गुरुजी के नाम कर दिया हो। 'अनुग अमीर' का अर्थ शिष्य या सहचर के रूप मे ग्रहण करना कहाँ तक यथार्थ है, इसका निर्णय विद्वान् करेंगे। ईश्वरदास जी ने अपना गुरुद्वारा पंडलुहारा, जिला लुधियाना में स्थापित किया।

रचना की भाषा ब्रज है और पंजाबीपन से सर्वथा मुक्त है। सन्तजी ने अपना परिचय कहीं नहीं दिया। केवल रचनाकाल अंकित है :

सालबेद अर बसु ससि कातिक पंच समेत।

अर्थात् सम्वत् १८४७ कार्तिक पंचमी को ग्रन्थ रचा गया। इतना अवश्य उल्लेखनीय है कि अमीरदास की अन्य रचनाओं में ब्रजविलास-सतसई के पद्य यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। इनकी काफ़ियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं। इसी सम्वत् में सन्त ने एक पंजाबी रचना 'बारामाँह' भी लिखी थी :

रचना—

बसहिं सदा मेरे हिये, श्रीराधा बृज चन्द।
नंक निसा निरखें नसें, रसें रास आनन्द॥
रची बाल बिधि सूतधरि, रवन रसन की रास।
रहो रोम राजी अहै, लहै असित आभास॥
तोहि कह्यो किन बाँध री, माल मालकनि देह।
झाँई उरोजनि पै परें, घायनि होत सँदेह॥
मोहन खरे निकुंज तिय, मुख छ्वावत रदछाद।
कनक लता लागी सुलहि, लेत बिम्ब को स्वाद॥
ऐसी दीजत निरदई, जैसी गई कसीस।
मौलसिरी की माल ज्यों, बारी डारी पीस॥
मंडप मौलसिरीन मैं, राची रति विपरीत।
स्याम सिला पै जनु धरी, स्वरन सलाक सनीत॥
अरी आजु आकास मै, यों राजत राकेस।
भानौ देख देखानि कें, जीतें जितें नरेस॥
कहा कहौं यदि आपकौ, सुजस अमित अवदात।
सात सिंध में साँवरे, सोखे सो नस मात॥

४५. **रसपुंज कवि**—अमृतसर-निवासी 'रसपुज कवि' इसी उपनाम से विख्यात रहे हैं या इनका यही वास्तविक नाम था, इसका रहस्य अभी तक नहीं खुल सका। आपकी दो रचनाएँ सुनी जाती हैं। इनमें एक अलंकार की और दूसरी छन्द की है। अलंकार-विषयक ग्रन्थ तो राजस्थान अनूप संस्कृत पुस्तकालय में विद्यमान है। छन्द-ग्रन्थ पंजाब के पुस्तकालयों में विद्यमान है। लेखक ने अपना रचनाकाल वि० सं० १८७१ दिया है। लेखक के सामने इतना स्पष्ट है कि जिस देश में बैठकर वह रचना कर रहा है, वह पण्डितों का देश है; दूसरे, उसने मात्र स्वान्तःसुखाय ही लिखा है :

जस उपकार न गरब कौ, ना कछु पावन वित्त।
केवल चित्त विनोद कौ, यह श्रम कीनौ मित्त॥

उसे काव्य-प्रयोजनों की आकांक्षा नहीं हैं। भाषा ब्रज है, शुद्ध और रस-प्लावित है। भावों की अभिव्यक्ति इतनी सशक्त है कि उसके श्रेष्ठ कवि होने में संदेह नहीं। रचना—

रसपुंज निरंतर आप जहाँ नहिं दूसर ताहि बताइ सकै।
अबकौ परबीन नवीन भयौ श्रुतिनेति कह्यौ तिह गाइ सकै।

अनजाननि जानत ही जिसमें अनभौ बिन जी न समाय सकै।
नभ माँहिकला परवा ससि की परवा परि तच्छन पाइ सकै॥

४६. रत्नहरि—जिन जन्मसिद्ध सन्तों की पावन साहित्य-साधना के प्रसाद-रूप प्राप्त साहित्य से आज हिन्दी भाषा गौरवान्वित हुई है, उन सर्वश्री सूरदास, तुलसीदास, जायसी, रसखान, नन्ददास जैसे पुनीत-चरित्र भक्तों की पंक्ति में श्री रत्नहरि का नाम भी निर्विकल्प शब्दों में रखा जा सकता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उनकी प्रशस्ति में कहा है :

क्षत्रियवंश गुलाबसिंह सुत मत रामानुज।
रामकुमारी गर्भरत्न त्यागी मंडल धुज।
सुबसु बेद बसुचन्द आठ कातिक प्रकटाये।
श्री हरि महिमा ग्रन्थ ललित बत्तीस बनाये।
रणजीतसिंह बहु बिधि कह्यौ, तदपि नाहि दरसन दियौ।
श्री भक्त रत्नहरि दास जू, पावन अमृतसर कियौ॥

इसके अनुसार रत्नहरिदास का जन्म विक्रम सम्वत् १८४८, कार्तिक की अष्टमी को गुलाबसिंह-रामकुमारी के घर स्यालकोट में हुआ था। परन्तु उसके उत्तराधिकारी इसे ठीक नहीं मान रहे। इन्हें अपूर्व प्रतिभा प्राप्त थी। इनके नाम से विख्यात रचनाएँ ये हैं—

१. रामरहस्य[1], २. प्रश्नोतरी, ३. रामललामगीत[2], ४. सारसंगीत[3], ५. दाशरथिदोहावली[4], ६. यमक दमक दोहावली[5], ७. नानक यशचन्द्रिका, ८. एकादश भागवत स्कन्ध, ९. कौशलेश कवितावली[6], १० गुरकीरत रत्नावली[7], ११. कुसुमबयारी[8], १२. दशमस्कन्ध कवितावली[9], १३. महिमकवितावली, १४. नानकनवक, १५. रासपंचाध्यायी, १६. ब्रजयात्रा[10], १७. कवित्तकादम्बिनी[11], १८. रघूत्तमनामसहस्र इत्यादि ३२ ग्रन्थ।

खेद है कि हिन्दी-साहित्य में रत्नहरि को बड़े उपेक्षा-भाव से अपनाया गया है।[12] रत्नहरिदास का स्मारक मन्दिर आज भी अमृतसर में विद्यमान है और उनका उत्तराधिकार अद्यतन यथावत् है।

सन्त जी को बचपन में ही ईश्वर-भक्ति का प्रसाद मिल गया था। घर-

१. (१—५००० पद; २—६००० पद; ३—६००० पद; ४—११००; ५—१२५; ६—१०८; ७—१०८; ८—१०८ पद; ९—१६७; १०—१५०; ११—१५० पद।)
—'कल्याण' का 'सन्त-अंक'

१-२. हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : रामकुमार वर्मा, पृष्ठ ४८१

गृहस्थी छोड़कर आप अमृतसर आ गए और आचार्य रामानुज के मत में दीक्षित हुए। ये आचार्य रामानुज दक्षिण के न होकर अमृतसर के उदासीन-सम्प्रदाय के महान् सन्त थे। कालान्तर में रत्नहरिदास जी वैष्णव धर्म में दीक्षित हुए और मृत्युपर्यन्त यह वैष्णव ही रहे, परन्तु उदासीन मत का सर्वथा लोप हो गया हो, ऐसी बात नहीं है।

सन्त जी के विषय में कई जनश्रुतियाँ है। एक जनश्रुति के अनुसार आप के मन्दिर में एक कुआँ है और उसके पास ही एक भूगर्भ है। भूगर्भ की खिड़की कुएँ में भी खुलती थी। इसी स्थान पर संत जी ग्रन्थसाहिब जी के दर्शन करते और नित्य पाठ करते। एक बार ऐसा हुआ कि वर्षा के कारण कुएँ का पानी इतना भर गया कि साथ में सटा हुआ भूगर्भ (पंजाबी में भोरा) पानी से डूब गया। श्री ग्रन्थसाहिब भी तैरते-तैरते कुएँ में चला गया और पानी के उतरते ही वह नीचे चला गया। जब संत जी को पता चला कि तो ये कुएँ पर आये और झाँक कर कहने लगे कि 'हे सच्चे पातशाह, आज तुम्हारी परीक्षा की घड़ी आ पहुँची है; यदि तू सच्चा है तो अपने-आप कुएँ पर आ जा।' कहते हैं कि कुएँ का पानी फिर से उठने लगा और वहाँ तक आ गया, जहाँ तक भूगर्भ की खिड़की खुलती थी। वहाँ से तैरते हुए ग्रन्थसाहब को संत जी ने उठा लिया। पानी में भीगने पर भी उस प्रति का एक भी अक्षर नही धुला। यह बीड़ अभी तक अमृतसर के श्री राघवानन्द जी के पास सुरक्षित पड़ी है।

यदि पीयूषकंठ जयदेव महाप्रभु को गीतकाव्य का प्रथम छोर मान ले, तो संतरत्न हरि निश्चयपूर्वक उसके दूसरे छोर है। इस बीच में (संवत् ११६०-१७६० सं. तक) गंगा में कितना पानी बह गया, उसमें कितनी उत्ताल तरंगें उठीं और गिरीं, इसका कोई अनुमान नहीं। विद्यापति, सूरदास तथा तुलसीदास ने गीतिकाव्य की सृष्टि से हिन्दी की श्रीवृद्धि की थी; पर रीति-काल के रेगिस्तान में जब गीति-गंगा का बहना कठिन से कठिनतर हो रहा था, तब गीतिकाव्य की सृष्टि करके सन्तवर हरिदास ने जो साहित्य-श्री-वृद्धि का यश और पुण्य अर्जित किया है, उसकी समता अन्य कौन कर सकता है और उसका मूल्यांकन भी! यह वह गंगा नहीं कि जिसकी शब्द-लहरियों को गिन कर या देखकर भाव-गाम्भीर्य का अनुमान लगाया जा सके; यहाँ तो डुबकी लगाकर आनन्दानुभूति की बात की जा सकती है। भावों के साथ-साथ बल खाती शब्दावली भी अनिर्वचनीय है, पूरे काव्यास्वादन की तो बात ही क्या! विद्यापति की मधुरता, सूरदास की परमाभक्ति, तुलसीदास की गुम्फित शब्दा-

वली के विषय मे हिन्दी-जगत् को कुछ बताना शेष नहीं है। पर रत्नहरि के अनुस्यूत भक्ति-माधुर्य एवं नादसौन्दर्य से हिन्दी-जगत् को परिचित होना अभी शेष है। शब्दों के सम्राट्, रूप-चित्रण के धनी, भाव के सागर, कल्पना के अग्रदूत, मनोविज्ञान के चितेरे भक्तवर रत्नहरि का चित्रण दो-चार शब्दों में नही किया जा सकता।

भक्तजी की भाषा परिनिष्ठित व्रज है। पजाबीपन की छाया कहीं कुछ पड़ गई हो, कुछ बता सकना दुष्कर है। रचना में शब्दालंकारों की कोई गिनती नहीं। किसी भी पंक्ति को अनुप्रास-शून्य नहीं बताया जा सकता। कतिपय कविताओं पर बड़े मनोरम चित्र उरेहे जा सकते हैं। निश्चल भक्ति, सरस साहित्यिकता, अद्भुत व्यक्तित्व से अंकित सूर-तुलसी-मीरा के बाद यदि किसी का स्थान हो सकता है, तो वह रत्नहरिदास हैं।

रचना—

बाजत बधाई आज कालू बेदी बर घर
ताकी धुनि धमक धसी है पुर बार-बार।
देन को बधाई धाइ धाइ सुनुगाई आवैं
माई अरु भाई धाई हरख में बार-बार।
बिगस-बिगस बेदी बंस बारे वारैं बूढ़ै
बखसीसं बखसैं बतीसरन बार-बार।
बिप्रन पैं बसु बहु बरसैं सुबेदी बर
बंदिन पैं बसनादि बालक पैं बार-बार॥

सिय संदेस सुदेस चले हरिवरेश हरि तीरा।
गिरि अरिष्ट इत गुनगरिष्ट सरितापति तीरा॥
तापर चढ़ै कूदि कपि के हरि थरहर कंपित कीनौ।
सुरस बिलास निवास तासु जौ सबनि बिदा करि दीनौ॥
कूदत कपि पग धमक धरनि मैं, धस्यौ धराधर सगरे।
उच्च त्रिदस जोजन दस जोजन हुतौ वसुमती बगरे॥
इति अति वेग वेग-निध धाये तजि उरेक सागर कौ।
मारुतसुत मारुत-गति गवने उरि धरि रघुनागर कौ॥
झटपट आये बरभट भाये करि अटपट अरिगन सों।
गरजि सुनाये सिय सुध लाये लखि पाये हरिगन सों॥

आइ मिले हित हिले-मिले सब खोइ दुख गाढ़े।
कंठ लगाइ अति मन भाइ प्रेम समुद्र बढ़ बाढ़े॥
यथा जनकजा बिथा बिहाइ तथा लंक लचकाई।
सबै सुनाइ कथा सुहाइ यथा प्रथा तहँ पाई॥
सुनि कपिमन मगन करखे हरखे निज तनु प्राना।
तब सब राम सहित तरखे बरखे दृग धरि ध्याना॥
अति आनंद मगन कपिगन सुनि स्वन हनुमन मन लाये।
नाचत कूदत किलकत पुलकत कितहित चित लाये॥
कोऊ हँसि हेरि हेरि हनुमंतहि हरखि हिये लेलावत।
कोऊ ह्वै प्रनत प्रनमत परमहित सकृत तृप्ति न पावत॥
कोऊ अनुकूल अतुल फूलफल लै पूजत पर प्रीता।
कोऊ घूमकर चरन चूमि कोऊ परत भूमि नति नीता॥

४७. **संतोषसिंह**—जो ख्याति उत्तर भारत के सनातन हिन्दू जगत् मे गोस्वामी तुलसीदास तथा उनकी रचना 'रामचरितमानस' की है, वही ख्याति व मान पंजाब में, सिख-जगत् में कविचक्र-चूडामणि भाई संतोषसिंह को तथा उनकी प्रसिद्ध कृति 'गुरु प्रताप सूर्य' को प्राप्त है। अतः पंजाब के कतिपय प्रतिनिधि हिन्दी-कवियों में भाई संतोषसिंह का नाम गिनाये बिना काम न चलेगा। पंजाब के वरिष्ठ गुरुद्वारों तथा गुरुधामों में नित्यप्रति 'गुरु प्रताप सूर्य' की कथा होती है।

भाई संतोषसिंह के पूर्वज छिब्बा या छिब्बर नाम के मोह्याल ब्राह्मण थे। आपके पिता भाई देवासिंह अम्बाला जिला के बूड़ियाँ गाँव में रहते थे। गुरु-मन्दिर की महिमा से आकृष्ट होकर भाई देवासिंह अमृतसर आ बसे थे और वहीं संवत् १८४५ वि० में उन्हें पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई तथा आगे चलकर वही शिशु संतोषसिंह के नाम से विख्यात हुआ। संतोषसिंह ने ज्ञानी संतसिंह से काव्य-शास्त्र का अध्ययन किया था—यह बात उनके अन्तःसाक्ष्य से भी सिद्ध है·

संतसिंह गुरु अक्खर दाता। नमौं नमौं तिन पद जलजाता।

उल्लेखनीय बात यह है कि भाई संतोषसिंह ज्ञानी सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते हैं। वास्तविकता यह है कि दशम गुरु जी ने जिन्हे आदिग्रन्थ स्वयं पढ़ाया था, उन्होंने अपने शिष्यों को, शिष्यों ने अपने प्रशिष्यों को विधिवत् विद्या प्रदान

की थी।[1] भाई संतोषसिंह उसी वर्ग में आते हैं। भाई संतोषसिंह के वंशधर आज भी कैथल में विद्यमान है।

किंवदन्ती है कि लोगों ने आपसे कहा कि यदि आप गुरु-परिवार की कथा पौराणिक ढग से लिखें तो इससे आपकी कीर्ति चतुर्दिक् फैल जायगी। पर उसमें हिन्दू-शास्त्र के विरुद्ध कोई बात नहीं होनी चाहिए, आदि-आदि। पण्डितों से प्रेरणा पाकर भाई जी ने उक्त ग्रन्थ की रचना की। भाई काहनसिंह को इस पर आपत्ति है।[2] भाई जी के ग्रन्थ इस प्रकार से हैं—

१. अमरकोश, भाषानुवाद (संवत् १८८०),
२. गुरु नानक प्रताप सूर्य (विक्रम संवत् १८८०),
३. जपुसाहब पर गरबगंजिनी टीका (विक्रम संवत् १८८६),
४. आत्मपुराण,
५. गुरुप्रतापसूर्य (रचनाकाल १८९० संवत्),
६. वाल्मीकिरामायण (संस्कृत-अनुवाद) रचना-काल विक्रम संवत् १८९१।[3]

'गुरु प्रताप सूर्य' सामान्यतः दोहा-चौपाइयों में लिखी रचना है। यथा-स्थान त्रिभंगी, कवित्त, सवैये जैसे दीर्घोच्चरित छन्द भी है। कर्ता में उदाराशयता का परिचय उसके रचे मंगलचरण से ज्ञात हो जाता है :

ॐ परमातम आतम भू पदमापति पंच खतंग अराती।
वायु विनायक वायुसखा बनराय वृछावृछ सैल निपाती।
श्रीवह सूर ससी उड़ अंतक मानव दानव देह सँघाती।
वंदन ताकर बंदन कै नित आनँद कंद मुकंद विख्याती॥[4]

'गुरु प्रताप सूर्य' के दो भाग हैं; पहले भाग में आदिनानक का जीवन-चरित है; दूसरे भाग में शेष नौ गुरुओं का जीवन है। पुस्तक लिखने का क्रम भी बड़ा मनमोहक है—रचना दो आयनों में विभक्त है, आयन ऋतुओं में और ऋतुएँ राशियों में। यथा—

१. गुरु शब्द रत्नाकर महानकोश : काहनसिंह : पृष्ठ १३०१ (तथा ७२८)
२. ,, ,, ,, पृष्ठ ७२८
३. यथा—
संवत् विक्रमजोत अष्टदस सहस भणि जै। तीस त्रिगुणा करिय भयौ पूरन लख लिजै।
पुनि इकनवां चल्यौ संधि दोउन कौ मानहु। रुत वसंत अत समन चैत्र मास पहचपहु।
४. तुलना कीजिये पंचतंत्र के मंगलाचरण से।

पूर्वारध उतरारध दोई। कथा बनी गुरु नानक सोई।
बरती द्वादस रासि अगारी। नवम गुरु लग कथा सुधारी।
षट् ऋतुयुत बने युग आयन। श्रीगोविंदसिंह गाथा आयन।
भए प्रकरन सबकै मन भाई। नौ रस से पूरन सुखदाई।
श्रीगुरु की गाथा शुभ गंगा। छंद उमंग उतंग तरंगा।
'रामकुवर' गिरवर तै निकसी। सिखन विखै जगत में विगसी।

संवत् १८८० में पटियाला-नरेश महाराजा कर्मसिंह इन्हें सादर अपने दरबार में लाये थे। दो वर्ष बाद कैथलनरेश श्री उदयसिंह जी इन्हें कैथल लिवा ले गए। इस ग्रन्थ की समाप्ति १९०० संवत् में वहीं हुई। पुस्तक की समाप्ति तो इससे पूर्व वसन्त ऋतु में ही हो जाती, पर कैथल में भयानक डाका पड़ जाने से ग्रन्थ श्रावण में समाप्त हो सका। इस डाके की गूंज ग्रन्थ में भी है।[1] ग्रन्थ की मूल भाषा ब्रज है। इसमें कतिपय ऐसे शब्द भी हैं, जो सिख-जगत् में पारिभाषिक सकेत व्यक्त करते हैं। पंजाबी शब्द भी यत्र-तत्र विद्यमान हैं। भाई संतोखसिंह की दूसरी अमर रचना संस्कृत की वाल्मीकि-रामायण का अनुवाद है। गोस्वामी तुलसीदास जी तो वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, हनुमन्नाटक, गीता, उपनिषद् आदि ग्रन्थों को मथकर 'रामचरितमानस' लिखने में कृतकार्य हुए; पर भाई संतोषसिंह जी मात्र वाल्मीकि-रामायण पर निर्भर करते हैं। समस्त कथा दोहा-चौपाई में लिखी गई है। रचना को पूरा अनुवाद कह सकना तो कठिन है, पर कथा-प्रवाह अविकल वैसा ही है, जैसा कि वाल्मीकि-रामायण में।

'गुरु प्रताप सूर्य' पर पौराणिक प्रभाव स्पष्ट है। दशम ग्रन्थ के बाद इस महाकाव्य का स्थान आता है। लेखक इसे हिन्दू-सिख संस्कृति का साझा कोश-ग्रन्थ मानता है।

रचना—

(१)

सारँग पै बढ़ि सारँग पै चढ़ि सारँग सत्रुन को बलि सारँग।
सारँग जो जग मैं कुल सारँग, सारँग ज्ञान प्रकाशक सारँग।

---

१. परी लूट कपिथल विखै मिलै चोर बटमार।
आप आपकौ भज चलै तजपुर सब इक बार॥
सावन माँहि इस ग्रन्थ की भई समापति आइ।
विघनवृन्द तै बच रहै श्री करतार सहाइ॥

सारँग बासन कौ प्रिय सारँग, सारँग बूखन को सभ सारँग ।
सारँगपानि भयौ नर सारँग, सारँग श्री हरिगोविन्द सारँग ।।

(२)

अरजुन सुनत सुदासन कौ दान देत
मोह के निबारबे कौ वाकसर अरजन ।
अरजन जस विखतीरन संतोषसिंह
जहँ तहँ जानियत मानो तरु अरजन ।
अरजन भए तन मोखपद लाए जिन
स्याम घन तन होय तोरे यमलारजन ।
अरज न जान्यो जाय कितै है विथार तेरे
ऐसे रूप धार आये राजें गुरु अरजुन ।।

(३)

वर कीरत जौन अमीतन भौन सुसीतलता सुख तौन सुहाई ।
गति साधन कैरव कौ बिगसावत दास हुवै नभ बीच सुभाई ।
तप तै दुख तीनउ आवत है चित चारु चकोर रहे लिवलाई ।
गुरु तेगबहादुर सोहत चंद से हीन कलंक यही अधिकाई ।।

४८. **बुधसिंह**—इस नाम से तीन व्यक्ति प्रसिद्ध है । यथा—

१. बुधसिंह—स्वरूपचन्द भल्ला के शिष्य अथवा पुत्र;
२. बुधसिंह—रणजीतसिंह के दरबारी कवि, पंचतंत्र के अनुवादक ;
३. साहबसिंह 'मृगेन्द्र' के शिष्य बुधसिंह—रचना-काल संवत् १९२० के लगभग ।

प्रथम बुधसिंह की पहचान उनके उपनाम 'शशिज मृगेन्द्र' से हो जाती है। यहाँ जिन रचनाओं का उल्लेख है, उन पर उक्त उपनाम अंकित है । अमृतसर के 'सिख रिफ़ैन्स पुस्तकालय' में 'महिमाप्रकाश' की एक प्रति रखी है, जिसके आरम्भ में स्वरूपचन्द भल्ला अंकित है, अन्त में बुधसिंह का नाम । सम्भव है वह भल्ला का शिष्य या पुत्र न होकर केवल लिपिकार हो ।

बुधसिंह एक धार्मिक वृत्ति के व्यक्ति थे । आपके सिख मत में दीक्षित हो जाने पर भी आप पर पौराणिक भावना की छाप स्पष्ट है । रचनाएँ देख कर यह अनुमान लगाना असगत न होगा कि आपने जो कुछ लिखा है वह किसी की संतुष्टि के लिए नहीं, बल्कि स्वान्तःसुखाय लिखा है । इनकी रचनाएँ—अद्भुत नाटक, माधवानल, राधामानम् और गुरु-रत्नावली

हैं। आपका रचना-काल विक्रम संवत् १८८० से १९१० के अन्तराल का है। अद्भुत नाटक में राजा अम्बरीष की कथा है। गेय नाटक-परम्परा में इसका चौथा स्थान है। इसमें नाटकाय विधान का किसी अंश तक ही पालन हुआ है। भाषा तथा विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से रचनाएँ उच्च कोटि की हैं। उल्लेखनीय इतना है कि रचनाओं मे साहित्य-पक्ष तथा भक्ति-पक्ष गलबहियाँ डाले खड़ा है। उर्दू-इतिहासकारों ने भी बुधसिंह का उल्लेख किया है।[1] इन महाशय ने पंजाबी में भी सीहरफ़ियाँ, माँझा तथा बारामाँह लिखे हैं। हिन्दी, उर्दू तथा पंजाबी मे लेखनी उठाकर भी ये हिन्दी कवियों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। इनकी भाषा ब्रज है।

रचना—

प्रभु को प्रणाम जो अगम्य गम्य भाखियत
मुदित नरेस देस अपने में आयो है।
मंगल भयो अपार ओध को न पारवार
ओधपुर पति पृष्ठ सिंह को सुहायो है।
बाजत भे दुन्दुभीन और सहनाई चीन
नाचन नवीन बधु राग बहु गायो है।
बरख्यो बहुत बिध बारिद ज्यों रतननि
राज अम्बरीष जस अयलोक छायो है॥
सत्रन ताप सराप रिखीसन और जु आधि बिआधि कहावै।
इच्छत हौं नृप चक्र सुदर्सन लै सभ को यह मार भगावै।
यों कहि तोपत···हरि जू मुनि नायक जासु को भेद न पावै।
संत दयाल करै प्रतिपाल रिखो अस सिख्य अतः समुझावै॥

४९. **निहाल कवि**—पंजाब के राज्यों में पटियाला राज्य को अधिकाधिक हिन्दी-कवियों को प्रश्रय देने का श्रेय लब्ध है। गुरु गोविन्दसिंह के बाद पटियाला का दूसरा स्थान है जहाँ भाखा-कवियों की धूम-धाम बनी रही। महाराजा कर्मसिंह के यहाँ कवियों का आना आरम्भ हो गया था। निहाल

---

१. शमशीरे चश्म खैंचकर डराते हो क्या सजन,
सुरमा के संग सो आब दबाया नही इनज।
इस जुल्फ पेचदार क्या पेच पेच दिल,
मार सीह को हाथ लगाया नही इनज।

—'पंजाब में उर्दू' (शीरानी)

कवि उन्हीं के युग में आये थे। निहाल कवि कब जन्मे, कब उनका देहान्त हुआ—यह सब अभी तक अज्ञात है। अन्तःसाक्ष्य से केवल इतना पता चलता है :

पुरकाश्मीर उत्तर दिशान। सब भूमि बीच पावन महान।
तिंह रामचन्द्र पण्डित सुजान। शिवरूप भयो विद्याजहान।
तजि काश्मीर आये पंजाब। दिल्ली निवास कीनो सिताब।
सतसात रहे दिल्लीस पास। तिंह तीन पुत्र भये मनो व्यास।
जामैं प्रवीण बड़ विलाराम। दस चार इलम को मनो धाम।
चालीस साल बीते सुचैन। महाराज कृपा के हेरि नैन।
ता नगर पटयालो वास कीन। महाराज साहाबसिंह चीन।
ता तनै कवि जानो निहाल। श्री कर्मसिंह तापै दयाल।
ह्वै कै कृपाल प्रतिपाल कीन। निज सभा बीच तहि ठौर दीन।

कवि के इतने सुस्पष्ट आत्मकथानक पर टिप्पणी की आवश्यकता नहीं रह जाती। कवि ने दोनों महाराजाओं के राज्यकाल में निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की। यथा—

१. साहित्यशिरोमणि—महाराज कर्मसिंह की आज्ञा से संवत् १८६१ में यह लक्षण-ग्रन्थ लिखा। ग्रन्थ लिखते समय कवि के समक्ष दो ग्रन्थ थे—मम्मटकृत 'काव्यप्रकाश' तथा हरिचरणदास-कृत 'सभाप्रकाश'। यथा—

मम्मट मत को सार ले, कछुक आपनो वित्त।
साहित्य शिरोमणि ग्रथ कै बांधै उक्त कवित्त॥

२. ज्योतिप्रकाश—अनेक ग्रन्थों का सार लेकर सात दिन में रचित ज्योतिष्-ग्रन्थ।

३. लघुजातक—ज्योतिष्-ग्रन्थ।

४. माधवनिदान—संस्कृत में वैद्यक का ग्रन्थ।

५. महाभारत—दानपर्व।

६. दशम स्कन्ध—संस्कृत के भागवत (११ वाँ अध्याय) का हिन्दी-अनुवाद।

७. रामचन्द्रोदय—कविराय केशव-कृत 'रामचन्द्रिका' को आधार मानकर लिखी गई रामकथा।

८. रामायण—रामचरित पर लिखा गया मनोहर काव्य।

९. पूर्णप्रकाश—मुक्तक कविताओं का संग्रह।

१०. फूलकथा—यह एक खण्डकाव्य है। इसकी कथा कुछ उत्पाद्य है और कुछ कल्पित।

कथा को सूत्र बनाकर तांत्रिक एवं राजनीतिक मोती पिरोये गए हैं। जैसरमेर की किसी दन्त-कथा पर यह सुखान्तक काव्य है। यहाँ उल्लेखनीय इतना है कि पटियाला-नरेश के पूर्वज भी शालिवाहन गजपुत्र के वंशधर हैं, जो जैसलमेर के संस्थापक एवं निवासी हैं।[1]

इन सब रचनाओं की भाषा ब्रज है। लिपि तो गुरुमुखी है ही। निहाल कवि की रचना पर खड़ी बोली की छाप है, सम्भवतः दिल्ली-वास के कारण।

रचना—

हरी भरी भूमि सब भूमि तरु डार-डार
फूल फल पल्लव रसालन विसाल है।
नीर कै झलान कै झलान झरझरैं झीर
बेली जे नवेली चेली मेली यों रसाल है।
कोमल अमल तृण कमल कि लाल ताल
मंद मंद गौन पौन त्रिविध निहाल है।
कोमल कपोल कीर केकी केकाकल धीर
कोयल कलापैं लग्रलापैं तान जाल है॥

(२)

ठौर ठौर सौरभ समीरन अधीर धरि
हरी भरी भूमि घूमि घन घन छाय छाय।
ना-ही-ना-ही निहुरि निहुरि परैं बूंद बेस
जलचर थलचर आवैं तहाँ धाय धाय।
भौंरन की भीर भननात झननात खग
छननात छटा छूटैं छिति छुवैं आय आय।
तालन की पालन पै कंजन की मालन पै
सीतल किलालन पै हंसी हंस गाय गाय।

(३)

बार-बार बर मंज कै बार सुकावत बार।
पियै सुधाकर तै सुधा, अहिकुल है पिछवार॥

---

१. द्रष्टव्य : परिशिष्ट १२

पियो सुधाकर कै सुधा अहिकुल सकल बटोर।
मनो काम-कर पकरि कै लीनो अमी निचोर॥

५०. **साहबसिंह 'मृगेन्द्र'**—जींद के साहबसिंह 'मृगेन्द्र' अनुमानतः कुछ समय के लिए पटियाला भी रहे होंगे। भाई प्यारासिंह 'पद्म' इसे संगरूर का राजकवि बताते हैं।[1] कुछ विद्वानों ने साहबसिंह को सूफी कवियों में गिना है। परन्तु सूफ़ीवाद के लिए जो विधि-विधान अपेक्षित रहते हैं, उन पर 'मृगेन्द्र' को परखना सम्भवतः उसके प्रति अन्याय होगा। अलबत्ता इन्हें अनेक संस्कृतियों का कवि कह सकते है। 'बारामाँह' पढ़कर इसके निर्गुणवाद का कोई गुमान तक नहीं करेगा। लेखक की दृष्टि में साहबसिंह का मूल्य 'खड़ी बोली' के प्रथम कवि के रूप में आँका जाना चाहिए; माना इससे पूर्व कतिपय कवियों ने 'खड़ी बोली' में फुटकर कविताएँ लिखी हैं; पर लघुकाय 'बारामाँह' के काव्यरूप में खड़ी बोली को अपनाने वाला 'साहबसिंह' मृगेन्द्र पहला कवि है। लक्ष्य करने की बात यह है कि इन्ही दिनों पंजाब में मृगेन्द्र कवि खड़ी बोली में लिख रहे थे, और काशी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म हुआ था। इनकी एकमात्र पंजाबी रचना 'बारामाँह' (कृष्णलीला-सम्बन्धी) भी प्राप्य है।

साहबसिंह की रचनाएँ ये हैं—कुसुमवाटिका, मनमानस, सुमनसंजीवन, अष्टमहल, बारामाँह, प्रेमपयोनिधि, गुरु दशम पंचाशिका, रासमण्डल, कृष्ण-कौतूहल, कवित्तकुसुमवाटिका, राजेन्द्रमती चरित्र। अनुमान है, कुछ रचनाएँ और भी होंगी।

मृगेन्द्र-साहित्य का सांस्कृतिक वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है—

(क) सिख संस्कृति—गुरुदशमपंचाशिका;

(ख) वैष्णव संस्कृति—रासमंडल, कृष्णकौतूहल, बारामाँह;

(ग) प्रणय-संस्कृति—अष्टमहल, सुमनसंजीवन;

(क) खण्डकाव्य—राजेन्द्रमती-चरित्र;

(ख) कोशकाव्य—कवित्तकुसुमवाटिका। इत्यादि

कुसुमवाटिका में ग्वाल, बेनी कवि, दूलह कवि तथा अन्य कवियों की सुन्दर कविताओं के साथ-साथ मृगेन्द्र की रचनाएँ भी सम्मिलित हैं। 'मनमानस-प्रवाह' में राजनीति या लोकनीति का निरूपण है—

---

१. पंजाबी बारामाँह, भूमिका, पृष्ठ ४२ च

मन मानस प्रवाह वर, राजधरम को सार।
पढ़ै सुनै या मग चलै, नृपति लहै फल चार॥

सुमनसंजीवन में नेह-नीति, प्रीतम-प्रसंग, मनिसागर, पूर्ण प्रेम-निर्वाह आदि शीर्षक हैं। बारामाँह में गोपियों की विरह-कथा है।

भाषा ब्रज तथा खड़ी बोली दोनों हैं।

रचना—

(१)

फूल्यो मन सुमन अविद्या पतझार भई
सुमति कमलिनी की छवि उफनत है।
कोकिला सुजान बुधि बोलत मधुर बानी
आनंद सरोवर की सोभा सरसत है।
सबद अनाहद सु बाजत अनेक बाजे
सीतल सुगंध मन्द पवन बहत है।
सुरति सहेली साथ ग्यान रंग रँगे जात
चेतना अखंड आज खेलत बसंत है॥

(२)

भूपति आगम लख याहि तें सकुच बैठी
उत वै अलग जाय ठाढ़े मन शंक तें।
भूपत उतर दौर राज कौर कौर भर
लायो गरे प्रेम भर छोरत न अंक तें।
बार बार मुख झार आँसुन की धार धोई
पौरख सराह भायो पूरन मयंक तें।
फेर निज सुता कौ लगाय हिय गोय रह्यो
पारस की पाथरी न छूटत ज्यों रंक तें॥

(३)

झलराय अंबा मौर झूमत पुखलता लहरावती।
हिय चीर जात समीर सीतल बिरह में तरफावती।
मन उमंग बेलरियाँ पिया तरु कंठ लपटाने लगी।
मैं बिरह बेधी नैन भर भर रोय मुरझाने लगी॥

(४)

संदल अतर औ गुलाब केवड़े छिड़क महल सुहावने।
उर पिय लिपट सुहागिनी सेवत हैं सुखद बिछावने।
मैं बिरह दाधी रैनदिन बिलपत फिरूँ बिन चैन री।
जब कै सिधारे स्याम तब रहत फुहारे नैन री॥

५१. उमादास (भवानीदास)—पटियाला दरबार के राजकवियों में उमादास का नाम मूर्धन्य स्थान पर आता है। इनका अपर नाम भवानीदास भी है। इनके माता-पिता, जन्म-मरण तथा स्थान का विशेष पता नहीं चल सका। जब महाराज नरेन्द्रसिंह ने महाभारत का अनुवाद-कार्य आरम्भ किया था, तब अकेले उमादास ने पाँच पर्वों का अनुवाद कर डाला—स्वर्गारोहणपर्व, मौसलपर्व, प्रस्थानपर्व, अश्वमेधपर्व तथा सौप्तिक पर्व। अश्वमेधपर्व को छोड़ कर शेष पर्व संवत् १९०९ में लिखे गए। उमादास की अन्य रचनाएँ ये हैं—नीतिरत्नाकर, नाममाला, कुरुक्षेत्र-माहात्म्य, पंचरत्न, काव्यकुतूहल, सुदामा-चरित्र, बारामाँह; आदि।

भाषा की शुद्धता, समर्थ अभिव्यक्ति, सालंकार शब्दावली तथा कल्पना का निर्वाह—उमादास को अन्य कवियों में श्रेष्ठतम सिद्ध करते हैं। 'भारतीभंडार' में उमादास का योगदान सब से अधिक है। वीररस तथा शृंगाररस पर कवि का पूरा अधिकार है। इसने दो बारामाँह लिखे, एक संयोग-शृंगार पर, दूसरा विप्रलंभ-शृंगार पर।

रचना—

सारद देवी नमौं निस वासर छाजत या छवि ज्यों शशि सारद।
सारद आदि सदा जग में पुन बेद बिधान विशेष विसारद।
सारद एक जु नारद आदिक दयावत बुज्जन के मन सारद।
सार दया नित धारत पारद कांति बिना जिस वै अविसारद॥१॥

(२)

चलै रंग अंग है तुरंग जौ उतग संग
मत्त ह्वै मतंग धूर सोभा आसमान की।
उमादास नाले नाले धुरनाले चालै हालै
महो कौ सँभाले धुन आगे है निसान की।
विजैवन्त बिजैकाज चढ़े कर्मसिंह राज
सुन कै समाज सत्रु हू कौ होत प्रान की।

पान की न पान की न खान की न गान की न
तान की न जान की न रही सुध आन की ॥

(३)

अम्बर है कुसुम पराग राग रंजत ही
त्रिविधि समीर चले मौल अब अम्बर है।
अंबर है सुगंध औ मलिनका गुलाब आब
उमादास भौंरन की भरि जोइ अबर है।
अंबर सुहावै सुख बीन-बीन राग बीन
लै प्रवीन गावै ऐसौ समय अंबर है।
अंबरमणि तेजवंत जो बसंत आयौ आयौ
नहिं कंत काँप्यो करै आजु सु-अंबर है॥

५२. **तोषहरि**—बागड़िया (नाभा) के भाई नारायण सिंह के अनन्य सखा एवं कपूरथला-निवासी संतोषसिंह बड़े ही विनोदी स्वभाव के कवि हुए हैं। तोषहरि की रचना अभीतक नहीं मिली। और जो फुटकर पद भी मिले हैं, वे उनकी अल्हड़ मस्ती, सहज काव्य-प्रतिभा तथा रंगीन जीवन का परिचय कराने को पर्याप्त हैं। यह अनुमान गलत न होगा कि आपकी उर्दू शायरी भी कहीं-न-कहीं अवश्य मिलेगी। समस्या-पूर्ति मानो आपके लिए कुतूहल-मात्र है। अनुमान है आपका जन्म क्षत्रियवंश में १८७० विक्रमी संवत् में हुआ। इनकी भाषा बड़ी ही परिमार्जित एवं सरल है। कुछ लोगों के कथनानुसार तोषहरि बडे होकर साधु हो गए थे।

रचना—

(१)

जदपि सिधाए दिन छैक भए माधव कै
तदपि नवेली चित चिंता सो चुरी रहै।
काहू सों न बेदन बतावै उर अन्तर की
तापै छपि काम छुद्र मारन छुरी रहै।
कहै तोषहरि प्यारी पीरे मुख छुटी जात
रहैं दृग भरे उर व्याज पै दुरी रहै।
मानौ चन्द्रमा पै तम चाबुक चलायौ भीत
रोवै मृगपोत अश्रुधार न दुरी रहै॥

(२)

आयुष जौ दीजै जवानी की उमंग भरी,
जीविका जो दीजै तो पै बैठे निज घर की।
भोजन जो दीजै घृत दूध दही अन्न खण्ड,
जो पै पट दीजै समस्वेत हंस पर की।
कहै तोषहरि जो प्रसन्न विधि तू है मो पै,
विद्या दीजौ काव्य-प्रीति सतसंग वर की।
दीजै जो सवारी तो पै काबुल की घोड़ी सदा,
दीजै जोपै नारी तो अरोड़ी सुधासर की॥

५३. **वसन्तसिंह 'ऋतुराज'**—महाकवि वसन्तसिंह पटियाला के रहने वाले तथा पटियाला-नरेश के आश्रित कवि थे। पटियाला-दरबार के प्रतिनिधि कवियों में निहाल कवि, साहबसिंह मृगेन्द्र तथा उमादास के साथ-साथ ऋतु-राज कवि की गणना भी की जानी चाहिए। ऋतुराज की रचनाएँ ये हैं—नलदमयन्ती (खण्डकाव्य), वसन्त-बहार, वसन्तविनोद, भीष्मपर्व (महाभारत) गुरुवंशतरुदर्पण, रूपवसन्त. कथा जगदेव पँवार, सिखावन राजनीति तथा वसन्त-सतसई। इनमे 'वसन्तबहार' तथा 'वसन्तविनोद' पारसी के प्रसिद्ध ग्रन्थ गुलिस्ताँ तथा बोस्ताँ के अनुवाद है, जो महाराजा पटियाला की आज्ञा से लिखे गए थे। रचना के नामानुवाद के साथ-साथ कवि के नाम की तुक भी ठीक बैठ गई है। 'भीष्मपर्व' महाभारतीय शृंखला की एक कड़ी है, जो पटियाला दरबार में लिखा गया था। वसन्त-सतसई—जो अन्योक्ति अलकारों का कोश है—पंजाब की प्रतिनिधि सतसई है।

ऋतुराज की काव्य-शैली बड़ी मिष्ट तथा शैली अत्यन्त साधु है। ऋतुराज में कविजनोचित सदाशयता अधिक मात्रा में है। आपने भी गुरु-वन्दना के साथ पौराणिक देवी-देवताओं का स्तवन बिना किसी धार्मिक आग्रह के किया है। बड़ी ऊँची उड़ान के फंदे में न फँसकर सरल परन्तु प्रभावशाली अभिव्यक्ति के धनी ऋतुराज कवि मुख्यतः प्रकृति के अनन्य भक्त हैं। आपने दो प्रेम-कथाएँ भी लिखी हैं। भाषा ब्रज और लिपि गुरुमुखी है।

रचना—

मूल तें गवायौ गाइ बामन के बैरिन को
भूल न लगायौ मुख मानुख मलिन को।

लील्यो गयो हिंद को सुधरम उगल्यो फेर
धूर में मिलायो मान मेट मुगलन को।
श्रीगुर गोविन्दसिंह साँचो पातसाही प्रभु
खिन में खपायो जिन मंडल खलन को।
खोटि भरे जान नख कोटि तें कुटिल बोटी
बोटी कौ उड़ायो बिना चोटी के दलन को॥

(२)

लीने छूट कूटि कें खलन कें अखिल दल
प्रबल प्रचंड बल बैरिन के छीने है।
राख लीने धर्म धरा में गाइ बामन कें
पालन प्रजा के ए पुनीत पंथ चीने है।
माधव मृगेश[1] हुतें दारिदी दुखी जे दीन
करुणा निधान कियौ बिपत बिहीने है।
दीनौ दान विक्रम कौ लीनौ जस भोज जू कें
नरेन्द्रसिंह महाराज साँचे आज कीने है॥

रसाल : तू रसाल सब कौ सुखद, देत सुफल रसभीन।
याही तें बिधि करत नहिं तोहि कबं पतहीन॥

रसना : रसना तुव अस ना कोऊ, सीलवंत सहुलास।
कठिन दसन में दिवस-निस करत बयस भर बास॥

अधर : कढ़न देहु मत वदन तें, अरें अधर अस बोल।
नाहक बसत परोस पर, कूटे जाहि कपोल॥

हंस : तू मराल बैठत कहा, पंथ संवार सँवार।
यहाँ खीर अरु नीर कौ, रहत भाव इकसार॥

५४. **कीरतसिंह**—संत कीरतसिंह किसी राजदरबार में जाकर कविता करते होंगे, ऐसा अनुमान निराधार हो सकता है। राम-नाम की धुन, कृष्ण-मुरली की मन्द-मन्द स्वन में अलमस्त होकर मधुर गुनगुनानेवाले संत पंजाब में क्वचित् प्रच्छन्न एवं क्वचित् प्रस्फुट रामभक्ति-शाखा की एक कड़ी हैं। रत्नहरि के बाद कीरतसिंह का नाम उल्लेखनीय है कि जिनकी रचना में भक्ति-पक्ष तथा काव्यपक्ष समकक्ष समक्ष रहते हैं। इनका परिचय अभी तक ज्ञात नहीं हो सका।

१. गुरु गोविंदसिंह

कीरतसिंह की रचनाएँ ये हैं—अनूपरामायण, कीरतरामायण, सतसैया-रामायण, भक्तमाल की टीका, भागवत एकादश स्कन्ध, विषन पद आदि। भाषा में प्रसाद गुण है एवं व्यावहारिक ब्रज है। लिपि गुरुमुखी है।

रचना—

रुकमिनि अति आतुर है लिखी चीठी।
हस असन चाहत सठ कागा बामन पठ्यौ बसीठी॥
बाँचत अंक भरे जल चख अभु गदगद बानी मीठी।
स्यन्दन चढ़ि कुंवन पुर आयें दुहु दिसि लाबो दीठी॥
देख प्रताप असुर सब काँपे भागे सठ दै पीठी।
कीरतसिंह रुकमनि अपनाई मेटि बिरह दुख धीठी॥

(२)

मोहन जा पर होत दयाला।
प्रेम भक्ति ताको निज दे है लेत छुड़ाय जंजाला॥
हरिगुन गाय सदा हि प्रफुल्लत ज्यों बसन्त बन पाला।
ताके अवगुन ढाकि कृपानिधि देख हृदय सुख साँता॥
कहा कहौं मैं अपनी करनी सदा चितव छल छाता।
बिरद लाज कीरतसिंह प्रभु तुम नाम देहु दिन राता॥

५५. **हरनाम**—योग्य पिता की योग्य संतान आचार्य हरनाम कपूरथला-पति महाराज निहालसिंह के आश्रित थे। हरनाम के पिता रामसुखराय भी कपूरथला-दरबार के राज कवि थे। आचार्य ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

राय रामसुख सुकविसुत कवि हरनाम सुजान।
श्री निहालसिंह भूपवर हुकम सीस धर मान॥
पूरन कीनो ग्रन्थ यह रस तरंगिनी सार।
जैसे निरख्यौ संसकृत तैसे मन अनुसार॥ इत्यादि

रामसुखराय की दो रचनाएँ सुनी जाती है—१. जस्सासिंह-विनोद, २. भागसिंह-विनोद। अनुमानतः हरनाम कवि जाति के जाट हैं। पिता की तरह पुत्र भी कविता में रससिद्ध कवि ज्ञात होता है। इनकी रचनाएँ ये हैं—रस-तरंगिणी, रसमंजरी, साहित्यबोध, निहालसिंह-प्रसादेन्दु-चन्द्रिका और शुक-प्रकाश। पहली तीन रचनाएँ साहित्यिक रीतियुक्त रचनाएँ हैं, चौथी भाषा भट्टभणंत है, और पाँचवीं रचना धार्मिक है। लक्षणग्रन्थों की परिपाटी वही है

जो अन्य लक्षण-ग्रन्थों में है। अर्थात् गद्य में लक्षण देकर, उदाहरण से उसे पुष्ट कर तथा पुनः वार्ता द्वारा उसे स्पष्ट किया गया है। हरनाम का रचना-काल संवत् १८९६ से १९०० तक ठहराया जा सकता है। बताया जाता है कि महाराज निहालसिंह तथा हरनाम समवय होने से सखा भी थे। इनकी भाषा गुरुमुखी-लिपि निबद्ध होने पर भी कहीं अधिक परिनिष्ठित है।

रचना—

बोल अमोल भर्‌यौ चतुराइन थंभवियार निवार दयौ।
पंकज-पान पयोधर कं परसावत हो जड़ता हरयौ।
कंप कलेवर में कमला प्रगट्‌यौ अधिकौ तब मीत भयौ।
नीरज लोचन नीरद रोजन नीवि विमोचन कं समयौ॥

५६. **फतैसिंह या फतैराम**—कपूरथलानरेश महाराज फतैसिंह के आश्रित फतैराम का नाम भी आचार्य-कोटि में रखा जा रहा है। इनकी दो रचनाएँ हैं—कविरंजन तथा फतैसिंहप्रकाश। चूंकि किसी-किसी रचना पर (पांडुलिपि) महाराज का नाम है, अतः इसपर किसी को विकल्प हो, तो आश्चर्य की बात नहीं; पर इतिहासकार के लिए बिना छान-बीन किये सब स्वीकार करना कठिन होता है। ग्रन्थ अवलोकन से पता चलता है कि इनका लेखक महाराज फतैसिंह नहीं, बल्कि कोई फतैराम नाम का कवि है। मोतीबाग पटियाला में फतैराम-कृत 'गीतगोविंद' नामक रचना उपलब्ध है; कहा नहीं जा सकता कि फतैराम वही है या कोई और। यह सब रहस्य ग्रन्थ के अन्तःसाक्ष्य से प्रकट है :

फतैसिंह छितिपाल, धनथल मैं दलबल सहित।
सोभित तेज विलास, साल परनि कं जाल कौ॥

निश्चय ही कोई राजा अपनी प्रशंसा स्वयं लिखना पसन्द न करेगा। 'कवि-रंजन' में कवि ने लिखा—

कविरंजन यह ग्रन्थवर कियौ परम चित लाइ।
फतैसिंह भुवपाल कौ प्रेम हुकुम धन पाइ॥
उदाहरण प्राचीन पर कीनौ कछुक नवीन।
फतैसिंह नृपहित रुचिर ग्रन्थ 'राम कवि' कीन॥

स्पष्ट हो कि इसमें 'राम कवि' का नाम असंदिग्ध है। एक-आध रचना पर 'फतैचन्द' नाम भी है। पर रचना का अन्तरंग सिद्ध करता है कि दोनों रचनाओं का निर्माता अभिन्न है। अस्तु

दोनों रचनाओं की लेखन शैली वैसी है जैसी कि अमीरदास तथा हरनाम

की है। आचार्य ने 'फतैप्रकाश' में स्वरचित उदाहरण ही अधिक दिये हैं और कविरंजन में अन्य ग्रन्थों के मनोनीत उदाहरण उपस्थित किये हैं। बड़ी बात यह है कि आचार्य ने रचनान्त में आधार-ग्रन्थों की सूची भी दी है।[1] आचार्य को अपनी कृति और कला में पूर्ण और असंदिग्ध सफलता प्राप्त है। कवि ने नौ रसों के स्थान पर बारह रस माने हैं; यथा : जासों द्वादस रसन सुखद पाइये स्वाद। रसों की संख्या के विषय में हिंदी-कवि ही क्या, संस्कृत के आचार्य भी मतैक्य नहीं रखते। फतैराम की भाषा परिमार्जित एवं सशक्त है। भाव अनूठे हृदयग्राही हैं।

रचना—

साधत एक परत्र हि कौ नृप अत्रहिं केइक साधत जानैं।
एक परत्र न अत्र को साधत अत्र-परत्र कौ साधैं सयानैं।
ते हरिचंद बेन त्रिसंक बिदेही से चार प्रकार प्रमानैं।
दोउन गुरु गोविंदसिंह बली हिम से जसवन्त बखानैं॥

५७. **लालसिंह 'दास'**—नाभा के राजाश्रित कवि लालसिंह दास एक रस-सिद्ध कवि हुए हैं। यद्यपि आपकी रची कोई रचना नहीं मिली, तथापि 'भारती-भंडार' में इतस्ततः विकीर्ण पद देखकर तथा आपकी सम्पादित 'ओज-विलास' में आपकी रचनाएँ देखकर यह अनुमान करना असंगत न होगा कि आपकी कोई विशिष्ट रचना भी होनी चाहिए। भाई काहनसिंह ने ओजविलास के विषय में अपनी राय 'महान कोश' में प्रकट कर ही दी है। ओजविलास में भूषण-देव-पद्माकर-बिहारी-मतिराम के अतिरिक्त लीलाधर, मन्यारसिंह, राम कवि, अमर कवि तथा देवीदास के पद संगृहीत हैं। दास ने रचना-संग्रहकाल का उल्लेख भी किया है :

बिसा सन्निधि ससि सात मैं आसुन सुदि दिन चार।
गुरु दिन सुखद सुहावनो भयौ ग्रन्थ अवतार॥

अर्थात् विक्रम संवत् १९१७ को यह ग्रन्थ सम्पन्न हुआ। गुरुमुखी लिपि है, भाषा परिमार्जित ब्रज है।

---

१. रसिकप्रिया, कविप्रिया, बिहारी सतसई, सुन्दर शृंगार, सभा प्रकाश, अलंकार-कलानिधि, भाषाभूषण, कवि वल्लभ, कविसर्वस्व, अलंकारमाला, रसरहस्य, कर्णाभरण, रसराज, संगीतदर्पण, ब्रतार्णव, मकरंद, छन्दरत्नावली, रामचन्द्रिका, नखसिख, भक्तरसामृत-सिन्धु, वेनीबंस नाटक, कुमार-काव्य, वीरचरित्र नाटक, साहित्यदर्पण, कुवलयानन्द, आदि।

रचना—

देस बिन भूपति दिनेस बिन पंकज रु
फणीस बिन मणि अरु बिन ससि यामिनी।
दीप बिन गेह औ सुगेह बिन सम्पत ज्यों
देही बिन देह घन मेह बिन दामिनी।
कविता सुछन्द बिन मालती मिलिन्द बिन
सर अरविंद बिन होत छबि छामिनी।
'दास' भगवंत बिन, सन्त गुरु मन्त बिन
लतिका बसन्त बिन, कंत बिन कामिनी।

(२)

कैसी है सुकैसी सची ऐसी मैं न काहू बीच
जोवन की जोत 'दास' देखी है सुहावती।
रंभासी सबंभा बैन तूल है तिलोत्तमा कै
तैसी मंजु घोष मंजु रावने सुहावती।
गौरी आदि भैरों कल्यान कै करन रूप
सुरन परन परिपूरन प्रभावती।
श्रीमत नरिंद मालविन्द[1] की सभा के मध्य
गाइनै खरी है कै खरी है अमरावती।

५८. **वंशी पण्डित**—वंशी पण्डित नाभा के रहने वाले थे और जन्मना ब्रह्मभाट थे। वंशी पंडित महाराजा नरेन्द्रसिंह के विशेष आमन्त्रण पर पटियाला पधारे तथा पटियाला-पति के महाभारत-अनुवादकार्य में सहयोग दिया। वंशी पडित ने भगवान् सिंह, नाभा-पति भरपूरसिंह के भाई की प्रशंसा में एक ग्रन्थ 'कुसुमावली' की रचना की। भाई देवेन्द्रसिंह विद्यार्थी का कहना है कि पुस्तक 'गुलबकावली' का अनुवाद है। उनका कहना अयथार्थ नहीं है; रचना का नामकरण (कुसुमावली) इस बात की पुष्टि करता है, पर इसमें भाई भगवान्सिंह की प्रशंसा में पद्य भी संगृहीत है। उसका रचना-काल यह है :

सम्वत् अहि रसना सुदृग खंड मही सुविचार।
भादौं बदी दखमी विषै भयौ ग्रन्थ अवतार॥

अर्थात् संवत् १९२२ में पुस्तक लिखी गई। कवि ने पटियाला में 'विराट् पर्व' का अनुवाद विक्रम संवत् १८८१ में किया था, अतः उसका रचना-काल

१. नाभा-नरेश महाराज हरिसिंह जी

चालीस वर्ष ठहराने पर उसके जन्म के लिए का संवत् १८५० अनुमान भिड़ाना भूल न होगी। यह भी सत्य है कि ग्वालकवि की इनके साथ गहरी छनती थी। दोनों का काव्यास्वादन एक-दूसरे का पूरक बन गया था। कुसुमावली की भाषा बहुत ही मिष्ट एवं साधु है। भावाभिव्यक्ति सरल होने पर कहीं-कहीं ऊँची उड़ान भी ली गई है।

रचना—

रूप भरी सरस स्वरूप भरी बैठी बाम
रंग भरी अंगन अनंगन निवारती।
सरस सनेह भरी सीसा कै सहित चारु
पानप विलोक स्याल बारन सँवारती।
बंसी कवि पारती उतारती सुहीर हार
कबहूँ सुचारु मंजु बैनन उचारती।
छारती न जान तान नैनन निहारती सु
मारती गरीबन कौ गजब गुजारती॥

(२)

पीन परिपूरन सरोवर समीप पुर
सोहै सुख दैन जनु अमृत कौ कुण्ड ऐन।
भागवारे भव कै भगत बर बासी जन
दीरघ दयासु वर मृदुल सुधासी बैन।
बंसी कवि भनै भूरि भावत भगत वारे
बारे बारे घेर हंस बासर फबत रैन।
सुषमा अपार हृगवार पुर चार देव
देखकर नैन सुरपुर कौ निवार दैन॥

५९. **मैनकवि**—अनुमान है, कवि का असली नाम 'मदनलाल' है। पटियाला के दरबारी कवियों में मैनकवि का प्रमुख स्थान है। पं० ओमप्रकाश 'आनन्द' का कहना है कि मैनकवि पटियाला के निकट किसी गाँव का रहने वाला है। अबतक इसकी तीन रचनाएँ देखने या सुनने में आई हैं—१. राजतरंगिणी, २. प्रस्तार प्रकाश, ३. प्रस्तावशतक। राजतरंगिणी में पटियाला के राज-वंश का आनुक्रमिक वर्णन है। यह कल्हण की राजतरंगिणी-जैसी रचना तो नहीं है, पर उसका अनुकरण अवश्य है। दूसरी रचना छन्दशास्त्र पर है। तीसरी रचना दृष्टान्तपरक दोहाशतक मात्र है। 'भारती-भंडार' में संगृहीत मैनकवि के पद

बड़े ऊँचे दर्जे के हैं। 'प्रस्तावशतक' मैनकवि की आरम्भिक रचना प्रतीत होती है। भावों के रूप-चित्र उरेहने में तथा स्वभावोक्ति-चित्रण में मैनकवि सिद्ध-हस्त ज्ञात होता है। पं० ओमप्रकाश 'आनन्द' ने इनकी एक-आध रचना मुद्रित करायी है। इनके विषय में इससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं।

रचना—

श्री सतगुर कौ ध्यान करि, कर मन मोद सिताब।
जान प्रीति पटुलेश की, करौं सतक प्रस्ताव॥
दीनन कौ दुख हरत हैं, जे हैं दीन दयाल।
गही दुसासन द्रौपदी, आए दौरि गुपाल॥
उत्तम लखें न अधमता, लखें बिरद की ओर।
गई पूतना देन विष, सुई सुरगपुर ठौर॥
रोख होय जौ सुमत कौ कुमत कदापि न होय।
किया साप गौतम तिया, किया बहुरि वर सोय॥

आन ठाढ़े दोऊ औरन तें पग नेंक टरें नहिं डील बिसेस कौ।
मार हिंकार फुंकार से झूमत चूमत हैं नभ मंडल बेस कौ।
त्यों कवि मैन मिलाय कें दंतन मुंडन मुंड भिड़ें सुभ देस कौ।
ऐस महा सु मदन्ध गयन्द लड़ें जगवंद नरिन्द मृगेस कौ॥

६०. **दलसिंह**—इनके विषय में अधिक कुछ ज्ञात नहीं। अलबत्ता पटियाला-दरबार के राजकवियों में इनका विशेष स्थान है। इनकी रचनाएँ ये हैं—आनन्दप्रकाश-सतसई, रत्नहजारा तथा भारती भण्डार। पहली रचना पंजाब की सतसइयों में तीसरा स्थान रखती है। रत्नहजारा का केवल नाम सुना जाता है और उसका रचनाकाल संवत् १९०५ बताया जाता है। 'भारती भण्डार' एक सम्पादित रचना है। इसके चार भाग हैं। एक खण्ड में विषयानुसार रचनाएँ हैं, दूसरे खण्ड में कवि-क्रमानुसार। इसमें वृन्द, पद्माकर, भूषण, बिहारी, बेनी कवि के अतिरिक्त पंजाब के हिन्दी-कवियों में हीरासिंह, निहाल, उमादास, कृष्णकवि, रामदास, बिशनसिंह, साहबसिंह, पंजाबसिंह, मैनकवि, मोहर कवि, श्रीकंठ, सोहन कवि, केहरकवि, ब्रह्मकवि, रामसरन, जानकीनाथ, गंगाधर, गुलाबसिंह, वसंतसिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। इसमें दलसिंह की रचनाओं के साथ 'पुण्डरीक पत्र' का नाम जुड़ा हुआ है। पंजाब में ऐसी चलन है कि कवि लोग अपने नाम के साथ 'पर्यायवाचक' जोड़ कर लिखते

हैं।[1] दलसिंह को भाषा की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ कवि कह सकना संगत है।

रचना—

(१)

चंदन बिभूत नख चंद मोती माल गग
अलक भुजंग ध्यान हिये में धरत हैं।
कंचुक भरित जल स्वेदपूर जलधार
स्यामता गरल ताकी ताप हो हरत है।
हरख-हरख कर कंजन को पूज पूज
इह बिधि ईस बहु भाँति बिहरत है।
काम के न डर आए प्यारी के सरन आली
आजकल सेवा कान्ह संभु की करत हैं॥

(२)

राधा नंदलाल रास मण्डल रसाल नाचैं
एक तन ह्वै कै एक झूलन के हार मैं।
एक जरीदार सेत ओढ़नी कौ ओढ़ि दोऊ
नृतत स-ध-ग गति मिलत पकार मैं।
मुख नैन भूषन चिबुक कल कान्ति खुली
चाँदनी सरद स्वच्छ वारिध कै बार मैं।
नागर मयंक मीन मोती मन गन सिवा
कंजकाम धोवर गुरे है रूप जार मैं॥

६१. **दित्तेराय**—कवि दित्तेराय ने अपना थोड़ा-सा परिचय देने का यत्न किया है। तदनुसार इनके कोई पूर्वज हुए हैं—'देवदत्त'। उन्हीं के नामाक्षरों पर कवि का नामकरण हुआ है :

तामैं मिश्रित होन तैं धर्‌यो जनम को नाम।

अन्तःसाक्ष्य से यह भी प्रतीत होता है कि ये चार पीढ़ियों से पटियाला में

---

१. इसके कतिपय उदाहरण मनोरंजनार्थ पर्याप्त होंगे; यथा—आत्मासिंह = जिदमृगिन्द, गोबिन्दसिंह=माधवमृगेन्द्र; गणेशसिंह=हरिशंभुज, मदनलाल=मैनकवि, बसन्तसिंह=ऋतुराज, गंगासिंह=निगम नदी हरि, मोहरसिंह=कनकमुद्रिकासिंह, दलसिंह=पुण्डरीक-पत्र, मंगलसिंह=नक्षत्रहरि। महाकवि सुमेरसिंह के प्रभाव में आकर पण्डित 'अयोध्यासिंह' उपाध्याय ने भी अपना नाम बदल डाला—'हरिऔध' (अयोध्या, औध, सिंह—हरि) ऐसे ही अन्य नाम भी समझने चाहिए।

निवास कर रहे हैं। अनुमानतः दितेराय वंशानुगत कवि हैं। इनका उपनाम 'सोहन' है। इनका जन्म संवत् १८६५ के लगभग बताया जा रहा है। इनकी रचनाएँ ये हैं—समय-बत्तीसी (१९०० विक्रम), व्यासाश्रम पर्व (महाभारत विक्रम संवत् १९०५), स्त्रीपर्व (महाभारत : विक्रम संवत् १९०८), शुक्र-प्रकाश (वि० १९१३), महेन्द्रसिंह प्रकाश (संवत् १९१९)। स्पष्ट हो कि महाराजा महेन्द्रसिंह संवत् १९१९ में सिंहासनासीन हुए थे। उन्हीं की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए 'महेन्द्रसिंहप्रकाश' लिखा गया प्रतीत होता है :

जा दिन राजै राज पै, ताको हुयो हुलास।
ग्रंथ नाम यहि समझ कै, धर्‌यो महिन्द्रप्रकाश॥
संवत् नाड़ी आतमा निध ससि १९१९ माघोवार।
सुकल पच्छ दसमी गुरू, भयो ग्रंथ अवतार॥

दितेराय की भाषा सुथरी होने पर भी विविध प्रतीत होती है। दोहा, छप्पय, कवित्त, सवैया, भुजंगप्रयात आदि अनेक छन्द उसमें है। पर इससे यह ज्ञात नहीं होता कि दितेराय भी दरबारी कवियों में से 'एक' हैं।

रचना—

सेवत सुभट सूर कविगन भाय भरैं
चाय भरैं चतुर चहूँधा बहै बेस की।
सोहन बखाने मही मंडल अखंडल लौं
मानैं आनकान जाकी प्रभा है दिनेस की।
धरम की रच्छ, प्रतपच्छ करी भच्छक है
लच्छक नरेसन की पच्छ कहे देस की।
सादी याचकन की अयादी न्याव जीत हू की
प्रमादी को हरनहार गादी पटलेस की॥
संकर सेस सुरेस दिनेस धनेस जलेस जितै सुख सोबौ।
गौर गनेस निसेस दिगीस उडेस विश्वेस अगेस थकीबौ।
त्यों कवि सोहन मोहन रूप अनूप मतादिक ज्यों बिध कीबौ।
जौ लगि जोत जगै जग मैं नित तौ लगि भूप सदा चिरजीबौ॥

६२. गणेशसिंह बेदी—गुरु नानकदेव के वंशधर महाकवि गणेशसिंह बेदी एक पहुँचे हुए संत तथा रससिद्ध कवि थे। कहते हैं कि विलासपुर-नरेश ने संत गणेशसिंह को धार्मिक आचार्य के रूप में प्रश्रय दिया था। इनके वंशधर आज भी वहीं रहते हैं। रचना में आपने अपने वंश का परिचय दिया है।

इनके पिता श्री हरदास जी थे तथा दादा अर्जुनदास। इनका जन्म अनुमानतः १८९० विक्रमी संवत् का है।

गणेशसिंह बेदी की रचनाएँ ये हैं—'जन्मसाखी श्री गुरु नानकदेवजी की' तथा 'श्रीकृष्ण चरित्र चन्द्रोदय'। सिख जगत् में 'जन्मसाखी' लिखने को बड़ा महत्त्व दिया जाता है। गुरविलास-परम्परा इसी के अन्तर्गत आती है। बेदी-कृत 'जन्मसाखी' कई दृष्टियों से अनन्य है। एक तो वंशगत संस्कारों तथा दंतकथाओं की बहुलता से जन्मसाखी का स्वतः महत्त्व है; दूसरे कवि स्वयं सिद्धवाक् है; तीसरे, इसकी 'मानस' जैसी शैली है। दोहा-चौपाइयों में रचना प्रस्तुत होने पर भी यत्र-तत्र कवित्त-सवैयों, सोरठों का समुचित प्रयोग भी है। कृष्ण-चरित्र-चन्द्रोदय में वृन्दावनवासी बालक कृष्ण की सरस लीलाओं का निरूपण है। बेदीजी की अभिव्यक्ति इतनी स्वाभाविक, सालंकार, सरस, साधु एवं हृदयग्राही है कि इनके महाकवि होने में कोई तर्क शेष नहीं रह जाता। दोनों रचनाओं की भाषा ब्रज और लिपि गुरमुखी है, पर उसमें पंजाबीपन या भाषा-शैथिल्य जैसे दोषों का सर्वथा अभाव आश्चर्य पैदा करता है।

रचना—

जौ जगबंद सदा सुखकन्द सुछन्द प्रकासक बेस अजायब।
गो-द्विज-मीत रती सभजीत गती अघ ऊरध ओक सुहायब।
तारक है तम कौ जनतारक जाहि सुरासुर अन्त न पायब।
बंदन ता पद को हरसंभुज भानु किधौ गुरु नानक साहब॥
रोक मग कह्यौ कान्ह 'दीजै बेग दधिदान'
'दान कहा?' 'दान लेन द्विजन कौ काम है।'
'एरी दीजै कर' 'कर गहौ निज कामिनी कौ'
'दीजिए रसम' 'जाय लीजै सुर धाम है।'
'देहूरी बिसूल' 'सूल सोहत है संभूकर'
'दीजै री जगात' 'सोतो भूपन कौ काम है।'
'मैं हौं बृजराज' 'बृजराज कहैं कंस जू कौं'
'कौन कंस' 'सोई जाकौ डर सुर धाम है'॥

६३. **नारायण स्वामी**—स्वामीजी का जन्म विक्रम संवत् १८८५ में रावलपिण्डी के किसी गाँव में बताया जाता है। आप सारस्वत ब्राह्मण थे। इनके माता-पिता के विषय में ज्ञात नहीं है। भगवद्-भक्ति के प्रवाह में ये घर से निकल पड़े थे। वृन्दावन आकर लालबाबू के मन्दिर में नौकरी कर ली।

दिन को नौकरी करते, ताकि जीवन-निर्वाह चलता रहे ; रात को रासविलास तथा सत्संग में समय का सदुपयोग करते।

पहले नारायणस्वामी भगवद्-भक्ति की गजलें, पद, रेख्ता आदि बनाया करते थे। किसी महारानी ने वृन्दावन में मन्दिर बनवाया था, उसकी रास-मण्डली ने इनकी रचनाएँ छपवायी थीं—ब्रजविहार। गो० राधाचरण ने 'भारतेन्दु' में 'ब्रजविहार' की आलोचना प्रकाशित कराई थी। समय पाकर पं० नारायणदत्त नारायणस्वामी (संन्यासी) बन गए।

नारायणस्वामी की रचनाएँ बड़ी सरस तथा भावपूर्ण हैं। पंजाबी होने पर भी इनकी भाषा पंजाबीपन से कोसों दूर है; सम्भवतः ब्रज में निवास के कारण। नारायणस्वामी ने कृष्णलीला, भक्तिविषयक पद्य तो कहे ही हैं, साथ ही नीति, वैराग्य तथा उपदेशपरक पद्य भी कहे हैं। गोस्वामी राधाचरण के शब्दों में : **फिर इन पद्यों का भाव विलक्षण, राग सद्यःमनोहर, अक्षर तो जादू के बाण हैं। कैसा ही कुण्ठित कल्मषी क्यों न हो, एक बार तो मोहित हो ही जाता है। इसी से आज स्वामीजी की वाणी प्राणिमात्र को प्यारी लगती है।** सनातन धर्म के कर्मठ नेता व्याख्यानवाचस्पति पं० दीनदयालु जी आपके अन्तरंग मित्र थे। फाल्गुन-कृष्णा एकादशी, संवत् १९५७ में कुसुम-सरोवर में स्वामीजी ने अपनी लीला संवरण कर ली।

रचना—

स्याम दृगन की चोट बुरी री !
ज्यों ज्यों नाम लेति तूं वाको जो घायल पै नौन पुरी री॥
ना जानौ अब सुध बुध मेरी कौन बिपन में जाय दुरी री।
नारायण नहिं छूटत सजनी, जाकी जासों प्रीत जुरी री॥१॥

सखि, मेरे मन की को जानै !
कासों कहौं सुनै जो चित दै हित की बात बखानै॥
ऐसौ को है अन्तरजामी तुरत पीर पहिचानै।
नारायण जो बीत रही है कब कोई सच मानै॥२॥

कुछ अन्य कवि

मिश्रित युग के कुछ अन्य सन्तों, सूफ़ियों, भक्तों, कवियों तथा सिख साधकों का परिचय इस प्रकार है।

१. राय पुगर—धार्मिक आन्दोलन के प्रसंग में हम वरुण-पूजा की बात कह आए हैं। वरुण-पूजा के आदि आचार्य 'अमरलाल' जी प्रसिद्ध हैं। श्री अमरलाल नसरपुर (सिंध) के निवासी श्रीरत्नराव एवं देवकीबाई के एकमात्र सन्तान थे। संवत् १००७ विक्रमी में इनका आविर्भाव हुआ। इनके जन्म-प्रसंग में एक दन्त-कथा बतायी जाती है कि स्थानीय मुस्लिम शासक 'मरिख' के अत्याचारों से पीड़ित हिंदू-प्रजा सिन्धुनद के तट पर त्राहि-त्राहि कर उठी। तभी सहसा आकाश-वाणी हुई कि "मैं (वरुणदेव) रावरत्न के घर जन्म ले रहा हूँ।" आशा-वशंवद हिन्दू-प्रजा वरुण के अवतार अमरलाल की शरण में रहकर मुस्लिम-अत्याचारों से त्राण पा सकी।

राय पुगर ने अमरलाल की कथा को लेखनीबद्ध किया है। इस अमर-कथा में प्रसंगवश नाथ-सम्प्रदाय की चर्चा भी है। इस ग्रन्थ के अनुसार नाथ-परम्परा इस प्रकार है—

सुजाननाथ -- मछन्दरनाथ—जालन्धरनाथ—गोरखनाथ — चर्पटनाथ।

अमरकथा में जालन्धरनाथ को भी वरुण-अवतार माना गया है[1] और दोनों सम-सामयिक सिद्ध होते हैं।

पुगर राय का समय तो ग्यारहवीं शताब्दी का है, परन्तु अमरकथा का रचनाकाल सोलहवीं शती से ऊर्ध्ववर्ती नहीं माना जा सकता। अनुमानतः किसी 'उदेराराय' ने (सुन्दरराय) अमरकथा को 'राय पुगर' के नाम से संग्रहीत किया है। 'वरुणपूजक' हिन्दू समाज में दो बातों के लिए प्रसिद्ध है—(क) प्रतिवर्ष सावन-भादों के रविवार को 'ज्योति' का जलूस निकालना, (२) अमरलाल-जयन्ती पर 'भण्डारा' चलाना। वैसे अमरलाल की आज्ञानुसार देग, तेग, मुद्रा, कन्धा, ज्योति, मन्त्र और रक्षा—सात परम्पराएँ इस समाज में प्रचलित हैं। सिख-समाज में जिस 'तेग और देग' की चर्चा की जाती है, अपनी राय में उसका श्रेय वरुणपूजक हिन्दू-समाज को मिलना चाहिए।

---

१. यों ही करत श्री अमर उदेरा। गोरखु ध्यान हृदय में धारा।
तहाँ गोरख जी प्रगटे आई। जहँ बैठे थे श्री जलराई।

अमरकथा में वरुणसहस्रनाम, अष्टपदी, बावन अखरी, जाप साहिब, अठवारा, वरुणमन्त्र आदि कई उपग्रन्थ सम्मिलित हैं। अमरकथा की भाषा साईंदास-कृत ज्ञानरत्नावली' मे आश्चर्यजनक मेल खाती है।

रचना का नमूना—

जय जय अमरलाल जलराई। दीनबन्धु करुणा सुखदाई।
जय जय ज्योति स्वरूप दयाला। मेट्यो सकल जगत जंजाला।
अमरलाल प्रभु दीनानाथा। करो अनाथनि को ही सनाथा।
अमरलाल सम और न कोई। सम भलाई अमर ते होई।
या विधि जय जय कारु अपारा। भयो जगत में मंगलचारा।
सभ के संकट गये चलाई। अमरलाल पूरन सुखदाई॥

२. **राजा टोडरमल**—टण्डनवंशीय और अकबर-राज्य के प्रमुख स्तम्भ राजा टोडरमल का जन्म १५८० विक्रमी में लाहौर में हुआ था। आप अकबर के राजस्व-मंत्री थे। समय के लिए मुगल-शासन की ओर से बंग-प्रान्त के राज्यपाल भी बनाये गए थे। पंजाब की महाजनी लिपि का आविष्कार आपने ही किया था, यथा—

अकबर-राज्य में हिन्दी कचहरियों मे प्रचलित थी, उसके स्थान पर पारसी के चलन का श्रेय आपको दिया जा रहा है। आपका संस्कृत का काव्य—सौन्दरानन्द—प्रकाशित हो चुका है, जो आपके प्रकाण्ड पाण्डित्य का सूचक है। आपकी रचनाओं में ब्रजभाषा का अस्तित्व है, पर वह पंजाबीपन से सर्वथा मुक्त नहीं है। आप गोस्वामी तुलसीदास के अनन्य मित्र कहे जाते हैं।

रचना—

जार को विचार कहा, गनिका को लाज कहा,
गदहा को पान कहा, आँधरे को आरसी।
निगुनी को गुन कहा, दान कहा दारिद को,
सेवा कहा सूम को अरण्डन को डार सी।
मदपी को सुचि कहाँ, साँच कहाँ लंपट को,
नीच को वचन कहा, स्यार की पुकार सी।
'टोडर' सुकवि ऐसे हठी तौ न टारें टरें,
भावें कहौ सूधी बात, भावें कहौ पारसी॥

३. **चतुरदास**—इनके विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं हो सका। संवत् १६५२ विक्रमी में आपने भागवत के ११वें स्कन्ध का भाषा-अनुवाद दोहा-

चौपाई मे किया था। चतुरदास ने यह कार्य अपने गुरु सन्तदास की आज्ञा से किया था। भाषा-ब्रज और अनुवाद शब्दात्मक न होकर भावात्मक है।

„ रचना—

(१)

सन्तदास सत गुरु कं शरणा। जिनको गहौ सुदृढ़ करि चरणा।
जातं उपजा ज्ञान विचार। छूटं मर्म-कर्म कुविचार।
तिनकी आज्ञा हिरदे धरौं। लोक हितारथ भाखा करौं॥

(२)

सूक्षम स्थूल सकल संसारा। जाकी शक्ति सकल बिस्तारा।
उतपत प्रलं करं बहु याकौ। काहू तं जन्म नहिं ताकौ।
जागृत स्वप्न सुषोपत तुरिया। चहुँ में सदा एक रस पुरिया।
इन्द्रिय देह हृदं अस आना। जातं चेतन होइ बरताना॥

४. **प्रह्लाद कवि**—पुच्छरत-वंशीय ब्राह्मण प्रह्लाद कवि की एक रचना उपलब्ध है—बैताल-पच्चीसी, जो संस्कृत-रचना का अनुवाद है। रचना सरस है। लेखक अपना रचना-काल १६६१ विक्रमी संवत् तथा भाद्र कृष्ण-पक्ष की अष्टमी लिखता है। यथा—

जब जन्म लियौ जदुराई। आनन्द है तब कथा बनाई।

लेखक अकबर सम्राट् को स्मरण करता है। अकबर का निधन १६६२ विक्रमी संवत् में हुआ था। लेखक ने पं० लाडुलेलाल जेतली से कथा सुनकर भाषा में लिखी थी। कथा में विकास और रोचकता तो है, पर भाषा को किसी सिद्धहस्त कवि की भाषा नहीं बताया जा सकता। भाषा पर पंजाबीपन का प्रभाव कहीं अधिक है। रचना—

लवपुर सुन्दर नगर में, कथा भई प्रहलाद।
सीखी लाडुले जेतली, सब रस कौ जिन स्वाद॥
सब रस कौ जिन स्वाद, सुनि···तासु मुख द्वारा।
बिप्र जाति पुच्छरत बुधि बहुतं बुद्धि पसारा॥
लिखत सिखत आनन्द में दुरमति जावं दूर।
कथा कही प्रहलाद यह सुन्दर नगर लवपूर॥

५. **कान्हाकवि**—मुल्तान-निवासी कान्हा कब और किस कुल में हुए—इन प्रश्नों पर कोई सन्तोषप्रद उत्तर नहीं मिल रहा। ये कवि थे, इस पर साधिकार कुछ नहीं कहा जा सकता। अलबत्ता, वे एक पहुँचे हुए सन्त अवश्य

थे, आपने अटपटी भाषा मे जो विचार प्रकट किये थे, कोई भी उसे 'भक्त-वाणी' या 'कविता' कह कर संतोष कर सकता है। कहा जाता है, कान्हाकवि छज्जू भगत के साथ गुरु अर्जुनदेव जी के पास गये थे। पर उन्होंने 'ग्रन्थसाहिब' में इनकी रचना लेने से इन्कार कर दिया। इस दन्तकथा के आधार पर इन्हें १६४०-१६८० के मध्यवर्ती समय का माना जा सकता है। यद्यपि इनकी कोई निश्चित रचना नहीं मिलती, तथापि अनेक वाणी-संग्रहों में इनके पद बिखरे पड़े हैं। भाषा के आधार पर इनकी रचना तीन वर्गों में गिनायी जा सकती है— १. मुलतानी गीत, २. भाखागीत, ३. मिश्रित गीत। इनकी रचना में निच्छल संत-हृदय की अभिव्यक्ति है। रचना—

गुरु मम पाए पद अबिनासी।
मिटै संकलप विकलप निरथक कटी करम भ्रम फाँसी॥
गंग समान भई सब सरिता तुलसी सकल बनासी।
सालिगराम भये सब परवत समता मगहर कासी॥
ना कछु त्याग ना कछु ग्रहन त्यागै बिना उदासी।
जित जाऊँ तित ध्यान धारणा सुनिए ज्ञान प्रकासी॥
चंचलता तज अचल भयौ मन दिव्य दृष्टि तब भासी।
'कान्हा' चौदस···दिन होइ प्रगटी पूरन मासी॥

६. **जयकृष्ण भोजगी**—इनका वृतान्त आदि कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका। आप की कृति 'रूप दीप पिंगल' नाम से मिली है, जो लक्षण-ग्रन्थों की एक कड़ी को पूरा करती है। कवि ने रचना-काल यह दिया है—

सम्वत् सत्रह सै बरस, औ छिहोत्तर पाइ।
भादों सुदि दुतिया गुरू भयौ ग्रन्थ सुखदाइ॥

भाई देवेन्द्रसिंह विद्यार्थी (नाभा) 'छिहोत्तर' का अर्थ करते हैं छह-उत्तर, अर्थात् १७०६ सम्वत्। हम बिना ननु-नच के विद्यार्थी जी का सुझाव मान लेते हैं। भाषा साधु और लक्षण परम्परागत है—

गुरु गनेस के चरन गहि हियै धारि कै विघन।
कुँवर भवानी दास कौ जुगत करै जयकृसन॥
रूप दीप परगट करौ भाषा बुद्धि समान।
बालक कै सुख होत है उपजै अच्छर ग्यान॥

७. **दयाल अनेमानन्द सरस्वती**—अद्वैतवादियों में दृढ़निष्ठ संन्यासी दयाल अनेमानन्द सरस्वती का स्थान सन्त-साहित्य में उत्तम माना जायगा।

आप बेदी-वंशीय क्षत्रिय हैं। आपने कब संन्यास लिया और जीवन-यात्रा कैसी रही—ये सब बातें अभी तक अज्ञात ही हैं। आपकी रचनाएँ अल्पकाय होने पर भी विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से कम महत्त्व की नहीं हैं। रचनाओं के नाम ये हैं—अवगतहुलास, अज्ञानबोधिनी, ज्ञानबोधिनी, अपरोक्ष अनुभव, आत्मबोध, पचकोशविवेक, ज्ञानगीता, अष्टावक्र भाषा तथा 'जन्मसाखी कबीरजी की'। 'अवगतहुलास' नाम ग्रन्थ के बीच मे क्वचित्-क्वचित् 'आत्मप्रकाश' भी लिखा है। आपका रचना-काल बडा विस्तृत है। 'अवगतहुलास' सम्वत् १७३२ माघ-सुदी एकादशी, रविवार को समाप्त हुआ है। विषय की दृष्टि से दयाल अनेमी सन्त-परम्परा की कडी है। योग, ससार की अनित्यता, आत्मा-परमात्मा मे अभेद आदि गम्भीर विषयो पर जो लिखा है, साधिकार लिखा है। आपने मंगलाचरण की नयी परिपाटी दी है—ईश्वर अथवा देवी-देवताओं को नमस्कार न करके आत्मा को नमस्कार किया है—

नाम रूप मृगजल सबै, काकौं करौ प्रनाम।
मेरी मुझकौ वन्दना, सोहं आतम राम॥

जैसा कि सन्तों की प्राय: भाषा मधुक्कडी बनायी जाती है, 'दयाल अनेमी' इसके अपवाद ठहराये जा सकते हैं। भाषा ब्रज होने पर भी संस्कृत-निष्ठ है। यदि कोई इस भाषा को खड़ी बोली का प्रयोग कह दे, तो उसे 'भ्रान्त' न कहा जा सकेगा; कारण, भाषा का गठन ही कुछ इस प्रकार का है। यथा—
नाम रूप मृगजल सब कौन कौ प्रनाम, अठं निजसार आप आप को प्रनाम है। आपन अपार निरधार कछु तामै करौ, षट्-चार थकत ऐसौ चिद् धन-राम हैं। बुधि से विहीन मूढ़ लपटै युगादि ब्रह्म कहै निगम प्रगट तहँ जत्न कौन काम है। आदि-मद्ध-अन्त वस्तु ज्यों-की-त्यों समान सब ऐसौ अनेमीदयाल स्वतःसिद्ध नाम है।

८. **लच्छीराम** – शिवसिंह सेंगर ने अपनी रचना मे 'लछीराम' नाम के दो व्यक्तियों का उल्लेख किया है। इनमें से एक लच्छीराम अवधनरेश के आश्रित थे और दूसरे लच्छीराम (जिनका उल्लेख रामसागर में भी देखा गया है) निश्चय-पूर्वक पंजाब के निवासी है। आपकी दो रचनाएँ उपलब्ध हैं—'बुद्धि प्रकाश दर्पण' और 'रागमाला'। एक रचना मे आपने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

सूजाराम नरेस कुल रघुवंशी परधान।
कर कृपाल दिवान किय लच्छीराम सर ग्यान॥

ता बिबि बीरवर जहो गोविन्दराम नरेश।
परशुराम तातैं अनुज जाकैं बुद्धि प्रवेश॥
लच्छीराम तन तैं भयो गुलाबराय परवीन।
रूपशील गुनग्यान चित आप विधाता दीन॥
पंच-आब लाहौर में जाकैं कुल कौ वास।
लच्छीराम निजधाम में सोहत सहित विलास॥

कवि गायनाचार्य है। श्री ज्वालानाथ का शिष्यत्व सगर्व स्वीकार करता है। पंजाब के अंतिम नरेश सूर्यदेव के वंशज से अपना (मंत्रित्व) नाता स्थापित करते हुए कवि ने 'मसनद' अर्थात् विशिष्ट जमीदारी अथवा राजपदवी की ओर संकेत किया है। गायनाचार्य लच्छीराम को साहित्य में स्थान मिलना चाहिए, कारण आपने रागों के लक्षण, स्वर, स्वरूप आदि सब काव्य-बद्ध लिखा है। आपके जन्म-मरण की तिथियाँ तो अभी तक अज्ञात है, पर अनुमानतः आपका रचना-काल सम्वत् १६६० के बाद तथा १७३० विक्रम से पूर्व माना जा सकता है। आपने अपनी रचना मे एक स्थान पर मल्ल भाट को स्मरण किया है। क्या मल्ल भाट को ग्रन्थसाहिब के भाटकुल में से किसी का वंशज नही बताया जा सकता? रचना—

अंबर नील दिपै तन गौर सुमोती की माल गले महँ सोहै।
कंज बिराजत है कर एक सुताल दिये कर एक महँ जो है।
पानी औ पाहन सों मिलिकै जो उठ्यौ सुर ता सुर गात ठयो है।
बोल सदा सुख अमृतसों तिह 'हर्ष' कहाय कै बाल कह्यो है॥

—हर्ष : रूप और लक्षण

गृह सुर षडज कह्यो गुनन षाडव कहत विचार।
दूबर अंग अति पिय बिन, धनासिरी यह नार॥
रोवत आँसू परत है, धोवत मनहु उरोज।
बदन सिताई बिरह तैं, कीनो तपत मनोज॥

—धनाश्री : रूप और लक्षण

९. **तनसुखराय**—इनके विषय मे अधिक कुछ भी ज्ञात नही हो सका। आपने एक स्थान पर गुरु गोविन्दसिंह जी की प्रशसा की है। सम्वत् १७४१ में आपने पंचतन्त्र का हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया था। आपका निवास-स्थान लाहौर है। रचनाएँ दोहा-चौपाइयों में हैं। नमूना—

कलियुग माँहि भयो गुरु गोविन्द जा सम दूसर और न कोई ।
रिधि सिधि दोऊ कर ठाढ़ें निस बासर तिहि आज्ञा जोई ।
मुकति बन्द आयसु तिह माँही ततकाल करैं जोउ सुहोई ।
'तनसुख' होइ दरस देखत ही देहु दरस दुख रहै न कोई ॥

१०. **गिरधारी** छन्दशास्त्र के आचार्य गिरधारी ने अपना परिचय बड़े विस्तार से दिया है। आपके पूर्वज मुलतान के निवासी थे। कारणवश, वे मुलतान छोड़कर डेरागाजीखाँ जाकर बस गए। वहाँ से लाहौर और लाहौर से आगरा जा रहे। आचार्य गिरधारी पुनः अमृतसर-निवासी हुए। आपने हृदयराम को अपना गुरु बताया है। क्या ये 'हृदयराम' वही हैं जिन्होंने हनुमन्नाटक रचा था? पर इस बीच मे 'सम्वत्-समस्या' आड़े आ जाती है। हृदयराम ने सम्वत् १६८० में नाटक लिखा था और गिरधारी ने अपना सम्वत्—

सम्वत् इषु श्रुति बार ससि, मग्घर सुकुल सुढ़ार (१७४५) ।
रवितिथि (द्वादसी) बासर चन्द को, उत्पत पिंगलसार ॥

लिखा है, जिससे ६५ वर्ष का व्यवधान झुठलाया न जा सकेगा। कल्पना के बल पर हृदयराम का निधन १७०० वैक्रम संवत् मान लिया जाय तो बालक गिरधारी को उनका अक्षर-शिष्य ठहराया जा सकता है; कल्पना को इतनी खींचतान नहीं पड़ती, जितनी कि वास्तविकता को उसका सामना करना पड़ता है। इनकी एक रचना अब तक मिल सकी है—पिंगल-प्रस्तार। भाषा ब्रज है, रचना देखिये—

प्रथम बंस अपुनो कहो बहुरि अहि गरुर संवाद ।
श्री पुषकर नाम तैं उपज्यो ब्रह्म संसार ॥
तिनको संतति जानियो, भारद्वाज परमान ।
तिहिगोत गढ़ियत प्रगट छत्रिय जाति सुजान ॥
बोहत बोहत बुद्धि को गजमल धनुज प्रकाश ।
ताके गिरधर तनुज है हृदयराम को दास ॥

११. **धन्नासिंह**—गुरु महाराज के ५२ कवियों में धन्नासिंह की गिनती की जाती है। सरदार धन्नासिंह गुरुजी की अश्वशाला में सेवा-व्रत पालन करता था। एक प्रसंग बताया जाता है कि जब चन्दन कवि गुरु गोविन्दसिंह जी के राजदरबार में रहा करता था, एक बार चन्दन कवि की समस्या कविता की तुलना में धन्नासिंह ने अपना यह कूट-पद सुनाया था। यथा—

(१)

मीन मरै जल कै परसै, कबहूँ न मरै पर पावक पाये।
हाथी मरै जल कै परसै, कबहूँ न मरै तनताप के आये।
तीय मरै पति कै परसै, कबहूँ न मरै परदेस सिधाये।
गुर में बात कही द्विजराज विचार सकै न बिना चित लाये॥

(२)

कौल मरै रवि कै परसै, कबहूँ न मरै ससि की छवि पाये।
मीत मरै मित कौ मिल कै, कबहूँ न मरै जब दूर सिधाये।
सिंह मरै जब मिलै कबहूँ न मरै अब हाथ न आये।
गुर में बात कही द्विजराज विचार सकै न बिना चित लाये॥

यह चन्दन कवि क्या वही है जिसकी चर्चा आचार्य शुक्ल ने की है।[1] धन्नासिंह की कोई पोथी नही सुनी जाती।

१२. **मंगलकवि**—गुरुजी के बावन कवियों में से एक हैं। इनके विषय में अधिक कुछ ज्ञात नही हो सका। चूँकि आपने ब्रजभाषा के अतिरिक्त पंजाबी तथा पहाड़ी भाषा मे भी रचना की है, अतः आपको काँगड़ा-निवासी या हिमाचल-निवासी सहज में माना जा सकता है। संवत् १७५३ विक्रमी में कवि मंगल ने गुरुजी की आज्ञा से महाभारत के 'शल्यपर्व' का अनुवाद किया था। गुरुजी से पुष्कल धन-प्राप्ति की चर्चा कवि ने स्वयं की है—

सल्यपर्व भाखा भयौ, गुरु गोविन्द के राज।
अरब खरब कौ अर्थ दे कर कविजन कौ काज॥
जो लौं धर्म प्रकास सिर चंद सूर सुरइंद।
तो लौं चिरजीवौ जगत् साहिब गुरु गोविन्द॥

पटियाला-नरेश के निजी पुस्तकालय में शल्यपर्व की प्रति सुरक्षित है। प्रसन्नता की बात है कि जहाँ 'विद्याधर' का सर्वनाश होने जा रहा था, उनमें से कर्णपर्व (हंसराम), सभापर्व (अमृतराय) तथा द्रोणपर्व (कुमरेश) बच गए हैं।

ब्रज-रचना—

ऊपर नरेस हु की होइ सुभ बेसहु की
कासमीर देस हु की भरी आन धाम री।

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास : आचार्य शुक्ल, छठा संस्करण, पृष्ठ २५७। आचार्य शुक्ल ने इसका समय १८२०-१८५० वैक्रम संवत् के मध्य में माना है, जबकि दरबारी कवियों का युग संवत् १७३५-१७६५ के कालान्तराल में सीमित है।

गुनी कारिगर भारी करी खूब गुलकारी
पहिरैं भिखारी मोल पावैं लाख दाम री।
सीत हू कौ जीत लेत ऐसी सोभा देह देत
मंगल सुकवि ज्यों कन्हैया जू कौ कामरी।
स्याम सेत पीरी लाल जरद सबज रंग
गुरु जी गुविन्द सदा ऐसी मौज पाम री॥

पंजाबी—

अनंद दा बाजा बजदा अनंदपुर
सुण सुण सुध भुलदिए नर नाह दी।
भौ भइया भवीखणें नूँ लंका गढ़ बसणेदा
फेर असवारी आँ वदिए महाँबाह दी।
बल छुड बली जाइ छुपिया पताल बिच
फतै दी निशानी जिहदे द्वार दरगाह दी।
सउणें न देदी सुखी दुजणाँ नुँ रात दिन
नौबत गुबिन्दसिंह गुरु पात साह दी॥

१२. **आलम**—गुरुजी के दरबार में तीन मुसलमान कवि भी विद्यमान थे। अलीहुसेन, जमाल, आलमशाह। आचार्य शुक्ल ने दो आलम कवियों का परिचय दिया है। यथा—

१ आलम : अकबर का समकालीन कवि। रचना-काल स० १६३६-४०। रचना—माधवानल काम कन्दला।[1]

२ आलम : बहादुरशाह का समकालीन। रचना-काल १७४५-७० विक्रम संवत्। रचना—आलमकेलि। यह वही आलम है, जिसने रँगरेजिन की पादपूर्ति पर प्रसन्न होकर मुसलमानी धर्म अपना लिया था।[2]

गुरुजी के दरबारी कवि आलम इनसे भिन्न हैं। आलम द्वितीय ने १७४५ में इस्लाम अपनाया था और पजाब का आलम इससे पूर्व कविता कर चुका था।

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, षष्ठ संस्करण, पृष्ठ १७३ (ष्ठ, २८६-२८७।

रचना—

सोभा हू को सागर नवल नेह नागर है
बल भीम सम सील कहाँ लौ गिनाइए।
भूमि के विभूषन ज़ दूखन के दूखन हैं
समूह सुख हू कै सुख देखें तें अघाइए।
हिम्मत निधान आनदान कौ बखानै जानै
'आलम' तमाम जाम आठों गुन गाइए।
प्रबल प्रतापी पातसाह गुरु गोबिन्द जी
मोज की सी मौज तेरे रोज रोज पाइए॥

१४. **केसरसिंह छिब्बर**—केसरदास (और बाद में केसरसिंह) छिब्बर भी अपने वंश के अनुरूप गुरु-परिवार से सम्पर्क बनाये रहे और साहित्य-साधना भी करते रहे। इधर हम संतदास छिब्बर को धर्मचन्द का पोता लिख आए हैं, इधर केसरसिंह भी उसी व्यक्ति के पोते बताये जा रहे है।[1] इनकी रचनाएँ ये है - वंशावलीनामा, मैनावन्ती, गोपीचन्द, कलपरधानी एवं कुछ-एक बारामाँह। पहली रचना ब्रजभाषा मे है तथा अन्य पजाबी मे। केसरसिंह का रचनाकाल १८२६ वैक्रम संवत् है। सन्तदास ने अपना रचना-काल—"**समत् अष्टदस सै चउ-तीस। साका लिख्यते विक्रमजीत**" १८३४ वैक्रम संवत् दिया है। (यद्यपि नाम का प्रयोग 'साका विक्रमजीत' अशुद्ध किया है) चउतीस का पाठान्तर चौबीस भी बन सकता है। न भी हो, तो भी इनका रचना-काल एक-दूसरे के निकट पड़ता है। यह भी किंवदन्ती बडे जोरों से चली आ रही है कि केसरसिंह ने अपना बचपन माता सुन्दरी की छत्रछाया मे बिताया था। भाई प्यारासिंह पद्म इन्हे कड़ियाला गाँव, जिला चेहलम का निवासी लिखते हैं। इनकी भाषा ब्रजबहुल होने पर भी सुगठित एवं प्रभावोत्पादिनी है।

रचना—

सावन मास फुहार हग, पिया गए परदेस।
बाँढी बिरहनी अत श्रमी किए पूर्व आए पेस॥
भादों भली न ऋतु मुहि, मनौ बिसारी नाह।
जाकै पिया परदेस हैं, जीवन नरके माँह॥

१, पजाबी बारामाँह : प्यारासिंह पद्म, भूमिका, पाठ ४८ (घ)

फागुन फूटं रुख सब ओर मौलि बनराय।
मेरा हियरा हे फुटा मैं मउलाँ दर्शन पाय॥
ग्रीसम ऋतु आसाढ़ की तपिया धरत अकास।
मेरे घर बसत है सिंह केसर पुन्नि आस॥

१६. **सुन्दर कवि**—गुरुजी के दरबारी कवियों में आपका विशेष स्थान है। इनके विषय में अधिक कुछ भी ज्ञात नहीं।

रचना—

वेदन मांहि स्याम सुनौ सिन्धु मरजाद मेरु
मंडल मही में गुरु आई गुन गाये हो।
सरम के सागर सपूतन के सिरमौर
सुन्दर सुधाकर से सुन्दर गनाये हो।
रचन में दान, बानी बानी हरिचन्द कीसी
विदित विनय बड़े बंस चलि आये हो।
तेज को तरनि तरबार को परसुराम
गुरन मांहि ऐसे गुरु गोविन्द कहाये हो॥

१६. **प्रह्लादसिंह**—भाई प्रह्लादसिंह एक पहुँचे हुए संत थे। ये अविचल नगर में रहते थे। संवत् १७५२ विक्रमी में जब गुरुजी अविचल नगर पधारे थे, तब उन्होंने भाई जी को 'रहतनामा' लिखने की आज्ञा दी थी। रचना भाषा की दृष्टि से सामान्य है।

१७. **केशोदास**—पटियाला के महाराज आलासिंह के देहावसान के बाद संवत् १८८२ में महाराज अमरसिंह सिंहासनासीन हुए। इनकी पत्नी महारानी हुकमकौर वीरांगना तथा राजनीति में निपुण थी। इधर भटियार के मुसलमान हिन्दुओं को तंग कर रहे थे। मदोन्मत्त भटियारों ने पटियाला के कुछ गाँव भी लूट लिए थे। महारानी की मंत्रणा पाकर महाराज ने भटियारों पर आक्रमण किया और उन्हें परास्त किया। महाराज अमरसिंहजी के इस छोटे और प्रथम संग्राम को कवि ने छन्दोबद्ध किया। रचना का नाम है—"वार महाराज अमरसिंह की'। रचना बड़ी सरस और प्रभावपूर्ण है।

केशोदास ने यह रचना कब की—इस प्रश्न का समाधान अभी तक नहीं खोजा जा सका। ये भटियारे या भट्टी शालिवाहन गजपुत्र के वंशधर हैं, जो मुसलमान हो गए थे और वंश्य दृष्टि से फूल-वंश के समान-गोत्रीय थे। संवत् १८३१ का भटियारा संग्राम लड़ा गया था। फलतः बाद में दरबारी कवि

के नाते आपको ऐसा लिखने की प्रेरणा मिली हो ! अनुमान की मांग है कि संवत् १८४० के लगभग वीर-काव्य लिखा गया होगा। इसमें नायक के नाते महाराज अमरसिंह के चरित्र के अतिरिक्त वीर नायिका 'हुकमकौर' का चरित्र अपूर्व अंकित हुआ है। शुक्लाभिसारिकाओं के युग में समर-नायिका की सूझ सचमुच विचित्र बात है। इसमें वीर रस की उद्भावना बड़ी सुन्दर बन पड़ी है। भाषा में ओज है, वर्णन-शैली बड़ी प्रखर है। कवित्त, सवैयों के अतिरिक्त छप्पय और भुजंगप्रयात भी दीख पड़ते हैं। छन्दो-गति का निर्वाह भी ठीक ढंग से हुआ है—यह कह सकना कठिन है।

रचना—

कियौ जुद्ध कौ साज चोंप सों गढ़ी बनाई।
कई सहस्र दल जुरे विषमता खोर दिखाई।
भया इकट्ठा देस अधिक आजुध संजुत्ते।
खडग बंदूक कमान तीर बरछी कौ सुत्ते।
जब कहत बात अभिमान की जापै कछु संका नहीं।
बीघड़ गरूर अत ही भरै तवयौ तनिक पीछा नहीं॥
फौजदार पंज गए त्रास तिन नहीं मानौ।
कई बेर सनमुख जुद्ध तिनहीं सो ठानौ।
अत भटी प्रबल प्रचंड भूमि भारथ मचायौ।
दुस्मन कौ दल जीत कोट जिह कब्ज करायौ।
कवि केसोदास सुप्रकास जग तेजवंत जुग जुग जियौ।
जस बाढय संसार मैं अमरसिंह साका कियौ॥

श्रुति-परम्परा के अनुसार केशोदास को कश्मीरी ब्राह्मण बताया जा रहा है, पर ठोस तथ्यों की आकांक्षा अभी शेष है।

१८. **ग्राहनदास**—विचारों तथा रचना-शैली से अनुमानतः आपको उदासीन सम्प्रदाय का बताया जा सकता है। ग्राहनदास ने कहाँ जन्म लिया और किस कुल को अलंकृत किया—अभी तक इसका कुछ पता नहीं चल सका। विचारों में आप गुरु नानक के उपासी है, जैसा कि उदासीन सम्प्रदाय में पाया जाता है।

लिखा है—

श्रीहरि-रूप गुर उर ध्याये। गुर कौ पदपंकज उर आए।
ताकर भनिति भई अति पावन। गुरभक्तन मनि रुचि उपजावन।

आपकी रची पुस्तक 'वैराग्यशतक' प्राप्त है। जिसका रचनाकाल इस प्रकार हल किया है ; यथा

"संवत दिग्गज दिस सत लीजै। मुनि छिगुने करि राम हरी जै।"

अर्थात् दिग्गज=८ (आठ), दिशाशत=१००० (दससौ) मुनि छिगुने=७×६=४२, राम=३ (तीन) हरी जै, कम करने पर ३९ ; अतः १८३९ संवत् विक्रमी ठहरता है। शेष वसन्त, शिवचतुर्दशी, शुक्लपक्ष, बृहस्पति आदि सब स्पष्ट हैं। भाषा-विषय की दृष्टि से रचना सुन्दर है। यद्यपि 'वैराग्य शतक' इसी नाम की संस्कृत-पुस्तक का भावानुवाद है, तथापि अर्थ-गम्भीरता ग्राहनदास की अपनी है।

रचना—

(१)

जिनको निज बोध भई अति उज्ज्वल तेजु अहै दुह काज करै।
यह त्याग तराज सनान धनादिक छोड़ि सुवादन नेक धरै।
नहिं पाछेहु हमको सुख थे न अबै दृढ़ आस न याहि परै।
नहिं त्याग सकै अब होत हहा हम चाहि सदा नहिं नैक टरै॥

(२)

प्यास लगै जलपान करै नर सीतल स्वाद सुगंध मिलाई।
भूख निवारन कारन चावल मास घृतादिक नोन मिलाई।
काम कराल जगै जब ज्वाल दृढ़ा अबला सु अंतिगत जाई।
ब्याधि टरै न जरै दव ज्यौं यह मानत है सुख मूढ़ ठगाई॥

१९. **हरदयाल**—विक्रेय वस्तुओं का बुचका उठाकर गाँव-गाँव घूमने वाले 'हरदयाल' की मधुर स्मृति वर्षों तक जन-मन मे विद्यमान रही। चूनियाँ (अब पाकिस्तान में) के निवासी, क्षत्रिय-वंश-भूषण हरदयाल की वैराग्य-वाणी लोक-साहित्य का रूप ले चुकी है। भाषा विन्यास एव भावाभिव्यक्ति —दोनों दृष्टियों से 'वैराग्यशतक' एक अनोखे अनुवाद के रूप में हरदयाल की स्मृति को अक्षुण्ण रखेगी। इसे मूल पुस्तक का अनुवाद नही, बल्कि व्याख्यान ही समझा जाता है। कवित्त-सवैया-बहुल रचना में भाव-स्पष्टीकरण के हेतु दोहा-चौपाई का प्रयोग भी किया गया है। व्याख्यान-प्रणाली को पुनरुक्ति दोष का सामना भी करना पडता है। कुछ गुरमुखी लिपि के कारण, कुछ अनाड़ी लिपिकार तथा प्रकाशको के कारण उसमे भाषा-दोषों की अभिवृद्धि हुई है। अनुप्रास का लोभ भी वैरागी संत पर पूरा प्रभावशाली दीख

पड़ता है। आलोचक इनकी भाषा में 'पंजाबीपन' की बात उठा सकते हैं, पर 'सधुक्कड़ी' भाषा के स्वरूप को हृदयंगम करके आलोचक इस पर विचार करेंगे तो उनका दृष्टिकोण बदल जायगा। इनकी रचनाएँ—१. वैराग्यशतक तथा २. सारुक्तावली प्रसिद्ध हैं। सारुक्तावली चूनियाँ में १८९० में आरम्भ हुई और लाहौर मे उसी वर्ष समाप्त हुई। 'सारुक्तावली' का शुद्ध रूप 'सारयुक्तावली' है, जो भ्रष्ट होकर 'सारुक्तावली' रह गया है।

रचना—

१

जब भानु उदै दिग पच्छिम ह्वै गिरि मेरु चलै अतिशै जबहीं।
गिर शृंग शिला जब ह्वै पद भी अगनी अति सीतल ह्वै कबहीं।
सब तै अति साजन संत जना वह झूठ गिरा न कहै कबहीं।
तजि भ्रांति हृदै धरि संत-गिरा सुषमा अवहीं, अवहीं, अवहीं॥

२

सुचि गंग की बूँद कनी करि शीतल चारु हिमाचल की सिल।
जिहि फूल फलादि उपान धरै सिव को नित सेवत देववधू मिल।
पर भोजन में निज जो जन लता गिरि को कत काल गयो गिल।
अपमान सही अपमान सही विदधीर मही नृपधाम अही-बिल॥

३

तुंगभोग इन्द्रलोक सत्यलोक लगि जे जे
ते तेही तरंग सम भंग पहिचानौ रे।
जीवन के जीवन की रास एक खास सोऊ
दामिनी समान क्षण माँहि हान जानौ रे।
यौवन को सुख थोरे दिनों में विमुख होरे
मीतन की प्रीति पुनि नीत न पछानौ रे।
सकल ससार को बिचारि कै असार तजौ
बोध हेतु बुद्धिमानो मेरी बुध मानौ रे॥

२० हाशमशाह—पंजाब के अधिकांश विद्वानों ने अपने विचारों का प्रकाशन पंजाबी के माध्यम से किया है। परन्तु हाशमशाह ने पंजाबी के अतिरिक्त कतिपय पद हिन्दी में भी लिखे हैं। शाह का जन्म जगदे कलाँ नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम—हाजी मुहम्मद, दादा का नाम महमूदशाह तथा वंश का नाम कुरैशी था। आपका जन्म संवत् १८०७ विक्रमी है। ये

पहले राजगीरी का काम करते थे, बाद में रणजीतसिंह के दरबारी कवि बने। आपके ज्योतिष तथा वैद्यक पर रचे ग्रंथ भी बताये जाते हैं। ब्रज का नमूना—

मुख सौं जो वचन कहत बल ही कै साँच
कर ही की ढाल-बान अर्जुन कैसे जानिए।
बुध के बलवान हनु जैसे संग राम बली
बर मच समान रमल विद्या में प्रमानिए।
सुन्दर जनु कामदेव सुपरत सौ दयावान
धन्ने से भगत लोक निसचा कर ठानिए।
तरवर है कलप मान सरवर है गनेश जू कै
हमरे उसताद अल्ला अमीर पहनानिए॥

२१. **किशोरीदास**—संत, भगवद्-भक्त, कवि तथा महात्मा किशोरीदास जी का जन्म अमृतसरवासी सारस्वतवंशीय कुल मे हुआ बताया जाता है। इनके माता-पिता के विषय मे अभी कुछ ज्ञात नही हो सका। ये बचपन में ही भगवद्-भक्ति के प्रभाव में आकर घर से निकल पड़े और आजीवन वृन्दावन रहे। स्वभाव से साधु, भक्ति मे स्थित-प्रज्ञ किशोरीलाल ने अपने उद्गार ब्रजभाषा मे व्यक्त किये हैं। आपकी कृतियाँ अधिक तो उपलब्ध नहीं है पर जितनी मिली हैं उनसे आपके अनन्य हरिरंग का गाढा प्रभाव अनुभव में आता है। आपकी भाषा अत्यन्त सुललित है। आपका रचना-काल १८४३-७० के मध्य ठहराया जा रहा है। रचना—

कब मैं या मारग पग धरि हौं!
वेद पुरान संत जो गावत करि विश्वास अचल अनुसरि हौं॥
साधन परमधाम मिलिबे के सन्मुख ह्वै का दिन आचरि हौं।
द्वन्द्वरहित विज्ञान ज्ञान रति मान अनल कबहूँ नहिं जरि हौं॥
कोटि भाँति अपमान करै जो द्वेस न मान पांच पुनि परि हौं।
परितरि विषसम स्वाद जगत के संतन सीख उदर अमि भरि हौं॥
अतिहि दुसह दुख होत कर्मवश हरिपद कमल निमष महिं टरि हौं।
हरिबिमुखन को संग त्यागि कै सत सजातिन में सुख चरि हौं॥
जग उदास निज इष्ट आस बल निर्भय हरियश बिमल उचरि हौं।
श्रीबृन्दावन वास निरन्तर राधाकृष्ण रूप लखि अरि हौं॥
सुनियै लाल कृपाल दयानिधि यह निश्चय दृढ़ कबहुँ कि करि हौं।
किशोरिदास हरि व्यास कृपाबल महल टहल सेवा सुख भरि हौं॥

२२. **शिवदयाल**—इनके विषय मे अधिक कुछ ज्ञात नहीं हो सका। रचना देखकर अनुमान है कि सम्भवत: आप भाटवंश के हों। आपको रणजीतसिंह का दरबारी कवि बताया जा रहा है। रचनाएँ भी विशेष संख्या में नहीं मिलीं। ये रससिद्ध कवि हैं और भाषा पर इनका पूरा अधिकार है। भूषण जैसी वीर रस की कविता देखिये—

गिलजा कौ मांस मुख गीध लै उड़ानै जात
प्रेतहु पठानन के पेट फारै पट-पट।
खेत में खवीस खुरासानिन में खाइ थाइ
हाड़ वंत तरै परै नाद होत खट-खट।
कहै शिवदयाल महाराज रणजीतसिंह
कालिका असीसै वेत लीजै बिजै झट-झट।
डाकनी औ शाकनी पिशाचनी अघानी घनी
लोहू पीवै जोगनी गरे में होत गट-गट॥

२३. **जयसिंह**—इन्हे भी रणजीतसिंह का दरबारी कवि कहा जा रहा है। इनका विशेष परिचय अभी तक प्राप्त नही है। कुछ-एक फुटकर पदों के अतिरिक्त कोई पोथी देखने में नही आई। भाषा बहुत ललित, सालंकार, अपने-आप में इतनी खरी है कि जयसिंह की कोई रचना मिल गयी तो वह एक चमत्कार होगी। भाई शमशेरसिंह 'अशोक' इन्हे जयसिंह सैनी (केहर जै) से अभिन्न बता रहे हैं, पर हमारा अभिमत इनसे भिन्न है। समान-समय में होने से इन्हें 'एक' बताने के तर्क दिये जा सकते हैं, पर भाषा का प्रयोग इन्हें भिन्न ही सिद्ध करेगा। रचना—

कियौ है पयान सुरलोक हू कौ महाराज
पुन्य पुज पुहुमी कै पल में पलाने हैं।
काकी कीजै ओट कौन सत्रु की बचावै चोट
गौ गरीब मुनी जन अति बिलखाने है।
कहै जयसिंह सुरी सम्पदा बिलानी बीर
आसुरी ने दीन आज दुंदुभी धराने हैं।
हाय मरवाने जग जाने रणजीतसिंह
तेरे बिन काने जग बीच तीन काने हैं॥

२४. **जमीयतराय**—कवि ने अपनी रचना 'कथा विक्रमजीत' (उपनाम सिंहासन-बत्तीसी) में अपना परिचय देने का यत्न किया है। तदनुसार

जमीयतराय बठिण्डा-निवासी, पुरीवंशीय, सम्वत् १८३७ विक्रमी में विद्यमान थे। आपने कथा का काल इस प्रकार लिखा है—

सावन सुदी त्रियोदसी रविदिना। अष्टादस सै तीस सप्त पुना।

भाषा तथा विषय-विन्यास की दृष्टि से रचना सुन्दर है, यथा—

(१)

देख सुरेस सिंहासन छाड़िकै भूपके लेबेहि को तब धायो।
बाँह गही कुशला तहि लै कंठ लगाइ महासुख पायो।
पास बैठाइ कै बात करै दउ कौल मनोज लसै बिगसायो।
विक्रम होइ अधीन महा त्रि इंद्र के चरन माँहि लपरायो॥

(२)

फेर कह्यो इह पारवती सुनिए हरजू इक अरज करौं।
भिन्न-भिन्न कहौं तुम ताहि कथा तिह तै मन मैं अति संक करौं।
भूप भयौ म्रित मंडल मै तिह की उपमा मै यह कौन करौं।
महादेव कहै सुन पारबती अब ताहि कथा हित सौ उचरौं॥

२५. **बुधसिंह**—लाहौर के निवासी सरदार बुधसिंह एक सफल तथा विख्यात कवि हुए है। सरदारजी रणजीतसिंह के दरबार मे सम्मानित थे। महाराज के कहने पर आपने सस्कृत की प्रसिद्ध कृति 'पंचतन्त्र' का स्वतन्त्र अनुवाद किया और रचना को नया नाम दिया 'बुद्धिवारिधि'। उसमे पात्र वही हैं—मानव, पशु-पक्षी, अर्थात् सब पूर्व-परिचित। इस पर रचना को मूल कृति का शब्दानुवाद कहने में एक अड़चन का सामना करना होगा; वह यह कि इसमें गुलिस्ताँ-बोस्ताँ की कतिपय कथाएँ भी विद्यमान है। ऐसा लगता है, कि उसमें कुछ-एक पजाब की कल्पित दंतकथाएं भी है और कुछ-एक कवि-कल्पित कथाएँ भी। नाभा-निवासी भाई प्रेमासिंह ने इसका गद्य-रूपान्तर करके पुनः लिखा और रचना का नाम पूर्ववत् रहने दिया। कहते है, नाभा-नरेश हीरासिंह ने प्रसन्न होकर रचना पर एक लाख से ऊपर पुरस्कार दिया था। सरदार बुधसिंह की भाषा ब्रज होने पर पंजाबीपन से सर्वथा रिक्त नही है। नमूना—

प्रथमं ऐसे सोजो हेर, सब कारन में होय दिलेर।
दूसर अपनी कदर पछान, दृष्टि धरै नीकै मनमान।
तीसर आग्या स्वामी साथ, रहै प्रसन्न चहै यशगाथ।
चतुर्थ मर्म जो अपनो होय, ताकै कहै प्राप्त कछु होय।

पंचम बात छुपावै ऐसे, कोऊ भेद लखै नहिं ऐसे।
षष्टम ऐसे करौ उचार, बादशाह को जो दरबार।
सप्तम मुख न सँभार निकारे, दरजा अपना आप सँभाले।
अष्टम मुहब्बत लहि बलशाह, रहै खमोश होश के माँह।
जब लौं नहिं पूछे कउ बात, तब लौ नहिं भाखै कुसरात।
जिस माँहि सिफत याहि आँहि, फतै पाइ हे सब विधि माँहि॥

२६. कृष्णलाल—महाभारत का अनुवाद करने वालों मे कृष्णलाल का नाम विशेष उल्लेखनीय है। जिस महाभारत को गुरु गोविन्दसिंह महाराज ने मंगल, कुवरेश, टहकन, हसराम, अमृतराय आदि कवियों से अनुवाद कराया था, पटियाला-पति महाराजा नरेन्द्रसिंह ने जिस परम्परा को अपने दरबारी कवि रामनाथ, उमादास, दित्तेराय, वंशीपंडित, चन्दकवि, वसन्तसिंह, कवि निहाल तथा मोहर कवि द्वारा जीवित रखा, उसी महाभारत का अनुवाद कृष्णलाल कवि ने अकेले किया। कितने पर्वों का अनुवाद किया, यह तो ठीक-ठीक बताना कठिन है, पर इस समय तक आदिपर्व, शान्तिपर्व, भीष्मपर्व, स्वर्गारोहणपर्व उपलब्ध है। इनके अतिरिक्त रामचरित्र भी उपलब्ध है।

इन ग्रथों में काव्य-सौष्ठव की अपेक्षा धर्मनिष्ठा के बहुल दर्शन होते हैं। भाषा मँजी हुई नही है, पंजाबीपन की छाया तो सर्वत्र व्याप्त है। यद्यपि लेखक ने कही भी अपना परिचय देने का कष्ट नहीं किया, तथापि कुछ-एक अन्त.साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है आप सम्भवतः अमृतसर-निवासी हैं। आपका रचनाकाल १८८० विक्रमी संवत् से १९२० विक्रमी संवत् तक ठहराने मे कोई अड़चन नहीं।

रचना—

अविनाश करम के फल अधिकानै। कबहु घटै न सदा सुख ठानै।
ज्यों सूरज चढ़ै निसा न रहाइ। दीपक जरै तिमिर मिट जाइ।
ज्यों सति बुध तै ज्ञान प्रकासै। अज्ञान तिमिर तत्काल बिनासै।
ज्यों चोर गृही सोवत देखै। लूटत गृह निहचिम विसेखै।
जब ताकौ जागृत दृष्टा हो। भाग जाइ न ठहर सकाई।

२७. पटियालापति नरेन्द्रसिंह—महाराज नरेन्द्रसिंह का जन्म मगहर-बदी दशमी को हुआ। आप २३ वर्ष की अवस्था में संवत् १९०२ में सिंहासनासीन हुए। आप राजनीति में धुरंधर, व्यवहारकुशल, वीर, विद्वान् तथा कवि थे। आपके दरबार में गुणी, गायक, कवि, पण्डित एवं शिल्पकार सम्मान

पाते थे। आपकी रचना यद्यपि पुस्तकाकार नहीं मिलती, पर कुछ फुटकर पद अवश्य मिलते है। शिवसिंह सेंगर ने आपके कवित्व की ओर सर्वप्रथम ध्यान आकर्षित किया था। आपने अपने दरबारी कवियों द्वारा महाभारत का अनुवाद कराया था। आपके दरबारी कवियों मे—साहबसिंह, चन्द्रशेखर वाजपेयी, फतैराम, वसन्तसिंह, बुधसिंह, उमादास, निहालकवि आदिकों के नाम उल्लेखनीय है।

रचना—

चंदन की चर्चा न रही न रही अरी आड़ जो भाल दई ही।
मोतिन की लरकी लर है बरकी अँगिया पहिरी जू नई ही।
छीक तहां पठई जु हुती सु तौ तें न सुनी सुन हों हो लई ही।
आयौ न आयौ बलाय त्यौं तेरी तू काहे लरी लरिबै कौ गई ही॥

२८. **गंगाराम**—पटियालापति कर्मसिंह के दरबारी कवि गंगाराम के विषय में अधिक कुछ ज्ञात नही। आपकी रचनाएँ—मानमजरी, शोभा-शृंगार-मंजरी, सुन्दर शृंगार, शालिहोत्र तथा 'कथा धर्मेश्वर की' है। अन्तिम दो रचनाएँ धार्मिक हैं। 'मानमंजरी' महाराज कर्मसिंह की प्रशस्ति में लिखी गई है। शेष रचनाएँ साहित्यिक है। पंजाब के प्रसिद्ध साहित्य-महारथी डॉ० लक्ष्मणस्वरूप ने इनकी एक अन्य रचना—उद्धव संवाद का परिचय दिया है। इसका स्वर वही है जो सूरदास के भ्रमरगीत का है। डॉ० जी के शब्दों में—कहीं-कहीं गंगाराम सूरदास से भी उत्कृष्ट रचना कर गए हैं।[1] पर अपनी राय उनसे पृथक् है। गंगाराम सूरदास का प्रतिक्रमण तो नहीं करते, पर वे दूसरे स्थान पर अवश्य विराजमान है। अपनी स्थापना के लिए केवल एक उदाहरण देना ही पर्याप्त समझते हैं:—

माखन के मिस प्रात जगे उठ मात जसो दधि को मथरी।
लकुटी मुरली अरु गुंजनमाल गये तजि कै कमरी कथरी।
इत पायन हेरत धेनु फिरै उत डोलत कंचन को रथरी।
सुन ऊधव! हाथ लगी उनके कुबजा अब पारस की पथरी।

गंगाराम 'कवि' के रूप में अत्यन्त सफल रहे हैं। भाषा भी शैथिल्य या पंजाबीपन से मुक्त है। चाटूक्तियाँ और अतिशयोक्तियाँ स्वाभाविकता के धरातल से बहुत दूर नहीं है। कथन साधु होने पर भी चमत्कार-शून्य नहीं है।

१. पंजाब-प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, के दसवें अधिवेशन में दिये गए भाषण के आधार पर।

रचना—

(१)

सेना चतुरंग बानं बानं बहुरंग मानं
दूसरो अनंग बल देखत न आन मैं।
होत असवार बाजि दुंदभी अपार अरि
छपत उलूक महा तेज देखि भान मैं।
सत्रन को क्रूर रन परै अतिसूर गुर
संतन हजूर नित ध्यान दान मान में।
राज नृपराज महाराज राजै कर्मसिंह
तेरे यशचन्द्रमा की चाँदनी जहान में॥

(२)

उत्तम बुद्ध सदा मन मुग्ध पुरातन आतम तत्त पछानं।
रैन दिना हर कीरत सों हित वेद पुरातन को मत जानं।
लाजक नैन सुधासम बैन सभाजस नीत सुबान बखानं।
संत को गाहक पाप को दाहक कौन कवी नृप की छब आनं॥

२९. **रामदास**—सुना जाता है, पटियाला-दरबार मे स्वामी रामदास का आना-जाना था, पर रचना से इस दंतवार्ता की पुष्टि नहीं होती। आप उदासीन सम्प्रदायगत, रामकृष्ण के परम भक्त सन्यासी थे। आपकी रचना 'वाणी रामदास' के नाम से उपलब्ध है। आपको गीतकाव्य की एक 'कडी' के रूप में लिया जा सकता है। भाषा मधुर ब्रज है और पंजाबीपन को लिये हुए है। आप पटियाला के रहने वाले थे। रचनाकाल १८८० से १९२० तक बताया जा रहा है।

रचना—

(१)

गोकुल बसंया वृजभूमि कौ फिरंया बन
धेनु कौ चरैया और भैया बलराम कौ।
काली कौ नथैया कौल कंस कौ दिवैया पांव
सीस पै छुवैया जो पिवैया विषधाम कौ।
गिर कौ धरैया मान इन्द्र का मिटैया कोप
केसी कौ दलैया जो कटैया अभिमान कौ।

'रामदास' को रखैया खान-पान को खवैया
नन्दराय जू को छैया है दिवैया सुरधाम को ॥

(२)

देखे री मैं बन बिहरत बनवारी ।
हाथ लकुटिया अधर मुरलिया ओढ़े कंबर कारी ॥
मोर मुकुट कुंडल मकराकृत अलक-झलक अहि नारी ।
कौल नैन अमृतरस भीने समतरि चद उजारी ॥
भौंह कमान काम कसि राखो पलक प्रेम सर मारी ।
सुन्दर सुभग कीर को नासा अधर बिंब फल भारी ॥
दसनन दमक लगै जनु मोती चिबुकन की छबि न्यारी ।
मानौ कमल कली बिन फूली निरखि निरखि दृग हारी ॥
मन में बसी माधुरी सूरत टरत नहीं छबि टारी ।
रामदास मोहन मोहन टेरत सी बृखभानु कुमारी ॥

३०. **रूपचन्द**—पटियाला-दरबार के राजकवियो मे इनका विशेष स्थान है। क्योंकि आप महाराज नरेन्द्रसिंह तथा महाराज महेन्द्रसिंह के दरबार में बराबर राजकवि बने रहे। आप कब जन्मे, कब आपका निधन हुआ, आप किस कुल के अवतंस हैं—इन प्रश्नों का उत्तर अभी तक नहीं दिया जा सका। महाराज नरेन्द्रसिंह से आपकी घनिष्ठ मित्रता थी। आपकी अभी तक एक ही रचना मिली है—टीकासाहब की बाललीला। इसमें राजकुमार महेन्द्रसिंह के जन्म से लेकर विवाह-पर्यन्त बालचरित का वर्णन है। बाल-लीला का मनोविज्ञान सहित अध्ययन करने वालों को इस रचना में बहुत-कुछ मिलेगा। रचना यद्यपि ब्रजभाषा मे लिखी गई है, पर उसमे खडी बोली का अस्तित्व भी है।

रचना—

(१)

पीवत है कबहूँ मुख छीर हरै तनपीर छुधा की सुभागै ।
लैत करौट कबूं हँसि कै कबहूँ दृग सों दृग जोरन लागै ।
देख जसोमत फूल रही मन 'चंद' कहे हमरे दिन जागै ।
आप प्रवेस कियो सुख सम्पत रामप्रताप सभी दुख भागै ॥

(२)

दायज सौंप करी विनती कर जोरि दऊ सिर नाय लिये है ।
लाइक ना हम तौ कछु हैं तुम देसन देस विख्यात किये हैं ।

भूप कृपाल रहौ हम पै कवि चन्द कहै निस द्यौत जिये है।
दासन दास निहार हमें हम तौ तुमकौ कछु नाहिं दिये है॥

(३)

तंडुल मूठ सरो हम पै गड़वा जल पीवन कौ पुनि दीनौ।
सो हम पै करुणा करि कै तुम जान पियूष हिये धरि लीनौ।
बस रहे तुमरौ जग में कवि 'चंद' सदा जुग कोटि नवीनौ।
यूं कहि धाय मँगाय सुता नृप के सुत के कर मै कर दीनौ॥

३१. **अद्वैतानन्द 'ब्रह्म'**—पटियाला-निवासी 'अद्वैतानंद' ब्रह्म एक उदासीन महात्मा हुए हैं। ये पटियाला-दरबार के कवि-मडल मे थे या नही—यह तो अभी संदेहास्पद है, पर ब्रह्म कवि की रचनाएँ कविमडल मे रुचि से पढी जाती थीं—ऐसे कुछ संकेत मिलते है। वैसे तो 'ब्रह्म' कवि ने महाराज नरेन्द्रसिंह जी को लक्ष्य करके एक-दो ग्रथो की सृष्टि की है, पर यह सब प्रथा-पालन मात्र है जैसे किसी राज्य मे रहकर उसके महाराज के लिए कुछ-न-कुछ लिखना अनिवार्य हो। आपकी रचनाएँ ये है—नरेन्द्र नीतिशतक, नरेन्द्रभानु-प्रकाश, नरेन्द्रविभवविलास, अकालविलास तथा गुरु गोविन्दसिंह-दिग्विजय। कवित्व की दृष्टि से रचनाएँ सामान्य कोटि की है। भाषा मे भी वैशिष्ट्य नही है। हाँ, धार्मिक दृष्टि से इनका महत्त्व बताया जा रहा है। नरेन्द्रसिंह-सम्बन्धी साहित्य में भी उनकी वीरता का या विलास का वर्णन नही, बल्कि उनकी धार्मिक वृत्तियो का चित्रण है। आपका रचन-काल विक्रमी संवत् १९०८ से १९१५ तक बताया जाता है। रचना मे वर्णित गुरुनिष्ठा एवं सिख-मान्यताओं की अनुवृत्ति अवश्य प्रशसनीय है।

रचना—

श्री गुरु गोविन्दसिंह जग मे दिनेस दूजौ
पूजै नर नारी जस मंत्र कौ बतायौ है।
प्रीत ताकौ पाती मंत्र सुयश प्रेम ध्यान सों
जेते भक्त सत हिय कौल बिगसायौ है।
आपत कै तापत कै सहने अवाप्त तातै
कहै मृगनैनी गुन सूरज हू न पायौ है।
मनै कवि ब्रह्म सुधा सुरभी गुलाब फूल
उपमा में तूल गंगा गीता हू न आयौ है॥

३२. **मोहर कवि**—मोहर कवि (उपनाम कनकमुद्रिकासिंह) पंजाब

के सुप्रसिद्ध कवि हुए हैं। आप भी पटियाला-दरबार के राजकवि थे। महाभारत की अनुवादक-कड़ियों में आपका शुभ नाम भी है। उसके (शांतिपर्व के) अतिरिक्त इनकी एक और रचना बतायी जाती है—'रससमूह'। रचनाकाल १९०५ से १९२० विक्रम संवत् तक कूता जा रहा है। रचना को देखने से ज्ञात होता है कि भाषा में ओज है, भूषण कवि जैसी शब्दों की खिलवाड है और वीर रस का सफल परिपाक है।

रचना—

(१)

कारे धोरे धावत उरावत बूहनन को
मचावत है धूमधाम धूमके धरट्टे सों।
नद-नदीन अट्टे सु जुर जंगलन जट्टे
मूल तरु अट्टे डटजल नगरट्टे सों।
'मोहर' पढ़ावे हिरोल पावस नरेस के
आय आमलन करन लें कें धुरपट्टे सों।
धारत पलट्टे फिर्यो लट पलट्टे नभ
नट्टे छट छट्टे घोर घन को घरट्टे सों॥

(२)

भानमान भंड भरे उदित अखंड मंडे
मद जल धारं धर घहर धुजंडे है।
उमंडे महावत चहूँधा सोर अंके धनु
कोर छटान झूल झहर झमडे है।
मोहर अवंडे एड़दार सरदारन कें
मानन गिरेंया गढ़ ठहर बुरंडे है।
आवत मतंग तुंग मतवारे मारे कैंधो
घूमघूम घोरघन घहर घमंडे हैं॥

३३. **जैसिंह सैनी**—पटियाला के नागरिक, पटियालापति के राजकवि जैसिंह सैनी के विषय में अधिक कुछ ज्ञात नहीं। आपकी एक रचना उपलब्ध है—भूपभूषण। यह अलंकार-ग्रंथ न होकर नीति-ग्रंथ है। विषय की दृष्टि से रचना सामान्य है। 'भारतीभंडार' में 'केहर जै' नाम से जो कवित्त संगृहीत है, वे मनोहर हैं। भाषा में तरलता एवं भावों में स्वच्छता है। कवि ने कहीं-कहीं दूर की कौड़ी लाने का यत्न किया है। रचना—

१

बसन सुधारे सेत मुक्ताहुल केर हार
चंदन सँवार चलै नाहन सिताबी को।
सोच कहैं मैया सुन लीजै री जुन्हैया बीच
आनन की आभा न रहैगी दैया दाबी सों।
'केहरजै' बास को उपाव अब कीजै एक
आतस की बाजी कौ चलावै है अजाबी सों।
तेरे कीनो आली हूं कै छपाकर चारु चली
मिलै चाँदनी सी चीर मुख महताबी सों॥

२

सुन्दर घनाइ ताकी लीजिए बधाइ आजु
जाकी सिसताइ सौत सालत सदाई है।
जाकै हेर रहे हिये करत बिसाल आज
बात सुनबे की चोप चाहत बसाई है।
मन कौ मनोरथन सुफल करैगी अब
'केहरजै' कह विधा विध ने बनाई हे।
अगन मे आइ है लुनाइ जोत जोबन की
दूज द्विजराइ जिमि देत दिखराई है॥

३४. **पजाबी रामसिंह रँगीला**—पटियाला के दरबारी कवियों में पजाबी रामसिंह रँगीला का नाम विशेष स्थान रखता है। कारण, आप कवि भी हैं, सुलेखक भी। मोतीबाग मे वर्तमान पाण्डुलिपियों में से अधिकाश पोथियों के लिपिकार आप हैं। दर्लसिह से मिलकर आपने 'भारती-भडार' का संग्रह भी किया था। आपकी दो रचनाएँ अभी तक देखने मे आयी हैं—(१) अनभै-प्रकाश और (२) शोभानरेन्द्रसिंह। पहली पोथी अध्यात्म की है, दूसरी पोथी स्तुति की। भाषा खड़ीबोली-प्रभावित ब्रज है—

बड़े बुधवन्त है ललाते के महन्त जोऊ
दास अब संतन को प्रेम परकाश है।
नाम भगवानदास हैं भी भगवानदास
गुरुजी कौ दास पुन जग तैं उदास है।
रागपंग सदा धुन ज्ञान सत संगत में
मन मैं उमंग सब सग कौ बिलास है।

उपमा अपार कवि कहां लौ बिचार करें
राम नाम सार धुन गावं सांस सांस है ।।

३५. **वीरसिंह पजाबी**—मोतीबाग के गुरुद्वारे में ग्रंथी के पद पर कार्य-निरत पंजाबी वीरसिंह ने छोटी पोथियाँ लिखी हैं—भक्तमाल, गौसिंह कथा, नासकेत, जनमेजय, वसिष्ठपुराण आदि। भक्तमाल पंजाबी में है, शेष रचनाएँ ब्रज मे—

साँझ समं हररास समापत होत आरती उच्च स्वरी है ।
प्रेमसों एक ही तान मिलाइ कै गान सु लै करि तालकरी है ।
पाठ बिगास करें अरदास को सख निसान बजंत तुरी है ।
ऐसहि भाँत हमेस रहे सिख एक ही काल अकाल हरी है ।।

३६. **सेवासिंह जाट**—लेखक के नाम से एक रचना उपलब्ध है—'सुदामाचरित'। रचना देखने से यह ज्ञात नही हो रहा कि सेवासिंह पोथी का प्रणेता है अथवा लिखारी-मात्र। लेखक ने अपना परिचय कुछ भी नही दिया। पुस्तक के अंत में लिखा है—"सुदामाचरित्र पूरा होइया। भूल चूक बखशणा। गुर प्रसादि लिखित सेवासिंह जाट गुरु संगत जी का गुलाम।" लेखक संत संगतसिंह का गुलाम अर्थात् शिष्य ज्ञात होता है। रचना में ४१ पद हैं और भाव हृदयग्राही होने पर भी भाषा साधारण है। रचना—

अन्तर लेगइ हाथ जोर करि ठाढ़ी भई, कृपाकर बई तुम भेंट्यौ भगवन्त कौ।
केसव जू कृपा करि आपदा है सब टरी, बिपदा है जरीजबं पेखियौ अनंत कौ।
भोजन कराइ बसनन पहिराइ तन गंध लगाइ प्रसन्न कीना नारी कंत कौ।
पर्यंक बैठाइ तर चाँपि करि पाइ नारी पूजाकर बाम भेंट दीनी बहु संत कौ ।।

३७. **मूलसिंह लहरी**—आप भी पटियाला-दरबार के कवि बताये जा रहे है। आपकी केवल तीन रचनाएँ मिलती हैं—कथा राजा गोपीचन्द, नरेन्द्र-बिलास, महेन्द्र-अष्टक। आपके विषय में कुछ ज्ञात नही हो सका। रचनाएँ साधारण हैं और भाषा ब्रज है। नमूना—

तब प्रेम पयोधि प्रकाश कियौ मन आनंद सों गुरु बैन उचारे।
सेव कबूल भई तुमरी मन बांछत माँगि वेऊँ हितकारे ।
हे गुरदेव करी करुनामय आस पुजावन हार मुरारे ।
सूर समान प्रताप बढ़ौ बलवान सपूत दियौ गुर थारे ।।

३८. **भगवानसिंह बनूड़ी**—पटियाला के दरबारी कवियों में भगवानसिंह बनूड़ी का नाम भी लिया जाता है। आपकी दो रचनाएँ प्राप्त है—साखियाँ

भाई मूलचन्द तथा कुर्सीनामा चम महाराज। नरेन्द्रसिंह पाँचवें पटियाला-पति हुए हैं। कवित्व साधारण है, भाषा ब्रज है। रचना—

नट वै सब हाल कह्यौ महिपालहिं हे प्रभु सेर भयो इक भारी।
भूप विचार कियौ सरदारन सेर सिकार करौ तुम त्यारी।
डेरन कौ कर हुक्म चलै महिपाल करी तत्काल सवारी।
सिंहन सिंहनी घेर लई महिपालजु मारि मही पर डारी॥

३९. **बिशनसिंह**—लेखक के नाम से केवल एक रचना मिलती है—कलुभ्रमभंजन। इस पुस्तक का विषय धार्मिक है। इसके अतिरिक्त बिशनसिंह की कतिपय सरस रचनाएँ 'भारती-भंडार' मे संगृहीत है। इन रचनाओं के बल पर आपके कवित्व का अनुमान लगाया जा सकता है। संभव है, कवि ने उक्त रचना के अतिरिक्त कुछ और भी लिखा हो। बिशनसिंह का पटियाला-दरबार में आना-जाना था या नहीं, इसका ज्ञान भी पूरी तरह नही हो सका। अनुमानतः बिशनसिंह दरबारी कवियों के सम्पर्क मे थे। आपका रचना-काल १९०५-१९२५ विक्रमी सवत बताया जाता है। रचना—

फागन रागन मै निसिबासर खेलत फाग सभी नर नारी।
लाल गुलाल बनै सुभ सुन्दर गावत गीत बजावत तारी।
फूल बसंत खिलै सब केसर फूलत बाग सभी फुलवारी।
फौजन की सब मौज बनी अब भूपत कै चित है जसकारी॥

४०. **खेमराज**—पटियाला-नरेश के मंत्री गुरुदित्त सिंह के आश्रित श्री खेमराज ने उन्ही की आज्ञा से, उन्ही की तुष्टि के लिए विशन-पदों की रचना की। जिसमे गेयत्व मुख्य है, काव्यत्व गौण। भाषा मे भी वांछित प्रवाह नही है। रीति-साहित्य की एक कड़ी के रूप मे श्री खेमराज का मुख्य स्थान हो सकता है। सुना है, भाषा-विभाग पटियाला ने इसे प्रकाशित कर दिया है।

रचना—

साधो! मंगल नाम हरी का।
भोग योग संपत सुखदायक तारक धर्म तरी का।
काम क्रोध मद लोभ महाभय मारक पाप अरी का।
जूठे बेर चखे रघुपति ने मान रख्यो सबरी का।
रावण मार बिभीखण कीनौ नायक लंकपुरी का।
उग्रसेन कौ भूपत कीनौ कंस मार नगरी का।
कंचन मन्दिर दिए सुदामा काम कियौ कुबरी का।

ग्राह मार जल भीतर डूबत संकट हरयौ करी का।
'खेमराज' हरि चीर बढ़ायौ द्रुपदा सरण परी का॥

४१. **आत्मसिंह (जिंद मृगिंद)**—सन्तजी कहाँ के रहने वाले हैं, और किस वंश के अवतंस हैं, यह सब अभी तक अज्ञात है। इनकी 'अध्यात्म-प्रश्नोत्तरी' ही एकमात्र रचना बताई जाती है। विषय-विन्यास तथा कूट रचना के कारण पोथी विलष्ट है। साधारण व्यक्ति तो उसे छू भी नहीं सकता। रचना आध्यात्मिक होने पर भी साहित्यिक तत्त्वों से पूर्णतया अलंकृत है। रचना देखने से यह पता नहीं चलता कि यह ज्ञान-ग्रन्थ है या प्रहेलिका-काव्य।

रचना—

शशिवाहन[1] के रिपु[2] के पति[3] के पति[4]
ता रिपु[5] तीय[6] पति[7] पित[8] भाई[9]।
तिसकी अनुजा[10] सुतके[11] सुतके[12] गुरु कौ[13],
पित[14] मात[15] पिता[16] कुल[17] गाई।
तिस वाहन[18] मीत[19] पती[20] सुत कौ[21] पति[22]
ता रिपु[23] मात[24] रिपू[25] पितराई[26]।
तिस बंध[27] पिता[28] गुरु[29] शिष्य[30] रिपू[31]
नृप कं सुत कं प्रभु होइ सहाई॥

४२ **उत्तमसिंह**—सन्तजी वेदान्त-विषय के पारंगत विद्वान् हुए हैं। आपने एक पुस्तक लिखी है—विष्णु-आत्मपुराण। रचना में अद्वैतवाद का निरूपण हुआ है। भाषा सरल ब्रज है। राग-रागिनियों में वेदान्त जैसे सूक्ष्म एवं शुष्क विषय को सरस बनाकर लिखना, सचमुच एक कला है। सन्तजी ने अपना परिचय एक पद में दिया है, जो इतिहास की दृष्टि से अपर्याप्त है। आपने अपना रचनाकाल १८९६ दिया है और मद्रदेश (लाहौर-अमृतसर) को अपना वास्य बताया है। सन्तजी का परिचय-पद यह है—

विष्णु पुराण आतमा सार।
आतमा परमानन्द चायि निजरूप लिखा हित भाषा राग।

---

१. मृग, २. सिंह, ३. दुर्गा, ४. शिव, ५. कामदेव, ६. रति, ७. प्रद्युम्न, ८. कृष्ण, ९. बलराम, १०. सुभद्रा, ११. अभिमन्यु, १२. परीक्षित्, १३. शुकदेव, १४. व्यास, १५. सत्यवती, १६. धीवर, १७. मल्लाहवंश, १८. नाव, १९. जल, २०. अपाम्पति=समुद्र, २१. अश्व, २२. लक्ष्मण, २३. लवकुश, २४. सीता, २५. जयन्त २६. इन्द्र, २७. मेघनाद २८. रावण, २९. शिव, ३०. परशुराम, ३१. राम।

श्री विशन भगवान बंद पद आपन पै जाना बरनि-आर।
श्री सतगुरु संत कृपा तै करि प्रसाद तिह आग्या धार।
देखि संस्कृत और नाथ-मति कह्यौ वेदान्त इक मति सार।
संवत विक्रम सहस्र अष्टशत नवषट कातक विंशत चार।
पूरन भयौ दीपमाला दिन मद्रदेश सरसुधा (अमृतसर) किनार।
उत्तमसिंह बदति सत संतनि भूलि परी लै पढ़हु सुधार॥

४३. **गुलाम कादर**—आपका पूरा नाम गुलाम कादर जिलानी रोहतगी है। आप अपने मामू के यहाँ रहते थे। उन्हीं की देखरेख में आप पढ़े और बड़े होकर सेना में भरती हो गए। पर मन तो सूफ़ियाना जीवन बिताना चाहता था। आपने नौकरी छोड़ दी और साधना में जुट गए। आपने उर्दू के अतिरिक्त हिन्दी मे भी कुछ लिखा है। रचना—

देखादेखी करतब करै बिन कहने किछु ध्यान न धरै।
इस करनी का मत कर ज्ञान, अंधी चूही थोथी धान।
हर का ध्यान छाड़िकर मन की बत्तियाँ लेय।
सगरा माया छाड़ दै झूठ न जग में लेय॥
फिर हर की कर साधना, सारी मत मत खोय।
बातड़ियाँ घर ऊजरै, चूल्हे दाल न होय॥

४४. **ज्ञानाराम**—ज्ञानाराम ने अपने पिता का नाम न बताकर अपने गुरु का नाम बताया है। यथा—"गुरुवर काशीराम पद ध्याय हृदै अभिराम। छन्दभेद भाषा विषै भाखत ज्ञानाराम।" आप जाति से ब्राह्मण मालूम होते हैं। इनकी रचना भी एक ही मिली है—'छन्दबोधिनी'। छन्द के लक्षण दोहा-चौपाई में दिये गए है। यथा—

मात्रा सम देश वेद जानी। जगन-तगन अवसान आनि।
कविगन गुण कौ विशराम। कहि गंजल सुछन्द नाम।
गंजल (गज़ल)

गण वेद कला षोडश बिचारि। सब चरण जगन अवसान धारि।
इह भाँति सबै करि चाल बंद। इमि रचहु पद्धरी नाम छंद।
—पद्धरि

आचार्य ने स्वयं कहा है कि छन्दों की नूतनता इसमें नहीं है। क्योंकि ग़ज़ल, रेख्ता, रुबाई और बैत—इनके लक्षणार्थ यह पुस्तक बनानी पड़ी है।

रचना—

तारका सुधारी सुरधामहिं पधारी राम !
रूप अभिराम धारि राखसी कुढीलनी ।
गौतम की नार तारी, पाइन की लाइ छारि
भारी श्राप टारी भई पावनी कुसीलनी ।
खर दूखन कौ तारि बंध उदधारि गीध
भव दुख टारी जाति भीलनी कुचीलनी ।
एते तुम तारे ताकं करम बिचारे नहिं
'राम' जाय वारे प्रभु कीजिए न ढीलनी ॥

४५. **महाराज निहालसिंह**—कपूरथला-नरेश महाराज निहालसिंह की कृति—जिसका नाम अभी तक निश्चित नहीं किया जा सका—मिली है, जो लक्षण-ग्रन्थों की एक कड़ी है। पुस्तक में केवल अलंकारों का निरूपण है। पंजाब की निजी परम्परा के अनुसार प्रत्येक अलंकार के लक्षण-उदाहरण के साथ 'वार्ता' के रूप में टीका अथवा भाष्य भी दिया गया है। यथा—"अद्भुत उपमा ॥ भई न होय न होत अब ऐसी उपमा जोय। कवि कोविद ताकौ कहै, अद्भुत उपमा सोय ॥ वारता ॥ जौ पाछे तै भई न होवै ॥ अरु होवै ना ॥ अरु बहुती न होवै ॥ ऐसी उपमा है ॥ ताकों कवीश्वर अद्भुत उपमा कहत हैं ॥ यद्यपि उदाहरण प्रायः अपने ही बनाये गये हैं—जो न केवल सरस हैं, बल्कि सुबोध भी हैं—तथापि क्वचित् अन्य कलाकारों के उदाहरण भी हैं।

यथा—

जामैं छबि ऐन ऐन मद बैन सोल नैन
मैन पति चैन बैन बंक बिलोकन है।
बिमल कपोल गोल भ्रमैं भ्रमरन टोल
बोलन अमोल बोल लेत मोल मन है।
हाव भाव प्रमुख ही सुभाव सौ चुराय कैं
पीय रीझ कैं रिझाव मान गान मन हैं।
लखैं अब लाख-लाख सुख बाढ़ै अमल से
ससि सम तेरे मुख हू कौ का कहन है ॥

४६. **टहलसिंह**—रीति-साहित्य की अन्तिम कड़ी सरदार टहलसिंह का परिचय विशेष उपलब्ध नहीं है। स्फुट पदों के अतिरिक्त दो रचनाएँ मिलती हैं। बारामाह और अलंकार-सागर-सुधा। पंजाब में बारामाह का प्रचलन

विशेष रहा है। अलंकार-ग्रन्थ में कवि टहलसिंह ने परिभाषा-घटन के बाद उदाहरण गुरु गोविन्दसिंह की प्रशस्ति में कहे हैं। जैसे कि अन्य रीतिकाल के आचार्यों ने किया है। परन्तु अन्य आचार्य अर्थागम के लोभ से प्रेरित हैं तो कवि टहलसिंह श्रद्धाभाव से प्रेरित—यही इनमें अन्तर है। जिस प्रकार भूषण ने सदा शिवाजी की वीरता, यश, दान महिमा तथा प्रभुता-प्रभाव पर ध्यान रखा है, वैसे टहलसिंह ने भी आचरण किया है। उसके सामने गुरुजी की वीरता, यशोगाथा, गुरुगरिमा रही है। कवित्व की दृष्टि से इन्हें क्षमता और सफलता लब्ध है। भाषा ओजमयी है।

रचना—

१

कीरत तिहारी हौं निहारी श्रीगुविन्दसिंह
पावक में पंकज में पतंग में पारा मैं।
चित की कला में चपला में है टहल सिंह
चंदन में चाँदनी में चाँद में उजारा मैं।
हर मैं हरा मैं हर-आसन मैं हंसन मैं
हीरा में हलायुध मैं हास मैं हिमारा मैं।
सीसा मैं सुधा में खीर सागर में सविता में
सारदा मैं सरिता मैं सर मैं सितारा मैं॥

२

नैनन से जात नीर अंग-अंग होत पीर
मनहूँ न धरै धीर चीर सुख नाँहि जी।
खान-पान जीत-हार मान-अपमान त्याग
रैन दिन तव पाद प्रीत चित माँहि जी।
ऐसे हू भयो बिहाल देखत हू लाल लाल
बूड़त हौं भवसिंधु गहै कौन बाँह जी।
दीनानाथ मैं अनाथ टहलसिंह दया कीजै
अबै कलिकाल हेत बेर लाई काह जी॥

७. **बीरसिंह 'बल'**—अनुश्रुति के अनुसार बीरसिंह 'बल' मथुरा के ब्रह्म भाट ग्वालकवि के अनन्य सखा थे। ग्वालकवि लाहौर-दरबार से हटकर नाभा-दरबार में आये तो बीरसिंह इनके सम्पर्क में आये। बीरसिंह की रचनाएँ इस प्रकार से हैं :—

१. गुरु कीरत प्रकाश : १८८१ वि० संवत्
२. गुरु विलास : १८८४ ,,
३. वैराग्य शतक : १८९९ ,,
४. सुधासिन्धुरामायण : १९०९ ,,
५. किस्सा हीररांझा : १९१० ,,

भाई शमशेरसिंह 'अशोक' के अनुसार इनकी जन्मतिथि १८८४ वि० सं० में कूती जा रही है। इतना निश्चित है कि कवि महाराज नरेन्द्रसिंह के समय पटियाला में विद्यमान था। उनका दरबारी कवि भी था या नहीं—यह अभी संदिग्ध है। 'सुधासिन्धु रामायण' को वैष्णव साहित्य की अन्तिम कड़ी बताया जा रहा है। श्रद्धा-भक्ति के साथ-साथ कवित्व-निर्वाह तो हुआ है, पर रचना की ब्रजभाषा पंजाबीपन से मुक्त नहीं है।

४८. **वीरसिंह 'भाई'**—आप महाराजा महेन्द्रसिंह के दरबारी कवि हुए हैं। परन्तु महाराज के उपरान्त 'पटियाला दरबार' से कवियों की भीड़-भाड़ हटने लगी तो आप भी अपदस्थ हुए। अतः भाखा-साहित्य के राज्याश्रय से हटने पर आप भक्ति में प्रवृत्त हुए। आपकी दो रचनाएँ उपलब्ध हैं—(१) रुक्मणिमंगल तथा (२) द्रौपदीचरित्र। मंगलकाव्यधारा में इन्हें असंदिग्ध शब्दों में सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया जा सकता है। भाषा बड़ी सुन्दर और प्रवाह-मयी है। ये लघु कलेवर रचनाएँ राग-रागिनियों में लिखी गई हैं। रचना—

गुपाल के गुन गाइ रुक्मन पान ज्यों पीरी भई।
फरफराइ न मरत पल जिमि पंछनी पिंजर दई॥
हम चकोर तुम चन्द माधो तुम बिना कैसे जिऊं।
तुम स्वात बूंद हम चातक निस दिना पिउ-पिउ रटूं॥
सिंह घेरी गाय प्रभुजी तुम बिना कौन छुड़ाय है।
तुम बिना और कौन प्रभु भू को भार उतार है॥
दासी की अरदास मेरी हिये मैं धर आनिये।
निर्गुन निर्बल की अरजी प्रभू हिय में मानिये॥

४९. **सोहनकवि**—इस नाम से दो कवि विख्यात हैं। पहला सोहनकवि 'गुरु विलास पातसाही छह' का लेखक है तथा दूसरा सोहन कवि महाराजा महेन्द्रसिंह का दरबारी कवि है। सोहन वंश-परम्परागत कवि है तथा पटियाला-दरबार का रत्न। इसकी रचनाएँ इस प्रकार से हैं—

१. महेन्द्रप्रकाश, २. व्यासाश्रमपर्व (महाभारत), ३. शुकप्रकाश।

भाषा और कवित्व सामान्य है। रचना—

दुज्जन दंतन के दल कौ दरसात दसों दिस दामिनी जैसी।
त्यों कवि सोहन नागिन सी लहिरात डरात सुहावनी तैसी।
द्वादस भानु किधौं किरपान न जान परै कछु सोभ अभैसी।
श्री गुरु गोविन्द सिंहहु कै कर में किरपान विराजत ऐसी॥[1]

५०. **महाराजा राजेन्द्रसिंह**—महाराजा महेन्द्रसिंह जी के बाद आप संवत् १९४३ में सिंहासनासीन हुए। यद्यपि आपके सामने कवियों का ठाठ-बाट नहीं था, पर संस्कारवश आप भी कविता करने लगे थे। रचना—

कोई दम याद करोगे, हम तो रमते फकीर।
ना कोई अपना नहीं बेगाना, जगसो रहा न सीर॥[1]

५१. **नारायणसिंह 'प्रेमनिधि'**—तोषहरि (५२) के अनन्य सखा बागडियों के रईस नारायणसिंह 'प्रेमनिधि' हिन्दी के सिद्धहस्त कवि हुए हैं। इनका जन्म भाई सम्पूर्णसिंह के घर संवत् १९०६ में हुआ। पं० प्रभुराय जी से काव्यशिक्षा ग्रहण की। इनकी रचना 'गुरु कवित्त माणिक्य मंजूषा' बतायी जाती है। इनका निधन संवत् १९४६ वि० में हो गया। रचना—

कानन राम रमे रमनी हित, कान्ह रमी जग को परनार है।
संभु हुए मत्त भुल्यौ जगजीवन, त्यों मुखचार जरा सो लचार है।
प्रेमनिध है फन्दे सब दोष में तारक ज्यों गुरु स्यों न उदार है।
छाड़ रे छाड़ इन्हें नर ध्याय ले, श्री गुरु नानक देव उतारि है॥

५२. **महाराजा फतैसिंह**—महाराज भागसिंह के अनन्तर महाराजा फतैसिंह कपूरथला के सिंहासन पर १८५८ वि० संवत् में विराजमान हुए। इनके आश्रित कवि फतैराम की चर्चा (५६) विगत प्रकरण में कर आये हैं। परन्तु महाराज स्वयं भी कविता किया करते थे, इसमें कोई संदेह नहीं। इनकी रची 'भावरत्न माला' उपलब्ध है, जो अलंकार-ग्रन्थ की स्थानपूर्ति करती है। भाषा सशक्त एवं परिमार्जित है। रचना:—

शीतल अमल सुधा मधुर सरस स्वच्छ
चित की तपन चितवत ही बिलात है।
फतै मृगराज कवि भनत सुवासवन्त
कर परसे तें सब गात सियरात है।

---

१. स्रोत—'पैप्सु का प्राचीन हिन्दी साहित्य' : श्यामशेरसिंह 'अशोक'; पृष्ठ ३२, ३४, ६० तथा ७०।

तरणि तनूजा तीर तरु तर ठाढ़ी तिय
तृषा सों विकल विखादित तेजबात है।
बार-बार अंजुलि भरत डारि डारि वारि
पान न करत यामें कहौ कौन बात है ॥१॥

तामरस दाम अभिराम पद्माकर में
रूप अवलोकि अकुलानी सकुचानी है।
फर्त मृगराज तिह काल चन्द्रिकन के
जाल में बिसाल बाल परी सरसानी है।
कीने सोक ओकन आलोक हिये कोकन के
दीरघ दिवाकर की दीपति बिलानी है।
सुषमा सदन दीजै अंबर वदन राधे
सवनि असंभव दिवस निस जानी है ॥२॥

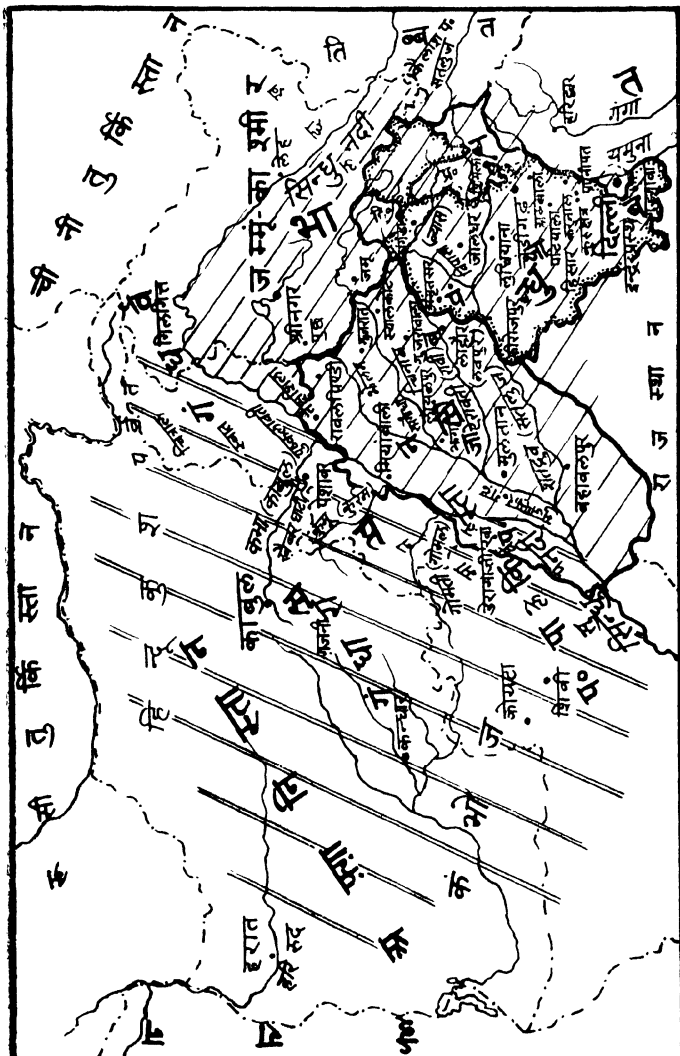
परिशिष्ट

मिश्रित काल के प्रतिनिधि तथा सामान्य कवियों के अतिरिक्त कुछ-एक कलाकारों का नाम-निर्देश पर्याप्त रहेगा। सम्भव है इससे अनुसंधाता जनों को इष्ट-लाभ हो जाय। इस सूची को अन्तिम रूप देने के लिए अभी खोज की अपेक्षा बनी हुई है, जो शनैः-शनैः पूर्ण होगी। अन्य कवियों की सूची इस प्रकार है—

सं०	कवि	रचना	रचना-काल	विषय	लिपि
१.	सुन्दरदास	वैराटपर्व	१६८१	महाभारत	गुरुमुखी
२.	भक्तराम	भक्तचिंतामणि	१८५५	जीवनी	देवनागरी
३.	मनोहरदास निरंजनी	वेदान्त महावाक्य	१७५०	वेदान्त	गुरुमुखी
४.	वृन्दावनदास	ब्रजराज प्रेमषोडशी	—	कृष्णचरित्र	गुरुमुखी
५.	अनाथ पुरी	विचारमाला	—	वेदान्त	,,
६.	अमरसिंह	समुच्चयशास्त्रसार	—	,,	,,
७.	सदानन्द	सिद्धान्तरहस्य	—	,,	,,
८.	गोविंदसिंह	भगवद्गीता	—	अनुवाद	,,
९.	महादेवानन्द	तत्त्व-अनुसंधान	—	वेदान्त	,,
१०.	दित्तसिंह	जन्म-साखी (१)	१९५१	जीवनी	,,
११.	शार्दूलसिंह	,, (३)	१९०१	,,	,,
१२.	सोधाकवि	अमृतसर-महिमा	—	स्तुति	,,
१३.	सोहनसिंह	गुरविलास	१९४२	जीवनी	,,
१४.	गुलाबसिंह	वपुत्याग (गु०५,९)	१९००	,,	,,
१५.	कृष्णदास कवि	दशम स्कन्ध	—	भागवत	,,
१६.	केसरसिंह	निर्वाण-प्रकरण	—	वेदान्त	,,
१७.	सुखदेव	अध्यात्मप्रकाश	१७५५	,,	,,
१८.	वलीराम	अद्वैतप्रकाश	१८००	,,	,,
१९.	अलख सनेही	नारद-विष्णु संवाद	१९०५	पुराणगाथा	,,
२०.	माडूदास	अनभैप्रकाश	१८०८	वेदान्त	,,

२१. सम्पूर्णसिंह	रस पुंज वारनिधि	१८६०	संग्रह	गुरुमुखी
२२. रामसिंह	सद्गुरु-वंश-वर्णन	१७२१	वंश-वर्णन	,,
२३. भगवानदास	अमृतधारा	१७८८	वेदान्त	,,
२४. जयमलसिंह	भागवत्	१६३४	कृष्ण-चरित्र	,,
२५. कविराम	सुनीतिप्रकाश	१६२०	लोकव्यवहार	,,
२६. सोभासिंह	गुरविलास	१६१५	जीवनी	,,
२७. फतैराम	गीतगोविंद	१६११	अनुवाद	,,
२८. गोपालसिंह	प्रबोध चन्द्रोदय	१८६६	,,	,,
२६. हरनामसिंह	आनन्दसागर	१६००	धर्म	,,
३०. धनैया राय	दारद जीत	१६१७	कथा	,,
३१. चन्द कवि	उद्योग-पर्व	१६१०	महाभारत	,,
३२. ज्ञानदास	काव्यविलास	१६२०	वेदान्त	,,
३३. रत्नसिंह बंगु	पंथप्रकाश	१६२३	सिख संस्कृति	,,
३४. कोइरसिंह	गुरविलास (१०)	१६०७	जीवनी	,,
३५. रसिक भानु	रसिकमंजरी	१६२०	रीति	,,
३६. हृदयराम	रसतरंगिणी	१६००	,,	नागरी
३७. हरदास	मंगलपच्चीसी	१६००	साहित्य	गुरुमुखी
३८. रामनारायण बन्ना	गुरुचन्द्रोदयकौमुदी	१६२०	,,	,,
३६. धर्मसिंह	भर्तृहरि	१६०४	कथा	,,
४०. ज्वालादास	अश्वमेध	—	महाभारत	,,
४१. प्रतापसिंह	राधागोविंद गीत	—	संगीत	,,
४२. हरिसिंह	अध्यात्मरामायण	—	अध्यात्म	,,
४३. सीताराम	अलकबत्तीसी	१६१०	साहित्य	,,
४४. रामनाथ	आदिपर्व	१८४०	महाभारत	,,
४५. खज़ानसिंह	जंगनामा दिल्ली	—	युद्ध-वर्णन	,,
४६. रामसुखराय	जस्सासिंहविनोद	१६००	अलंकार	,,
४७. रामसिंह	भक्तमाल	—	जीवनी	,,
४८. उज्ज्वलसिंह	आत्म-अनात्म-विवेक	१६१०	वेदान्त	,,
४६. लाल कवि	वृत्तचन्द्रिका	—	छन्द	,,
५०. मुंशीसिंह	फुटकर पद्य	१६३०	साहित्य	,,

(१) सप्तसिंधु से पंजाब तक



(पृष्ठ १७ के अनुसार)

(२) मुग़ल-आक्रमण

संख्या	ईसवी सन्	आक्रान्ता	स्थान	प्रतिरोधक	दिल्ली-सिंहासन	टिप्पणी
१	१२२१	चिंगिस खान	मुल्तान	नासिरुद्दीन कुबाचा	इल्तुतमिश	बिना युद्ध के वापसी
२	१२४१	बहादुर ताईर	लाहौर	कारागोस	बहरामशाह मुईजुद्दीन	पंजाब पर मुग़ल-अधिकार
३	१२४७	सली बहादुर	,,	अरसल्लाखाँ	नासिरुद्दीन महमूद	†
४	१२७६	इतमिर खाँ	मुल्तान	मुहम्मद	गयासुद्दीन बलबन	
५	१२८०	इतमिर खाँ	लाहौर	,,	,,	खुसरो का बन्दी होना
६	१२९१	अब्दुल्ला	,,	जलालुद्दीन	जलालुद्दीन खिलजी	मुग़लों का मुसलमान बनना*
७	१२९६	अमीर दाऊद	,,	अलिफ़ खाँ	,,	
८	१२९८	साल्दी खाँ	जालन्धर	जफर खाँ	अल्लाउद्दीन खिलजी	
९	१२९९	कुतुब ख्वाजा	मुल्तान	,,	,,	
१०	१३०३	तुर्गी	दिल्ली	अल्लाउद्दीन	,,	
११	१३०४	ख्वाजातास	लाहौर	तुग़ल खाँ	,,	
१२	१३०५	अली बेग	मुल्तान	गाज़ी बेग तुग़लक	,,	
१३	१३२६	तरिमाशरीन	,,	,,	मुहम्मद तुग़लक	
१४	१३२७	इकबालमंदा	दिल्ली	बहाउद्दीन	,,	
१५	१३९४	पीर मुहम्मद	उच्च	सारंगखाँ	नासिरुद्दीन महमूद तुग़लक	
१६	१३९९	तैमूर लंग	दिल्ली	मुबारक खाँ	,,	दिल्ली की प्रसिद्ध लूट
१७	१४२९	शेख अली खाँ	मुल्तान	सिकन्दर	सैयद मुबारकशाह	

स्थान	ईसवी सन्	आक्रान्ता	स्थान	प्रतिरोधक	दिल्ली-सिंहासन	टिप्पणी
१८	१४३२	शेख अली खाँ	लाहौर	सिकन्दर	सैयद मुबारकशाह	
१९	१५०८	अल्लाउद्दीन	,,	इब्राहीम	सिकन्दर लोधी	
२०	१५१९	बाबर	भेरा	,,	इब्राहीम लोधी	
२१	१५२०	,,	बरहाला	,,	,,	
२२	१५२४	,,	लाहौर	दौलतखाँ	,,	
२३	१५२५	,,	मुल्तान	,,	,,	
२४	१५२६	,,	पानीपत	इब्राहीम	,,	तुर्क-शासन का पतन

१. स्रोत ग्रन्थ :—

(क) दिल्ली-सल्तनत : आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : पृष्ठ ९४, १०९, २४५, ३४४, ३४६, ३४७

(ख) मध्य एसिया का इतिहास : राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ ४२३, (ग) पंजाब का इतिहास : धर्मवीर एम० ए०, पृष्ठ २३७, २३९, २४०। (घ) भारत का इतिहास : डॉ० ईश्वरीप्रसाद। (ङ) तुर्क-अफगानकालीन भारत : रतिभानुसिंह नाहर

† इस समय मुलतान-सिंध पर काइलूखाँ तथा लाहौर में उलगूखाँ का अधिकार था। दिल्ली के शासक ने इनसे संधि करके परस्पर राजदूत नियुक्त किये।

** अमीर खुसरो का जन्म १२५३ ई० सर्वसम्मत जैसा दीख पड़ता है; क्या बन्दीकाल में उसकी आयु २७ वर्ष की थी ?

* इस युद्ध से शिक्षा लेकर जलालुद्दीन ने अपनी पुत्री का विवाह चिंगिसखाँ के पोते ओगलूखाँ (या उलगूखाँ) से कर दिया; इस सम्बन्ध के कारण मुग़लों ने बौद्ध धर्म छोड़कर सामूहिक रूप से इस्लाम अंगीकार किया।

(पृष्ठ ५८ के अनुसार)

(३) ठक्कर-वंश

वैक्रम सम्वत् १००७ मे सिन्धु प्रदेश के ठट्ठा नगर में रायरतन तथा देवकी भाई के घर वरुण-अवतार श्री अमरलाल ने जन्म लिया। उस समय सिंध में मरिखशाह अरबशासक का राज्यपाल था और उसका पीर 'लालशाह बाज कलन्दर' था, जो हिन्दुओ पर अत्याचार करने के लिए उसे प्रेरित करता रहता था। 'अमर' के दो पुत्र हुए—बुद्धालाल और सोमा। अमरलाल के दो शिष्य हुए—पुगर और सोमा। पुगर ने बुद्धा को अपना शिष्य स्थापित किया और गुरुगद्दी घर मे ही रहने दी। यथा—

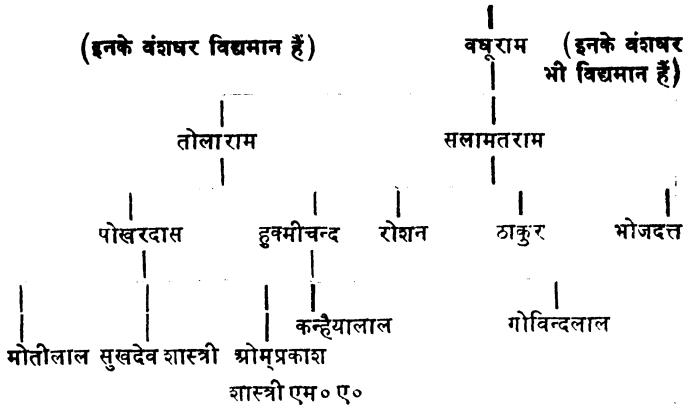
रायरतन
|
अमरलाल
|
(बुढई ठाकुर) बुद्धालाल — सोमा (सोमई ठाकुर)

(क) बुढई ठाकुरो के वशधर सिंध, गुजरात, बम्बई तथा अहमदाबाद मे जाकर रहे।

(ख) बुढई के वशधरो की दूसरी शाखा सीतपुर आकर बस गई।

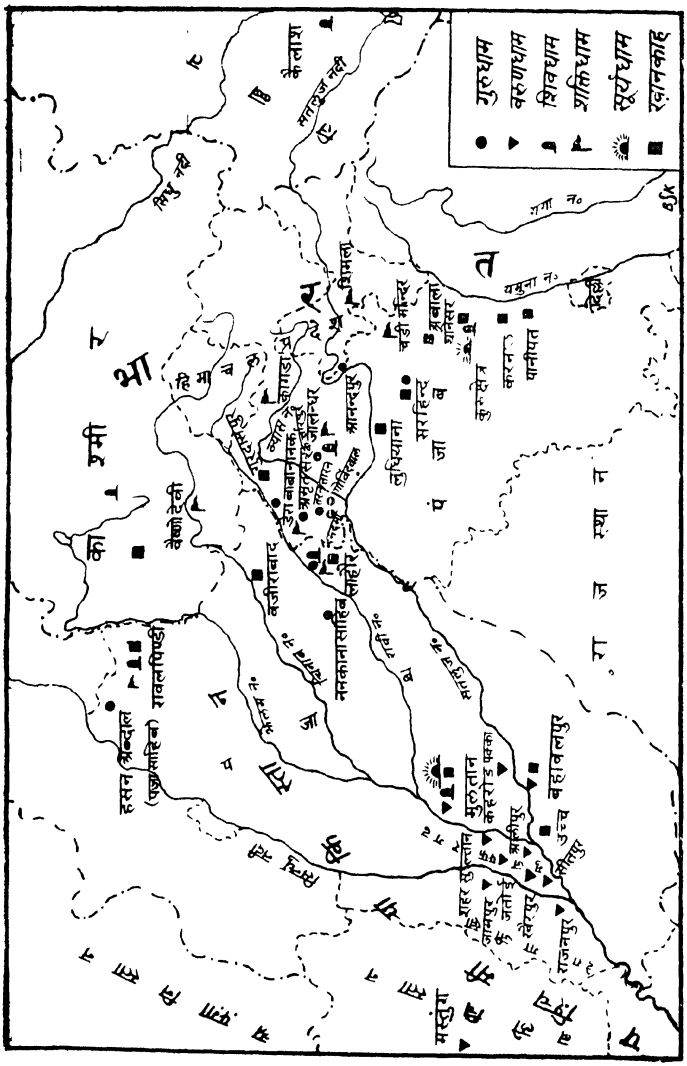
(ग) सोमई ठाकुर अलीपुर (जिला मुज़फ़्फ़रगढ में आकर रहे, जिसकी वर्तमान एक शाखा इस प्रकार है—

(अलीपुर-शाखा)
ठाकुर वल्लीराम
|
सुक्खूराम
|
रामदयाल
|
(·) थावरलाल — (१) मारुलाल
|
मोहन रूपलाल तेजभान रामलाल रत्नलाल कन्हैया
|


(इनके वंशधर विद्यमान हैं)
वधूराम
(इनके वंशधर भी विद्यमान हैं)
तोलाराम
सलामतराम
पोखरदास
हुक्मीचन्द
रोशन
ठाकुर
भोजदत्त
कन्हैयालाल
गोविन्दलाल
मोतीलाल
सुखदेव शास्त्री
ओम्प्रकाश शास्त्री एम० ए०

(पृष्ठ ६५ के अनुसार)

(४) पंजाब के धार्मिक स्थान



(पृष्ठ ७६ के अनुसार)

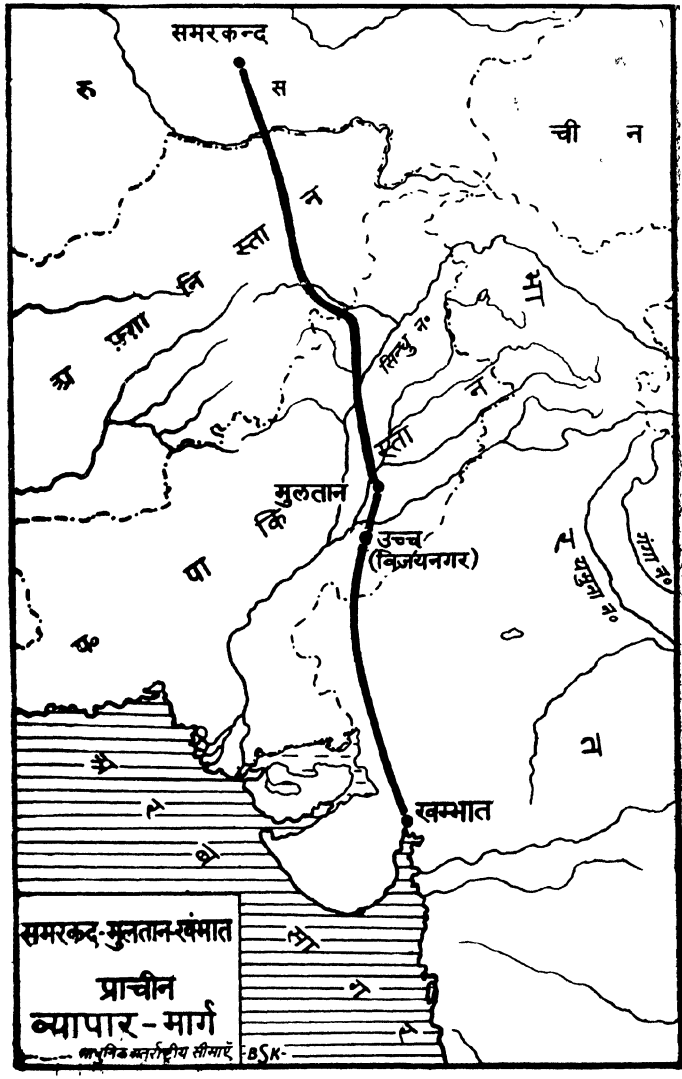
(५) खुसरो की जेलयात्रा

(१) "मुसलमानों के खून ने बहकर रेगिस्तान को रँगा।
जबकि मुसलमान बन्दी फूलों की माला की तरह गरदन से बँधे थे।
मैं भी पकड़ा गया और भय से मेरी नसों में खून बहने को एक रक्त-बिन्दु भी नहीं रह गया।
मैं पानी की तरह जहाँ-तहाँ दौड़ता फिरा।
धारा के ऊपर के बुलबुलों की तरह मेरे पैरों में असंख्य छाले थे।
अत्यन्त प्यास से मेरी जीभ जली और सूखी जाती थी।
और भोजन बिना मेरा पेट मानो लुप्त हो गया।
जाड़े के पत्रहीन वृक्ष या काँटों से छिले फूल की तरह
मुझे नगा बना कर छोड दिया।
मुझे पकडने वाला मंगोल घोडे पर बैठा था,
जैसे पहाड़ के सानु पर सिंह टहल रहा हो।
उसके मुंह और काँख से उबकाई लाने वाली गन्ध आ रही थी।
उसकी ठुड्डी पर झाड़ी की तरह या निम्न रोम की तरह दाढी लगी थी।
यदि कमजोरी से मैं जरा-सा पिछड़ जाता,
तो वह कभी अपने तस्मे और कभी अपने भाले से डराता।
मैं लम्बी साँस ले रहा था और सोचता था—
इस स्थिति से छुट्टी पाना असम्भव है
लेकिन अल्ला की मेहरबानी से मुझे छुट्टी मिल गई—
बिना छाती में बाण से बिंधे, या तलवार से टुकड़े हुए।"

(२) "यह घटना है या आकाश से बला आकर प्रकट हुई।
यह आफत है या प्रलय दुनिया में आकर जाहिर हुई।
आफत की बाढ़ के सामने दुनिया की जड़ उखड़ गई।
कष्ट जैसे इस साल हिन्दुस्तान में आकर प्रकट हुआ।
हवा से फूल-पत्तों की तरह मित्रमंडली बिखर गई।
मानो फुलवाड़ी में पत्तों का बिखराव आकर प्रकट हुआ।
बस, चारों ओर दुनिया की आँखों से पानी बह चला,
मुल्तान के अन्दर दूसरे पंज-आब आकर प्रकट हुए।

—मध्य एसिया का इतिहास : पृष्ठ ४८३-८४ : कसीदे का अनुवाद
(पृष्ठ ८६ के अनुसार)

(६) रासय का भूगोल



(पृष्ठ १०१ के अनुसार)

(७) विक्रमादित्य शालिवाहन

महाराजा शालिवाहन को विक्रमादित्य-परम्परा में तीसरा स्थान असंदिग्ध शब्दों में दिया जा सकता है। पहले महाराजा शूद्रक हुए, जिन्होंने भारत से शकों को निकाल कर 'शकारि विक्रमादित्य' की पदवी धारण की और इसी स्मृति में 'विक्रमी संवत्' की स्थापना की।[1] दूसरे महाराजा विषमशील हुए, जिन्होंने शकों को परास्त कर 'विक्रमादित्य' पद स्वीकार किया और 'मालव-संवत्' की स्थापना की। यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि उक्त 'विषमशील' गर्दभिल्ल के वंशधर है। यही 'मालवसंवत्' आगे चलकर 'कृत्संवत्' और बाद में 'विक्रमीसंवत्' नाम से प्रप्रिद्ध हुआ और आज तक इसी रूप में चला आ रहा है।[2] तीसरा स्थान महाराज शालिवाहन को दिया जा रहा है, जिन्होंने पल्लवों (शकों) को भारत से खदेड़ दिया और इसी उपलक्ष्य और परम्परा मे 'विक्रमादित्य' की पदवी ली और संवत् भी चलाया।[3] यद्यपि विक्रमादित्य-परम्परा इससे आगे भी चलती है, तथापि शीर्षक को देखकर औचित्य इसी में है कि निबन्ध को इन तीन 'विक्रमादित्यों' तक सीमित रखा जाय। शूद्रक, विषमशील और शालिवाहन में निम्नलिखित बातों का अद्भुत साम्य है, यथा—

(१) तीनों महाराजाओं को शकों से जूझना पड़ा;

(२) तीनों ने 'विक्रमादित्य' की पदवी ली;

(३) तीनों ने अपने-अपने स्थान पर संवत् चलाया; और

(४) तीनों उज्जयिनी के शासक थे।

यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि शूद्रक तथा शालिवाहन जन्मना ब्राह्मण थे और मालव-गणपति विषमशील राजन्य थे। इनके संवतों को अलग-अलग करके पहले लिख आये हैं।[4] परन्तु 'विक्रमादित्य शालिवाहन' का संवत् किसी शिलालेख में उपलब्ध नहीं है, किसी मुद्रा पर भी उसकी छाप नहीं है, किसी गणक ने उसका पर्याप्त स्पष्ट उल्लेख नहीं किया। अलबत्ता वह जनश्रुति में 'शाके', 'शालिवाहन', 'विक्रमशाकाब्द' आदि रूपों में जीवित है।

---

१. (क) वत्सरं स्वं शकान् जित्वा प्रावर्तयत वैक्रमम्।
(ख) बाणवेदनवचंद्रवर्जिताः तेऽपि शूद्रकसमाः प्रकीर्तिताः।

२. (क) मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये···। (ख) श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते।

३. द्रष्टव्य, इसी ग्रंथ का पृष्ठ १२५, टिप्पणी (१)

४. द्रष्टव्य, इसी ग्रंथ का पृष्ठ ११२, पंक्ति २१

यहाँ ये प्रश्न उठने स्वाभाविक है कि शालिवाहन कौन है ? उसका राज्य कहाँ था ? कब उसने शकों को परास्त किया ? क्या कहीं 'शक संवत्' का अस्तित्व है भी ? आइये, इन प्रश्नों का समाधान खोजें।

शालिवाहन कौन था ?

विक्रमादित्य जन्मना ब्राह्मण था। केवल इसी नाते से इसे गर्दभिल्लीय विषमशील विक्रमादित्य से पृथक् ठहराया जाता है। बहुत-से इतिहासकारों ने भ्रमवश ब्राह्मण-जन्मा शालिवाहन को सात-वाहनों से भिड़ा दिया है। लक्ष्य करने की बात यह है कि 'सातवाहन' भी एक प्रसिद्ध ब्राह्मण-कुल है। इसी भ्रम में आकर हालकवि-कृत 'गाथासप्तशती' की टीका करते हुए किसी ने लिखा है—'हाल कवि शालिवाहन था।'[1] अलबत्ता दोनों को सम-सामयिक मान कर उनमें अभिन्नता का भ्रम हो जाना सहज ही है। वरना हालकवि की तथा विक्रमादित्य की प्रकृतिगत भिन्नता का उल्लेख बड़े ज़ोरदार शब्दों मे किया जाता है।[2] कुछ ऐसी भी जनश्रुति पायी जाती है कि शालिवाहन-कुल का (जिसे वास्तव मे नाग-कुल कहना अधिक युक्ति-युक्त प्रतीत होता है) सातवाहन-वंश से रक्त-संबंध था। शालिवाहन के साथ 'सातवाहन-वंश' के संबंधों की चर्चा करते हुए किसी लेखक ने लिखा है :

परन्तु इन नागों के दौहित्र पुरिका के राजा सिमुक ने इनकी परम्परा को यशस्वी बनाया। डा० रायचौधुरी ने इसी 'सिमुक' या 'शिशुक' को सातवाहन-वंश के राज्य का संस्थापक माना है। वे सिमुक को ब्राह्मण और नाग-रक्त के संमिश्रण से उत्पन्न मानते हैं; जिसका प्रमाण 'द्वात्रिंशका' की वह कथा है, जो हमने आगे उद्धृत की है। इसमें शालिवाहन को शेषनाग का पुत्र कहा गया है। वह नागपुत्र अथवा पुराणों के अनुसार नागदौहित्र था। नागों के वंश के संबंध में हम पहले प्रकट कर चुके हैं। अतएव वह मातृकुल और पितृ-कुल दोनों से ही विशुद्ध ब्राह्मण-वंश का था। सातवाहन-शिलालेख तो इस वंश को ब्राह्मण-वंश लिखते हैं।[3] स्पष्ट हो कि 'सातवाहन' दक्षिण के ब्राह्मण-वंश का नाम है, जिसका प्रवर्तक सिमुक था और उसी का उपनाम 'सातवाहन' भी था। 'शालिवाहन' न तो किसी कुल-विशेष का नाम है और न ही सातवाहन-वंशीय किसी व्यक्ति-विशेष का नाम है। महाराजा विक्रमादित्य शालिवाहन नागवंश

१ हालः आढ्यराजः। आढ्यराजः शालिवाहनः।

२. कालेऽसाइमांकस्य के न संस्कृतवादिनः।

३. मध्यभारत का इतिहास : प्रथम खण्ड, पृष्ठ १८१ और ३८२

से थे—यह अनेक पुष्ट-अपुष्ट प्रमाणों से ज्ञात हो रहा है। नाग-वंश तथा सातवाहन वंश में परस्पर वैवाहिक संबध भी होते रहते थे—ऐसा इतिहास-कारो का अभिमत है। पर, विक्रमादित्य शालिवाहन ने किस सातवाहन-वंश-घर को कब कन्या अथवा भगिनी दी या ली—ऐसा किसी भी सूत्र से स्पष्टतया ज्ञात नही हो रहा। जिस सिमुक या शिशुक को नाग-दौहित्र बताया जा रहा है, उसे भी सीधा विक्रमादित्य से संबंधित नहीं बताया जा सकता। कारण, सिमुक तथा विक्रमादित्य शालिवाहन में पर्याप्त काल का अन्तराल विद्यमान है :

(१) सिमुक २०५-१८२ ईसा-पूर्व

(२) शालिवाहन ५७ ईसा-पूर्व से ३३ ईसवी तक[1]। इस अन्तराल को पाट सकना किसी भी अवस्था में संभव नहीं है। अलबत्ता विक्रमादित्य शालिवाहन के किसी अति पूर्व पुरुष (नाग) के दौहित्र के स्थान पर सिमुक को बैठाया जा सकता है, अथवा शालिवाहन को सातकर्णी, पुलमाव, कृष्ण, हाल या पत्तलक—इनमें से किसी एक का सबंधी बताया जा सकता है। ये पाँच राजा सातवाहन तो है, कोई शालिवाहन नहीं। डा० जायसवाल ने शातकर्णी का समय ४४ ई०-पूर्व रखा है और हाल-पत्तलक का समय २१-२६ ईसवी माना है।[2] लोकवार्ता के अनुसार गर्दभिल्लीय विक्रमादित्य के समय शालिवाहन बालक था और उसने अपने अपूर्व बुद्धिबल से, विषमशील को श्री-हीन कर दिया था। तभी से शालिवाहन तथा विक्रमादित्य में ठन गई थी। इससे इतना ज्ञात होता है कि ५७ ई० पू० शालिवाहन का अस्तित्व था। दूसरे हाल कवि ने विक्रमादित्य की प्रशस्ति मे एक गाथा कही है। यह भी एक प्रमाण हुआ कि वह हाल के समय जीवित था। इस तरह शालिवाहन विक्रमादित्य के समय मे 'सातवाहन' वंश के पाँच राजा हुए, जिनके साथ शालिवाहन के संबंध की कल्पना की जा रही है। इतना स्पष्ट हो जाने पर भी न जाने क्यों शालिवाहन को सातवाहन-वंश में अन्तर्भुक्त किया जा रहा है।

निष्कर्ष यह है कि शालिवाहन-विषयक सभी भ्रान्तियों को छिन्न-भिन्न करके उसे सातवाहन-वंश से पृथक् एवं स्वतन्त्र अस्तित्व देने की आवश्यकता है। इस प्रसंग मे भिड़ाये जा रहे सभी अनुमान निराधार सिद्ध हो सकते हैं।

१. मध्यभारत का इतिहास : प्रथम खंड, पृष्ठ ४५४

२. उपर्युक्त

शालिवाहन का राज्य कहाँ था ?

यह प्रश्न भी कम उलझा हुआ नहीं है। सातवाहन-वंश तथा शालिवाहन को अभिन्न मानने वाले इसे दक्षिण का राजा बता रहे हैं। पर दौहित्र के नाते सातवाहनों का मातृकुल (यदि सचमुच वे शालिवाहन के दौहित्र हैं) कहीं दूरवर्ती ही होना चाहिए—ऐसा हिन्दू-परम्परा के अनुसार सोचा जा सकता है। विक्रमादित्य शालिवाहन को शाक द्वीप[1], अर्थात् अफ़गानिस्तान और सीस्तान-सहित सप्तसिंधु प्रदेश, का राजा सिद्ध किया जा सकता है। कारण, शालिवाहन के साथ 'शक', 'शाक', 'शाकाब्द' विशेषण के रूप में जोड़े जाते हैं।[2] पाणिनि के सूत्रानुसार शालिवाहन के पूर्वपुरुष 'शाक-प्रिय' अथवा 'शाक-प्रधान' पार्थिव माने जाते होंगे—ऐसा अनुमान करने का अवकाश मिल जाता है।[3] परिणामतः शक-द्वीप के आर्य सम्राट् को 'विक्रमादित्य' मान लेने में कोई दिक्कत नहीं। शालिवाहन की राजधानी तक्षशिला तथा काबुल के मध्य, किसी नगर में थी। शालिवाहन के वंशधर[4] पौने चार सौ वर्ष निरन्तर शासन पर टिके रहे। काश्मीर के राजा प्रतापादित्य को इसी का वंशधर माना जा रहा है।[5] साहसांक, शकारि, हर्षापराभिधान नामक विक्रमादित्य भी इसी शालिवाहन का उत्तरवर्ती वंशधर है।[6] यदि हमारे अनुमान को चुनौती नहीं दी जा रही तो कहना असंगत न होगा, जहाँ विक्रमपाल से शालिवाहन-वंश की शृंखला टूटती है, उसे कई शताब्दी बाद में लल्लिय पुनः जोड़ता है।

---

१. "पुराण-मतानुसार सात द्वीपों में एक द्वीप। ईरान तथा तुर्किस्तान के बीच में पड़ने वाला वह प्रदेश, जिसमें आर्य और शक बसते थे।" (संक्षिप्त 'हिन्दी शब्द-सागर' : पंचम संस्करण, पृष्ठ ११६०)

२. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर : पंचम संस्करण, पृष्ठ १०९८

३. शाकपार्थिवादीनामुपसंख्यानम्। —अष्टाध्यायी २।१।६०

४. समुद्रपाल, चन्द्रपाल, सहायपाल, देवपाल, नृसिंहपाल, सोमपाल, रघुपाल, गोविंदपाल, अमृतपाल, बलीपाल, महीपाल, हरिपाल, भीमपाल, मदनपाल, कर्मपाल, विक्रमपाल।

—टाड का राजस्थान, भूमिका, पृष्ठ २३

५. अथ प्रतापादित्यास्य तैरानीय दिगन्तरात्। विक्रमादित्य भूभर्तुः ज्ञातिरत्राभिषिच्यत॥

६. तत्रानेहस्युज्जयिन्यां श्रीमान् हर्षापराभिधः।
एकच्छत्रः चक्रवर्ती विक्रमादित्य इत्यभूत॥ १२५
म्लेच्छोच्छादाय वसुधा हरेरवतरिष्यः॥
शकान् विनाश्य येनादौ कायभारो लघुकृतः॥ १२८

इतिहास के अनुसार ये शाही वंश के राजा भी ब्राह्मण ही थे। इस विषय पर अधिक भरोसा करना अधिकाधिक शोध पर निर्भर करता है। इस्लाम के उदय से शक जाति ने धर्म-परिवर्तन कर लिया और ब्राह्मण-राज्य काबुल से उखड़ कर पंजाब में आकर प्रतिष्ठित हुआ था— यहाँ सभी इतिहासकारों का मतैक्य है। यहाँ लक्ष्य करने की एक बात रह जाती है कि विक्रमपाल तथा लल्लिय के मध्य विशृंखल काल में किसी शक (धर्मतः बौद्ध) राजा का काबुल पर शासन प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनसांग की यात्रा-गाथा में अंकित है। फलतः शकों तथा शाही राजाओं में उखाड़-पछाड़ का सिलसिला चल ही रहा था कि जिसका अंतिम पट-परिवर्तन शकों की इस्लाम स्वीकृति तथा जयपाल के पतन के साथ जुड़ी हुई है। निष्कर्ष यह कि विक्रमादित्य शालिवाहन का शासन कभी शाक-द्वीप (राजधानी काबुल) में था। इससे शालिवाहन को 'शाक' कहने की तुक भी अर्थरहित नहीं है।

क्या शालिवाहन ने शकों को परास्त किया था ?

इस प्रश्न का उत्तर अत्यन्त स्पष्ट एवं विश्रुत है। खंडखाद्यक के टीकाकार अमराज ने लिखा है—

शका नाम म्लेच्छजातयो राजानः यस्मिन् काले विक्रमादित्यदेवेन व्यापादिताः, स शकसम्बन्धी कालः शाक इत्युच्यते।

ठीक इसी से मिलती-जुलती बात वराहमिहिर-प्रणीत 'बृहत् संहिता' की टीका में उत्पलभट्ट ने कही है :

शका नाम म्लेच्छजातयो राजानः यस्मिन् काले विक्रमादित्यदेवेन व्यापादिताः स कालो लोके शक इति प्रसिद्धः।[1]

इस प्रकार विक्रमादित्य (देव) ने शकों को परास्त किया था। पहली बार राजा शूद्रक ने शकों को परास्त किया था। दूसरी बार कालकाचार्य के आह्वान पर मोग ने मालवेश गन्धर्वसेन पर आक्रमण किया था और उस वंश को उज्जयिनी छोड़ने को विवश कर दिया था, समय पाकर मालवगणेश्वर विषमशील ने न केवल अपना राज्य लौटा लिया, बल्कि शकों को सिंधु-पार तक खदेड़ दिया था, और इसी उपलक्ष्य में 'मालव-संवत्' की स्थापना की। शक का तीसरा आक्रमण ईसा के पचास वर्ष पश्चात् हुआ था। शक-वंश ने भारत पर इस प्रकार राज्य किया—

---

१. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास : भगवद्दत्त : पृष्ठ १५७

१. विमकदफिस (७४ ई०), २. कनिष्क (७४—१०१ ई०), ३. वासिस्क (१०१—१०६), ४. कनिष्क (१०७—११६ ई०), ५. हुविष्क (१२०—१५२), ६. वासुदेव (१५२—१८६ ई०) तथा पिरा।[1]

शकों का यह राज्य सहसा उच्छिन्न नहीं हो गया था। यह चौथी सदी के अन्त तक जैसे-तैसे बना रहा। विक्रमादित्य शालिवाहन का इन शकों से समर करना कुछ असम्भव जैसा है। शक बराबर दो सौ वर्षों तक शासन करते रहे। अतः शालिवाहन द्वारा शकों से समर कर उन्हें परास्त करना और संवत् चलाना—ये सब बातें इस अन्तराल में सम्भव नहीं है। अलबत्ता, मोग के बाद और विमकदफिस से पहले-पहले पल्लवों ने तक्षशिला पर शासन किया था, जिसकी शासन-सूची इस प्रकार है—

१. बोनान (७-१६ ई०), २. स्पलहोर, ३. स्पलरिश (१५ ई०),
४. स्पलकदम, ५. अय (१६-१७ ई०) ६. अयलिस (१७-१८ ई०),
७. गुदफर (२५ ई०)[2]

अय और अयलिस के सिक्के पंजाब में बहुतायत में पाये गए हैं। क्या इस अनुमान के लिए गुंजायश नहीं रह जाती कि गुंदफर को तक्षशिला से उखाड़कर पीछे खदेड़ने वाले शालिवाहन ने अपना खोया हुआ शासन पुनः प्राप्त किया हो? और इसी उपलक्ष्य में 'विक्रमादित्य' की पदवी धारण की हो? अलबेरूनी के कथन से इस अनुमान को पुष्टि मिल जाती है कि "पूर्व से विक्रमादित्य ने आकर मुलतान और लोनी[3] दुर्ग के मध्यवर्ती करूर नामक[4] प्रदेश में शकों को पराजित किया।"[5] यह विक्रमादित्य शालिवाहन के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं। इस मुलतान-युद्ध के साथ विषमशील विक्रमादित्य अथवा शूद्रकदेव विक्रमादित्य का सम्बन्ध जोड़ना ज़रा जटिल हो जाएगा। अतः पंजाब में चले आ रहे 'यवनजातिनिर्बीजक' रूप जनश्रुति-वाक्य को निराधार कहना ठीक न होगा। और मजे की बात यह है कि प्रसिद्ध इतिहासकार कल्हण शालिवाहन को 'विक्रमादित्य' नाम से स्मरण करता है और उसे शकारि (विषमशील) से पृथक् और उत्तरवर्ती स्थान देता है:

---

१. मध्य एसिया का इतिहास: राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ १८२
२. मध्य एसिया का इतिहास: राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ १९२
३. वर्तमान लोधरां (लवधरा) तहसील
४. वर्तमान कहरोड़ पक्का।
५. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास: भगवद्दत्त, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३३९

शकारि विक्रमादित्यः इति स भ्रममाश्रितः।
अन्यैरत्रान्यथालेखि विसंवादि कदर्थितम् ॥[1]

अतः यह निर्विवाद है कि महाराजा शूद्रक एवं विषमशील की सुष्ठु परम्परा का पालन करने वाले 'शालिवाहन' को सच्चे अर्थों में 'विक्रमादित्य' होनी ही चाहिए।

क्या शालिवाहन-सवत् भी है ?

शालिवाहन को सातवाहन-वंश से पृथक् समझ लेने पर, उसे शाकद्वीपीय मान लेने पर पह्लवों के विजेता के रूप मे 'शकारि परम्परा' में प्रतिष्ठित करने पर, यह तो विवादातीत बात हो गई है कि जो व्यक्ति उज्जयनीपति और शूद्रकदेव की स्मरणीय परम्परा का पालन कर रहा है, उसने कोई-न-कोई संवत् भी अवश्य चलाया होगा। वर्तमान शक-सवत् (१८८३) को शालिवाहन-संवत् माना जा रहा है, जो कि हमारी नम्र सम्मति मे अशुद्ध है। जैन मुनि की—

ततो वर्षशते पंचत्रिंशतः सन्धिके पुनः।
तस्य राज्ञोऽन्वयं हत्वा वत्सरः स्थपितः शकैः ॥[2]

इस उक्ति पर इस शकाब्द को शालिवाहन से जोड दिया गया है। इस पर कई आपत्तियाँ उठायी जा रही है। यथा—

(क) गर्दभिल्लीय वंश पर आक्रमण करने वाले ये शक कौन है ? यदि ये 'शक' प्रादेशिक अभिधान के कारण 'शालिवाहन' या उसके वंशधर हैं, तो यह भारतीय सस्कृति पर बडा भारी धब्बा है कि भारतीय राजाओं को परास्त कर संवत् की स्थापना की जाय। इससे पूर्व कभी ऐसा नहीं हुआ। अतः यह जैन-भणिति एकदम निराधार और असांस्कृतिक है। यदि ये 'शक' शालिवाहन से भिन्न है, तो हमारा कहना भी यही है कि प्रचलित शक-संवत् शालिवाहन-सवत् से सर्वथा भिन्न और भ्रम पर आश्रित है।

(ख) यदि उज्जयनीपति को परास्त करने वाले शक कनिष्कादि है, तो उसका इतिहास द्वारा समर्थन वांछनीय हो सकता है, जो हमे नहीं मिल रहा।[3]

---

१. राजतरंगिणी, अध्याय २, श्लोक ६
२. विक्रमादित्य : राजबली पाण्डेय, पृष्ठ ३१, टिप्पणी
३. (क) मध्यभारत का इतिहास : प्रथम भाग, पृष्ठ ४११
(ख) भारत का इतिहास : ईश्वरीप्रसाद, पृष्ठ १२८

अपनी राय में 'शालिवाहन सवत्' का वास्तविक नाम 'विक्रमशाकाब्द' ही होना चाहिए। 'विक्रम' से विक्रमादित्य की ध्वनि मिल जाती है। और 'शाक' से उसके शाकद्वीपीय होने की अभिव्यक्ति मिल जाती है। यहाँ अनुमान किया जा रहा है कि 'विक्रमशाकाब्द' का अंग-भंग हो गया है और 'विक्रम' शब्द 'मालव-कृत्' संवत् पर चरितार्थ हो गया है और 'शाक' किसी कल्पित संवत् पर जा टिका है। इस गड़बड़ को कल्हण जानते थे।[1] और किसी शक-वंशधर 'सोमपाल' ने इस भ्रमान्धकार को ध्वस्त करने के लिए अनुसन्धान एवं निर्णय कराया था और विक्रम संवत् से ९० वर्ष की दूरी पर शालिवाहन-संवत् की स्थापना की थी।[2] परन्तु खेद है कि रूढ़िवश आज भी शक-संवत् शालिवाहन-संवत् माना जा रहा है।[3]

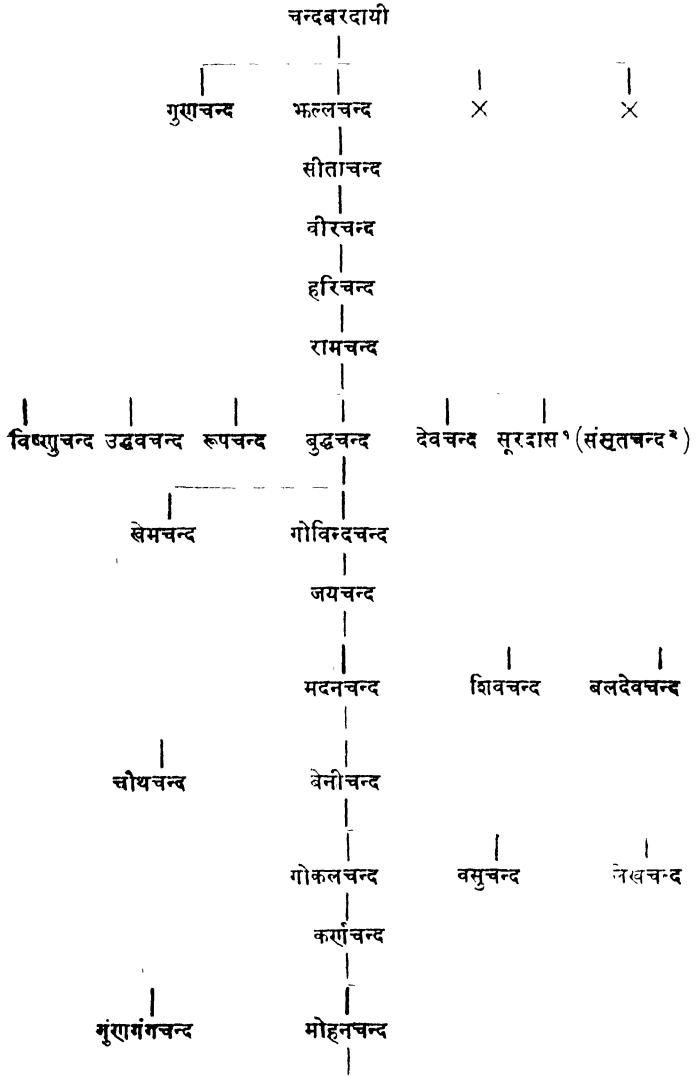
(पृष्ठ १०६ के अनुसार)

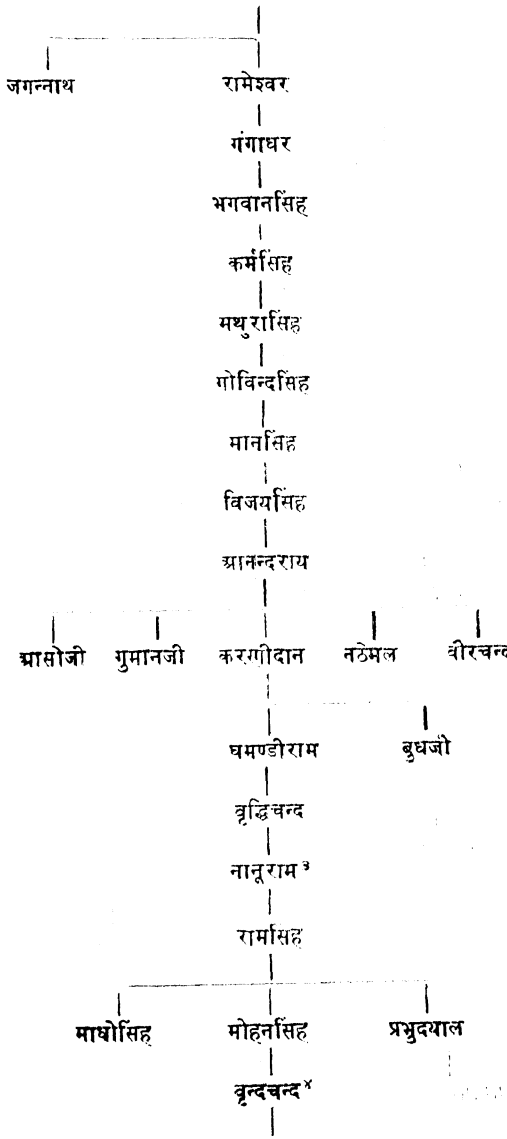
१. अन्यैरत्रान्यथाऽलेखि विसंवादिकदर्थितम्।

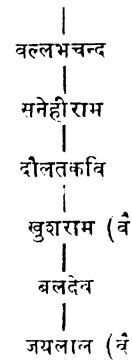
२. (क) शालिवाहननिर्णीतशकवर्षक्रमागते।
(ख) परिशोधितसिद्धान्ता अब्दास्युर्भूवसूक्षा इमे॥

३. दैनिक 'हिन्दुस्तान', २८ शक १८८२ (रविवारीय, प्रभात-संस्करण, पृष्ठ १०)

(८) चन्दवंशावली


चन्दबरदायी
गुणचन्द
झल्लचन्द
×
×
सीताचन्द
वीरचन्द
हरिचन्द
रामचन्द
विष्णुचन्द
उद्धवचन्द
रूपचन्द
बुद्धचन्द
देवचन्द
सूरदास[1]
(संसृतचन्द[2])
खेमचन्द
गोविन्दचन्द
जयचन्द
मदनचन्द
शिवचन्द
बलदेवचन्द
चौथचन्द
वेनीचन्द
गोकलचन्द
वसुचन्द
लेखचन्द
कर्णचन्द
गुणगंगचन्द
मोहनचन्द


जगन्नाथ
रामेश्वर
गंगाधर
भगवानसिंह
कर्मसिंह
मथुरासिंह
गोविन्दसिंह
मानसिंह
विजयसिंह
आनन्दराय
आसोजी
गुमानजी
करणीदान
नठेमल
वीरचन्द
घमण्डीराम
बुधजी
वृद्धिचन्द
नानूराम[३]
रामसिंह
माधोसिंह
मोहनसिंह
प्रभुदयाल
वृन्दचन्द[४]



१. सूरदास (सूरजदास) बरदायी वंशज रामचन्द (अथवा रामदास) के पुत्र हैं अतः सारस्वत-वंशधर सूरदास से इन्हें अभिन्न मानने में भूल हो सकती है।

(ख) सूरदास का नाम सूरजदास अन्तःसाक्ष्य से सिद्ध है :

"भयो मष्तो नाक सूरजचन्द मन्द निकाम।"

अतः 'साहित्यलहिरी' को सूरदास की कृति मानने में अनेक आपत्तियाँ हैं।

२. संसृतचन्द' का उल्लेख 'साहित्यलहरी' में तो है, परन्तु 'चन्दवंशावली' में (चन्द बरदायी : पृष्ठ १९-२१, हिन्दी-साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल : छठा संस्करण : पृष्ठ ३९-४०) इसका उल्लेख नहीं है।

३. आचार्य शुक्ल ने नानूराम तक वंशावली उद्धृत की है, तदनन्तर विपिनविहारी त्रिपाठी ने अंकित की है।

४. प्रसिद्ध नीतिकार वृन्द कवि का पूरा वंशवृक्ष नहीं मिलता, तथापि कतिपय अन्तःसाक्ष्यों से उसका बरदायीवंशधर होना प्रमाणित होता है :

"तहँ बरदायीविप्रकुल भए वृन्द कविराज"

"कविकुलभूषण सुभूषन सभा के वृन्द भए बरदाई तै प्रसिद्ध जग नाम है।"

सम्मेलन-पत्रिका : भाग ४४—संख्या १। शाके १८७९

(पृष्ठ १११ के अनुसार)

(६) तिथिसारिणी

वैक्रम सम्वत्, हिजरी तथा ईसवी सन् का तुलनात्मक चित्र

विक्रमी	हिजरी	ईसवी	विक्रमी	हिजरी	ईसवी
६७६	१. मुहर्रम	२२ जून ६२२	१४६१	८४२	१४३८
६६५	१८	६३८	१५२८	८७६	१४७१
७२८	५२	६७१	१५६१	६१०	१५०४
७६१	८६	७०४	१५६५	६४५	१५३८
७६५	१२१	७३८	१६२८	६७६	१५७१
८२८	१५५	७७१	१६६१	१०१३	१६०४
८६१	१८६	८०४	१६६५	१०४८	१६३८
८६५	२२४	८३८	१७२८	१०८२	१६७१
६२८	२५८	८७१	१७६१	१११७	१७०४
६६१	२६२	६०४	१७६५	११५२	१७३८
६६५	३२७	६३८	१८२८	११८६	१७७१
१०२८	३६१	६७१	१८६१	१२२०	१८०४
१०६१	३६५	१००४	१८६५	१२५५	१८३८
१०६५	४३०	१०३८	१६२८	१२८६	१८७१
११२८	४६४	१०७१	१६६१	१३२३	१६०४
११६१	४६८	११०४	१६६५	१३५८	१६३८
११६५	५३३	११३८	२००५	१३६८	(दस) १६४८
१२२८	५६७	११७१	२०१५	१३७८	(,,) १६५८
१२६१	६०१	१२०४	२०१६	१३७६	(एक) १६५६
१३२०	६६२	१२६३	२०१७	१३८०	(,,) १६६०
१३२८	६७०	१२७१	२०१८	१३८१	(,,) १६६१
१३६१	७०४	१३०४	२०२८	१३६२	(दस) १६७१
१३६५	७३६	१३३८	२०६१	१४२६	२००४
१४२८	७७३	१३७१	—	—	—
१४६१	८०७	१४०४	—	—	—

*रसूल मुहम्मद संवत् ६६२ तथा श्री नृप विक्रम संवत् १३२० इत्यादि।
—भारतवर्ष का बृहद् इतिहास : भगवद्दत्त, पृष्ठ १७६

(१) हिजरी सन् ३२२ में आरम्भ होना सर्वसम्मत है; परन्तु पहली तिथि २२ जून की है, या २ जुलाई की, अथवा १३ जुलाई की—इस पर मतभेद विद्यमान है।

(२) *पहले के सोलह वर्षों में छह मास का अन्तराल भर जाता है, अतः ईसवी सन् १८ से एक वर्ष का अन्तर बढ़ जाता है।

(३) हिजरी सन् के महीने इस प्रकार से है—मुहर्रम (३०) सफर (२९), रविउलावल (३०), रवि उलाखर (२९), जमादि उलावल (३०), जमादि उलाखर (२९), रज्जब (३०), शाबान (२९), रमज़ान (३०), शाबाल (२९), जिल्काद (३०), जिल्हिज़ (२९)। वर्ष भर के दिन ६५४ दिन होते हैं। महीनों की तिथियाँ निश्चित न होने पर भी वर्ष के दिन पूरे हो जाते हैं।

(४) ग्यारह दिन का अन्तर दस वर्षों में १०७ अथवा १०८ दिन बढ़ जाता है और सौ साल में १०७५ दिनों का अन्तर बढ़ जाता है। हिजरी साल के तीन वष बढ़ जाने पर भी १३ दिन शेष रह जाते है।

(५) ये बच रहे १३ दिन दस शताब्दी में पुनः छह महीनों की पूर्ति करते है तथा १११७ हिजरी में वैसे ही एक वर्ष की क्षतिपूर्ति करते है, जैसे आरंभिक सोलह वर्षों में एक वर्ष बढ़ गया था।

(६) पहली मुहर्रम का दिन निश्चित न होने पर निश्चित तिथि-पत्र बना सकना कठिन है।

(७) ईसवी सन् में से ३ वर्ष प्रतिशतक कम करने से, दोनों वर्ष एक-दूसरे के समानान्तर पर आ जाते हैं। हिजरी सन् १११७ से पहले एक वर्ष अधिक गिनने से और बाद में दो वर्ष अधिक गिनने से संख्या सही रहती है। यथा—

ईसवी सन् १६०४	हिजरी सन् १०१३
−६२२	−१+३०
९८२	९८२
+१+३०	+६२२
१०१३	१६०४

(८) ईसवी-सन् में ५७ जोड़ करने पर विक्रम-संवत् बन जाता है।

(९) हिजरी-सन् और विक्रमी संवत् के सौ साल में सैंतीस महीनों का अन्तर है। १२ सौ वर्षों में एक वर्ष की वृद्धि और अधिक हो जाती है।

(१०) तुलना में एक वर्ष का अन्तर पड़ना गणनासिद्ध है।

(पृष्ठ ११८ पर द्रष्टव्य)

(१०) फरीद-वंश

शेख-उल्-इस्लाम फरीदुद्दीन शकरगंज की वंशावली दी जा रही है। उनके हिजरी सन् के विषय में मतभेद पाया जाता है, वह भी यहां उद्धृत है। दीवान कुतुबुद्दीन को पाकिस्तान शासन ने पृथक् कर दिया[1] है :

(i)	संख्या	नाम	हिजरी	ईसवी	हिजरी[2]	ईसवी
बदरुद्दीन[3]	१	बदरुद्दीन	६५६	१२६१	६६४	१२६५
मुहम्मद इमाम	२	अल्लाउद्दीन	७२०	१३२१	६६८	१२६६
सैयद दाऊद	३	मुईजुद्दीन	७४६	१३४६	७२२	१३२२
इल्मुद्दीन	४	फज़लुद्दीन	७५६	१३५६	७३८	१३३७
सैयद हुसेन	५	मुनव्वरशाह	८०६	१४०४	७५५	१३५४
मुबारक	६	नूरुद्दीन	८२४	१४२२	८०५	१४०२
मुहम्मद	७	बहावलुद्दीन	८४२	१४३६	८२३	१४२०

(ii)	संख्या	नाम	हिजरी	ईसवी	हिजरी	ईसवी
सैयद ख्वाजा	८	दीवान यूनस	८५६	१४५३	८५५	१४५१
जलालुद्दीन	६	अहमद शाह	— —	— —	८७६	१४७४
अयूब	१०	अला उल्लाह	८६५	१४६२	६०१	१४६५
अबू मुहम्मद	११	शेख मुहम्मद	६१७	१५१२	६१८	१५१२
इनायतुल्ला	१२	ईब्राहीम (दीवान)	६५६	१५५३	६४०	१५३३
दीवान अब्दुल्ला	१३	ताजुद्दीन	१०२२	१६१४	६८२	१५७४
मुहम्मद कादर	१४	फ़ैजुल्लाह	१०२८	१६१६	१००८	१५६६
फज़ल अली	१५	इब्राहीम (दीवान)	१०३६	१६३०	१०१०	१६०१
हिदायत अली	१६	शेख मुहम्मद	१०८३	१६७३	१०१६	१६१०
इनायत अली	१७	मुहम्मद अशरफ	११२२	१७११	१०५७	१६४७

(iii)		संख्या	नाम	हिजरी	ईसवी	हिजरी	ईसवी
हुसैन अली	मरदान	१८	मुहम्मद सईद	११५०	१७३८	१०९०	१६७९
अशक अली	मुबारक	१९	मुहम्मद यूसुफ़	११५५	१७४३	११२०	१७०८
हसन अली	नूर अहमद	२०	अब्दुल सुभान	११८०	१७६८	११३५	१७२२
हसन मुसन्ना	जहूर हसन	२१	गुलाम रसूल	१२२४	१८१०	११७९	१७६५
		२२	मुहम्मद यार	१२४४	१८३५	१२२३	१८०८
		२३	सरफ़ुद्दीन	१२६१	१८४६	१२४३	१८२७
		२४	अला जवाया	— —	— —	१२६१	१८४५
		२५	सैय्यद मुहम्मद	१३००	१८८३	— —	— —
		२६	कुतुबुद्दीन	वर्तमान	वर्तमान	— —	— —

१. कुतुबुद्दीन शेख शकरगंज की गद्दी के अन्तिम सूफ़ी हैं, जिन्हें पाकिस्तान-सरकार ने अपदस्थ कर दिया है।

२. यह दूसरा पत्र 'पंजाबी दुनिया' के फरीद-अंक के पृष्ठ ४१-४२ पर अंकित है।

३. यदि शेख शकरगंज के उत्तराधिकारी-पद पर उनके दामाद बदरुद्दीन बैठे तो उनकी वंशावली इस प्रकार से है। हसन मुसन्ना, हसन निज़ामी तथा जहूर हसन विद्यमान हैं।

(विशेष अध्ययन के लिए देखें : जवाहरात-ए-फरीदी)
(पृष्ठ १२८ के अनुसार)

(११) पंजाब के मुसलिम गवर्नर

सूबा-ए-मुलतान	सूबा-ए-लाहौर	ई० सन्	केन्द्र	केन्द्राधिपति
हमीद सफरी	— —	१००१	गज़नी	महमूद ग़ज़नवी
दाऊद (हमीद-पुत्र)	— —	१००५	गज़नी	महमूद ग़ज़नवी
	ऐयाज़ हुसैन	१०१३	गज़नी	महमूद ग़ज़नवी
	मौदूद (मसऊद-पुत्र)	१०३६	गज़नी	मसऊद (महमूद-पुत्र)
	मसऊद (महमूद-पुत्र)	१०४१	गज़नी	मुहम्मद (महमूद-पुत्र)
	मौदूद (मसऊद-पुत्र)	१०४१		(स्वतन्त्र)
	तगशगीन	१०६८	गज़नी	मसऊद ग़ज़नवी (द्वितीय)
	माइलम (मसऊद-पुत्र)	१११८	गज़नी	अरसलान (मसऊद-पुत्र)
	मुहम्मद बहलीम	—	गज़नी	सञ्जर सलजूकी
	सालार हसन	१११९	गज़नी	बहराम (मसऊद-पुत्र)
	खुसराव (बहराम-पुत्र)	११५२	गज़नी	(स्वतन्त्र)
			स्वतन्त्र	
करमती-खानदान	खुसरो मलिक	११८०	गज़नी	शहाबुद्दीन गौरी
कुबाचा	कुतुबुद्दीन ऐबक	११९३	गज़नी	शहाबुद्दीन गौरी
कुबाचा	ताजुद्दीन	१२१४		(स्वतन्त्र)
कुबाचा	रुक्नुद्दीन (इल्तुतमिश-पुत्र)	१२२८	दिल्ली	इल्तुतमिश
कबीर खाँ	अल्लाउद्दीन	१२३६	दिल्ली	रुक्नुद्दीन (इल्तुतमिश-पुत्र)

सूबा-ए-मुलतान	सूबा-ए-लाहोर	ई० सन्	केन्द्र	केन्द्राधिपति
कबीर खाँ	ग़यासुद्दीन बलबन	१२३६	दिल्ली	रुक्नुद्दीन (इल्तुतमिश-पुत्र)
कबीर खाँ	कबीर खाँ	१२३६	दिल्ली	रजिया बेगम
कबीर खाँ	कारागोस	१२४०	दिल्ली	मुईज्जुद्दीन बहरामशाह
फ़ख़्रुद्दीन बलबन	शेर खाँ	१२४७	दिल्ली	नासिरुद्दीन महमूद
ईज़ुद्दीन बलबन	जलालुद्दीन	१२५५	दिल्ली	नासिरुद्दीन महमूद
'किशलू खाँ'	—	—	—	—
—	मुहम्मद (बलबन-पुत्र)	१२८०	दिल्ली	बहाउद्दीन बलबन
—	अरकली खाँ	१२९५	गज़नी	उगलू खाँ
—	तुग़ल खाँ	१३०४	दिल्ली	अलाउद्दीन खिलजी
दौलत खाँ	गाज़ीबेग़ तुग़लक	१३०५	,,	,,
फ़क़ीर खाँ	कमर खाँ	१३५०	दिल्ली	मुहम्मद तुग़लक
ख़िज़्र खाँ	मुबारिक खाँ	१३९८	गज़नी	तैमूर लंग
सारंग खाँ	ख़िज़्र खाँ	१४००	समरकन्द	तैमूर लंग
	महमूद हसन	१४२१	दिल्ली	मुबारकशाह
	सिकन्दर	१४२७	दिल्ली	मुबारकशाह
	सिकन्दर		काबुल	शेख़ अली
	बहलोल लोदी	१४४५	दिल्ली	अल्लाउद्दीन आलमशाह
	दौलत खाँ लोदी	१४८९	दिल्ली	सिकन्दर लोदी
आलम खाँ	अब्दुल अज़ीज़ मुग़ल	१५२६	दिल्ली	बाबर
	ख़वास खाँ	१५४५	दिल्ली	शेरशाह सूरी

सूबा-ए-मुलतान	सूबा-ए-लाहौर	ई० सन्	केन्द्र	केन्द्राधिपति
लंगाह बख़्श	हैबत खाँ	१५४५	दिल्ली	इस्लामशाह
	सिकन्दरशाह सूर	१५५६		(स्वतन्त्र)
	तातार खाँ	१५५६	दिल्ली	सिकन्दरशाह सूर
	ख़्वाजा ख़िज़्र खाँ	१५५७	दिल्ली	अकबर (हुमायूँ-पुत्र)
	हुसैन खाँ	१५५८	,,	,,
	शमसुद्दीन	१५६०	,,	,,
	मीर मुहम्मद खाँ कलाँ	१५६१	,,	,,
	हुसैन कुली खाँ	१५६८	,,	,,
	शाह कुली खाँ मरहम	१५७५	,,	,,
	मानसिंह	१५७९	,,	,,
	भगवानदास	१५८५	,,	,,
	अकबर	१५८५ -	१५९८	(स्वयं)
	ख़्वाजा शमसुद्दीन	१५९८	दिल्ली	अकबर (हुमायूँ-पुत्र)
	सईद खाँ मुग़ल	१६०६	दिल्ली	जहाँगीर (अकबर-पुत्र)
	कुलेज खाँ	१६१०	दिल्ली	जहाँगीर ,,
	मुर्तज़ा खाँ	१६१६	दिल्ली	जहाँगीर ,,
	ऐतमादुद्दौला खाँ	१६१७	दिल्ली	जहाँगीर ,,
	आसिफ़ खाँ	१६२८	दिल्ली	शाहजहाँ (जहाँगीर-पुत्र)
	अली मरदान खाँ	१६४४	दिल्ली	शाहजहाँ (जहाँगीर-पुत्र)
	ख़लीउल्लाह	१६६०	दिल्ली	औरंगजेब (शाहजहाँ-पुत्र)

सूबा-ए-मुलतान	सूबा-ए-लाहौर	ई० सन्	केन्द्र	केन्द्राधिपति
	असलम खाँ	१७१०	दिल्ली	बहादुरशाह (औरंगजेब-पुत्र)
	अब्दुल समद	१७२६	दिल्ली	मुहम्मदशाह (शाहजहाँ-पुत्र)
	जकरिया खाँ	१७४५	दिल्ली	मुहम्मदशाह ,,
शाहनवाज़	यहिया खाँ	१७४७	दिल्ली	मुहम्मदशाह ,,
	लखपत राय	१७४८	गज़नी	अहमदशाह अब्दाली
	मीरमन्नू	१७५२	गज़नी	अहमदशाह अब्दाली
	मुगलानी बेगम	१७५३	दिल्ली	अहमदशाह (मुहम्मद-पुत्र)
	अदीना बेग	१७५३	दिल्ली	अहमदशाह (मुहम्मद-पुत्र)
	तैमूर खाँ	१७५५	गज़नी	अहमदशाह अब्दाली
	जस्सासिंह कलाल	१७५७		(स्वतन्त्र)
सर बुलन्द खाँ	उबैदन खाँ	१७६०	गज़नी	अहमदशाह अब्दाली
रामजी श्याम जी	बापूराव		मराठा	प्रतिनिधि
	करीम खाँ	१७६०	गजनी	अहमदशाह अब्दाली
	काबुलीमल शर्मा	१६६७	गज़नी	अहमदशाह अब्दाली
शुजा खाँ	दादन खाँ	१७७२	गज़नी	अहमदशाह अब्दाली[1]

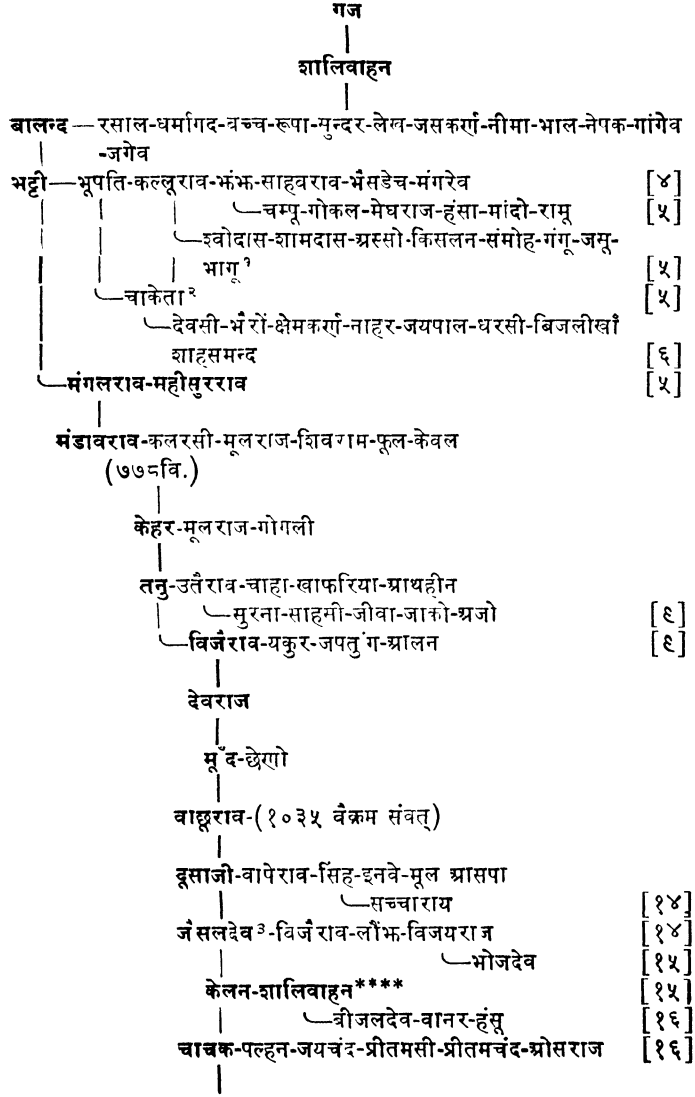
१ सूबा-ए-मुल्तान का रिक्त स्थान या तो ऊपर-लिखित राज्यपालों के वंशधरों के पास रहा; अथवा जागीर के रूप में लाहौर के राज्यपाल के पास।

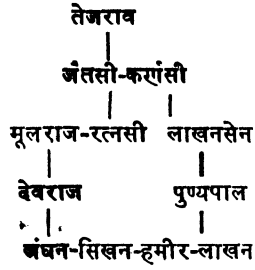
(ख) राज्यपाल के साथ दी गई तिथियाँ घटना-विशेष की द्योतक हैं।

(ग) ये राज्यपाल पंजाब की घटनाओं से सीधे सम्बद्ध हैं। इत्यादि

(पृष्ठ १४८ के अनुसार)

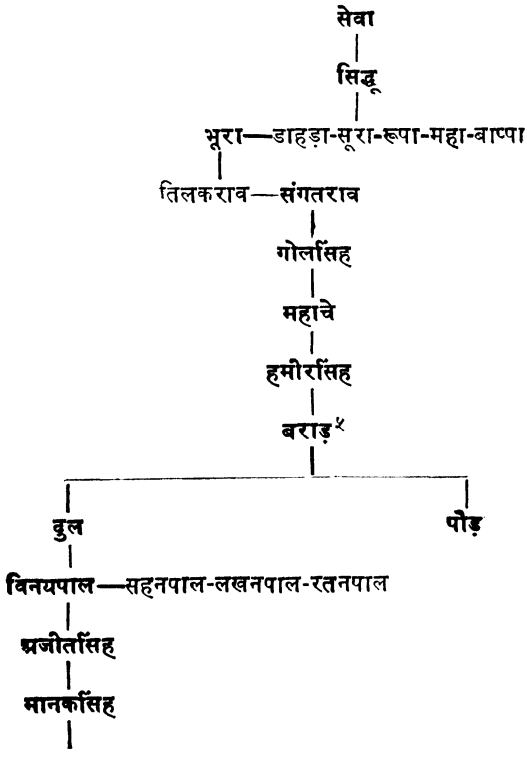
(१२) भट्टी-वंशावली

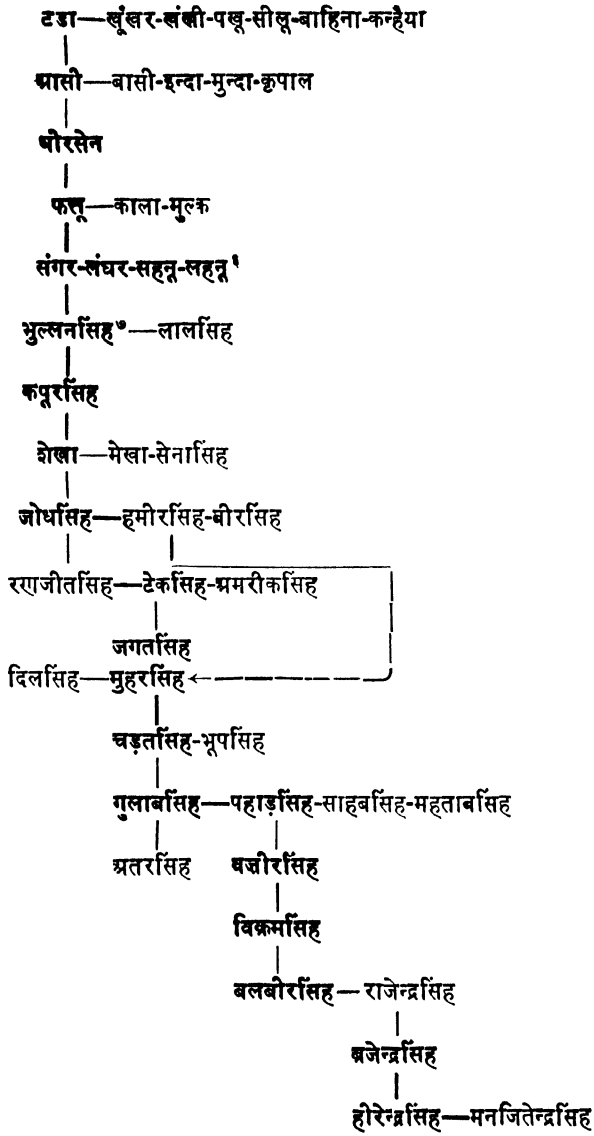

गज
शालिवाहन
बालन्द—रसाल-धर्मागद-वच्च-रूपा-सुन्दर-लेख-जसकर्ण-नीमा-भाल-नेपक-गांगेव-जगेव
भट्टी—भूपति-कल्लूराव-झंझ-साहवराव-भैंसडेच-मंगरेव [४]
चम्पू-गोकल-मेघराज-हंसा-मांदो-रामू [५]
इवोदास-शामदास-ग्रस्सो-किसलन-संमोह-गंगू-जसू-भागू[1] [५]
चाकेता[2] [५]
देवसी-भैरों-क्षेमकर्ण-नाहर-जयपाल-धरसी-बिजलीखाँ शाहसमन्द [६]
मंगलराव-महीसुरराव [५]
मंडावराव-कलरसी-मूलराज-शिवराम-फूल-केवल (७७८वि.)
केहर-मूलराज-गोगली
तनु-उतैराव-चाहा-खाफरिया-ग्राथहीन
सुरना-साहसी-जीवा-जाको-ग्रजो [६]
विजैराव-यकुर-जपतुंग-ग्रालन [६]
देवराज
मूँद-छेणो
वाछूराव-(१०३५ वैक्रम संवत्)
दूसाजी-वापेराव-सिंह-इनवे-मूल ग्रासपा
सच्चाराय [१४]
जैसलदेव[3]-विजैराव-लौंझ-विजयराज [१४]
भोजदेव [१५]
केलन-शालिवाहन**** [१५]
बीजलदेव-वानर-हंसू [१६]
चाचक-पल्हन-जयचंद-प्रीतमसी-प्रीतमचंद-ग्रोसराज [१६]



(२) भट्टी-वंश की एक शाखा

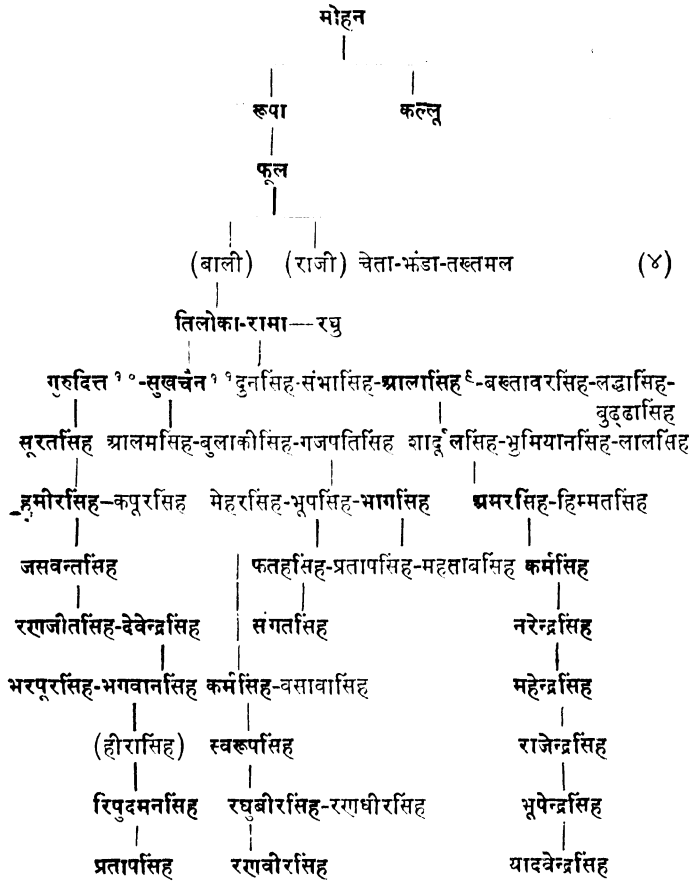
[फरीदकोट-राजवंश]




टडा—खूंखर-खंजी-पखू-सीलू-बाहिना-कन्हैया
आसी—बासी-इन्दा-मुन्दा-कृपाल
वीरसेन
फत्तू—काला-मुल्क
संगर-लंघर-सहनू-लहनू[1]
भुल्लनसिंह[2]—लालसिंह
कपूरसिंह
शेखा—मेखा-सेनासिंह
जोधसिंह—हमीरसिंह-वीरसिंह
रणजीतसिंह—टेकसिंह-अमरीकसिंह
जगतसिंह
दिलसिंह—मुहरसिंह
चड़तसिंह-भूपसिंह
गुलाबसिंह—पहाड़सिंह-साहबसिंह-महताबसिंह
अतरसिंह
बजीरसिंह
विक्रमसिंह
बलबीरसिंह—राजेन्द्रसिंह
ब्रजेन्द्रसिंह
हीरेन्द्रसिंह—मनजितेन्द्रसिंह

(३) भट्टी-वंश की एक अन्य शाखा : फूल-वंश

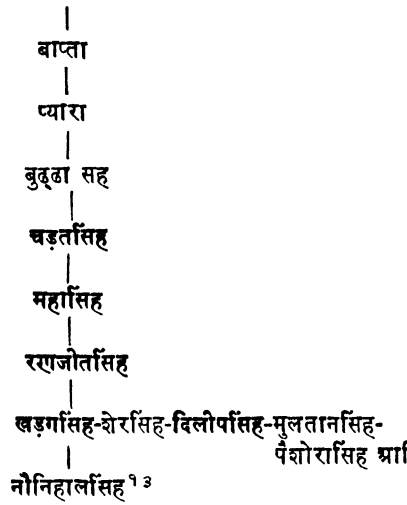
[पटियाला-नाभा-जींद-राजवंश]



(४) भट्टी-वंश की अन्य शाखा

[लाहौरराज्य-वंश]

शालिवाहन
|
पूरन रसालू-जुगन्धर
|
(सोहान्द[१२])
|
साहसीराय
|
लखनपाल
|
धर
|
उदयरथ
|
जत्रि
|
पातु
|
डगर
|
कीर्ति
|
बीरु
|
व्याघ
|
भागमल
|
कालू
|
जधोमन
|
जालिब
|
बीतू
|
राजदेव



१. कल्लूराव के पुत्र मुसलमान हो गए। २. चाकेता भी मुसलमान बन गया—कुछ लोगों का कहना है कि 'चुग़ताई' इसी वंश के हैं। ३. जैसलदेव ने जैसलमेर की स्थापना की। ४. जैतसी और कर्णसी के वंशधरों का सम्बन्ध पंजाब से हट गया। ५. इसने बराड़-वंश की स्थापना की। फूल-वंश भी इसी की एक शाखा है। ६. ये चारों भाई बाबर के समकालीन रहे हैं और उसके सहायक भी। ७. भुल्लनसिंह ने अकबर से लेकर शाहजहाँ तक का राज देखा था। ८. कपूरसिंह ने कोट-कपूर की स्थापना की। ९. आलासिंह ने पटियाला राज्य की नींव रखी। १०. गुरदित्त ने नाभा राज्य की स्थापना की। ११. सुखचैन ने जींद राज्य की स्थापना की। १२. सोहान्द जुगन्धर का दूरवर्ती वंशधर है। १३. नौनिहालसिंह पंजाब-केसरी का पोता था; परन्तु राज्य की समाप्ति दिलीपसिंह के समय में हुई।

स्रोत-ग्रन्थ—१. टाड का राजस्थान

२. सिख-इतिहास : ठाकुर देसराज

**** इसी शालिवाहन के वंशधर शालिवाहन-द्वितीय का पुत्र पूरनमल हुआ।

(पृष्ठ १५३ के अनुसार)

(१३) धार्मिक विकास

संख्या	विषय	शंकर	रामानुजाचार्य	मध्वाचार्य	निम्बार्काचार्य	वल्लभाचार्य
१	समय	९ वीं शती विक्रम	१०८५ संवत्	१२३० सम्वत्	१२७० सम्वत्	१५५० सम्वत्
२	ब्रह्म-जीव	अद्वैतवाद	विशिष्टाद्वैतवाद	द्वैतवाद	द्वैताद्वैतवाद	शुद्धाद्वैतवाद
३	आराध्य (ब्रह्म)	निर्गुण	सोपाधि	सोपाधि	सोपाधि	सगुण
४	चिंतनाराधन	चिंतन-मनन	नामस्मरण	कीर्तन-नृत्य	नामस्मरण	सेवा-सारूप्य
५	माया	मिथ्या	सत्य	—	—	—
६	प्रतीक	निराकार	राम	कृष्ण	राधाकृष्ण	राधाकृष्ण
७	सम्प्रदाय	—	श्रीवैष्णव	माध्व	निम्बार्क	वैष्णव
८	भक्ति	ज्ञानरूप	समुच्चयरूप	आत्मसमर्पण	—	पुष्टिरूप
९	मोक्ष	ब्रह्मलीनता	ब्रह्मसामीप्य	—	चिरमिलन	गोलोक-वास
१०	भाष्य	वेदान्तभाष्य	श्री भाष्य	सूत्रभाष्य	वेदान्तकौस्तुभ	अणुभाष्य
११	भाषा	संस्कृत	संस्कृत	संस्कृत	संस्कृत	ब्रजभाषा
१२	प्रतीक	—	हनुमान	—	राधा	राधा
१३	केन्द्र	चार मठ	अयोध्या	वृन्दावन	द्वारिका	श्रीनाथद्वारा
१४	हिन्दी-कवियों पर प्रभाव	संत कवि	—	—	हरिदास	सूरदास[1]

१. डा० सत्यदेव चौधरी एम० ए० शास्त्री के सौजन्य से प्राप्त।

(पृष्ठ १५७ के अनुसार)

(१४) स्वर्ण मन्दिर के प्रधान ग्रंथी

भाई मनीसिंह की शहीदी के बाद भाई प्यारा जी विक्रमी संवत् १८१९ तक ग्रंथी रहे। उनके बाद गोपालदास उदासी—चरणसिंह—आत्मासिंह—गोपालसिंह—जस्सासिंह (१९१३ वि०)—जवाहरसिंह—हरनामसिंह—फतहसिंह मुख्य ग्रंथी हुए।

(क) गोपालसिंह के सहायक ग्रंथी श्यामसिंह हुए। इनके बाद गहनासिंह तथा भगतसिंह सहायक ग्रंथी रहे।

(ख) गोपालसिंह के दूसरे सहायक ग्रंथी मक्खनसिंह हुए। इनके बाद दीवानसिंह—हीरासिंह—प्रतापसिंह सहायक ग्रंथी रहे।

भाई फतहसिंह (सहायक—१ भगतसिंह २ प्रतापसिंह) से ग्रंथी परम्परा समाप्त होती है और अब शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के आधीन ज्ञानी भूपेन्द्रसिंह साहब प्रधान ग्रंथी हैं।

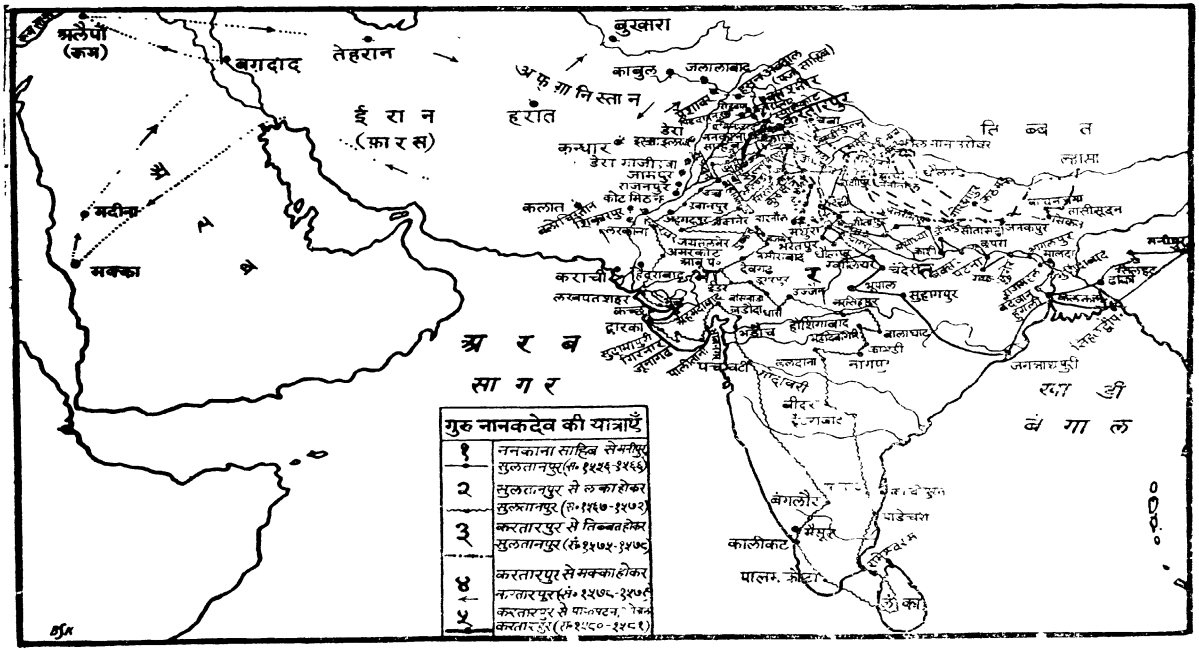
(पृष्ठ १८७ के अनुसार)

(१५) पटियालवी भाषा

मेरी उमर उस बख्त कोई सत्त-क साल की होनीं एं जद बाबा बारूराम मरया। मरने के बख्त उसकी उमर इक सौ सत्त साल की थी। बाबा बारू हमनूं सारयां बच्चयां नूं कट्ठा कर लिंदा अर अपनिआं पुरानिआं बातां सुनौंदा रहंदा। ओह फौज मा नौकर रेहा था। इस बास्ते उसकिआं बातां बी फौज किआं इ हुंदिआं थीआं।

एह बात हमनूं बाबे ने इ सुनाइ थी बई ठारां सौ सतवंजा मा पूबिआं किआं फौजां बहादरगढ़ कोल आ पहुँचिआं थिआं। ऊं तां पटियाले का राजा डर रेहा था बई अंगरेज गुस्से हो जावेगा जे इन्हां की मदद करी। गैल इ इस बात ते बी डर रेहा था बई जे इन्हां पूबिआं नूं नांह कर दई वई मैं थुआडी मदद नी करदा तां ओह रुस्स जामेगे। बस्स उन्ने बजीर गैल सलाह करी। वजीर ने केहा बई पहलां जेढा दुशमन सिर पर बैठ्ठया है उन्नूं खुस करो। इन्ने इन्हां पूबिआं नू गुड-छोले बँडवा देओ उन्ने या मैं अंबाले जाके कमिश्नर गैल गल बात कर ओन्नां। बस्स उन्हां नूं तां इद्धर गुड़-छोले खान नूं दे दिए अर उद्धर बजीर अपनी बात्त करन बास्ते घोड़े पर सवार होके अंबाले कन्नीं चल पेआ।

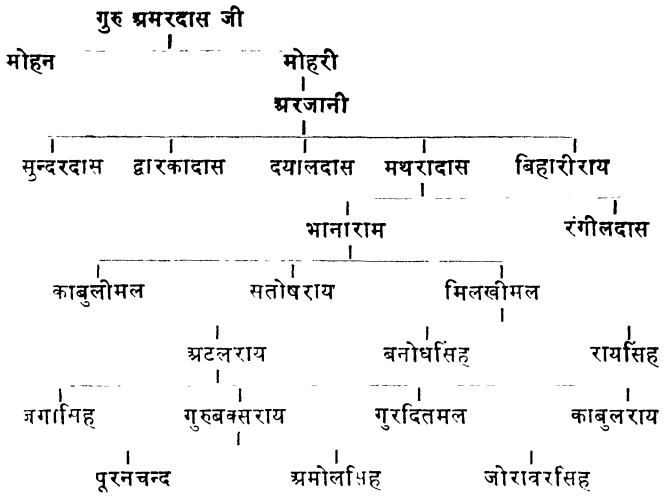
—ओंमप्रकाश 'आनन्द' पटियाला (पृ० २११ के अनुसार)



(१६) उदासियाँ (गुरु नानक यात्रा चित्र)

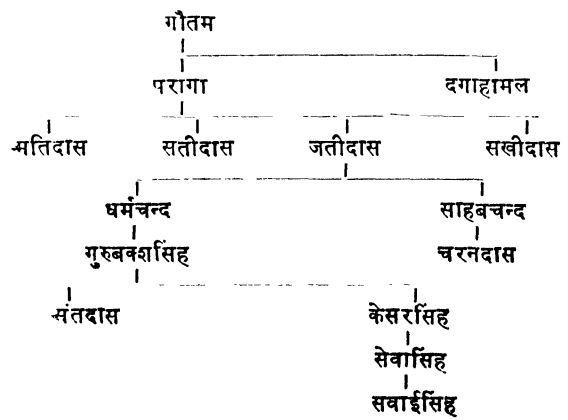
(पृ० २१८ के अनुसार)

(१७) भल्ला वंश



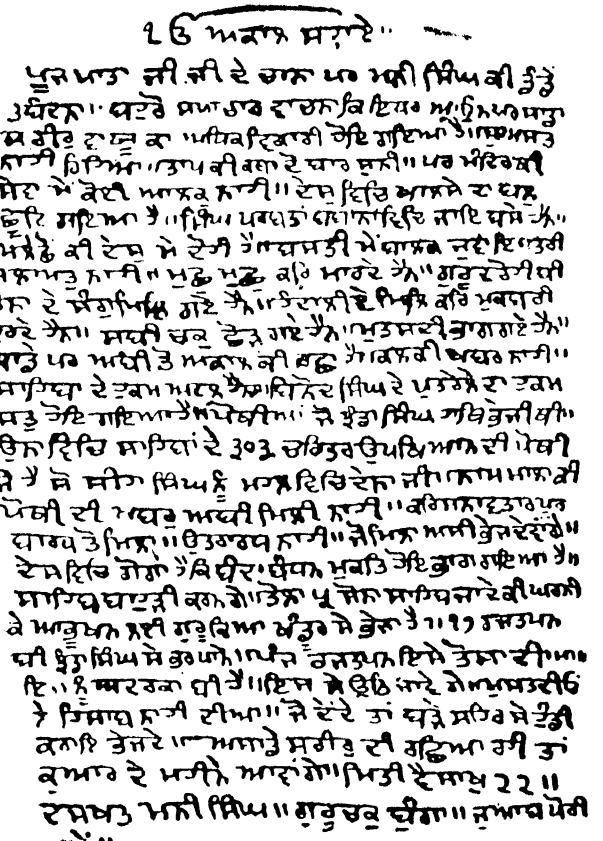
—शेष द्वितीय खण्ड में (पृष्ठ २१६ के अनुसार)

(१८) भाई वंश



—शेष भाई परमानंद के प्रसंग में (पृष्ठ २७४ के अनुसार)

(१९) भाई मनीसिंह का पत्र



(पृष्ठ २७५ के अनुसार)

(२०) सोधक कमेटी की रिपोर्ट

'दशम गुरु ग्रंथ साहिब' के कर्तृत्व पर विचार करने के लिए एक सोधक कमेटी बैठाई गई थी। जिसकी रिपोर्ट शत-प्रतिशत दशम गुरु के कर्तृत्व के पक्ष मे थी। उसके प्रमुख भाग का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है। यथा—

"और अपने आगमन का कारण (अर्थात् जिस प्रकार देवता, दैत्य, ऋषि, मुनि, अवतार, संत, आचार्य और पीर-पैगम्बरों को कर्तार ने संसार के उद्धार-निमित्त भेजा, और उन्होंने अपने-अपने पथों का प्रचार करके ईश्वर को भुला दिया ; तभी अकाल पुरुष की आज्ञा पाकर सतगुरु आए और इन्हें केवल एक अकाल का नाम जपने का बीडा उठाया) और सच्चे उपदेश, और अपना वंश और धर्म की रक्षा और उपकार के निमित्त जो-जो युद्ध किये, दुष्टों-दोषियों से किस तरह सर्व शक्तिमान अपने दासों की रक्षा करता है—और गुरुद्रोषी और गुरु-विमुखों का किस तरह नाश होता है—यह सब कुछ विचित्र नाटक मे बताया है।"

—अध्याय १, अनुच्छेद ३

"चरित्र पख्यान मे देवी के चरित्र के अतिरिक्त ४०४ चरित्र लिखे हैं। जो राजनीति और व्यवहारिक विद्या का भंडार हैं, जिससे हम संसार में अपनी अवस्था सुख-पूर्वक व्यतीत कर सकते हैं, और इन्ही चरित्रों में ऐसी शिक्षाएँ हैं कि जिनसे हम सत्यधर्म में दृढ़ रहना, और एक अकाल पुरुष की उपासना, और काम क्रोध आदि से तथा जूआ आदि व्यसनों से बचना, और गृहस्थ धर्म में निपुणता और अपने तन, धन, धर्म की रक्षा आदि सीख सकते है"।

—अध्याय १, अनुच्छेद ११

"इन्ही वाणियों के समुदाय का नाम 'दशम गुरु कृत ग्रंथ' अथवा 'दशम पातशाही ग्रंथ जी' प्रसिद्ध है। यह सब वाणी श्रीमुख वाक् है। जिससे सत्य गुरु की शस्त्र, शास्त्र, काव्य-कविता, साहित्य, संगीत आदि विद्या, पाण्डित्य इलमीयत—जिसे नामत: सर्वज्ञता शक्ति कहते हैं—प्रकट दिखाई देती है"।

—अध्याय १, अनुच्छेद १

"हरेक वाणी—जो उलत्था तर्जमा भी की गई है, चरित्र पख्यान जो कि का अनुवाद नहीं, सब में काव्य रीति अनुसार आवश्यक उल्लेखनीय हो हैं, सो इन सबमें गुरुजी 'कवि उवाच' लिखकर अपनी सम्मति देते हैं। इस सिद्ध होता है कि यह श्रीमुखवाक् है।"

—अध्याय २, अनुच्छेद